ॐ

महाविज्ञान या ब्रह्म-विद्या

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीता

(अमृतवर्षिणी टीका सहित)

चतुर्थ भाग

अमृतसरिया राम भणोत
(साहलों १४४२१)

मिलने का पता :—

राज पब्लिशर्ज़ (रजि०)

अड्डा होशियारपुर, जालन्धर

© अमृतसरिया राम भणोत

प्रथम संस्करण, १९७६
मूल्य : रु० १६·००

अमृतसरिया राम भणोत, साहलों, ज़िला जालन्धर (पंजाब) द्वारा प्रकाशित
तथा श्री सोहन लाल खन्ना, प्रो० स्वैन प्रिंटिंग प्रैस, अड्डा टांडा,
जालन्धर शहर—१४४००१ द्वारा मुद्रित



न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम् ।
तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे ॥
॥ ॐ तत्सत् ॥

ॐ श्री परमात्मने नम:

ॐ भूर्भुव: स्व:, तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो न: प्रचोदयात् ।। यजु० ३६।३।। ऋग्० ३।६२।१०।।

जो (अ) अज-ब्रह्मा, (उ) उमेश-शिव, (म्) महेश्वर-विष्णु, (भू:) हमारी पृथिवी, (भव:) पृथिवी के दक्षिणी ध्रुव के अन्तरिक्ष के लोक समूह तथा (स्व:) उत्तरी ध्रुव के अन्तरिक्ष के लोक समूह की स्थिति का कारण है, (तत्) उस (सवितु:) प्रकाशमान् सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति करने वाले (वरेण्यं) सर्वोत्तम और नितान्त अपनाने योग्य (भर्गो देवस्य) शुद्ध ज्ञान स्वरूप असंख्य सूर्यों से अधिक देदीप्यमान स्वयं प्रकाश देव का (धीमहि) हम सब मोक्ष प्राप्ति के लिये ध्यान करते हैं। (य:) जो (न:) हमारी (धिय:) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) ब्रह्म ज्ञान पाने के लिए प्रेरणा करे। तथा त्रिविध ताप की शान्ति हो।

अन्धं तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय: इव ते तमो ये उ विद्यायाᳪरता: ।।

[यजु० ४०।९।। ईशवास्य० ९।।]

विद्या दो प्रकार की है—१—गणित विज्ञानादि संसार में सफल कराने वाली विद्या। २—ब्रह्मविद्या, मोक्ष कराने वाली और ब्रह्म से मिलाने वाली विद्या। इन दोनों विद्याओं का परस्पर चोली दामन का साथ है। प्रथम प्रकार की सब विद्याओं की गणना विज्ञान के अन्तर्गत की जाती है। क्योंकि इन सब के सीखने के अनन्तर ही सच्चे और पूरे विज्ञान में योग्यता प्राप्त होती है। दूसरे प्रकार की विद्या का नाम ब्रह्म विद्या या महा विज्ञान है। जिस में प्रवेश या दाखला तभी मिल सकता है। जब पहले प्रकार की विद्या या विज्ञान में जिज्ञासु प्रथम श्रेणी के अङ्क प्राप्त करके उत्तीर्ण हो चुका हो। अन्यथा महाविज्ञान या ब्रह्म विद्या सर्वोच्च श्रेणी में प्रविष्ट होना असम्भव या अति कठिन कार्य है आप ही सोचिए भला दसवीं पास किए बिना कालेज में दाखला कैसे मिल सकता है? एवं षट-अंग पढ़े बिना वेदों का अध्ययन कैसे किया जा सकता है? और वेदों को बिना पढ़े ही अन्तिम श्रेणी वेदान्त या महा विज्ञान का अध्ययन कैसे किया जा सकता है। इस पर ही बस नहीं है ब्रह्म विद्या या महा विज्ञान की पढ़ाई पूरी समाप्त हो जाने पर भी उत्तीर्ण होने का प्रमाण पत्र तत्काल प्राप्त नहीं होता है। इस के अनन्तर चिरकाल तक साधना और योगाभ्यास करना होता है। फिर ब्रह्म का दरबार लगता है जिस में ब्रह्म स्वयं आप प्रमाण पत्र देकर सफल हुए लोगों को सदा के लिए अपने परम धाम में स्थान प्रदान कर देता है।

इस पृथिवी मण्डल पर दो प्रकार के देश हैं।

१—सांसारिक विद्याओं या विज्ञान में बढ़े चढ़े देश, जो समृद्ध या धनाढ्य देश कहलाते हैं ऐसे सब देशों के लोग सांसारिक भोगों में फँसे हुए हैं। उन की दृष्टि महा विज्ञान या ब्रह्म विद्या न सीखने के कारण ऊर्ध्व गामिनी नहीं है। जिस से वे लोग मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी नहीं हो सकते। इस लिए उक्त मन्त्र में कहा गया है कि जो विद्या ब्रह्म से मेल मिलाने वाली न हो वह अविद्या है और जो लोग या देश ब्रह्म विद्या या महा विज्ञान से अनभिज्ञ रहकर केवल सांसारिक विज्ञान या अविद्या की ही उपासना या पूजा करते हैं वे सब मरने के अनन्तर घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं अर्थात् ईश्वर को न प्राप्त होकर नाना प्रकार की योनियों में जन्म धारण करते हैं।

२—दूसरी प्रकार के वे लोग या देश हैं जिन्होंने सांसारिक विद्याओं या विज्ञान में तो कोई विशेष प्रगति या उन्नति नहीं की है परन्तु मतमतान्तरों के झगड़ों, धार्मिक दलदलों, छूआछूत, पहरावे, भाषा तथा खान पान के हठों एवं बुरे रसम रिवाजों का शिकार बने हुए हैं तथा अपने आप को धार्मिक लोग तथा महा ज्ञानी समझ रहे हैं इस प्रकार की आतम विद्या या ज्ञान में रत रहने वाले लोग जो विद्या के मिथ्या अभिमान में मस्त हैं। वे तो पहली प्रकार के अविद्या धारी लोगों से भी अधिकतर घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं। कारण यह है कि वे अपनी मूर्खता और हठ से न इस लोक में सुख पाते हैं तथा न परलोक में ही सुखी होते हैं।

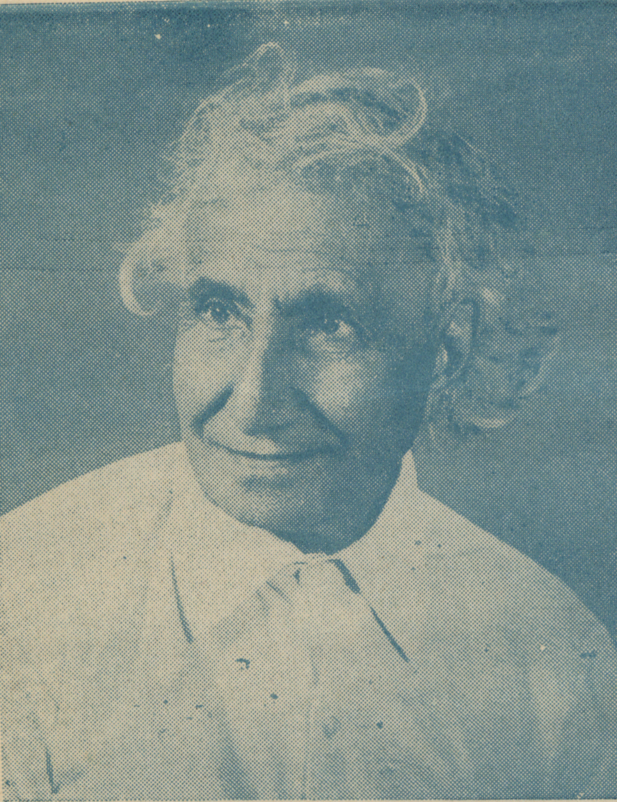
नम्र निवेदन

हे कृष्ण! अमृत वर्षिणी गीता का चौथा भाग लेकर आप की सेवा में उपस्थित हो रहा हूँ। आप मुझे अबोध जान कर मुसकिरा रहे हैं तथा प्रेम पूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देख रहे हैं। इससे अधिक और कुछ मैं कहना नहीं चाहता हूँ क्योंकि यह तेरी मेरी अपनी बात है। भगवन्! शंकराचार्य ने गीता पर टीका लिखी। जिस से लोग उन्हें भगवान् शंकर का अवतार मानने लगे। महात्मा ज्ञान देव ने मराठी में छन्दबद्ध गीता पर टीका लिखी तो वे ज्ञानियों के ईश्वर हो गए। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने गीता पर कर्म योग नाम से एक महान् पुस्तक लिखी जिसके प्रभाव से आप भगवान् पदवी को प्राप्त हो गए। देशपिता गान्धी जी अनासक्ति योग लिखकर न केवल महात्मा ही बन गए अपितु उन्होंने न केवल भारत को ही शताब्दियों की दासता से मुक्त करवाया बल्कि एशिया, अफ्रीका और सारे संसार के दूसरों के नीचे दबे हुए देशों को भी मुक्त करवा दिया।

भगवन्! और भी तेरे बहुत से प्रिय जनों ने गीता पर टीका, तिलक और भाष्य लिख कर इस संसार में ख्याति प्राप्त की और शरीर छोड़ने के अनन्तर मोक्ष को प्राप्त हो गए।



अमृतसरिया राम भणोत
(सन् 1956 में)



अमृतसरिया राम भणोत
(सन् 1976 में)

भगवन् ! इस पुस्तक पर टीका कार के स्थान पर मेरा नाम लिखा हुआ है और टीका का नाम भी मेरे नाम से मिलता जुलता है परन्तु मैं और आप दोनों इस बात को भली भान्ति जानते हैं कि यह टीका मेरी की हुई नहीं है। हां मैं इस बात को अवश्य स्वीकार करता हूँ कि इसकी पाण्डुलिपि मेरे ही हाथों से लिखी हुई थी।

भगवन् ! अब मुझे संसार की किसी भी उपाधि की आवश्यकता नहीं रही है। न धन का ही मोह रहा है। इतने पर ही मुझे सन्तोष है कि मैं आप का बन गया हूँ और शरीर त्याग के अनन्तर आप से मिल जाने की पूरी आशा बंध गई है क्योंकि आप ने स्वयं कहा है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

यह ठीक है, मेरे नेत्रों ने जीवन के रूप में एक बड़े नाटक को देखा है और खूब देखा है। जब से होश संभाला आप मेरे अंग संग रहे। जिस से जीवन बड़े मजे से गुज़रा। आशा है जो थोड़ा समय शेष है वह भी इसी भान्ति कट जाएगा। और आप मेरा साथ नहीं छोड़ेंगे।

भगवन् ! अब मैं सब मित्रों को सारे भक्तों को, सारे सज्जनों को तथा SWAN PRESS के स्वामियों और उनके सहयोगी कर्मकरों को हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ कि वे सब स्वर्ग सुख भोगते हुए चिर काल तक आयु सुख और आनन्द से व्यतीत करें तथा तेरी अपार कृपा से सदा धर्म कार्यों में तत्पर रहें।

हे भगवन् ! अन्त में फिर प्रार्थना करता हूँ कि यह अमृत वर्षिणी गीता तेरी है। तेरा इस से अत्यन्त प्रेम है जिस प्रकार श्री गंगा का पानी अमृत है। इसी भान्ति श्री गीता की वाणि अमृत है। इस पुस्तक के चारों भाग पारिजात वृक्ष के चार अमृत फल हैं।

हे गोविन्द ! नम्रता और प्रेम पूर्वक सादर ये चारों तेरी भेंट हैं स्वीकार करो।

सोहलों (१४४२१)
शनिवार
विजय दशमी आश्विन २०३३
ता० २-१०-१९७६

आप का
अमृतवर्षिणी राम भणोत

विषय सूची एवं अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

गीता के बारह अध्यायों के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक प्रस्तावना दूसरे और तीसरे भागों में लिखी जा चुकी है जिसे पाठकों ने पढ़ लिया होगा अब अन्तिम षटक् या छः अध्याओं के सम्बन्ध में कुछ विचार यहाँ लिखे जाते हैं। जो इस भाग के समझने में सहायक हो सकते हैं।

त्रयोदश अध्याय प्रारम्भ करते हुए भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि हे प्रिय बन्धु अर्जुन ! यह हमारा शरीर एक प्रकार का क्षेत्र या खेत है और इस में निवास करने वाला जीवात्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है। इस शरीर रूप क्षेत्र में पुण्य और पाप रूप दो प्रकार के फल लगते हैं जिनका भोग जीवात्मा करता है वह बार बार पुराने क्षेत्र को त्याग कर नवीन क्षेत्र को निवास स्थान बनाता रहता है। परन्तु वह क्षेत्रज्ञ वास्तव में तो मेरा ही स्वरूप है जो अपने रूप से अनभिज्ञ होकर ठोकरें खाता रहता है।

यद्यपि उस के ठीक स्वरूप का वर्णन अनेक ऋषियों द्वारा किया गया है तथा वेदों और शास्त्रों में दर्शाया गया है एवं उपनिषदों और ब्रह्म सूत्रों में विशद रूप में वर्णित किया गया है। इस क्षेत्र में आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, अहंकार (अपनी पृथक सत्ता होने का विचार), बुद्धि या अन्तःकरण, अव्यक्त या माया, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, इन्द्रियों के चारा चरने की पाँच चरागाहें अर्थात् उन के पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देह, चेतना या जीवन संचार शक्ति और धृति इकतीस सत्त्व अपने विकारों सहित सम्मिलित हैं।

इस क्षेत्र से सदा के लिए मुक्त होने का साधन केवल एक मात्र ज्ञान का प्राप्त करना है और ज्ञान प्राप्ति के लिए—अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, सच्चे गुरु की तलाश तथा सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्म संयम, इन्द्रिय निग्रह या उनके विषयों से वैराग्य, अहंकार हीनता, जन्म-मरण-जरा-व्याधि के दुःखों का चिन्तन तथा उन से बचने का यथाशक्ति उपाय करना, पुत्र-कलत्र-धन-धाम आदि सम्बन्धि-मोह-ममता का त्याग, प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति और विनाश में समभाव बने रहना ; मेरी अनन्य भक्ति, शुद्ध एकान्त स्थान में निवास करना, विषयासक्त जनसमूह से दूर रहना, अध्यात्म-ज्ञान में निरन्तर स्थिति, तत्त्वज्ञान को पाने के लिए सदा सर्वत्र मेरे रूप को देखना, इत्यादि साधन है। इनसे विपरीत आचरण करना अज्ञान का कारण है जो जन्म मरण के चक्र में फंसाए रखता है ॥

ब्रह्म तो अकथनीय है न उसे सत् कहा जा सकता है, न उसे असत् ही कह सकते हैं वह बिना हाथों के सब कार्य करता है। बिना टाँगों और पाँवों के चलता है। बिना आँखों के सब को देखता है। बिना कानों से सब कुछ सुनता है। बिना मुख के सब कुछ भक्षण करता है बिना नाक सब कुछ सूँघता है, सर्वत्र व्यापक और असीम है। जगत् के जन्म, पालन पोषण, स्थिति और नाश का कारण है। फिर वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति है जानने के योग्य है क्योंकि सब के हृदय में स्थित है। उसको तत्त्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप में मिल जाता है।

प्रकृति और जीवात्मा भी अनादि माने जाते है क्योंकि रचना काल में ही प्रकट होते हैं और प्रलयकाल में ही समा जाते हैं।

यह जीवात्मा प्रकृति के तीनों गुणों की संगति से अज्ञान के वशीभूत हुआ अच्छी बुरी योनियों में बार-बार जन्म लेता और मरता रहता है। परन्तु जब इसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो फिर इस के सारे बन्धन कट जाते हैं और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में अविनाशी परमेश्वर को सम भाव से स्थित हुआ देखता है वही शुद्ध और पवित्र दृष्टि वाला है इसके विपरीत ऐसा न देखने वाले शेष सब नेत्रहीन या अन्धे हैं॥

परन्तु अविनाशी परमात्मा अनादि और गुणातीत होने से शरीर में स्थित होता हुआ भी वास्तव में न कुछ करता है और न ही लिपायमान होता है। सूर्य की भान्ति एक ही परमात्मा सम्पूर्ण क्षेत्रों को आलोकित करता है।

देखो हे अर्जुन महद् ब्रह्म या माया मेरी स्त्री है सब जीवों की उत्पत्ति के लिये मैं उस में बीज डालता हूँ। जिस से उस में गर्भ की स्थापना होती है। फिर सब जीवों की उत्पत्ति उसी से होती है। इस प्रकार सब की माता प्रकृति है और मैं स्वयं सब का पिता हूँ। सब जीव जन्म से शूद्र होते हैं परन्तु संस्कार करने वाले जब उनको यह रहस्य बतला देते हैं तो वे इन वचनों पर पूर्ण श्रद्धा करके फिर मुझ ब्रह्म के पुत्र या ब्राह्मण बन जाते हैं।

हे अर्जुन ! सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण मिल कर एक मोटे रस्से का रूप धारण कर लेते हैं और अज्ञानी बने हुए अविनाशी जीवात्मा को देह में जकड़ कर बांध देते हैं। सत्त्व गुण के बढ़ने से सुख और ज्ञान की संगति होती है। रजोगुण के प्राबल्य से कामना और तृष्णा उत्पन्न होती है और तमो गुण अज्ञान को उत्पन्न करता है जिस से सदा प्रमाद, आलस्य और निद्रा घेरे रखते हैं।

सत्त्वगुण की वृद्धि के काल में अन्तःकरण और इन्द्रियों में प्रकाश, चेतना, बोधशक्ति और अन्य कई गुण उत्पन्न हो जाते हैं। रजोगुण लोभ-लालच को

बढ़ा देता है। बुद्धि में स्वार्थ की भावना और अशान्ति पैदा कर देता है। विषय वासना और भोगों की लालसा बेचैन करने लगती है। तमोगुण तो बुद्धि में सूची अभेद घना अन्धकार भर देता है जिस से कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का अन्तर मिट जाता है उस के वशीभूत हुआ नर अपने दुष्कर्मों के फल से गहरे अन्ध कूप में गिर कर अपना सर्वनाश कर लेता है।

यदि भाग्यवश सत्त्वगुण की वृद्धि के समय मृत्यु हो जाए तो जीवात्मा को उत्तम दिव्य स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है। रजोगुणी मर कर मूढ-योनियों में जन्म लेता है। और तमोगुणी कीटपतंगादियों में जन्म लेता है॥

यह सम्पूर्ण जगत् एक विशाल पीपल वृक्ष के सदृश है। जिसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखाएँ नीचे की ओर हैं अर्थात् यह एक उल्टा उगा हुआ वृक्ष है। हे अर्जुन! मैं ने इससे पहले ही यह बात आप को स्पष्ट करके बतला दी है कि गुणातीत ज्ञानी पुरुष मेरे बहुत समीप हो जाता है। मैं अमृत हूँ। मैं अव्यय हूँ। मैं ही शाश्वत धर्म हूँ तथा मैं ही एकान्तिक सुख हूँ। मैं ही निराकार ब्रह्म हूँ जो कोई दिन रात आठों पहर मुझ में ध्यान मग्न और लीन रहता है वह माया के तीनों गुणों से अतीत या लांघा हुआ होकर मुझे पाने के योग्य हो जाता है। जो मेरे सगुण रूप की अराधना करता है वह मरने के बाद ब्रह्म-लोक को प्राप्त हो जाता है और वहाँ पर कुछ काल निवास करके ब्रह्मा से विशेष ज्ञान प्राप्त करता है फिर जिसके प्रभाव से उस ब्रह्म लोक से अत्यन्त ऊपर उठ कर अव्यक्त ब्रह्म में समा जाता है।

यह अव्यक्त ब्रह्म ही इस संसार रूपी वृक्ष की जड़ है जो साधारण वृक्ष की जड़ों की भान्ति छुपा हुआ है और किसी के भी दृष्टि गोचर नहीं होता है। जिस प्रकार सूर्य बहुत ऊँचाई पर होता है और उसकी किरणें नीचे सब ओर फैली हुई होती हैं इसी प्रकार यह संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष भी नीचे सव ओर फैलाहुआ है। ब्रह्मलोक में स्थित ब्रह्म विष्णु महेश मिल कर मोटे मूल तने के रूप को धारण किए हुए है जिस से इस वृक्ष की उत्पत्ति हुई है और पालन पोषण आदि भी हो रहा है। माया रूप जल मिला भोजन अव्यक्त ब्रह्म से निकलकर सदा इस अश्वत्थ के पत्तों तक चढ़ता और संचार करता रहता है जिस से यह वृक्ष हरा भरा और सदा बिहार बना रहता है। मूलस्कन्ध ब्रह्मा से ही इसका विस्तार हुआ है। सब प्राणियों के समुदाय ही इस वृक्ष की फैली हुई शाखाएँ हैं तथा अनेक आकाश गंगाएँ और उन में स्थित सूर्यादि पिण्ड इस वृक्ष के फल हैं प्रत्येक फल में अनेक जीव बीजों के रूप में भरे हुए हैं और छन्द (वेद शास्त्रादि) इस वृक्ष के पत्ते हैं जिन के द्वारा यह वृक्ष ढका हुआ है और रक्षित हो रहा है। ये पत्ते धर्म प्रचार रूप आक्सीजन सदा निकालते रहते हैं जिस से प्राणी मात्र को जीवन मिलता रहता है। ये पत्ते अपनी छाया से शान्ति और ठण्डक भी देते हैं तथा उसके सौन्दर्य को भी स्थिर रखते हैं, जो इस वृक्ष के स्वरूप को समझ लेता है, वह वेद के तत्त्व को जानने वाला हो जाता है।

परन्तु इस विशाल विश्व वृक्ष का यह स्वरूप इन नेत्रों से देखा नहीं जाता है क्योंकि इस का न आदि है न अन्त है और न ही ठीक प्रकार से इसकी स्थिति है।

मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह दृढ़ वैराग्य के कुठार से इसे काट कर जड़ से अलग कर दे और फिर परम पद अव्यक्त ब्रह्म को खोद निकाले। जहाँ पर गया हुआ फिर कोई वापस नहीं लौटता है और उस आदि अव्यक्त में मिल कर परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।।

उस परम पद के धाम को न कोई सूर्य ही प्रकाशित करता है न कोई चन्द्रमा तथा न अग्नि। क्योंकि वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है उसी के प्रकाश से इन सब को प्रकाश प्राप्त होता है।

यह जीव मेरे प्रकाश का ही अंश मात्र है इसलिए सनातन है शरीर को छोड़ता हुआ यह मन सहित इन्द्रियों को लेकर पुष्प से सुगन्ध के सदृश बाहर निकलता और उड़ता है और किसी माता के गर्भाशय में पहुँच कर नवीन शरीर की रचना करता हुआ उस में यथा स्थान इनकी स्थापना कर लेता है। इस रहस्य को केवल ज्ञानी जन ही जानते हैं, अज्ञानी और मूढ़ लोग नहीं जानते हैं।

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में वैश्वानर होकर प्राण अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ तथा सब प्राणियों के हृदयों में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ तथा जानने योग्य हूँ।

ये सब जीव क्षर देह और अक्षर जीवात्मा के मिलने से बने हुए हैं, इन सब में व्यापक और धारण पोषण करने वाला उत्तम पुरुष परमेश्वर मैं हूँ। इसी मे पुरुषोत्तम कहलाता हूँ। इस प्रकार मुझे तत्त्व से जानने वाला पुरुष केवल मुझे ही भजता है। यहाँ दैवी और आसुरी दो प्रकार की सम्पदाएँ हैं। दैवी सम्पद् संसार से छुड़ाने वाली होती है और आसुरी संसार में फँसाने वाली कही जाती है। इस संसार में जितने भी जीव हैं उनके स्वभाव दो श्रेणियों में विभक्त हैं। कुछ लोग तो देवताओं जैसे स्वभाव वाले हैं और शेष असुरों जैसा स्वभाव धारण किए हुए हैं। असुर लोग कर्त्तव्य कार्य में प्रवृत्ति और निषिद्ध कार्य में निवृत्ति से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। वे बाहर भीतर से अशुद्ध आचार विचार से भ्रष्ट और सत्य भाषण से रहित होते हैं। संसार नियन्ता प्रभु की स्थिति भी उनकी समझ में नहीं आती, उनको अपनी देह ही सब कुछ दिखाई देती है इससे वे देह के भरण पोषण, स्थिर रखने और उसे भोगों से तृप्त करने के लिये भरसक प्रयत्न करते रहते हैं सदा प्रत्येक पाप, उपपाप तथा महापाप, नि:शंक और निडर होकर करते हैं। कोई उपकार करना तो उनके वश की बात नहीं है। परन्तु सदा सारे जगत् का नाश करने के लिये ही तत्पर तथा उद्यत रहते हैं। दम्भ, मान और मद से भरे रहते हैं।

दुष्पूर कामनाओं के आश्रित होकर अज्ञान वश मिथ्या सिद्धान्तों को धारण किए रहते हैं। जिस से मरण पर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओं से घिरे रहते हैं। आशा रूप सैंकड़ों पाशों से बँधे रहते हैं। काम क्रोध परायण हुए विषय भोगों की पूर्ति के लिए अनर्थ कर्मों और अन्याय से धनोपार्जन की चेष्टा करते रहते हैं। उन के किए हुए दान, पुण्य और पाठ सब नरक गामी कराने वाले और केवल आत्मश्लाघार्थ ही होते हैं। वे अनेक प्रकार के भ्रान्त चित्त वाले, मोह माया के जाल में जकड़े हुए, और विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त हुए घोर नरकों में गिरते हैं ठीक ही कहा है—पापी पाप कमामदे-करदे हाय हाय। वे पापाचारी, क्रूरकर्म और नराधम लोग अपने पापों का फल भोगने के लिए शूकर कूकर आदि नाना प्रकार की नीच योनियों में जन्म लेते हैं। फिर उत्तरोत्तर प्रत्येक जन्म में पहले की अपेक्षा नीचे गिरते जाते हैं।

ये आसुर-प्रकृति लोग शास्त्रविधि को छोड़ कर मन माने सिद्धान्त कल्पित करके उन पर आचरण करते हैं जो न लोक हित करने वाले होते हैं न स्वयं उन को शान्ति प्रद होते हैं। इन मन कल्पित सिद्धान्तों पर आचरण करने से उन को न सिद्धि प्राप्त होती है न सुख मिलता है तथा न पराम गति या जन्म-मरण से मुक्ति ही मिलती है। इस लिए शास्त्र विधि को विचार कर सारे कार्य करने चाहिएँ।

सतोगुणी लोग देव पूजक होते हैं। राजस लोग यक्ष, राक्षसों की पूजा करते हैं और तामस लोग भूत-प्रेतों को पूजते हैं तथा शास्त्र विधि के विरुद्ध घोर तपों को तपते हैं। साथ ही दम्भ, अहंकार काम, क्रोध और राग से युक्त होते हैं।

सात्त्विक लोगों के भोजन आयु, बुद्धि, तेज, बल, स्वास्थ्य, सुख और प्रीति के बढ़ाने वाले होते हैं। ये मीठे, रसीले, स्निग्ध, स्थिर, मन पसन्द और सुगन्धि-पूर्ण एवं सुस्वादु होते हैं। राजस स्वभाव वालों के भोजन खट्टे, मिर्च से चरपरे किए हुए, अधिक नमकीन, अति गर्म, तीक्ष्ण, रूक्ष, शुष्क, पेट में जलन उत्पन्न करने वाले और चटखारे दार होते हैं परन्तु तामस पुरुषों के प्रिय भोजन बासी, बदबूदार, रसहीन, अपवित्र और उच्छिष्ट होते हैं।

उत्तम पुरुषों द्वारा किए हुए यज्ञ शास्त्र विधि अनुसार श्रद्धा भक्ति पूर्वक सदा फलेच्छा से रहित हुआ करते हैं परन्तु राजस पुरुषों के यज्ञ, दम्भ, पाखण्ड, अभिमान और किसी फल को उद्दिश्य करके किए हुए होते हैं परन्तु नीच पुरुषों द्वारा किए हुए यज्ञ विधि हीन, अन्न दान से रहित, मन्त्र हीन, श्रद्धा विरहित और विना दक्षिणा दान दिए हुए होते हैं।

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये सब शरीर के तप कहलाते हैं।

मधुर, मनोहर, धीर, प्रिय, हितकर और सत्य-वचन, स्वाध्याय तथा हरि नाम का जप करना ये सब वाणी का तप कहलाता है ।

मन की प्रसन्नता, शान्त भाव, मौन, आत्म-विनिग्रह और अन्तःकरण की वृद्धि ये सब मानस तप के अंग हैं ।

सर्वोदय हित किया हुआ तप सात्त्विक होता है । अपने सत्कार मान और पूजा के लिए दंभ पूर्वक किया हुआ तप राजस तप कहलाता है । मन वाणी और शरीर की मूढ़ता से दूसरों को दुःख देने और नाश करने के लिए किया हुआ तप तामस तप माना जाता है ।

दान देना मानव का कर्त्तव्य है, ऐसा विचार करके जो दान प्रत्युपकार न करने वाले सुपात्र व्यक्ति को उचित देश, काल और तत्काल लेने वाले की आवश्यकतानुसार श्रद्धा और सत्कार पूर्वक विष्णु रूप समझ कर दिया जाता है वह दान सात्त्विक दान होता है ।

जो दान बदला लेने के लिए, फल को मुख्य रख कर तथा क्लेश पूर्वक दिया जाता है वह राजस दान कहा जाता है तथा जो दान तिरस्कार और अवज्ञा पूर्वक अयोग्य देश काल में कुपात्रों के लिए दिया जाता है वह दान तामस दान होता है "ॐ तत्सत्" यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम कहा गया है । इसी के द्वारा सृष्टि के आदि काल में शुद्धान्तःकरण महर्षि लोग, वेद और यज्ञ रचे गए हैं । इसलिए वेद-वक्ता सत्पुरुषों की शास्त्र विधि से नियत की हुई यज्ञ दान और तप रूप सब क्रियाएँ सदा ॐ के उच्चारण के साथ आरम्भ की जाती हैं तथा ये यज्ञ दान तप रूप क्रियाएँ फल की आकांक्षा से रहित होकर तत् नाम वाले ब्रह्म का स्मरण करके मोक्ष की प्राप्ति के लिए की जाती हैं । प्रभु के 'सत्' नाम का प्रयोग सद्भाव, साधु-भाव और प्रशस्त कर्मों में किया जाता है । यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है वह सत् है तथा प्रभु निमित्त किया हुआ सब कर्म 'सत्' है ।

हे अर्जुन ! विना श्रद्धा होमा हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और किया हुआ अन्य कोई कर्म 'असत्' कहा जाता है, जो न इस लोक में जीवनावस्था में तथा न मरने के अनन्तर परलोक में ही लाभ दायक होता है उसे तो व्यर्थ का प्रयास और निष्फल परिश्रम ही जानना चाहिए ।

यज्ञ, दान और तप रूपी कर्म किसी काल में भी त्याग करने के योग्य नहीं हैं । ये सारे कर्म तो बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं परन्तु ये सारे कर्म फलेच्छा और आसक्ति रहित होकर किए हुए ही मोक्ष प्रद और लाभकारी होते हैं । मोह से इन कर्मों का त्याग करना तामस त्याग कहलाता है । किसी शुभ कर्म को प्रयास साध्य और दुःख रूप समझ कर त्याग करना राजस त्याग होता है । ऐसा त्यागी त्याग करने के शुभ फल को कभी प्राप्त नहीं होता । इस लिए हे अर्जुन ! शास्त्र विहित शुभ कर्मों को फलेच्छा और आसक्ति से

रहित हो कर करना ही सात्त्विक त्याग माना जाता है। शुद्ध सत्त्व गुण से युक्त हुआ संशय रहित ज्ञानवान् पुरुष ही सच्चा सन्यासी और त्यागी होता है क्योंकि कोई भी देह धारी पुरुष सम्पूर्णता से सब कर्मों को त्यागने में समर्थ नहीं हो सकता है इस लिए सच्चा त्यागी वही है जो अपने द्वारा किए हुए कर्मों के फल की इच्छा से रहित होता है। सकामी पुरुष को कर्मों के फल को भोगने के लिए यहाँ अवश्यमेव जन्म धारण करना पड़ता है परन्तु कर्म-फल त्यागी को नहीं।

जिस पुरुष के अन्त:करण में कर्तापन का विचार नहीं है तथा जिस की बुद्धि सांसारिक पदार्थों और विषय विकारों में लिपायमान नहीं होती वह सब लोकों को मारता हुआ भी किसी को मारता नहीं है एक डाक्टर किसी के शरीर में उत्पन्न हुए असंख्य रोगाणुओं का नाश करता है। मक्खी, मच्छर, कीड़े, दीमक, फसलों को नाश करने वाले जीव जन्तु, साँप भेड़िए, हरकाए कुत्ते आदि अनेक दु:खदाई जीवों का नाश किया जाता है। जिस से सृष्टि का उपकार होता है ज्ञानी द्वारा लोकों को मारना भी कुछ इसी प्रकार का मारना है। जिस से न उसे पाप लगता है और न ही वह बाँधा जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय वस्तु ये तीनों कर्म करने के लिए प्रेरिक होते हैं और कर्ता, करण और क्रिया के संयोग से कर्म सम्पन्न होता है।

ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणों के भेद से तीन तीन प्रकार के होते हैं।

ज्ञानी जिस ज्ञान के द्वारा सब जीवों में विभाग रहित एक अविनाशी परमात्मा को ही देखता है वह ज्ञान सात्त्विक होता है। जिस ज्ञान के द्वारा सारे भूतों में आत्मा पृथक् पृथक् समझा जाता है। वह ज्ञान राजस कहलाता है तथा जिस ज्ञान के द्वारा शरीर को ही आत्मा समझ कर जीव उसी में आसक्त है तथा अहैतुक अतत्त्वार्थ और अल्प या तुच्छ है वह ज्ञान तामस होता है।

जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया हुआ, कर्तापन के अभिमान से रहित होकर, फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा राग-द्वेष से रहित होकर किया जाता है। वह कर्म सात्त्विक कहलाता है तथा जो कर्म बहुत कठिन परिश्रम से युक्त है, फल को चाहने वाले अहंकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता है वह कर्म राजस श्रेणी में गिना जाता है। एवं जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर क्रिया जाता है, केवल अज्ञान और मूढ़ता से ही आरम्भ कर दिया जाता है वह कर्म तामस होता है।

जो कर्त्ता आसक्ति से रहित, अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा सिद्धि असिद्धि में समभाव और निर्विकार होता है, वह सात्त्विक कर्त्ता कहलाता है। आसक्ति से युक्त, कर्म के फल को चाहने वाला, लोभी, हिंसात्मक, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिपायमान कर्त्ता रजोगुण सम्पन्न होता है। अयुक्त, असभ्य, स्तब्ध या अहंकारी, शठ या धूर्त, दूसरों की

आजीविका का नाशक, विषादी, शोकातुर स्वभावशील, आलसी और दीर्घ सूत्री (आज का काम कल पर डालने वाला) कर्त्ता तामस स्वभाव युक्त होता है ।।

इसी प्रकार बुद्धि और धृति भी इन प्रकृति के गुणों के भेद से तीन तीन प्रकार की होती हैं ।

जो बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष को अच्छी तरह से जानती है वह बुद्धि सत्त्व गुण सम्पन्न होती है । जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य को यथार्थ रूप में नहीं जानती है वह राजसी गुण युक्त होती है । अन्धकार से ढकी हुई जो बुद्धि धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म तथा सम्पूर्ण सत्यों को असत्य और विपरीत मानती है वह बुद्धि तामसी होती है । इस प्रकार जो धृति या धारणा योग द्वारा स्थिर या टिकी हुई मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करती है वह धृति सात्त्विकी है । फलकी इच्छा वाला पुरुष अति आसक्ति से जिस धृति द्वारा धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है, वह धृति राजसी कहलाती है और जिस धृति के द्वारा दुष्ट-बुद्धि-पुरुष निद्रा, भय, चिन्ता-शोक, विषाद-क्लेश और मद या उन्मत्तता को सदैव धारण किए रहता है ; वह धृति तामसी कहलाती है ।

सुख भी तीन प्रकार का होता है । जिस सुख में साधक योगाभ्यास के द्वारा परब्रह्म परमात्मा में रमण करता है तथा जन्ममरणादि दुःख को लांघ जाता है वह आरंभ में तो विष तुल्य भासमान होता है ऐसा आत्म-बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख सात्त्विक सुख कहलाता है ।

इन्द्रियों के विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाला सुख भोग काल में तो अमृत के सदृश होता है । परन्तु परिणाम में विष रूप वन जाता है । उस लिए वह सुख राजस होता है ।

परन्तु निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ जो सुख भोग काल और परिणाम दोनों अवस्थाओं में आत्मा को मोह-वश करने वाला है वह सुख तामस कहलाता है ।

हे अर्जुन ! पृथिवी, आकाश और देवलोक आदि में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो प्रकृति के इन उक्त तीन गुणों से रहित है क्योंकि सारा संसार ही त्रिगुण मयी प्रकृति का ही विकार या खेल है ।

सम्पूर्ण संसार के लोग चार श्रेणियों में विभक्त है—

१—विद्वान्गुणी ज्ञानी, बुद्धिजीवी या ब्राह्मण ।

२—शासक, देश रक्षक या क्षत्रिय ।

३—कृषक, शिल्पी, पशुपालक, कारखानेदार व्यापारी या वैश्य ।

४—सेवाकर्म में तत्पर, नौकर चाकर, श्रमक या शूद्र ।।

शम दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्या आदि ये सब प्रथम श्रेणी के स्वभाव-ज कर्म है क्षत्रिय वर्ग के स्वभावज कर्म शौर्य, तेज,

धृति दाक्षिण्य चतुरता, युद्ध में कभी पीठ न दिखाना, दान और सारी प्रजा पर सुचारु रूप से शासन करना है।

शिल्प, कृषि, पशु पालन और वाणिज्य आदि वैश्य के स्वभावज कर्म हैं। नौकरी चाकरी और मज़दूरी आदि सेवा करना चौथी श्रेणी का स्वभावज कर्म हैं।। अपने अपने कर्म में दत्त चित्त होकर लगा हुआ नर परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है क्योंकि मनुष्य अपने किए हुए कर्मों से जनता—जनार्दन की सेवा या पूजा करता है इस प्रकार अपने कर्म द्वारा परमेश्वर को पूज कर परम सिद्धि को पा लेता है। गुण रहित होने पर भी अपना धर्म श्रेष्ठ होता है। परन्तु भली भान्ति आचरण किया हुआ भी दूसरे का धर्म धारण करना कदापि लाभकारी नहीं होता है। इसलिए पुरुष अपने नियत कर्म को करता हुआ कभी पाप को नहीं प्राप्त होता।। अत: दोष युक्त भी अपना स्वभाविक कर्म न त्यागना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार प्रचण्ड और देदीप्यमान् अग्नि धूएं से युक्त होती है उसी प्रकार सारे कर्म दोष से आवृत होते है।।

कर्मों में असक्त बुद्धि, विगत-स्पृह, और जीते हुए अन्त: करण वाला पुरुष सर्वत्र कर्म फल सन्यास द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धि को पा लेता है जिस से वह परमानन्द में मग्न होकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त हो जाता है क्योंकि विशुद्ध बुद्धि से युक्त हुआ, एकान्त, स्वच्छ शुद्ध देश में रहने वाला, शुद्ध हल्का तथा अल्पकारी, जितवाक्-काय-मानस, दृढ वैराग्य युक्त, निरन्तर ब्रह्म योग में लीन सात्त्विक धारणा से अन्त: करण को वश करके, शब्दादिक विषयों को त्याग कर रागद्वेष से रहित होकर, अहंकार, बलप्रदर्शन (धौंस) दर्प, काम-क्रोध-लोभ-मोह को त्याग कर शान्त अन्त: करण हुआ पुरुष एकी भाव से ब्रह्म-लीन होने के लिए नितान्त योग हो जाता है। फिर वह न तो किसी प्रकार का शोक करता है। न कोई आकांक्षा करता है। सब भूतों में सम भाव से मेरे दर्शन करता हुआ मेरी परम भक्ति को पाता है और उस भक्ति से मुझ को तत्त्व से भली भान्ति जान लेता है फिर तत्काल मुझ में प्रविष्ट हो जाता है।।

इसी प्रकार मेरे परायण हुआ निष्काम कर्म योगी पुरुष भी सारे कर्मों को सदैव करता हुआ मेरी कृपा से शाश्वत अविनाशी परम पद को प्राप्त हो जाता है।

मोक्ष प्राप्ति के लिए तेरे लिए सुगम मार्ग यह है कि तू सब कर्मों को मेरे अर्पण करके) मेरे परायण हुआ समत्व बुद्धि रूप निष्काम कर्म योग का आश्रय ले कर निरन्तर मुझ में मन स्थिर करने वाला बन जा। ऐसा करके तू जन्म-मृत्यु आदि सब संकटों को तर जायेगा। अब यदि तू मेरे वचनानुसार आचरण नहीं करेगा तो नष्ट या परमार्थ पथ से भ्रष्ट हो जाएगा-इस लिए तेरा युद्ध न करने का विश्वास मिथ्या है। तेरा क्षत्रिय-स्वभाव ही तुझे युद्ध करने के लिये मजबूर कर

देगा क्योंकि मनुष्य स्वभाव के वश हुआ अपनी जाति के कर्म को अवश्यमेव किया करता है ।

हे अर्जुन ! सब जीवों के शरीर मोटरों के समान हैं । प्रत्येक शरीर रूपी मोटर में जीवात्मा रूप सवारी चढ़ी हुई है । हृदय, शरीर मोटर का इंजन है जो दिन रात चालू रहता है जिस में ड्राइवर या चालक स्वयं ईश्वर स्थित है और वह अपनी माया रूपी हाथों के द्वारा इस मोटर को चला कर जीवात्मा को स्थान-स्थान पर भ्रमण करवाता रहता है । हे भारत ! तू तन, मन, धन आदि सब कुछ अर्पण करके उसकी शरण में जा जिस से उसकी कृपा से परम शान्ति स्थान को प्राप्त हो जाएगा ।

इस प्रकार मैंने गुह्य से गुह्यतर ज्ञान को तेरे प्रति कह दिया है । तू दत्तचित्त होकर इस सम्पूर्ण ज्ञान पर भली-भान्ति विचार कर और फिर जैसा तुझे रुचे, वैसा ही कर ।

तू मेरा अति प्रिय मित्र है इसलिए एक और भेद की बात कहता हूँ— मुझ में मन वाला हो जा । मुझे भजने वाला भक्त बन जा, सब प्रकार का यज्ञ केवल मेरे निमित्त ही किया कर । सब ओर मुझे देख कर नमस्कार किया कर । मैं सत्य कहता हूँ तू मेरा प्रिय है । इसलिए मुझ को प्राप्त हो जाएगा । तू सब धर्मों और मत मतान्तरों को त्याग दे केवल एक मेरी शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त करवा लूंगा इस विषय में तू तनिक भी चिन्ता न कर ।

इस समय मेरे और तेरे मध्य जो बात चीत हुई है । इस गीता रूप परम रहस्य को किसी काल में भी न तो तप रहित मनुष्य के प्रति कहना चाहिए । न भक्ति हीन पुरुष के सम्मुख कथन करना चाहिए । न, सुनना न चाहते हुए मनुष्य को सुनाना चाहिए तथा मेरे निन्दक के प्रति भी वर्णन न किया जाना चाहिए ।

इसके विपरीत इन चारों दुर्गुणों से रहित हुए मेरे भक्तों के प्रति प्रेम-पूर्वक प्रसन्न-वदन होकर कहना चाहिए ।। क्योंकि जो ज्ञानी पुरुष मुझ में परम प्रेम करके इस परम गुह्य गीता ज्ञान को मेरे भक्तों के प्रति कहेगा वह निःसन्देह मुझ को प्राप्त होगा क्योंकि मनुष्यों में उस से बढ़ कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करने वाला और कोई नहीं है और उस से बढ़ कर पृथिवी में मेरा अन्य कोई प्रिय भी न होगा और जो कोई भक्त-जन इस धर्ममय हम दोनों के संवाद रूप गीता ज्ञान को पढ़ेगा, नित्य पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित हूँगा । ऐसा तुम्हें निश्चय पूर्वक समझ लेना चाहिए ।

जो श्रद्धावान् पुरुष दोष-दृष्टि से रहित होकर इस गीता-ज्ञान को केवल श्रवण मात्र भी करेगा, वह भी पापों से मुक्त हुआ उत्तम कर्म करने वाले पुरुषों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा ।

हे अर्जुन ! अब अन्त में मैं तुझ से पूछता हूँ क्या तूने एकाग्रचित होकर ध्यान पूर्वक मेरी बातों को सुना है ? और क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह नाश हो गया है ?

अर्जुन ने उत्तर दिया—हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है। मेरे द्वारा स्मरण शक्ति पा ली गई है। अब मैं संशय रहित हुआ स्थित हूँ। इसलिए अब सहर्ष तेरे वचनों का पालन करूंगा।

अब राजा धृतराष्ट्र से संजय ने कहा—हे राजन् ! इस प्रकार मैंने महान् आत्मा परब्रह्म परमेश्वर भगवान् वासुदेव और अर्जुन के इस अद्भुत रहस्य-पूर्ण रोमाञ्चकारक संवाद को सुना। न केवल यह अपितु भगवान् वेदव्यास की कृपा से मिले हुए दिव्य नेत्र के द्वारा मैंने इस परम रहस्यमय गोपनीय योग को साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् कृष्ण से सुना है। हे राजन् ! श्री हरि के उस अति अद्भुत रूप को भी पुनः पुनः स्मरण करके मेरे मन में महान् आश्चर्य हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित और पुलकायमान हो रहा हूँ।

हे राजन् !

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

अर्थात् श्री, विजय, भूति और ध्रुवा नीति ये चारों भगवान् कृष्ण और अर्जुन के सदैव अंग संग रहती हैं ॥

इस प्रकार गीता का चौथा भाग अर्थात् तृतीय षटक वेद के तृतीय भाग ज्ञान कांड के रूप में कथित हुआ है। इससे गीता के सम्पूर्ण अठारह अध्याय सुचारु रूप से छप कर तैयार हो गए हैं। जिस से मेरा जीवन सार्थक हो गया है।

हे गोविन्द ! जो कुछ है वह सब कुछ तेरा है और मैं भी तेरा हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥

॥ सत्यं, सुन्दरं, शिवम् ॥

शुभम्। मंगलम् ॥

आप का
टीकाकार

॥ अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥

श्री भगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

इदम्+शरीरम्=कौन्तेय ! क्षेत्रम्+इति+अभिधीयते । एतत्+यः+वेत्ति तम्+प्राहुः क्षेत्रज्ञः+इति तत्+विदः ॥

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह ।

शरीरम्=(नपुं०)√शृ+ईरन्=शरीर+प्र० ए० व०=प्राणियों के सब अंगों का समूह । देह । तन । काया । शरीर ।

कौन्तेय !=(सं०) हे कुन्ती पुत्र अर्जुन !

क्षेत्रम्=(नपुं०)√क्षि+त्रन्=क्षेत्र+प्र० ए० व०=क्षेत्रम्=क्षेत्र । खेत । पुण्य भूमि । तीर्थ स्थान । चोट लगने से क्षतों से त्राण किया जाने वाला । धीरे-धीरे क्षीण या नष्ट होने वाला । (कर्म) फल प्राप्त कराने वाला ।

इति=(अव्यय) [एवम् अर्थ में] । इस प्रकार । ऐसा ।

अभिधीयते=अभि√धा (जहो० उभ० सक०=कहना । रखना । धारण करना)=भाव वाच्य लट्०, प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है ।

एतत्=इदम् (सर्व०)+नपुं०) द्विती० ए० व०=इसको ।

यः=यद् (सर्व०)+पुं०) प्र० ए० व०=जो ।

वेत्ति—√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=जानता है ।

तम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको ।

प्राहुः=प्र√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=कहते हैं ।

क्षेत्रज्ञः=(पुं०) क्षेत्रं देहम् आत्मत्वेन जानाति, क्षेत्र+√ज्ञा+क=जो देह को अपने स्वरूप से जानता है । क्षेत्र को जानने वाला । परमात्मा । (प्र० ए० व०) ।

इति=(अव्यय) यहाँ 'एवम्' अर्थ में=इस प्रकार । ऐसा ।

तत्+विदः=(पुं०) तम्+√विद्+क्विप्=तद्विद्+प्र० ब० व०=उसको जानने वाले=उसको तत्त्व से जानने वाले ज्ञानी लोग ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! "यह शरीर क्षेत्र हैं।" इस प्रकार कहा जाता है। जो इस (क्षेत्र) को जानता है। उसको "क्षेत्रज्ञ" इस प्रकार उसको जानने वाले (ज्ञानी लोग) कहते हैं॥ १ ॥

व्याख्या—भगवान् ने अध्याय बारह में यह बात स्पष्टतया बतला दी है कि अव्यक्त ब्रह्म को बुद्धि द्वारा चिन्तन करने से तथा सर्वव्यापक अनुभव करने से अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है परन्तु उसकी अपेक्षा श्रद्धापूर्वक सगुण परमेश्वर के प्रत्यक्ष और व्यक्त स्वरूप की भक्ति करके निष्काम कर्म करता हुआ भक्त उस मोक्ष को आसानी से प्राप्त कर लेता है। पहले छः अध्याओं में 'त्वं' शब्द का निरूपण है अर्थात् 'तू' क्या है ? देह क्या है ? आत्मा क्या है ? अनित्य-पदार्थों में नित्य-बुद्धि की निवृत्ति कैसे हो सकती है ? सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक 'तत्' शब्द की व्याख्या है। तत् अर्थात् वह (परब्रह्म) जो है। 'त्वं (तू)' उसी का स्वरूप है। वह अव्यक्त और अनिर्देश्य है। उसे व्यक्त होते भी चिर नहीं लगता। जैसे दियासिलाई रगड़ने से अग्नि का प्रकट होना स्वाभाविक और सहज ही होता है इसी प्रकार अव्यक्त परब्रह्म को व्यक्त रूप में प्रकट करके देखना भक्त के प्रभु-प्रेम और अनन्य भक्ति पर निर्भर होता है। अब तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक 'असि' क्रिया की व्याख्या होगी। इस प्रकार सारी गीता का सार रूप मन्त्र "तत्त्वमसि" है अर्थात् शरीर के भीतर ये दो ही हैं। एक तो क्षेत्र रूपी 'शरीर'। जिसमें पाप, पुण्य रूपी दो प्रकार के बीज उगते हैं और उन्हीं के अनुसार कड़वे और मीठे दो प्रकार के फल लगते हैं। जिनमें से कड़वे फलों का उपभोग नरक में बैठकर किया जाता है और मीठे फलों का उपभोग स्वर्ग में रह कर करना पड़ता है। (परन्तु यदि) इन पाप पुण्य रूपी कर्मों के फलों का त्याग अनन्य भक्ति या ब्रह्म निष्ठा के द्वारा कर दिया जाये तो इनके बदले अमृत रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है जिससे सदैव सुख या परब्रह्म में मिलकर एकरूपता प्राप्त हो जाती है।

शरीर का नाम क्षेत्र इस कारण से भी है कि यह सदा क्षर या क्षीण होता रहता है और अन्त में नष्ट या समाप्त हो जाता है। जब कभी शरीर पर चोट लग जाती है तो इस पर क्षत या घाव हो जाते हैं। उन घावों से सदा इसका त्राण किया जाता है। इसलिए क्षतों से त्राण किया जाने योग्य होने से भी यह शरीर 'क्षेत्र' कहलाता है। इन्द्रियां, मन, बुद्धि और पांचों प्राण वायु इसके अंग हैं। यह शरीर जड़ है। विनाशशील है एवं परिवर्तनशील है। चेतन आत्मा इसमें इसी तरह अनुस्यूत है। जिस प्रकार वस्त्र में ताना बाना बनकर रेशम, रूई आदि अनुस्यूत होते हैं। गन्ने में रस और तिल में तैल व्यापक होता है अथवा सब शरीरों में आकाशवत् विद्यमान है। यह आत्मा अक्षर है, अध्यात्म है। परा प्रकृति है। नित्य, ज्ञाता और चेतन है जब यह इस शरीर

रूपी क्षेत्र को अच्छी तरह जान लेता है और अपने शुद्ध सच्चिदानन्द घन स्वरूप को पहचान लेता है तो यह क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र को जानने वाला कहा जाता है। यह क्षेत्रज्ञ विकारों से रहित, अलिंग, नित्य, चेतन और अव्यक्त स्वरूप है। जो ब्रह्म ज्ञानी लोग क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों के स्वरूप को तत्त्व से जानते हैं वे 'तद्विद्' कहलाते हैं। इस शब्द में षष्ठी तत्पुरुष समास है जिनका मूल रूप तयोर्विद् है अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्र दोनों को तत्त्व से जानने वाले।

इस अध्याय को प्रारम्भ करते हुए भगवान् ने अर्जुन के प्रश्न की प्रतीक्षा नहीं की। उसके मन की वृत्ति को जान कर ही अध्याय का आरम्भ कर दिया है। कई टीकाकारों ने इस अध्याय के आरम्भ में—

"अर्जुन उवाच—
प्रकृतिं पुरुषं चैन क्षेत्रं क्षेत्रमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥"

[अर्थ—अर्जुन ने कहा—हे केशव! मैं प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय को जानना चाहता हूँ।]

ऐसा पाठ दे दिया है।

परन्तु यह पाठ आधुनिक और क्षेपक मात्र है। कारण यह कि प्राचीन किसी टीकाकार ने इसे नहीं लिखा है और सप्तशती गीता में इसके होने से ७०१ श्लोक हो जाते हैं। जो ठीक नहीं हैं। इसलिए किसी मूर्ख पण्डित कहलाने वाले ने अमृत के कुण्ड में धूलि मिलाने का प्रयत्न किया है। इस कारण हमने भी इसे आरम्भ में नहीं लिखा है ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

क्षेत्रज्ञम्+च+अपि माम्+विद्धि सर्व-क्षेत्रेषु भारत!।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः+ज्ञानम्+यत्+तत्+ज्ञानम्+मतम्+मम ॥

क्षेत्रज्ञम्=(पुं०) क्षेत्रं देहम् आत्मत्वेन जानाति, क्षेत्र+√ज्ञा+क=क्षेत्रज्ञ+ द्विती० ए० व०=क्षेत्रज्ञ को। आत्मा को।

च=(अव्यय) और।

अपि=(अव्यय) भी। ही।

माम्=अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझ को।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्०, म० पु०, ए० व०= (तू) जान।

सर्व-क्षेत्रेषु=(नपुं०) सर्वेषु क्षेत्रेषु (सप्त० तत्पु०) सब क्षेत्रों में। सब शरीरों में। सप्तमी ब० व०।

भारत=हे भरत वंश में उत्पन्न हुए अर्जुन!

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः=(पुं०) इतरेतर द्वन्द्व समास । षष्ठी द्वि० व०=क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का । शरीर और आत्मा का । प्रकृति और पुरुष का ।

ज्ञानम्=(नपुं०)√ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान+प्र० ए० व०=ज्ञानम्=जानना । ज्ञान । जानकारी । तत्त्व से जानना (है) ।

[यह दिखाई देने वाला सारा संसार माया का कार्य होने से जड़, अनित्य और क्षणभङ्गुर है परन्तु इस में रम रहा (जीव) आत्मा चेतन, नित्य, अविनाशी और सनातन है। जो शुद्ध बोध स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा का ही प्रकाश या अंश है । इस तरह समझ कर संपूर्ण मायिक पदार्थों की आसक्ति को छोड़ कर परमात्मा में ही एकी भाव से नित्य स्थित रहने का नाम ज्ञान है अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को तत्त्व से जानना ज्ञान है ।]

यत्=यद् (सर्व)+(नपुं०) प्र० ए० व=जो ।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह ।

ज्ञानम्=(नपुं०) ज्ञान+प्र० ए० व०=जानना है । ज्ञान है ।

मतम्=(वि०)√मन्+क्त=मत+(नपुं०) प्र० ए० व०=मतम्=सोचता हुआ । विश्वास किया हुआ । विचार किया हुआ । विचार । मत ।

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मेरा ।

अर्थ—और हे—आत्मा की भा में रत, श्रेष्ठ भरत वंश में उत्पन्न हुए अर्जुन ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी (तू) मुझ को ही जान । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का (तत्त्व से) जनना ही 'ज्ञान' है यह मेरा मत है [अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वह ज्ञान मेरा मत (सनातन धर्म मत) है] ॥ २ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू उस भरत वंश में उत्पन्न हुआ है ; जो अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुषों का वंश है । इस लिए तू मेरे इस मत को समझ जाएगा । सब शरीरों में जो जीवात्मा है । वह ही क्षेत्रज्ञ है और सब शरीर क्षेत्र हैं जिसमें पाप-पुण्य रूप दो प्रकार के फल लगने वाले बीज बोए जाते हैं । उन सब शरीरों में एक ही परमात्मा का प्रतिबिम्ब रूप जीवात्मा रम रहा है । ठीक इसी प्रकार जैसे पानी से भरे हुए सब घड़ों में एक ही सूर्य प्रतिबिम्बित हो रहा हो अथवा एक ही वायु, सरोवर में बने हुए सब बदबुदों में, भरी हुई होती है किंवा जैसे—आकाश सब स्थानों में व्यापक है । जब यह जीवात्मा क्षेत्र को तत्त्व से जानता है और उसे अपने से भिन्न प्रकृति का कार्य नाशवान् और क्षण-भङ्गुर जड़ और अनित्य जान लेता है जो वह क्षेत्रज्ञ नाम से पुकारा जाता है । वास्तव में आत्मा और परमात्मा में कुछ भी भेद नहीं है । प्रकृति के संग से ही भेद प्रतीत होता है । समस्त शरीरों या क्षेत्रों में जो चेतन आत्मा क्षेत्रज्ञ है वह मेरा ही अंश होने के कारण मुझ से भिन्न नहीं है । "क्षेत्रज्ञ भी मैं ही हूँ" ऐसा कहने से यह प्रतीत होता है कि "क्षेत्र मैं हूँ और क्षेत्रज्ञ भी मैं ही हूँ ।" क्योंकि जिन

पंच महाभूतों से क्षेत्र या शरीर बनता है। वे प्रकृति द्वारा निर्मित होते हैं और प्रकृति परमेश्वर की कनिष्ट विभूति है और विभूति अन्त में विभूति वाले में मिल जाती है।

क्षेत्रज्ञ तो क्षेत्र का अधिष्ठाता, साक्षी, नियामक और ज्ञाता बन कर क्षेत्र में स्थित होता है। आत्माकार वृत्ति का नाम "भा" है। उस आत्मकार अखण्ड में जो सदा रत रहता है अर्थात् रमण करता है अथवा उस अखण्ड वृत्ति में जो प्रीति वाला है उसका नाम 'भारत' है। हे आत्म-ज्ञान में प्रीति वाले अर्जुन !

सब शरीरों में जो क्षेत्रज्ञ है, वह स्व-प्रकाश, चैतन्य-रूप, नित्य, विभु और अजन्मा है। अविद्या के कारण से जिस में कर्तृत्व और भोक्तृत्व धर्म आरोपित किए जाते हैं। हे भारत ! तू अविद्या को त्याग कर उस क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) को मेरा रूप जान ले, उसे अन्तः करणादि सब उपाधियों से 'प्रत्यक्' आत्मा रूप क्षेत्रज्ञ समझ ले। यह असंसारी अद्वितीय ब्रह्मनन्द रूप ही मैं हूँ। यद्यपि अनेक क्षेत्र (शरीर) रूप उपाधियों के कारण पृथक्-पृथक् प्रतीत होता हूँ। श्रुति में कहा है—

१—'अयमात्मा ब्रह्म'=यह जीवात्मा ब्रह्म रूप है।

२—अहं ब्रह्मास्मि=मैं ब्रह्म रूप हूँ।

३—तत्त्वमसि=सो ब्रह्म तू ही है।

४—प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म=यह आनन्द रूप प्रज्ञान नाम जीवात्मा ब्रह्म रूप है।

५—ब्रह्मैवेदं सर्वं=यह सब कुछ ब्रह्म ही है।

६—सर्वं खल्विदं ब्रह्म=निश्चय पूर्वक यह दिखाई देने वाला और न दीखने वाला सब कुछ ब्रह्म ही है।

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जो तत्त्व से जानता है वही मोक्ष के देने वाले सच्चे ज्ञान को जानता है। यह ज्ञान मेरा सनातन मत है। जो सदैव सत्य स्वरूप है। तू इस को अच्छी तरह से जान कर संसार-सागर को तर जा ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्य तत्समासेन में शृणु ॥ ३ ॥

तत्+क्षेत्रम्+यत्+च यादृक्+च यत्+विकारि यतः+च यत्। सः+च यः+यत्+प्रभावः+च तत्+समासेन में शृणु ॥

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं) प्र० ए० व०=वह।

क्षेत्रम्=(नपुं०)√क्षि=त्रन्=क्षेत्र+प्र० ए० व०=क्षेत्रम्=खेत, क्षेत्र।

यत्=यद् (सर्व०)+नपुं) प्र० ए० व०=जो (है)।

च=(अव्यय) और।

यादृक्=(वि०) यद् (सर्व०)√दृश्+क्विन् वा कञ्, आत्व=यादृश्+(नपुं०) प्र० ए० व०=जैसा (है)।

च=(अव्यय) और।

यत्=यद् (सर्व०)=नपुं०) प्र० ए० व०=जिस।

विकारि=वि√कृ+णिनि=विकारिन् (इस का नपुंसकलिङ्ग रूप प्र० ए० व०=विकारि) विकार वाला (है)। बदलने वाला।

यतः=(अव्यय) यद्+तसिल=यतस्=जिस से। जिस कारण से।

च=(अव्यय) और।

यत्=यद् (सर्व०)+नपुं०) प्र० ए० व०=जो (है)। जो (हुआ है)।

सः=तद् (सर्व०)+पुं०) प्र० ए० व०=वह (क्षेत्रज्ञ)।

च=(अव्यय) और।

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो है।

यत्+प्रभावः=(वि० पुं०)=प्र० ए० व०=जिस प्रभाव वाला (है)।

च=(अव्यय) और।

तत्=तद् (सर्व०)+नपुं०) द्विती० ए० व०+उस (सब) को।

समासेन=(पुं०) सम् √अस्+घञ्=समास+तृती० ए० व०=समास से। संक्षेप से।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मुझ से। मेरे से। मेरा कथन।

शृणु=√श्रु (स्वा० पर० सक०=सुनना)+लोट्० म० पु० ए० व०=(तू) सुन।

अर्थ और वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिस विकार वाला है, एवं जिस कारण से जो हुआ है और वह क्षेत्रज्ञ जो है तथा जिस प्रभाव वाला है। उस (सब) को मेरे द्वारा संक्षेप से सुन ॥ ३ ॥

व्याख्या – भगवान् बोले– हे अर्जुन ! तुम्हें संक्षेप से बताता हूँ, कि वह क्षेत्र क्या है ? किस प्रकार का है ? कैसे विकार वाला है अर्थात् उसमें परिवर्तन किस प्रकार होते हैं ? तथा वे परिवर्तन किस प्रकार के हैं ? यह क्षेत्र कहाँ से आया है ? और इस को जानने वाला क्षेत्रज्ञ कौन है ? तथा उस की शक्ति कैसी है ? वह क्षेत्र किस के सदृश है ? तथा क्षेत्रज्ञ उस में कहाँ और कैसे निवास करता है ? इत्यादि इस विषय के जो मुख्य प्रश्न हैं, उन का स्पष्टीकरण मैं संक्षेप से करता हूँ। तू मेरे इस उपदेश को ध्यानपूर्वक सुन ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

ऋषिभिः+बहुधा गीतम्+छन्दोभिः+विविधैः पृथक् । **ब्रह्म-सूत्र-पदैः**+च+एव हेतुमद्भिः+विनिश्चितैः ॥

ऋषिभिः=(पुं०) ऋषति गच्छति संसार-पारम् इति √ऋष्+इन्, कित्=ऋषि+तृती० ब० व०=(वसिष्ठादिभिः) ऋषिभिः=वसिष्ठादि ऋषियों के द्वारा।

बहुधा=(अव्यय) बहु=धाच्=बहु प्रकारम्, अनेक ढंगों से। बहुत प्रकार से।

गीतम्=(वि०) √गै+क्त=(नपुं०) प्र० ए० व०=गाया हुआ है। गाया है। कहा गया है।

छन्दोभिः=(नपुं०) √छन्द्+असुन्=छन्दस्+तृती० ब० व०=छन्दोभिः= छन्दों द्वारा। वेद मन्त्रों से। ऋग्वेदादि श्रुति वाक्यों द्वारा।

विविधैः=(वि०) विभिन्ना विधा यस्य (प्रा० बहुव्री०)=नाना प्रकार के। अनेक तरह के।

पृथक्=(अव्यय) √प्रथ्+अज्, कित्, संप्रसारण=पृथक्। अलग-अलग। पृथक-पृथक।

ब्रह्म-सूत्र-पदैः=(पुं०) ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि, तैः पद्यते (गम्यते) ज्ञायते ब्रह्म इति तानि पदानि उच्यन्ते=जो सूत्र (वाक्य) ब्रह्म के सूचक हैं, उन का नाम ब्रह्म-सूत्र है। उन के द्वारा ब्रह्म पाया जाता है (अर्थात् जाना जाता है) इस लिये उनको 'पद' कहते हैं।

महर्षि बादरायण (वेद व्यास) रचित ब्रह्म-सूत्र ग्रन्थ के पदों (सूत्रों) द्वारा। वेदान्तसूत्र के पदों से।

["अनेक ऋषियों को भिन्न-भिन्न काल या स्थान में जिन अध्यात्म-विचारों का स्फुरण हुआ था, वे विचार बिना किसी पारस्परिक सम्बन्ध के भिन्न-भिन्न उपनिषदों में वर्णित हैं। इस लिये उपनिषद् संकीर्ण हो गये हैं और कई स्थानों पर वे परस्पर विरुद्ध से जान पड़ते हैं। ऊपर के श्लोक के पहले चरण में 'विविध' और 'पृथक' शब्द हैं। वे उपनिषदों के इसी संकीर्ण और परस्पर विरुद्ध होने का बोध कराते हैं। इन उपनिषदों के संकीर्ण और परस्पर विरुद्ध होने को देख कर भगवान् बादरायण ने उन के सिद्धान्तों की एक-वाक्यता करने के लिये वेदान्त सूत्रों (ब्रह्म सूत्रों) की रचना की थी और इन सूत्रों में उपनिषदों के सब विषयों को लेकर प्रमाण सहित अर्थात् कार्य-कारण आदि दिखलाकर पूर्ण रीति से सिद्ध किया है कि प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में उन उपनिषदों से एक ही सिद्धान्त कैसे निकाला जाता है अर्थात् उपनिषदों का रहस्य समझने के लिये ब्रह्मसूत्रों की सदैव जरूरत पड़ती है (श्री तिलक महाराज की टिप्पणी के आधार पर।"]

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) (ऐसे) ही।

हेतुमद्भिः=(वि० पुं०) [√हि+तुन्=हेतु (पुं०)+मतुप्=हेतुमत्+तृती० ब० व०=हेतुमद्भिः]=तर्क युक्तों द्वारा। युक्ति युक्तों द्वारा। युक्ति वालों द्वारा।

विनिश्चितैः=(वि० पुं०) विशेषण निश्चयः कृतः तैः (प्रा० बहुव्री०)=विशेष प्रकार से निश्चय किए हुओं द्वारा। अच्छी तरह निश्चय किए हुओं से। पूर्ण निश्चित अर्थ वालों द्वारा। [वि–निर् √चि (चयन करना)+क्त+(पुं०) तृती० ब० व०=विनिश्चितैः]

अर्थ—नाना प्रकार से, (वसिष्ठादि) ऋषियों द्वारा, विविध भान्ति से (ऋग्वेदादि) श्रुति वाक्यों से,पृथक् पृथक् और ऐसे ही अच्छी तरह निश्चय किए हुए, युक्ति-युक्त (बादरायण कृत) ब्रह्मसूत्र के सूत्रों द्वारा (यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी विषय) गाया या वर्णित किया गया है ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पहले भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन बहुत प्रकार से ऋषियों ने स्वरचित ग्रन्थों में किया है तथा ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन चारों वेदों के 'संहिता' और ब्राह्मण दोनों ही भागों में इस विषय का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। समस्त उपनिषदों में नाना प्रकार से इस विषय का निरूपण किया गया है। इन सब वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों में यह वर्णन बहुधा भिन्न-भिन्न और विविध प्रकार से पृथक् पृथक् रूप से किया गया है। जिन में एकरूपता लाने के लिए बादरायण ने अत्यन्त सुलझे हुए ढंग से युक्तियों से युक्त अच्छी तरह निश्चय किए हुए रूप में अपने रचे हुए ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र (वेदान्त सूत्र) में किया है, यह वर्णन सर्वथा असन्दिग्ध है। युक्तियुक्त या हेतुमत् है। ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय में, तीसरे पाद के पहले सोलह सूत्रों में क्षेत्र सम्बन्धी विचार किया गया है और फिर उस पाद के अन्त तक क्षेत्रज्ञ का विवेचन है ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

महाभूतानि+अहंकारः+बुद्धिः+अव्यक्तम्+एव च। इन्द्रियाणि दश+एकम्+च पञ्च च+इन्द्रिय-गोचराः ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखम्+दुःखम्+संघातः+चेतना धृतिः। एतत्+क्षेत्रम्+समासेन स-विकारम्+उदाहृतम् ॥ ६ ॥

महा-भूतानि=(नपुं०) प्र० ए० व०। महान्ति च तानि सर्वविकार-व्यापकत्वाद् भूतानि च सूक्ष्माणि। स्थूलानि तु इन्द्रियगोचर शब्देन अभिधायिष्यन्ते [श्री शंकराचार्य जी]

[**अर्थ**—महाभूत (अर्थात् सूक्ष्मभूत), वे सब विकारों में व्यापक होने के कारण महान् भी हैं और भूत भी हैं, इसलिये वे महाभूत कहे जाते हैं। स्थूल पंचभूत तो इन्द्रिय-गोचर-शब्द से कहे जायेंगे। इसलिये यहाँ 'महाभूत' शब्द से "सूक्ष्मपंच-महाभूतों" का ग्रहण है।]

पांच महाभूत [आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का सूक्ष्म सार रूप] [कर्मधारय समास]।

अंहकार:=(पुं०) अहम्+कार+प्र० ए० व०=आत्मसम्बन्धी अभिमान। **अथवा** पाँच महाभूतों का कारण अहंप्रत्यरूप अहंकार।

बुद्धि:=(स्त्री०) √बुध्+क्तिन्+प्र० ए० व०=जानने, समझने और विचार करने की शक्ति। अन्त: करण की निश्चयात्मिका वृत्ति। **अथवा** अहंकार की कारण रूपा वृत्ति (महत्तत्त्व रूपी बुद्धि)।

अव्यक्तम्=(वि०, नपुं०) न व्यक्तम् (नञ् तत्पु०) वि√अञ्ज् (रु० पर० सक० =प्रकाशित होना)+क्त=व्यक्त। प्र० ए० व०=अज्ञेय। अगोचर। अप्रकट। बुद्धि की कारण रूपा अव्यक्त प्रकृति। मूल प्रकृति (अर्थात् त्रि-गुण-मयी माया)। सत्त्वरज-तम गुणात्मक अव्यक्त माया। 'मम माया दुरत्यया' कही गई ईश्वर की दुस्तर माया।

[नोट—सांख्य मतानुसार—पांच महाभूत ६-अहंकार ७—बुद्धि और अव्यक्त, यह आठ प्रकार की प्रकृति है।]

एव=(अव्यय) ही। ऐसे ही।

च=(अव्यय) और।

इन्द्रियाणि=(नपुं०) इन्द्र+घ-इय=इन्द्रिय+प्र० ब० व०=इन्द्रियां।

शरीर के वे अवयब, जिनसे शरीर के बाहरी विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। ये इन्द्रियां दो कार की हैं—

१—कर्मेन्द्रियां और २—ज्ञानेन्द्रियां।

कर्मेन्द्रियां—हाथ, पांव, वाणी, गुदा और उपस्थ।

ज्ञानेन्द्रियां—आंख, कान, जीभ और त्वचा।

कुछ दर्शन 'मन' को ग्यारहवीं इन्द्रिय मानते हैं अर्थात् ग्यारहवीं इन्द्रिय संकल्प-विकल्पात्मक मन होती है।

दश+एकम्=(नपुं०, प्र० ए० व०) दश और एक=ग्यारह। मन सहित ग्यारह।

पञ्च=पंच+कनिन्=पञ्चन्+प्र० ए० व० (तीनों लिङ्गों में समान रूप)= पञ्च=पाँच।

च=(अव्यय) और।

इन्द्रिय-गोचराः=(पुं०) प्र० ब० व०=इन्द्रियाणां गोचराः (षष्ठी० तत्पु०) गावः इन्द्रियाणि चरन्ति अस्मिन् (गावश्चरन्त्यस्मिन्)। जिनमें इन्द्रियां विचरती हैं। इन्द्रियों के पाँच विषय – शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ॥ (५)

इच्छा=(स्त्री०) √इष्+श—टाप्+प्र० ए० व०=अभिलाषा। चाह। जिस प्रकार के सुखदायक विषय का पहले उपभोग किया हो, फिर वैसे ही पदार्थ के प्राप्त होने पर उसको सुख का कारण समझ कर मनुष्य उसे लेना चाहता है। उस चाह का नाम इच्छा है। यह अन्तःकरण का धर्म है और ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र है। लोक या परलोक की अभिलाषा।

द्वेष=(पुं०) √द्विष्+घञ्+प्र० ए० व०=घृणा। नफ़रत। शत्रुता। प्रतिकूल पदार्थों में घृणा। अन्तःकरण की वह वृत्ति जो दुःख या प्रतिकूल पदार्थों में अप्रिय-बुद्धि उत्पन्न करती है। यह द्वेष भी ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र है।

सुखम्=(नपुं०) √सुख्+अच्+प्र० ए० व०=मन की वह उत्तम तथा प्रिय अनुभूति, जिसके द्वारा अनुभकर्ता का विशेष समाधान और सन्तोष होता है और जिसके बराबर बने रहने की इच्छा बनी रहती है। यह सुख भी अनुकूल, प्रसन्नतारूप और सात्विक होने से ज्ञेय है। अतः क्षेत्र है।

दुःखम्=नपुं०) √दुःख्+अच् वा घञ्+प्र० ए० व०=कष्ट। क्लेश। तकलीफ़। प्रतिकूल वस्तुओं और घटनाओं की प्राप्ति पर अन्तःकरण की विक्षेप-रूप अथवा क्लेश-रूप वृत्ति। प्रतिकूलता रूप दुःख भी ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र ही है।

संघातः=(पुं०) सम्√हन्+घञ्+प्र० ए० व०=देह और इन्द्रियों का समूह। सारा शरीर।

चेतना=(स्त्री०) √चित्+युच्-टाप्+प्र० ए० व०=सजीवता। जीवन। ज्ञान। बोध। शरीर में प्रकाशित हुई अन्तःकरण की जो वृत्ति है और जो कि "अग्नि से प्रज्वलित लोह पिण्ड की भान्ति" आत्म चैतन्य के आभास रूप से व्याप्त है। यह चेतना भी ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र है।

धृतिः=(स्त्री०) √धृ+क्तिन्+प्र० ए० व०=धैर्य। व्याकुलता के प्राप्त होने पर चित्त को दृढ़ रखने और धीरज देने वाली अन्तःकरण की वृत्ति।

एतत्=एतद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह।

क्षेत्रम्=(नपुं०) √क्षि+त्रन्=क्षेत्र+प्र० ए० व०=क्षेत्रम्। खेत। धीरे-धीरे क्षीण या नष्ट होने वाला।

समासेन=(पुं०) सम्√अस्+घञ्=समास+तृती० ए० व०=समास से। संक्षेप से।

स-विकारम्=विकारेण सह (बहुव्री०) विकार के सहित।

[वि√कृ+घञ्=विकार। विकृति। तबदीली। परिवर्तन।]

उदाहृतम्=उद्-आ, हृ+कर्मणि क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है।

[उक्तम्]

अर्थ—(पांच) महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का सूक्ष्म सार रूप), अहंकार (पांच भूतों का कारण), बुद्धि (अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति), अव्यक्त (मेरी दुस्तर त्रिगुणमयी माया या प्रकृति), दश इन्द्रियां काट दो और ग्यारहवां (मन रूप इन्द्रिय), पांच इन्द्रियों के गोचर (विषय रूपी, चरने के क्षेत्र) इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात् (स्थूल देह), चेतना (जीवन संचार की जीती जागती शक्ति) और धृति यह (३१ तत्त्वों का समुदाय) विकारों के सहित संक्षेप से क्षेत्र कहा गया है ॥ ५, ६ ॥

व्याख्या—एक सांख्य-कारिका में कहा गया है—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥"

[सां० का० ३]

[**अर्थ**—मूल प्रकृति एक है वह किसी की विकृति या विकार नहीं है। महत्-सत्त्व आदि (महत्तत्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्राएँ) ये सात प्रकृति-विकृति (प्रकृति के विकार) हैं अर्थात् ये सातों भूतों के कारण होने से प्रकृति के रूप भी हैं और प्रकृति के कार्य होने से विकृति या विकार भी हैं। मन सहित ग्यारह इन्द्रियां और पंचमहाभूत ये सोलह विकृति या विकार हैं। वे स्वयं किसी के कारण नहीं। परन्तु पुरुष (आत्मा) तो किसी का भी कारण या कार्य नहीं हैं वह तो विकृति या विकार से सर्वथा रहित है।]

योग दर्शन में लिखा है—

"विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।"

[यो० सूत्र २।१९ ॥]

[**अर्थ**—विशेष (दश-इन्द्रियां और ग्यारहवां मन और पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये स्थूल भूत, इस प्रकार कुल सोलह) और अविशेष (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच तन्मात्राएँ सूक्ष्म पंच महाभूत अहंकार—इस प्रकार ये छः), लिङ्गमात्र (महत्तत्त्व-बुद्धि), अलिङ्ग (मूल प्रकृति) ये चौबीस तत्त्व गुणों की अवस्था विशेष है। इन्हीं दृश्य कहते हैं] और गीता में इसी दृश्य का नाम क्षेत्र है।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आकाश, अहंकार, बुद्धि, अदृश्य माया या प्रकृति, नाक, आंख, जीभ, चमड़ी, हाथ, पाँव, पायु, उपस्थ, वाणि, सूंघना, सुनना, देखना, चखना, छूना, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूलदेह या तत्त्वों

की परस्पर सहयोग करने की शरीर में स्थित शक्ति, धृति अर्थात् शरीर के परमाणुओं का धैर्यपूर्वक एक दूसरे से सटे रहने का गुण, यह इकतीस गुणों का समूह अपने विकारों सहित क्षेत्र संक्षेप में कहा है।

पांचवें श्लोक में सांख्य मत वालों के पच्चीस तत्त्वों में से 'पुरुष' को छोड़कर चौबीस तत्त्व आ गए हैं। कणाद ने इच्छा, द्वेष आदि को आत्मा के धर्म माना है। परन्तु भगवान् ने क्षेत्र को दर्शाने के लिए मन के साथ इनकी भी गणना की है और क्षेत्र शब्द की व्याख्या को सन्देह रहित करने के लिए यहाँ स्पष्ट रीति से सुख, दु:ख, इच्छा द्वेषादि द्वन्द्वों का समावेश कर दिया है। विशेषक दर्शन में आत्मा, परमात्मा और प्रकृति तीनों को स्वतन्त्र और भिन्न रूप में माना है जो गीता के उपदेश के सर्वथा विरुद्ध और मिथ्या है। संघात् अर्थात् सब का समूह भी स्वतन्त्र कर्ता नहीं इसलिए उसकी गणना भी क्षेत्र में ही की गई है। चेतना का अर्थ इस श्लोक में केवल "जीवितावस्था की चेष्टा" ही है और कुछ नहीं है।

'इद्रिय-गोचरा:' 'गो' श्लिष्ट शब्द 'गाय' और 'इन्द्रिय' दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार गोचर भूमि में हरा चारा देखकर उसे चरने के लिए गौएँ उत्कण्ठा से विह्वल होकर दौड़ पड़ती है। इसी प्रकार ये इन्द्रियां रूपी गौएँ रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श रूप विषयों को पाते ही उनमें विचरने के लिए दौड़ने लगती हैं और मन और बुद्धि रूप ग्वाले भी उनका साथ देने लगते हैं। जिस स्थान पर कभी पाँव नहीं रखना चाहिए उस स्थान पर इन्द्रियां मुँह मारने लगती हैं। उस समय मन खोता बन जाता है और बुद्धि भावना के फेर में पड़ कर पागलों के समान हो जाती है। जब तक संकल्प-विकल्प रहते हैं, तब तक सुख कभी हो ही नहीं सकता। परन्तु ज्यों ही संकल्प विकल्पों का नाश हो जाता है त्यों ही सुख स्वयं प्राप्त हो जाता है।

चेतना शक्ति सारे शरीर में नख से शिख तक जागृत रहती है। यह मन और बुद्धि में सजीवता लाती है और शरीर को हरा-भरा रखती है। चेतना ही आत्मा की संगति से जड़ शरीर को सजीव बनाती है।

क्षेत्र का अभिप्राय यह है कि इन्हीं इकतीस के एक रूप होकर कार्य करने से इसमें पाप और पुण्य के फलों वाली फसल उपजती है। जन्म से लेकर विनाश तक जो परिवर्तन होते हैं उनका नाम विकार है। इन दोनों श्लोकों में जिन इकतीस पदार्थों के समुदाय को क्षेत्र कहा गया है। वे सब सविकार रूप हैं। इसलिए ये सब साक्षी आत्मा में सम्मिलित नहीं कहे जा सकते। इसलिए इनमें से एक क्षेत्र है। दूसरा क्षेत्रज्ञ है। दोनों में महान् अन्तर है॥ ५, ६ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रह ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्ठोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अमानित्वम्+अदम्भित्वम्+अहिंसा क्षान्तिः+आर्जवम्। आचार्य+उपासनम्+शौचम्+स्थैर्यम्+आत्म-विनिग्रहः ॥ ७ ॥

इन्द्रिय+अर्थेषु वैराग्यम्+अनहङ्कारः+एव च। जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोष+अनुदर्शनम् ॥ ८ ॥

असक्तः+अनभिष्वङ्ग पुत्र-दार-गृह+आदिषु। नित्यम्+च समचित्त-त्वम् इष्ट+अनिष्ट+उपपत्तिषु ॥ ९ ॥

मयि च+अनन्य-योगेन भक्तिः अव्यभिचारिणी। विविक्त-देश-सेवित्वम्+अरति+जन-संसदि ॥ १० ॥

अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वम्+तत्त्व-ज्ञान+अर्थ-दर्शनम्। एतत्, ज्ञानम्+इति प्रोक्तम्+अज्ञानम्+यत्+अतः+अन्यथा ॥ ११ ॥

अमानित्वम्=(नपुं०) मानिनो भावो मानित्वम् आत्मनः=श्लाघनं तदभाव· अमानित्वम्। अपना बड़प्पन प्रकट करना मानित्व होता है, उसका अभाव अमानित्व कहलाता है। मान+त्व+(नपुं०) प्र० ए० व०=मानित्वम्। न मानित्वम्=अमानित्वम् (नञ् तत्पु०)=मान हीनता। श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव।

अदम्भित्वम्=(नपुं०) न दम्भित्वम् (नञ् तत्पु०)। [√दम्भ् (स्वा० पर० अक०=पाखण्ड करना)+घञ्=दम्भ+त्व+नपुं०) प्र० ए० व०=दम्भित्वम्] दम्भपन का अभाव। दम्भित्व हीनता। पाखण्ड का अभाव। ढोंग या कपट का न होना।

अहिंसा=(स्त्री०) न हिंसा (नञ् तत्पु०)। प्र० ए० व०। किसी प्राणी को न मारना। मन, वचन, कर्म से किसी प्राणी को पीड़ा न देना। [अहिंसनं=प्राणिनाम् अपीडनम्]

क्षान्तिः=(स्त्री०)√क्षम्+क्तिन्+प्र० ए० व०=क्षमा। क्षमा भाव। दूसरों का अपने प्र ते अपराध देखकर भी विकार रहित रहना।

आर्जवम्=(नपुं०) √ऋजु+अण्=आर्जव+प्र० ए० व०=आर्जवम्=सरलता। अकुटिलता। (मन और वाणी की) सरलता। कुटलता का अभाव।

आचार्य+उपासनम्=(नपुं०) आचार्यस्य उपासनम् (षष्ठी० तत्पु०)। उपासनम् =शुश्रूषादि प्रयोगेण सेवनम्। (श्रद्धा और भक्तिपूर्वक) गुरु की सेवा।

शौचम्+(नपुं०)√शुच्+इन्=शुचिन्+अण्। शौच+प्र० ए० व०= शौचम्। शुद्धता। भीतर बाहर की पवित्रता। शरीरिक मलों की जल आदि से शुद्धता होती है और अन्तः करण की शुद्धता राग-द्वेष और कपट विकारों को नष्ट करने से होती है। पवित्रता।

स्थैर्यम्=(नपुं०) स्थिरस्य भावः, स्थिर+ष्यञ्=स्थैर्य+प्र० ए० व०। [स्थिराभावो, मोक्ष-मार्गे एव कृताध्यवसा-हटादो कृताध्यवसायत्वम् यत्वम् स्थिर-भाव, मोक्ष-मार्ग में ही निश्चित निष्ठा कर लेना।] (श्री शंकराचार्य) (अन्तः करण की) स्थिरता। मन का टिकाव।

आत्म-विनिग्रहः=(पुं०) आत्मनः विनिग्रहः (षष्ठी० तत्पु०) [विनिग्रहः=(पुं०) वि, नि√ग्रह्+अप्+प्र० ए० व०=संयम। दमन। निग्रह। वश करना।] अपने आप को वश में करना। मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में करना॥ ७॥

इन्द्रिय+अर्थेषु=(पुं०) इन्द्रियाणाम् अर्थेषु (षष्ठी तत्पु०) सप्त० ब० व०= इन्द्रियों के विषयों में। शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध आदि इन्द्रियों के विषयों में। इहलोक और परलोक के संपूर्ण भोगों मे।

वैराग्यम्=(नपुं०)[वि√रञ्ज्+घञ्=विराग=अनुराग का अभाव] विराग+ष्यञ्=वैराग्य+प्र० ए० व०=वैराग्यम्=अनासक्ति। विरक्ति। घृणा। अरुचि। आसक्ति का अभाव।

अनहङ्कारः=(पुं०) न अहङ्कारः (नञ् तत्पु०) प्र० ए० व०। [अहङ्कार= पहं+कार आत्म-सम्बन्धी अभिमान]
अहंकार का अभाव। अहंकार हीनता।

एव=(ऐसे) ही। भी।

च=(अव्यय) और।

जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोष+अनुदर्शनम्=(नपुं०) जन्म च मृत्युः च जरा च व्याधयः दुःखानि च तेषु सर्वेषु अन्तेषु दोषान् अनुदर्शनम् [इतरेतर द्वन्द्व समास]=जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधियों और दुःखों के दोषों को बार-बार देखना [अर्थात् इन सब में होने वाले कष्टों को सदा ध्यान में रखकर इन से बचने के उपाय। मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुनः पुनः यत्न करना।]

[जरा=बुढ़ापा, व्याधि=रोग] जरा (स्त्री०) √जृ+अङ्-टाप्=बुढ़ापा। व्याधि (पुं०) विविधा आधयोऽस्मात् (प्रा० बहुव्री०) वि—आ√धा+ कि=बीमारी। रोग। पीड़ा॥ ८॥

असक्तिः=(स्त्री) न सक्तिः (नञ् तत्पु०) । √सञ्ज् (भ्वा० पर० सक०=चिपटना)+क्तिन्=सक्ति+प्र० ए० व०=सक्तिः ।

सक्तिः सङ्गनिमित्तेषु विषयेषु प्रीतिमात्रं तदभावः असक्ति (आसक्ति निमित्तक विषयों में प्रीति मात्र का नाम सक्ति है, उस का अभाव)। अनासक्ति । विरक्ति । आसक्ति से शून्यता । आसक्ति का अभाव ।

अनभिष्वङ्गः=(पुं०) न अभिष्वङ्गः (नञ् तत्पु०)। अभि√स्वञ्ज् (भ्वा० आत्म० सक०=आलिङ्गन करना, छाती से लगाना)+घञ्+प्र० ए० व०=अनभिष्वङ्गः=संसर्ग न होना । ममता हीनता ।

[मोहपूर्वक अनन्य आत्म-भावना-रूप जो विशेष आसक्ति है, उस का नाम "अभिष्वङ्ग" है । जैसे दूसरे के सुखी या दुःखी होने पर यह मानना कि मैं ही सुखी-दुःखी हूँ **अथवा** किसी के जीने मरने पर मैं ही जीता हूँ या मर जाऊँगा, ऐसा मानना (श्री स्वामी शंकराचार्य)] ।

पुत्र-दार-गृहादिषु=(नपुं०) पुत्रेषु दारेषु गृहेषु 'आदि' ग्रहणाद् अन्येषुअपि अत्यन्तेष्टेषु दासवर्गादिषु (इतरेतर द्वन्द्व०) । पुत्र, स्त्री और घर आदि में । (आदि शब्द से दासवर्ग आदि अत्यन्त प्रिय जनों, जीवों और वस्तुओं में भी ।) (सप्त० ब० व०) ।

नित्यम्=(अव्यय) नियमेन भवः, नि+त्यप्+(नपुं०) प्र० ए० व०=नित्यम्=प्रतिदिन । हर रोज़ । सदा । हमेशा ।

च=(अव्यय) और ।

समचित्तत्वम्=(नपुं०) सम√चित्+क्त+त्व+प्र० ए० व०=चित्त का सम रहना । सम-चित्तता । चित्त की समानता ।

इष्ट+अनिष्ट+उपपत्तिषु=(सप्त० ब० व०) इष्टानाम् अनिष्टानां च उपपत्तयः (संप्राप्तयः) तासु (इतरेतर द्वन्द्व०) [इष्ट=(वि०)√इष् वा √यज्+क्त=अभिलषित । चाहा गया । प्रिय । प्रिय वस्तु । अनिष्ट=न इष्टः यः सः (नञ् बहुव्री०) √इष्+क्त विरोधे नञ् तत्पु०=जो इष्ट न हो । अवांच्छित । न चाया गया । अप्रिय ।

उपपत्तिषु=(स्त्री०) उप√पद्+क्तिन्+सप्त० ब० व०=प्राप्तियों में]

इष्ट और अनिष्ट की प्राप्तियों में ॥ ९ ॥

मयि=अस्मद् (सर्व०)+सप्त० ए० व०=मुझ में । मुझ (परमेश्वर) में ।

च=(अव्यय) और ।

अनन्य-योगेन=(पुं०) अनन्येन योगेन । (तृती० तत्पु०) तृती० ए० व०=एकनिष्ठ ध्यान योग से । एकी भाव से स्थित होकर ध्यान योग से । अनन्य योग से । एकत्व रूप समाधि योग से ।

भक्तिः=(स्त्री०)√भज्+क्तिन्+प्र० ए० व०=अनुराग। श्रद्धा। प्रीति।
अव्यभिचारिणी=(स्त्री० वि०) न व्यभिचारिणी=न व्यभिचरणशीला (नञ् तत्पु०)।
[वि-अभि√चर्+णिनि+ङीप्=व्यभिचारिणी कुपथ गामिनी। अनुचित मार्ग अनुसारिणी।] [केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके श्रद्धा और भाव के साथ परम प्रेम से भगवान् का निरन्तर चिन्तन करना "अव्यभिचारिणी" भक्ति है। (गीता प्रैस)] कभी विचलित न होने वाली। अटल।
विविक्त-देश-सेवत्वम्=(नपुं०) विविक्तं देशं सेवत्वम्-विविक्त स्थान का सेवन करना [विविक्त=(वि०) वि√विच्+क्त=विजन। निर्जन। एकान्त।
देश=(पुं०)√दिश्+अच्=देश=स्थान। सेवत्वम्=√सेव्+क+त्व+(नपुं०) प्र० ए० व०=सेवन करना।] एकान्त और शुद्ध स्थान में रहना। [एकान्त पवित्र-देश सेवन का स्वभाव। जो देश, स्वभाव से, पवित्र हो या झाड़ने बुहारने आदि संसकारों से शुद्ध किया गया हो तथा सर्प-बाघादि जन्तुओं से रहित हो, ऐसे वन, नदी के तीर या देवमन्दिर आदि एकान्त पवित्र स्थान को सेवन करने के स्वभाव वाला विविक्तदेशसेवी कहलाता है। उस का भाव "विविक्त-देश-सेवित्व" है (स्वामी शंकराचार्य जी)]
अरतिः=(स्त्री०) न रतिः (नञ् तत्पु०)। रति का अभाव। लगाव रहितता। [रति=√रम्+क्तिन्=अनुराग। प्रेम] (प्र० ए० व०)।
जन-संसदि=(स्त्री०) जनानां संसदि (षष्ठी० तत्पु०) सप्त० ए० व०=लोगों की भीड़ में। लोगों के इकट्ठ में। लोगों के जमघटे में।
[जन=(पुं०)√जन्+अच्=लोग। संसदि=संसद्=(स्त्री०) सम्√सद्+क्विप्=सभा। एकट्ठ। जमघट।] जन-समुदाय में।
[विनय-भाव रहित, संस्कार-शून्य, प्राकृत पुरुषों के समुदाय का नाम ही यहां "जन-संसद्" है। इस के विपरीत, विनय-युक्त, संस्कार सम्पन्न, मनुष्यों के समुदाय वाली जन-संसद् से यहां तात्पर्य नहीं है क्योंकि भारत की लोक-सभा का नाम भी जनसंसद् है जिस में देश भर में निर्वाचित चोटी के लोग सम्मिलित होते हैं।] ॥ १० ॥
अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वम्=(नपुं०) आत्मादि विषयकं ज्ञानम्—अध्यात्म-ज्ञानं, तस्मिन् नित्यभावो=नित्यत्वम्। आत्मा आदि विषयक ज्ञान का नाम "अध्यात्म-ज्ञान" है। इस में नित्य भाव की स्थिति।
जिस ज्ञान के द्वारा आत्म वस्तु और अनात्म वस्तु जानी जाती है। उस का नाम अध्यातम ज्ञान है। अध्यात्मक-ज्ञान में नित्य स्थिति।
अध्यात्मक-ज्ञान को प्राप्त करने के लिये नित्य दत्तचित्त रहना।

तत्व-ज्ञान+अर्थ-दर्शनम्=(नपुं०) तत्वस्य ज्ञानस्य अर्थम् (ईश्वरम्) दर्शनम्= तत्व के ज्ञान के अर्थ ईश्वर को सदा सर्वत्र देखना। (नपुं०) प्र० ए० व०। तत्व ज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को सदा सर्वत्र प्रत्यक्ष देखना।

एतत्=एतद् (सर्वनाम)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह (सब कुछ श्लोक ७ से ११ तक २० पदों में कहा गया)।

ज्ञानम्=(नपुं०)√ज्ञा+ल्युट्+प्र० ए० व०=जानकारी। वास्तविक ज्ञान। असली जनना। (है)।

इति=(अव्यय) इस प्रकार।

प्रोक्तम्=प्र√वच्+क्त+(नपुं) प्र० ए० व०=कहा गया।

अज्ञानम्=(नपुं०) न ज्ञानम् (नञ् तत्पु०)=मूर्खता। न जानकारी। अज्ञान।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

अतः=अतस् (अव्यय)=इदम्+तसिल्=इससे। (ऊपर कहे हुए बीस साधनों से)।

अन्यथा=(अव्यय) अन्य+थाल्। विपरीत। उल्ट ॥ ११ ॥

ज्ञान—१—अमानित्व २—अदंभित्व ३—अहिंसा ४—क्षान्ति ५—आर्जव ६—आचार्य उपासन ७—शौच ८—स्थैर्य ९—आत्म विनिग्रह ॥ ७ ॥

१०—इन्द्रिय-अर्थों में बैराग्य ११—अनहंकार १२—जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि के दुखों के दोषों को बार-बार देखना ॥ ८ ॥

१३—असक्ति १४—पुत्र-कलत्र-गृहादि में अनभिष्वङ्ग १५—इष्ट और अनिष्ट की प्राप्तियों में सदा सम चित्त रहना ॥ ९ ॥

१६—मुझ में अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति। १७—एकान्त देशसेवन १८—लोगों के इकट्ठ में अप्रीति ॥ १० ॥

१९—अध्यात्म ज्ञान को प्राप्त करने में नित्य दत्त चित्तता। २०—तत्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को सदा सर्वत्र प्रत्यक्ष रूप में देखना ॥ ११ ॥

ज्ञान के विपरीत अज्ञान—

१—मानित्व २—दम्भित्व ३—हिंसा ४—अक्षान्ति ५—नार्जव ६—आचार्य-अपमान ७—अशौच ८—अस्थैर्य ९—आत्म स्वच्छन्दता, उच्छृङ्खलता। १०—इन्द्रिय-अर्थों में आसक्ति ११—साहंकार १२—जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि के दुःखों को कभी न देखना। १३—आसक्ति १४—पुत्र-कलत्र गृह आदि में अभिष्वङ्ग। १५—इष्ट की प्राप्ति में सुखी और अनिष्ट की प्राप्ति में दुःखी होना। १६—मुझ में अनन्य-भक्ति का सर्वथा अभाव। १७—किसी समय भी एकान्त सेवन न करना। १८—विनय-भाव रहित, संस्कार-शून्य। सदा प्राकृत पुरुषों के समुदाय में सम्मिलित रहना। १९—अध्यात्म ज्ञान-प्राप्ति की कोई परवाह न करना। २०—तत्व ज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को कभी स्वप्न में भी न देखना या अनुभव करना।

अर्थ—अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इंद्रियों के विषयों में वैराग्य, ऐसे ही अहंकार-हीनता, जन्म, मरण, बुढ़ापे और बीमारियों में होने वाले दुःखों के दोषों को बार बार दृष्टिगोचर रखकर उनसे बचने का हर संभव उपाय सोचना (अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिये सदा प्रयत्नशील रहना)। पुत्र, स्त्री और गृह आदि में मोह-ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय की प्राप्तियों में सदा समभाव रहना, मुझ परमेश्वर में अनन्य ध्यान योग से एक निष्ठ भक्ति, शुद्ध और एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव, विषयासक्त जन समूह में सम्मिलित होने की अरुचि, अध्यात्म-ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को सदा सर्वत्र प्रत्यक्ष रूप में देखना, यह (इन बीस साधनों से युक्त) ज्ञान (संसार के तथा ब्रह्म के जानने का साधन) है। जो इस से उल्ट है वह अज्ञान (संसार में फँसे रहने का साधन) है। ऐसा कहा गया है ॥ ७, ८, ९, १०, ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इन पाँच श्लोकों में कहे हुए गुणों को जिन साधकों ने धारण किया हुआ है वे ही ठीक ज्ञान के जानने वाले हैं और वे ही मोक्ष की प्राप्ति के भागी होते हैं क्योंकि उन्होंने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को भली भान्ति जान लिया होता है न केवल जान ही लिया होता है अपितु वे लोग उसके द्वारा यहाँ से छूटने का भी उपाय करते हैं। यद्यपि ये लोग गुणी, ज्ञानी और परम चतुर होते हैं। परन्तु अपने गुणों का प्रदर्शन कभी इस विचार को सम्मुख रख कर नहीं करते कि लोग उन की बड़ाई, स्तुति या प्रशंसा करें। मूर्ख और अज्ञानी लोग तो जीवित अवस्था की तो बात ही क्या मरने के बाद भी लोगों द्वारा की जाने वाली श्लाघा की कामना करते हैं भला इन मूर्खों से कोई पूछे कि जब तुम अगले जन्म में कुत्ते बिल्ले बने हुए होंगे तो इन पाप कर्मों द्वारा अर्जित की हुई श्लाघा तुम्हारे किस काम आएगी ? तुम तो उसे सुन भी न सकोगे। मोक्ष का जिज्ञासु तो अपने जीवन काल में ही अमानित्व हो जाता है और उस में दम्भ का भी लेश मात्र नहीं रहता। जो गृहस्थ लोग दम्भ, छल-कपट आदि द्वारा आजीविका उपार्जन करते हैं। वे अपने गले में आवागमन के दुःख भोगने के लिये मोटे-मोटे रस्से अपने हाथों से स्वयं डाल लेते हैं। यद्यपि ये रस्से उनको ज्ञानान्ध होने से दिखाई नहीं देते। तीर्थ स्थानों पर अनेक दम्भी नाना प्रकार के भेस धारण किए हुए बैठे दिखाई देते हैं। कोई काँटों पर लेटा हुआ है कोई उल्टा लटका हुआ है। कोई मिट्टी में घुसा हुआ है और पैसे मांगने के लिए हाथ बाहर फैला रक्खा है कोई जटाधारी दिगम्बर बना हुआ बैठा है सामने मिठाई और पैसों की ढेरी लगी हुई है। कोई कृत्रिम कोढ़ी बना हुआ है। इन भलेमानसों से कोई पूछे तो सही कि तुम लोग यदि सच्चे साधु हो तो कहीं एकान्त में जाकर ये कठोर साधनाएँ क्यों नहीं करते ? जहाँ तुम्हारा लोक और परलोक दोनों सुधरें। इस प्रकार तुम अपने दम्भपूर्ण कृत्यों से धार्मिक लोगों

की धर्मपूर्ण श्रद्धा और निष्ठा पर कुठाराघात क्यों करते हो? छोटे मोटे दम्भियों की बात तो सब जानते पहचानते ही हैं। वहां तो बहुत बड़े-बड़े दम्भी, मायाधारी, बड़े-बड़े चतुरों की आँखों में धूल झोंक रहे हैं तथा संगठित रीति से देश, जाति और धर्म का बेड़ा ग़र्क कर रहे हैं। जब कभी इन के घोर पापों का उद्‌घाटन होता है तो उसे जान और सुन कर कलेजा मुँह को आता है और मस्तिष्क का लहू जम कर अक्रिया शील बन जाता है।

ये क्षेत्रज्ञ साधक लोग अमानित्व और अदम्भित होने पर हिंसा से भी रहित होते हैं। जिस के कारण मन, कर्म और वचन से किसी को लेश मात्र भी दु:ख नहीं देते। शान्ति तो इन में कूट-कूट कर भरी हुई होती है। कोई चाहे किसी प्रकार से भी इन की अवज्ञा करे परन्तु इन के चेहरे, मन या इन्द्रियों से किसी प्रकार के भी क्रोध का प्रदर्शन नहीं होता। सदा सब अवस्थाओं में क्षमा शील बने रहते हैं। इन का चित्त अत्यन्त सरल और शुद्ध होता है किसी प्रकार की हेरा फेरी नाम मात्र की भी इन में देखने को नहीं मिलती। ये क्षेत्रज्ञ लोग सरल, चिस्त, स्पष्ट और मीठा बोलने वाले होते हैं। अहिंसक होने से इन साधकों का किसी से भी वैर भाव नहीं होता और इस के प्रभाव से इन के रहने के स्थान का वातावरण भी शान्ति पूर्ण हो जाता है। जैसा कि योग-शास्त्र में कहा है—

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सान्निधौ वैर त्याग:" (योग २। ३५॥)

[अर्थ—अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर, उस (योगी) के निकट (रहने वाले सब प्राणी) वैर त्याग कर देते हैं।]

रामायण में महर्षि बाल्मीकि के आश्रम का वर्णन करते हुए गोसाईं जी कहते हैं—

"खग-मृग विपुल कोलाहल करहीं।
विरहित वैर मुदित मन चरहीं।
करि केहरि कपि कोल कुरंगा।
विगत वैर विचरहिं सब संगा॥"

स्वयं महान् विद्वान्, शुद्धाचरण, विद्या और सदुपदेश देने वाले महापुरुष का नाम गुरु या आचार्य होता है। ऐसे महात्मा के निकट रहकर श्रद्धा भक्ति-पूर्वक मन, वाणी और शरीर से सेवा करना, नमस्कार करना, उसकी आज्ञा का पालन करना और अनुकूल आचरण करना आचार्योपासन कहलाता है। यह गुण भी ज्ञान उपार्जन का एक बहुत बड़ा साधन है। एक शौच तो शरीर सम्बन्धी होता है जो जल, मिट्टी आदि से सम्पन्न होता है दूसरे प्रकार का शौच अन्त:करण से सम्बन्धित होता है। जिस के लिये मित और सात्विक आहार होना चाहिए। छल-कपट, राग-द्वेष आदि विकारों से अन्त: करण की स्वच्छता अवश्य होनी चाहिए। मन, बुद्धि और इन्द्रियां जिस की आज्ञाकारी

और अनुचर हों वह कभी विषय विकारों में नहीं फँस सकता क्योंकि किसी काल में भी मन, बुद्धि और इन्द्रियां उस के विरुद्ध आचरण नहीं करती हैं। साधक के इसी गुण का नाम आत्म-विनिग्रह है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच इन्द्रियों के अर्थ या विषय हैं जिन की इन्द्रियां वरवश (सरकश) हो कर इन विषयों की ओर दौड़ती हैं वे लोग सदा संसार के आवागमन में फंसे रहते हैं। परन्तु जिन साधकों को इन्द्रियों के इन विषयों में दृढ़ वैराग्य हो जाता है वे ज्ञानी मोक्ष प्राप्ति के भागी बन जाते हैं। बहुत से लोगों में अज्ञान के कारण से अहंकार उत्पन्न हो जाता है जो भवसागर में डुबो देने वाला होता है। परन्तु ज्ञानी साधक पुरुष इस अहंकार से सदा रहित होते हैं (इस लिए वे अनहंकार गुण से युक्त कहलाते हैं। आवागमन चक्र में फँसे हुए जीव को चार महाकष्ट भोगने पड़ते हैं।

१— जन्म— कई मास माता के उदर में बन्द रहना पड़ता है। जिस में जीव न भोजन करता है, न सांस लेता है न टट्टी, पेशाब करता है। माता जो कुछ खाती है उस का बना हुआ रुधिर भ्रूण के शरीर में संचार करता है माता स्वस्थ है तो भ्रूण भी स्वस्थ है। माता बीमार है तो भ्रूण भी बीमार होता है जो झिल्ली या जेर में लिपटा और जकड़ा रहता है पास ही माता के टट्टी, पेशाब होते हैं। जब भ्रूण पूरा शिशु हो जाता है तो माता का रुधिर उस में संचरित होना बन्द हो जाता है जिस से जीव तिलमिलाकर योनि द्वार से बाहर निकलता है। इस प्रकार जन्म में गर्भवास और योनिद्वार से बाहर निकलना जो दो बड़े दुःख होते हैं। ये क्षेत्रज्ञ साधक उन के दोषों को अवश्य ध्यान में रखते हैं ताकि पुनः कभी जन्म न लेना पड़े।

२—जन्म धारण करने के बाद यह जीव रोगों और दैहिक दैवक तथा भौतिक कष्टों से घिरा रहता है। दान्त निकलने का कष्ट होता है। हरे, पीले दस्त आते हैं चेचक और खसरा निकलते हैं, नाना प्रकार के ज्वर दुःख देते हैं, चोटें लगती हैं। मानसिक खेद और चिन्ताएँ सताती हैं। किसी-किसी की आयु तो इन्हीं दुःखों और कष्टों में व्यतीत हो जाती है।

३ —फिर जरा या बुढ़ापा आता है। बाल पक जाते हैं। दान्त झड़ जाते हैं। दृष्टि क्षीण हो जाती है। कमर झुक जाती है। चलने फिरने की शक्ति मन्द पड़ जाती है। बुद्धि भ्रमित और विचतलि हो जाती है, आकृति लगभग बन्दर या लिज्जू जैसी हो जाती है। बच्चे देख-देख कर हँसते हैं। युवक तरस खाते या गाली देते हैं। साधक इस जरा के दुःखों के दोषों को भी देखते हैं।

इस जीवन का चौथा विचारणीय महा कष्ट मृत्यु की प्राप्ति है। जिस में दम घुटता है। गला सूखता है सम्बन्धी और डाक्टर टीके पर टीका लगाते जाते हैं और कड़वी कसैली औषधियाँ मुँह में डंडेलते रहते हैं सौ सर्पों और वृश्चिकों के दंश (डसने) का दुःख होता है।

ज़बान बन्द हो जाती है। हाथ पाँव ढीले पड़ जाते हैं जिससे बोलने और इशारा करने में बूढ़ा बेचारा असमर्थ हो जाता है और अपना दुःख कह या समझा नहीं सकता, भयानक और कठोर मृत्यु देवता के साक्षात् दर्शन होने लगते हैं और इसी अवस्था में वह सदा के लिए आँखें बन्द कर लेता है। साधक, ज्ञानी इस चौथी मृत्यु अवस्था को ध्यानपूर्वक देखता और उसके दुःखों और दोषों का विचार कर उससे छूटने का उपाय करता है यही ठीक ज्ञान या असलीयत का जानना है। इससे अगला ज्ञान आसक्ति या अनासक्ति नाम से कहा गया है किसी भी जीव या वस्तु में ममत्व न रखना, अपना कुछ भी न समझना, यथालाभ सन्तोष और सब में समभाव होना ही आसक्ति ज्ञान का लक्षण है। यह ठीक है कि घर बनाकर रहना पड़ता है। भाग्य से ब्याह होने पर स्त्री की प्राप्ति भी होती है। उसके गर्भ से पुत्रों की उत्पत्ति भी होती है और धन, घोड़े, मोटर आदि अन्य सुख साधन भी मिल सकते हैं हम यह कदापि नहीं कहते कि सगे सम्बन्धियों से लड़ना झगड़ना चाहिए या इनको असहाय और अनाथ बनाकर सिर में स्वाह डालकर घर से निकल जाना चाहिए और धन, धरती अन्य सुख साधनों को जूए द्वारा हार देना चाहिए अथवा लुच्चे लफङ्गों के अर्पण कर देना चाहिए। परन्तु जब तक यह सब कुछ है ठीक है और जब इनमें से किसी एक का अथवा इन सब का देवयोग से विनाश या अभाव हो जाए तब भी पूर्ववत् ठीक ही समझना चाहिए न इनके रहते हर्ष होना चाहिए न इनके चले जाने पर विषाद करना चाहिए इनकी प्राप्ति पर अपना पुनर्जन्म नहीं जानना चाहिए औ इनके नष्ट होने पर अपना मरण नहीं मानना चाहिए इसी शुभ और पवित्र ज्ञान का नाम "पुत्र—दार, गृह आदि में अन्विष्वङ्ग (लगाव न होना) है और इससे अगला ज्ञान इष्ट या मनचाही वस्तुओं में किसी प्रकार का हर्ष न होना है और अनिष्ट या अनचाही वस्तुओं की प्राप्ति में विषाद का न होना है। यह समचित्त अवस्था निरन्तर सदा एक रस रहने से ही बेड़ा पार होता है। साधक क्षेत्रज्ञ पुरुष किसी काल में भी काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार आदि दुर्गुणों के वशीभूत नहीं होता। परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ है, हमारा स्वामी और शरण ग्रहण करने योग्य है। परम गति और मेरा सब कुछ है। इस प्रकार भगवान् के साथ अनन्य सम्बन्ध जोड़कर अपने चारों ओर उसके देखने के ध्यान में लगे रह कर अटल भक्ति का होना भी ज्ञान है।

ज्ञानी सदा शुद्ध स्वच्छ और एकान्त स्थान में रहता है। जिससे उसके तन और मन पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। अन्तःकरण शुद्ध रहता है तथा शरीर स्वस्थ रहता है और मन का सब ओर से निरोध होकर प्रभु-भक्ति, ध्यान योग या योग समाधि में चित्त स्थिर होता है। जब यह दशा परिपक्व हो जाती है तो साधक की पापकर्मरत प्राकृत जन-संसद् से स्वयं अरति या अरुचि हो

जाती है। जहाँ जलसे, जलूसों 'मेलों' या उत्सवों के रूप में अनेक लोग इकट्ठे हुए हों वह उनसे सर्वथा दूर रहता है और बेकार के धूड़, धूप और धक्के नहीं खाता तथा संक्रामक रोगों से भी बचा रहता है जो प्राय: इस प्रकार के लोगों के जमघटों में लग जाते हैं तथा मन पर उन कुसंस्कारों की छाप नहीं लगती जो बहुधा नाना प्रकार के स्त्री-पुरुषों के संसर्ग से श्वेत वस्त्र पर कालख़ के दाग की तरह लग जाया करती है।

आत्मा नित्य है, चेतन है, निर्विकार है और अविनाशी है। उसमें जो विकार भासमान होते हैं। वे सब अनात्मा हैं। आत्मा उनसे सर्वथा पृथक है। आत्मा और अनात्मा को भली-भान्ति जानना ही अध्यात्म ज्ञान है। इस बात का निश्चयपूर्वक साक्षात्कार करके मोक्ष प्राप्ति के साधनों में जुट जाना ही अध्यात्म-ज्ञान नित्यत्व कहलाता है। तत्त्वज्ञान का अर्थ है परब्रह्म को भलि-भान्ति जान कर अपने भीतर बाहर सर्वत्र सर्वदा अनुभव कर लेना और निरन्तर उसको देखने का प्रयत्न करते रहना। इसी का नाम 'तत्त्व-ज्ञान के अर्थ का दर्शन' है।

इन पाँच श्लोकों में कहा गया यह बीस प्रकार का ज्ञान है। अनात्म वस्तु-समुदाय संसार और ब्रह्म के जानने का साधन है। जो इस बीस तरह के ज्ञान से उल्ट है। वह संसार में फंसे रहने का साधन होने से 'अज्ञान' है। इस प्रकार ज्ञान से परिचित ऐसा पुरुष तत्त्व ज्ञानी है, यह महापुरुषों द्वारा कहा गया है ॥ ७, ८, ९, १०, ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

ज्ञेयम्+यत्+तत्+प्रवक्ष्यामि यत्+ज्ञात्वा+अमृतम्+अश्नुते ।
अनादिमत्+परम्+ब्रह्म न सत्+तत् न+असत्+उच्यते ॥

ज्ञेयम्=(वि०) √ज्ञा (क्र्या० उभ० स०=जानना)+यत्=ज्ञेय+(नपुं०) प्र० ए० व०=ज्ञेयम्=जानने योग्य। [इसी अर्थ में—√+ज्ञा+तव्य='ज्ञातव्य'। ज्ञान+अनीय='ज्ञानीय'। ये दो और शब्द होते हैं।]

यत्=यद् (सर्वनाम)+नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उसको। वह।

प्रवक्ष्यामि=प्र√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+लट्० उ० पु०, ए० व० =(मैं) ठीक तरह से कहूँगा।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिसको।

ज्ञात्वा=√(क्र्या० उभ० सक०=जानना)+क्त्वा=जानकर।

अमृतम्=(नपुं०) [नञ् तत्पु०] न मृतम्। द्विती० ए० व०=अमरत्व को। अमर भाव को। सदैव रहने वाले जीवन-भाव को। मोक्ष को।

अश्नुते=√अश् (स्वा० आत्म० अक०=भोगना, पाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=भोगता है। पा लेता है।

अनादिमत्=(नपुं०) अनादि+मतुप्=अनादिमत्+प्र० ए० व०=न आदि वाला (नञ् बहुव्री०)। आदि रहित वाला। आदि अस्य अस्ति, इति आदिमत्, आदिमत्=अनादिमत्। जिसका आदि हो वह आदिमत् (आदि वाला) और जो आदिमत् न हो वह अनादिमत् कहलाता है।

परम्=(नपुं०) निरतिशयम्=सब से परे का। परं।

ब्रह्म=(नपुं०) √बृह्+मनिन्=ब्रह्मन्+प्र० ए० व०=ब्रह्म। (है)।

[इस स्थान पर स्वामी शंकराचार्य जी लिखते हैं—

यहाँ कुछ टीकाकार 'अनादि'—'मत्परम्' इस प्रकार पदच्छेद करते हैं और कहते हैं कि "बहुव्रीहि समास द्वारा बतलाए अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय के प्रयोग की निरर्थकता है। अतः वह अनिष्ट है।"

और वे अपने किए हुए पदच्छेद के अनुसार यह अर्थ करते हैं—

"मैं वासुदेव कृष्ण ही जिसकी परम शक्ति हूँ वह ज्ञेय मत्पर है।"

ठीक है। यदि यह अर्थ ठीक होता, तो पुनरुक्ति दोष का निवारण हो जाना अवश्य माना जा सकता था। परन्तु यह तो अर्थ ही यहाँ सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ ब्रह्म का स्वरूप "न सत्तन्नासदुच्यते" आदि वचनों से सर्व विशेषणों के प्रतिषेध द्वारा ही बतलाना इष्ट है। ज्ञेय को किसी विशेष शक्ति वाला बतलाना और विशेषणों का प्रतिषेध भी करते जाना यह परस्पर विरुद्ध है। इसलिए 'मतुप्' प्रत्यय का और बहुव्रीहि समास का समान अर्थ होने पर भी यहाँ श्लोक पूर्ति के लिए वह 'मतुप्' प्रत्यय किया गया है।]

न=(अव्यय) न। नहीं।

सत्=(नपुं०) √अस्+शतृ, अकार लोप=विद्यमान। सत्य। होता हुआ।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह।

न=(अव्यय) न। नहीं।

असत्=(नपुं०) न√अस्+शतृ० (नञ् तत्पु०)=अविद्यमान। अस्तित्व रहित। न होता हुआ। अनस्तित्व। मिथ्या।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+(कर्मवाच्य) लोट्० प्र० पु० ए० व०=कहा जाता है।

अर्थ—जो ज्ञेय (जानने योग्य) है और जिसको जानकर (मनुष्य) असरत्व को पा लेता है। उसको (अब मैं) भली-भान्ति कहूँगा। वह आदि रहित वाला, पर-ब्रह्म है। न वह सत् और न असत् कहा जाता है॥ १२॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! ऊपर कहे गए बीस प्रकार के ज्ञान रूप साधनों द्वारा जानने योग्य जो महान्तम तत्त्व है। उसको मैं तेरे प्रति भली प्रकार यथार्थ रूप से कहूँगा। क्योंकि उसको जानकर मनुष्य जन्म-मरण के

चक्र से छूटकर अमरत्व या मोक्ष को प्राप्त होता है। जब मनुष्य उसको यथार्थ रूप में जान लेता है और उसकी माया को पा लेता है, तो मिथ्या माया से मुक्त होकर उस पर-ब्रह्म को पा लेता है जो अनादिमत् है अर्थात् उसका न कोई आदि है, न कभी जन्म हुआ है जो सदा से है और सदा रहने वाला है। परन्तु मन, वाणी और इन्द्रियों से अगोचर है। इसलिए किसी भी शब्द या उपमा द्वारा उसका स्वरूप वर्णन नहीं किया जा सकता। न उसे सत् कहा जाता है, न असत् कहा जाता है। वह ज्ञेय पर-ब्रह्म केवल ज्ञान से ही जाना जाता है बिना ज्ञान के उसके जानने का कोई भी साधन नहीं है श्रुति कहती है—

"यतो वाचो निवर्तते अप्राप्य मनसा सह।" [तैत्ति० २।४ और २।९]

अर्थ—जहाँ से मन समेत वाणी (आदि इन्द्रियां) उस (अनादिमत् परब्रह्म) को न पाकर लौट जाती हैं।]

और भी—

"स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यते।" [बृह० ४।४।२२]

[अर्थ—वह यह 'नेति', 'नेति' (ऐसा नहीं, ऐसा नहीं) इस प्रकार निर्देश किया गया ज्ञेय परब्रह्म अगृह्य है। वह किसी प्रकार ग्रहण किया या जाना नहीं जाता है।]

जो वस्तु किसी प्रकार के प्रमाण द्वारा सिद्ध की जाती है, उसे सत्य कहते हैं, परन्तु परब्रह्म परमेश्वर तो किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि उसी से ही सब की सिद्धि होती है। उस सब के जानने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है। इसलिए परमात्मा सत् नहीं है। सत् से अत्यन्त परे है। परन्तु उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि मायावी बिना, मायाकृत प्रपंच रूप यह जगत् कैसे दृश्यमान हो सकता है? माया जड़ है। जिसको कोई सूत्रधार अवश्य ही अनुप्राणित करता है वही जानने योग्य परब्रह्म है। भला फिर उसको असत् कैसे कहा जा सकता है। जो वस्तु वास्तव में न पहले कभी थी न भविष्य में कभी होगी उसका नाम असत् है। परन्तु बेशक हम पर-ब्रह्म परमात्मा को मूल रूप में कभी देख नहीं सकते, छू नहीं सकते, सूँघ नहीं सकते, चख नहीं सकते अथवा कान का विषय नहीं बना सकते, परन्तु उसकी की हुई रचना को देखकर उसके अस्तित्व का तो अनुभव करते ही हैं। इसलिए उसे असत् भी कैसे कहा जा सकता है? यद्यपि भगवान् ने गीता० ९।१९ में स्वयं पहले कहा है—"सदसच्चाहमर्जुन!" अर्थात् हे अर्जुन! "मैं सत् और असत् हूँ।" ठीक है जब भगवान् अवतार रूप धारी दृष्टिगोचर होते हैं तो उनका स्वरूप दिखाई देने के कारण सत् रूप होता है। वह बोलता है। खाता है तथा अनेक क्रिया करता हुआ दिखाई

देता है और साक्षात् ब्रह्म, नर रूपधारी होता। इसलिए उसे सत् कहा जाता है। परन्तु उसका वह रूप असली नहीं होता केवल मायाकृत होता है। उसका खाना-पीना या अन्य सब क्रियाएँ और जन्मना तथा मरना सब कुछ नाटकी ढंग का केवल दृश्यमात्र ही होता है उसमें वास्तविकता अंशमात्र भी नहीं होती इसलिए वह रूप असत् ही होता है। परन्तु इस श्लोक में परब्रह्म निराकार परमेवर के स्वरूप का वर्णन है। जो न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है। अपितु सत् और असत् से इतना परे का विषय है जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों की पहुँच से बहुत बाहर है ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सर्वतः पाणि-पादम्+तत्+सर्वतः+अक्षिशिरः+मुखम् । सर्वतः श्रुतिमत्+लोके सर्वम्+आवृत्य तिष्ठति ॥

सर्वतः=(अव्यय) सर्व+तसिल्=सर्वतस्=सब ओर से। सर्वत्र।

पाणि-पादम्=(समाहार द्वन्द्व समास, नपुं०) पाणयः च पादाः च अस्य इति पाणिपादम् (बहुव्री०)=हाथों और पाँवों वाला।

तत्=तद् (सर्व०)+नपुं०) प्र० ए० व०=वह (ज्ञेय पर-ब्रह्म)।

सर्वतः=(अव्यय) सर्वतस्=सब ओर से। सर्वत्र।

अक्षि-शिरः+मुखम्=(नपुं०) (सर्वत्र) अक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य तत् (बहुव्री०)=सब ओर) नेत्रों, शिरों और मुखों वाला।

सर्वतः=(अव्यय) सब ओर से। सर्वत्र। सब ओर।

श्रुतिमत्=(नपुं०) श्रुति+मतुप्=श्रुतिमत्+प्र० ए० व०। श्रुतिः श्रवणेन्द्रिय तद् यस्य (बहुव्री०)=कानों वाला।

लोके=(पुं०) लोक् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+घञ्+सप्त० ए० व०= लोक में। संसार में। जगत् में।

सर्वम्=(सर्व०) सर्व+(पुं०) द्वितीय० ए० व०=सब को। समस्त। जड़ चेतन। समुदाय को।

आवृत्य=आ√वृ (भ्वा० पर० सक०=छिपाना, चुरा० उभ० सक०= छिपाना, लपेटना, घेरना, व्याप्त करना)+ल्यप्=घेर कर व्याप्त करके।

तिष्ठति=√स्था (भ्वा० पर० अक०=स्थित होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=स्थित है।

अर्थ—वह (ज्ञेय परब्रह्म) सर्वत्र सब ओर हाथों और पांवों वाला, सर्वत्र सब ओर आंखों, शिरों और मुखों वाला तथा सर्वत्र सब ओर कानों वाला है। वह जगत् में समस्त जड़-चेतन समुदाय को व्याप्त करके स्थित है ॥ १३ ॥

व्याख्या— यह श्लोक ठीक इसी रूप में श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१६।। में भी आया है। यद्यपि वह ज्ञेय परब्रह्म, सत् और असत् से बहुत परे है और कोई भी उस को देखने में समर्थ नहीं है क्योंकि वह अमूर्त है। मन, बुद्धि और वाणी आदि इन्द्रियों द्वारा जानने का विषय नहीं है। परन्तु उस के जाने और समझे बिना उसके साथ मिल जाना सम्भव नहीं है। आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का कारण रूप होने से उन को व्याप्त करके स्थित है वैसे ही वह ज्ञेय परब्रह्म सब का कारण रूप होने से सम्पूर्ण चराचर जगत् को व्याप्त करके स्थित है।

उस परब्रह्म परमेश्वर के सब ओर हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुख और कान विद्यमान हैं। वह सब जगह सम्पूर्ण शक्तियों से कार्य करने में समर्थ है।

सब प्राणियों की इन्द्रियों द्वारा उस क्षेत्रज्ञ का अस्तित्व प्रकट होता है। क्षेत्र रूप उपाधि के कारण ही वह ज्ञेय परब्रह्म क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। वास्तव में क्षेत्र की समस्त उपाधियां क्षेत्रज्ञ में मिथ्या ही हैं। इसलिये उनको हटाकर ज्ञेय परब्रह्म का स्वरूप, 'वह न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।'' इस प्रकार बतलाया गया है। तथा ज्ञेय का अस्तित्व समझाने के लिये उपाधिकृत मिथ्या रूप को भी उस के धर्म की भान्ति कल्पना करके उस को सब ओर से हाथों, पैरों, आँखों, सिरों, मुखों और कानों वाला कहा गया है। ऐसा कहने का कारण यह है कि अध्यारोप और अपवाद द्वारा ही प्रपञ्च रहित परमात्मा की व्याख्या की जा सकती है।

सर्वत्र, सब ओर सब प्राणियों के शरीरों के अङ्ग-रूप से दिखाई देने वाली हाथ, पाँव आदि इन्द्रियों, ज्ञेय परब्रह्म की शक्ति से ही स्वकार्य करने में समर्थ हो रही है। अतः वे सब परब्रह्म की सत्ता के चिह्न होने के कारण उपचार से उसी परमेश्वर के धर्म कहे जाते हैं।

इस श्लोक से मिलता-जुलता एक मन्त्र यजुर्वेद अध्याय १७ का उन्नीसवां, अथर्व० १३।२६, ऋग्वेद १०।८१।१ और श्वेता० ३०. ३।३ इस प्रकार है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।

[**अर्थ**—(वह परब्रह्म) सब जगह आँख वाला तथा सब जगह मुख वाला, सब जगह हाथ वाला और सब जगह पाँव वाला है।]

इस अभिप्राय का एक मन्त्र यजु० ३१।१।। ऋग्वेद १०।६०।१।। अथर्व० १९।६।१०।। और श्वेताश्व० ३।१४।। में है।

''सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्।।

[**अर्थ**— वह परब्रह्म हज़ारों सिरों वाला, हज़ारों आँखों वाला, हज़ारों पाँवों वाला है और समस्त जगत् को व्याप्त करके सब के हृदयों में स्थित है।]

गीता के इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्री ज्ञानेश्वर महाराज जी लिखते हैं —

जो सभी पदार्थों और सम्पूर्ण आकारों में ठीक उसी प्रकार निवास करता है, जिस प्रकार घड़ी, घड़े आदि में पृथ्वी तत्त्व स्वयं उन्हीं वस्तुओं के आकार में रहता है। सारे स्थलों और सम्पूर्ण कालों में जो क्रिया स्थूल और सूक्ष्म सम्पूर्ण भूतों द्वारा होती है वह क्रिया जिस परब्रह्म रूप शक्ति के हाथ में है। उस शक्ति को "विश्वशाहु" कहते हैं। इस कथन का कारण यह है कि वह ब्रह्म ही सर्वाकार होकर सदा सम्पूर्ण क्रियाएं करता है। वह परब्रह्म सारे विश्व में सब स्थानों पर एक साथ ही व्यापक प्राप्त होता है। इसी कारण से उसे "विश्वांघ्रि" कहते हैं। जिस प्रकार सूर्य के बिम्ब में नेत्र के रूप में कोई पृथक् अङ्ग नहीं हैं। अपितु सारा बिम्ब ही प्रकाश-एक-स्वरूप होता है। उसी प्रकार जो परब्रह्म अपने सारे स्वरूप से विश्व का द्रष्टा है अर्थात् विश्व को मूर्तिमान् करके देखता है उसी अचक्षु ब्रह्म वस्तु को वेदों ने अत्यन्त आदर से "विश्वचक्षु" कहा है। विश्व के मस्तक पर जो सदा सर्वदा आत्म-सत्ता से विराजमान् रहता है। उसी का नाम "विश्वमूर्धा" है। जिस प्रकार अग्नि की सारी मूर्ति ही उस का मुख होता है। उसी प्रकार उस परब्रह्म को मुख रहित होने पर भी "विश्वतोमुख" कहते हैं। जिस प्रकार जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओं में आकाश व्याप्त है। इसी प्रकार परब्रह्म शब्द मात्र में व्यापक है। इस लिये उसे "सब कुछ सुनने वाला" कहते हैं। इस तरह "विश्वचक्षु" कहलाने वाला परमात्मा सब को देखता है। ऊपर जो कुछ कहा गया है वह केवल ब्रह्म वस्तु की सर्वव्यापकता समझाने के लिये ही कहा गया है। यह तो उस अमूर्त का मूर्तत्व के रूप में अलंकारिक वर्णन है। वास्तव में उस ब्रह्म वस्तु में हाथ, पाँव, चक्षु आदि अंग बिलकुल नहीं हैं और यदि शून्य या अभाव के रूप में उसका वर्णन किया जाये, तो वह वर्णन भी उस के लिये ठीक और उपयुक्त नहीं है। जब किसी को शून्य दिखाना होता है। तो इस के लिये एक बिन्दी (०) बनानी या लिखनी पड़ती है इसी प्रकार ओंकार (ॐ) लिख कर परब्रह्म का स्वरूप दर्शाया जाता है। कल्याणकारी शिव के स्थान पर एक लम्बूतरा सा पत्थर गाड़ कर पूजा जाता है। इसी प्रकार जब शब्दों द्वारा अमूर्त परब्रह्म का वर्णन किया जाता है तो उस का सम्बन्ध मूर्तिमान् वस्तुओं से जोड़ा जाता है। इस बात को भली-भान्ति समझ लेना चाहिए ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

सर्व + इन्द्रिय-गुण + आभासम् + सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम् । असक्तम् + सर्व-भृत् + च + एव निर्गुणम् + गुण-भोक्तृ + च ॥

सर्व+इन्द्रिय-गुण+आभासम्=(नपुं०) सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि तेषां यानि गुणानि तेभ्यः आभासम्=सब इन्द्रियों के गुणों से भासमान होने वाला। (भासित या प्रतीत होने वाला) [सर्वेषाम् इन्द्रियाणां गुणेभ्यः आभासितम्=तत्पुरुष०]

[आ√भास्+अच्+(नपुं०) प्र० ए० व०=आभासम्=भासमान होने वाला। प्रतीत होने वाला]।

[यहाँ श्रोत्र-आदि ज्ञानेन्द्रियां, वाक्-आदि कर्मेन्द्रियां तथा मन और बुद्धि ये दोनों अन्तःकरण—इन सब का सर्व इन्द्रियों के नाम से ग्रहण है। इन सब इन्द्रियों के गुण, जो निश्चय, संकल्प, श्रवण और भाषण आदि हैं उन के द्वारा वह ज्ञेय भासित होता है। अर्थात् इन इन्द्रियों की क्रियाओं द्वारा वह क्रियावान सा दिखाई देता है।]

सर्व+इन्द्रिय-विवर्जितम्=(नपुं०) सर्वेभ्यः इन्द्रियेभ्यः विवर्जितं यत् तत् (बहुव्री०)=सब प्रकार की इन्द्रियों से रहित (प्र० ए० व०)।

असक्तम्=न सक्तम् (नपु०, नञ् बहुव्री०) न जुड़ा हुआ। सम्बन्ध रहित। संग रहित। आसक्ति रहित। असक्त (प्र० ए० व०)।

सर्व-भृत्=(नपुं०) सर्वाणि भृत यत् तत्। (बहुव्री०) [√भृ(भ्वा०, जुहो०, उभ० सक०=भरना, पोषण करना, धारण करना)+क्त+क्विप्]= पालन पोषण करने वाला। धारण करने वाला। सब को भरण पोषण और धारण करने वाला।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) (ऐसे) ही।

निर्गुणम्=(नपुं०) निर्गतं गुणं यस्मात् तत् (बहुव्री०) तीनों गुणों से रहित। गुणों से अतीत। सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों से अतीत। (प्र० ए० व०)।

गुण-भोक्तृ=(नपुं० प्र० ए० व०) गुणानां भोक्तृ यत् तत्=सत्व, रज और तम तीनों गुणों को भोगने वाला।

च=(अव्यय) और।

अर्थ—वह सब इन्द्रियों के गुणों से भासमान होने वाला। (वास्तव में) सब इन्द्रियों से रहित, आसक्ति या सम्बन्ध रहित (परन्तु) सब को भरण पोषण और धारण करने वाला, तीनों गुणों से रहित (और अमूर्त) (पर) तीनों गुणों का भोगने वाला है॥ १४॥

व्याख्या—उस परमेश्वर में सब इन्द्रियों के गुणों का आभास तो होता है क्योंकि इन्द्रियों द्वारा होने वाले सब कार्य उसी के द्वारा किए जा रहे भासमान हो रहे हैं। सब जीवों की रचना उसी के द्वारा होती हुई दिखाई दे रही है नहीं तो जीवों की माताओं के उदरों में भ्रूणों का भरण पोषण

कौन करता है ? फिर उन का जन्म शिशु रूप में कौन करता है ? माताओं के स्तनों में दूध कौन भरता है ? पृथिवी में वनस्पति की उत्पत्ति कैसे होती है ? जीवों के शरीरों में परिवर्तन कौन करता है ? वर्षा किस की आज्ञा से बरसती है ? वायु किस के हुक्म से चलती है ? संसार में अनेक कार्य किस के करने से सम्पन्न होते हैं ? ग्रह और नक्षत्र किस ने नियत मार्गों पर चलाये हुए हैं ? वह अपने भक्तों की पुकार सुन कर उन की रक्षा करता है वह उदरों में वैश्वानर बनकर खाए हुए भोजनों को बचाता है तथा भक्तों द्वारा अर्पण किए हुए सुगन्धित द्रव्यों को सूँघता है। महद्ब्रह्म योनि में बीज बोता है जिस से नाना प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वह 'ज्ञेय' सारी इन्द्रियों के गुणों से अवभासित या प्रतीत होता है। इन सब इन्द्रियों के गुण निश्चय, संकल्प, श्रवण और भाषण आदि हैं। इन्द्रियों की इन क्रियाओं से वह अज्ञेय, क्रियावान् सा दिखलाई देता है। परन्तु वास्तव में उस के कोई इन्द्रिय नहीं है। 'श्वे० उ० ३।१९ में लिखा है—

"अपाणिपादो जवनो गृहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

[अर्थ—वह परमात्मा हाथों और पावों से रहित होकर भी समस्त वस्तुओं को ग्रहण करने वाला है। वेग पूर्वक सर्वत्र जाने वाला है। चक्षुओं के बिना ही सब कुछ देखता है। बिना कानों के भी सब कुछ सुनता है। वह जानने योग्यों को जानता है। परन्तु उस को जानने वाला कोई नहीं है। ज्ञानी लोग उस महान् परमेश्वर को आदि पुरुष कहते हैं।]

श्री तुलसी दास जी ने भी लिखा है—

बिनु पद चले सुने बिनु काना। कर बिनु कर्म करे विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु वाणी वक्ता बड़ जोगी॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रही घ्राण बिनु बास असेखा॥
अस सब भान्ति अलौकिक करनी। महिमा तासु जाई नहीं बरनी॥

इस श्लोक का पूर्वार्ध श्वे० ३।१७ के मन्त्र का भी पूर्वार्ध है।

वह ज्ञेय सारी इन्द्रियों से रहित होने के कारण संग रहित होने के कारण संग रहित है अर्थात् सब प्रकार के सम्बन्धों से रहित है परन्तु सब को धारण और पालन करने वाला है। वह ज्ञेय तीनों गुणों से रहित होने पर भी तीनों गुणों का भोक्ता है।

'ध्यायतीव, लेलायतीव' बृह० ४।३।७॥"

इस श्रुति वचन के अनुसार वह ज्ञेय बुद्धि आदि उपाधियों के सम्बन्ध से ध्यान करता हुआ सा और चेष्टा करता हुआ सा प्रतीत होता है। इस श्रुति में

"ध्यायति" पद जो कहा गया है । उस से जिस ध्यान का कथन है वह सब ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों को उपलक्षित करके कहा गया है और 'लेलायति' पद से चलन रूप जिस लेलायन क्रिया का कथन है वह लेलायन सर्व कर्मेन्द्रियों के व्यापारों का उपलक्षण है अर्थात् उन इन्द्रियों के तादात्म्य अध्यास से यह आत्मदेव—'मैं देखता हूँ', 'मैं सुनता हूँ', 'मैं बोलता हूँ', 'मैं चलता हूँ' इस प्रकार से इन्द्रियों के व्यापार-विशिष्ट हुआ प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में उन सब इन्द्रियों से रहित है।

इस प्रकार वह ज्ञेय सब प्रकार के सम्बन्धों या संगों से भी रहित है। जैसा कि इस श्रुति में कहा गया है—

"असङ्गो ह्ययं पुरुषः । असङ्गो न हि सज्जते ।"

[**अर्थ**—निस्सन्देह यह ज्ञेय पुरुष (परमात्मा) सब प्रकार के सङ्ग से रहित है और इस कारण से वह असंग परमात्मा किसी पदार्थ के साथ सङ्ग को प्राप्त नहीं होता।] इस प्रकार वास्तव में असंग हुआ भी वह परब्रह्म अपनी शक्ति के द्वारा सब का पालन पोषण और धारण करने वाला है।

वह ब्रह्म निर्गुण है अर्थात् तीनों गुणों से रहित होने के कारण अमूर्त है। श्रुति में कहा है—

'न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद्यशः ।" [श्वे० ४।१९ ।।]

[**अर्थ**—जिस का महान् नाम तथा बड़ा यश है उस निरुपम परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं है।] फिर भी वह गुणों को भोगने वाला है। अर्थात् त्रिगुणमयी माया उसी की सत्ता से इन गुणों द्वारा उस समस्त सृष्टि की रचना करती है जो त्रिगुणों को भोगती है क्योंकि यह सृष्टि परमात्मा से भिन्न नहीं है इसलिये वही ज्ञेय इन सब गुणों को भोगता हुआ प्रतीत होने से उन गुणों को भोगने वाला कहा जाता है। परमार्थ में ऐसा नहीं है क्योंकि श्रुति कहती है—

"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।"

अर्थात् वह परमात्मा तो सबका साक्षी, चेतन, अद्वितीय और निर्गुण या अमूर्त है ।। १४ ।।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।। १५ ।।

बहिः+अन्तः+च भूतानाम्+अचरम्+चरम्+एव च । सूक्ष्मत्वात्+तत्+अविज्ञेयम्+दूरस्थम्+च+अन्तिके च तत् ।।

बहिः=(अव्यय) बहिस् (√वह्+इसुन्)=बाहर । चमड़ी (त्वचा से बाहर ।

अन्तः=(अव्यय) अन्तर (अन्—अरन्, तुडागम=बीच । मध्य । अन्दर ।
(चमड़ी समेत) चमड़ी के भीतर सारे शरीर में ।

च=(अव्यय) और ।

भूतानाम्=(नपुं०) √भू+क्त=भूत+षष्ठी० ब० व०=भुतों के । चराचर जीवों के ।

अचरम्=(वि०, ज्ञेय का, अत: नपुं०प्र० ए० व०) [चर्+अच्, नञ् तत्पु० पुरुष०]=स्थावर प्राणी। स्थिर रहने वाला। वृक्षादि सब प्रकार का बनस्पति जगत्।

चरम्=√चर्+अच्+(नपुं०) प्र० ए०व०=चलने वाला। जीव समूह।

एव=(अव्यय) ही। भी।

च=(अव्यय) और। (हूँ)।

सूक्ष्मत्वात=(वि०)√सूच्+मन्, सुक्=सूक्ष्म+त्व=सूक्ष्मत्व+(नपुं०) पंच० ए० व०=सूक्ष्मत्वात्=अत्यन्त सूक्ष्म होने से।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह।

अविज्ञेयम्=(नपुं०) न विज्ञेयम् (नञ् तत्पु० प्र० ए० व०)। वि√ज्ञा+यत्। न जाना जाने योग्य।

[जैसे वायु में वाष्प बन कर मिला हुआ जल साधारण मनुष्यों के जानने में नहीं आता है। परन्तु विज्ञानी लोग उसको भली भान्ति जानते हैं। इसी प्रकार सर्व व्यापी परमात्मा भी अत्यन्तसूक्ष्मतम होने के कारण साधारण मनुष्यों के लिये अविज्ञेय या न जाना जाने योग्य है।]

दूरस्थम्=(वि० नपुं०) दूरं स्थितं यत् तत् (बहुव्री०) दूर+√स्था+क+प्र० ए० व०=दूर रहने वाला। (अज्ञानियों के लिये) दूर स्थित हुआ।

च=(अव्यय) और।

अन्तिके=(वि० नपुं०) √अन्त+घञ् (स्वार्थे ठन्)=अन्तिक+सप्त० ए० व०=निकट में। समीप में।

च=(अव्यय) और।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह (ज्ञेय परमात्मा)।

अर्थ—वह (ज्ञेय परब्रह्म) चराचर रूप सब भूतों के बाहर, भीतर (स्थित है)। चर भी है और अचर भी है। अत्यन्त सूक्ष्मतम होने से, न जानेते योग्य है, वह दूर तथा समीप सर्वत्र स्थित है ॥ १५ ॥

व्याख्या—यजुर्वेद अध्याय ४० और ईशा० उपनिषद् का पाँचवां मन्त्र इस प्रकार है—

"तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्थ तदु सर्वस्यास्य वाह्यत: ॥

[**अर्थ**—वह चलता है, वह नहीं (भी) चलता है। (अर्थात् वह चर भी है और अचर भी है।) वह दूर से भी दूर है और अत्यन्त समीप भी है। वह इस समस्त जगत् के भीतर भी है और वह इस सारे संसार के बाहर भी है।]

इस से अगला मन्त्र इस प्रकार है—

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥"

[अर्थ—परन्तु जो मनुष्य समस्त भूतप्राणियों को परमात्मा में ही निरन्तर स्थित देखता है और सब भूतों में परमात्मा को देखता है। वह कभी किसी से घृणा नहीं करता है।]

मुण्डकोपनिषद् में ३।१।७।। मन्त्र इस प्रकार है—

"वृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात मुदुरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥

[अर्थ—वह परब्रह्म महान्, दिव्य और अचिन्त्य स्वरूप है तथा वह सूक्ष्म रूप में प्रकाशित होता है। वह दूर से भी अत्यन्त दूर है और अत्यन्त समीप भी है। यहाँ देखने वालों के भीतर ही उनके हृदय रूपी गुफा में स्थित है।]

अगला आठवां मन्त्र इस प्रकार है—

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्त्व—
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥"

[अर्थ—वह परमात्मा न तो नेत्रों से, न वाणी से तथा न दूसरी इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सकता है। तप से अथवा अन्य शुभ कर्मों से भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। परन्तु उस अवयव रहित परब्रह्म परमाामा को विशुद्ध अन्तः-करण वाला साधक उस का निरन्तर ध्यान करता हुआ निर्मल ज्ञान के प्रसाद से देख पाता है।]

देश पिता गाँधी जी कहते हैं—

"वह भूतों के बाहर है और अन्दर भी है, वह गतिमान् है और स्थिर भी है सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है, वह दूर है और समीप भी है। जो उसे पहचानता है वह उस के अन्दर है। गति और स्थिरता, शान्ति और अशान्ति हम लोग अनुभव करते हैं और सब भाव उसी में से उत्पन्न होते हैं इसलिये वह गतिमान् और स्थिर है।"

अविद्या के कारण जीव स्व शरीर को अपना आप मानता है। गर्मी, सर्दी, वर्षा, वात आदि से उत्पन्न शरीर पीड़ाओं को अपनी पीड़ाएँ अनुभव करता है। मन, बुद्धि और अन्तःकरण की चिन्ताओं और कल्पनाओं से अपने आप को दुःखी करता है। सीपी में रजत की भ्रान्ति, रस्सी में सर्प की भ्रान्ति तथा धूप में चमकती हुई रेत में, जल की भ्रान्ति की भान्ति अपने शुद्ध ब्रह्म स्वरूप में शारारिक और मानसिक दुःखों को आरोपित करके ज्ञान मार्ग से भ्रष्ट होता हुआ देह के मोह में फंस जाता है। यद्यपि इस देह के भीतर, बाहर और मध्यवर्ती

त्वचा में केवल एक अनादि अखण्ड ब्रह्म परमात्मा का निवास है उसी की सत्ता से ही देह तथा उस में लगी हुई इन्द्रियां, मन और बुद्धि अनुप्राणित और कार्यशील होते हैं। संसार में जितने भी चर और अचर रूपों का आभास हो रहा है। वे सब ज्ञेय का ही स्वरूप हैं क्योंकि उस परब्रह्म परमेश्वर के अतिरिक्त शेष सब कुछ केवल कल्पना मात्र ही है। वह परमात्मा चलने वाला भी है और न चलने वाला भी है। चलने वाला तो उसे इस कारण से कहते हैं कि कोई स्थान भी उसकी सत्ता और जानकारी से रहित नहीं है और "न चलने वाला" इस कारण से कहा जाता है कि वास्तव में वह न कहीं चलकर जाता है और न उसे कहीं चलकर जाने की आवश्यकता है क्योंकि कोई कार्य भी ऐसा नहीं है जो उस के स्फुरण मात्र से तत्क्षण सम्पन्न नहीं होता है। यद्यपि सारा दृश्य संसार उसी का स्वरूप है तो भी वह परमेश्वर आकाश की भान्ति अत्यन्त सूक्ष्मतम है बेशक वह अपने स्वरूप से ज्ञेय है, तो भी अत्यन्त सूक्ष्मतर होने के कारण अज्ञानियों के लिये अविज्ञेय ही है।

ज्ञानी के लिये तो "आत्मैवेदं सर्वम्" छान्दो० ७।२५।२॥ अर्थात् यह सब कुछ आत्मा या परमात्मा ही है अथवा "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" बृहद्० २।५।१॥ अर्थात् 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है' इत्यादि प्रमाणों से वह परमात्मा सदा ही प्रत्यक्ष रहता है।

वह ज्ञेय परब्रह्म, अज्ञात होने के कारण कल्पादि काल से ही किसी को प्राप्त न हो सकने के कारण से अज्ञानियों के लिये अत्यन्त दूर है, परन्तु ज्ञानियों का तो वह अपना आत्मा ही है अतः उन के अत्यन्त निकटतम है॥ १५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

अविभक्तम्+च भूतेषु विभक्तम्+इव च स्थितम्। भूत-भर्तृ च तत्+ज्ञेयम्+ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

अविभक्तम्=(वि०) न विभक्तम् (वि√भज्+कर्मणि क्त+नपुं०, प्र० ए० व०)=अविभाजित। (आकाश के सदृश) न बंटा हुआ। अभंग। अविभक्त। संपूर्ण रूप में।

च=(अव्यय) और।

भूतेषु=(नपुं०) √भू+क्त+सप्त० ब० व०=भूतों में। चराचर रूप संपूर्ण प्राणियों में। जीवों की सब देहों में।

विभक्तम्=(वि०) वि√भज्+क्त+नपुं०, प्र० ए० व०=बंटा हुआ। विभाजित। विभक्त हुआ।

इव=(अव्यय) √इ+क्विन्=सा। जैसा।

च=(अव्यय) और।

स्थितम्=√स्था+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=स्थित है। टिका हुआ है।
भूत-भर्तृ=(नपुं०) भूतानां बिभर्ति (स्थिति काले) यत्, तत् (बहुव्री०), √भृ+तृच्=भर्तृ (प्र० ए० व०)=संसार की स्थिति के काल में। (विष्णु रूप से) भूतों का पालन और धारण करने वाला॥
च=(अव्यय) और।
तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह।
ज्ञेयम्=(वि०) √ज्ञा (क्र्या० उभ० सक०=जानना)+यत्+(नपुं०) प्र० ए० व०=जानने योग्य (परब्रह्म परमेश्वर)।
ग्रसिष्णु=(नपुं०) प्र० ए० व० (वि०) √ग्रस् (भ्वा० आत्म० सक०=ग्रसना। निगलना। (खा जाना+इष्णुच्=निगलने वाला। (प्रलयकाल में रुद्ररूप से सब का) संहार करने वाला।
प्रभविष्णु=(वि०) प्र√भू+इष्णुच्, नपुं०, प्र० ए० व०=(उत्पत्ति काल में ब्रह्मा के रूप में सब को) उत्पन्न करने वाला।
च=(अव्यय) और।

अर्थ—और वह अविभक्त होता हुआ भी (आकाश के समान) सम्पूर्ण चराचर भूतों में विभक्त हुआ सा स्थित (प्रतीत होता) है और वह जानने योग्य (परम ब्रह्म परमेश्वर संसार की स्थिति के काल में विष्णु रूप से) भूतों का धारण और पालन करने वाला है। (प्रलयकाल में रुद्र रूप से सब का) संहार करने वाला है और (उत्पत्ति काल में ब्रह्मा के रूप में सब को) उत्पन्न करने वाला है॥ १६॥

व्याख्या—वह ज्ञेय प्रत्येक शरीर में आकाश के समान व्यापक है। जैसे आकाश वास्तव में अविभक्त और एक है। परन्तु सब शरीरों में विभक्त हुआ सा भासमान होता है। इसी प्रकार वह ज्ञेय परब्रह्म परमेश्वर वास्तव में तो अविभाजित और एक रूप है परन्तु सब शरीरों में पृथक् पृथक् जीवात्मा के रूप में भासमान होता है। जगत् का यह नानात्व परमार्थ रूप नहीं है अपितु भ्रान्ति कारक है और एकत्व ही सत्य है। उदाहरणार्थ—

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं पश्यति, इतरꣳशृणोति, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं विजानाति, यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳशृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं विजानीयात्। येनेदꣳसर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे! केन विजानीयादिति॥"

[बृहदा० २। ४। १४॥]

[**अर्थ**—अरी! जहां (अज्ञानावस्था में द्वैत सा (संसार भासमान) होता है। सो (इसी से) वही अन्य, अन्य को सूँघता है। वही अन्य अन्य को देखता

है। वही अन्य-अन्य को सुनता है। वही अन्य-अन्य का अभिवादन करता है। अन्य-अन्य का मनन करता है तथा अन्य-अन्य को जानता है परन्तु जहां इस (पुरुष) के लिये सब एक आत्मा ही हो गया है। वहां कौन किस को सूंघे? कौन किस को देखे? कौन किस को सुने? कौन किस का अभिवादन करे? कौन किस का मनन करे और कौन किस के द्वारा किसे जाने? जिस के द्वारा इस सब को जानता है। उसे किसके द्वारा जाने? विज्ञाता को किस के द्वारा जाने?]

और भी—

"मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

[वृहद्० ४।४।१९॥]

[अर्थ—आचार्य के उपदेशानुसार ब्रह्म को मन से ही देखना चाहिए। इस में नानात्व कुछ भी नहीं है जो इस को नाना की भान्ति देखता है। वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्म लेता और मरता है।]

और भी—

"कतमः आत्मेति? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति॥" [वृहद्० ४।३।७]

[अर्थ—जनक ने पूछा—आत्मा कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यह जो प्राणों में हृदय के अन्दर विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है वह एक रस समान रूप हुआ इस लोक और परलोक दोनों में संचार करता है।]

आगे चलकर गीता के १८वें अध्याय के श्लोक २० में कहा गया है—

"जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्म भाव को विभाग रहित समभाव से स्थित देखता है। उस ज्ञान को (ही) तू सात्विक जान॥"

यद्यपि वह आत्मा सब शरीरों में एक ही है परन्तु अज्ञानता के कारण भिन्न-भिन्न शरीरों में उस की भिन्न-भिन्न प्रतीति होती है जो शुक्ति में रजत-भास की भान्ति मिथ्या है। श्रुति कहती है—"एको देवः सर्व-भूतेषु गूढः।" अर्थात् जैसे सब पदार्थों में अग्नि छिपी हुई है। इसी प्रकार एक ही परमात्मा सब भूतों में छिपा हुआ स्थित है। वही ब्रह्म स्थिति काल में जीवों को धारण और पालन करता है उस समय उस का नाम विष्णु होता है वह ज्ञेय पर ब्रह्म प्रलय काल में सब भूतों का विनाश कर देता है। तब वह रुद्र नाम से प्रसिद्ध होता है। कल्पादि में वह सृष्टियों की उत्पति करता है तब वह ब्रह्मा कहलाता है इस प्रकार वह ज्ञेय परब्रह्म परमात्मा सर्वशक्ति सम्पन्न है। उस के बिना शेष सब कुछ, कुछ भी नहीं है। केवल उस ब्रह्म की एक झलक मात्र है॥ १६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

ज्योतिषाम्+अपि तत्+ज्योतिः+तमसः परम्+उच्यते । ज्ञानम्+ज्ञेयम्+ज्ञान-गम्यम् हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

ज्योतिषाम्=(नपुं० पुं०) द्योतते द्युत्यतेऽनेनवा । √द्युत्+इसुन्, आदि 'द्' को 'ज्' होता हैं=ज्योतिस्+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=ज्योतिषाम्=ज्योतियों का । समस्त सूर्यादि ज्योतियों का । समस्त प्रकाश वालों का ।

अपि=(अव्यय) भी ।

तत्=तद् (सर्व०) नपुं० प्र० ए० व०=वह ज्ञेय परब्रह्म ।

ज्योतिः=(नपुं०) ज्योतिस्+प्र० ए० व० ज्योति । प्रकाशित करने वाला परम प्रकाश । सब को चमकदार बनाने वाला परब्रह्म रूप महा प्रकाश । आत्म चैतन्य प्रकाश ।

तमसः=(नपुं०) √तम्+असच्=तमस्+पंच० ए० व०=तमसः=तम से । अन्धकार से । अज्ञान से । माया से ।

परम्=(वि०) √पृ+अप्+(नपुं०) प्र० ए० व०=परम्=बहुत परे वाला । अति परे ।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+(भाव और कर्मवाच्य) लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है ।

ज्ञानम्=(नपुं०) √ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान+प्र० ए० व०=बोध स्वरूप । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जानना । प्रकृति पुरुष का विवेक ।

ज्ञेयम्=(वि०) √ज्ञा (क्र्या० उभ० सक०=जानना)+यत्=ज्ञेय+(नपुं०) प्र० ए० व०=ज्ञेयम्=जानने योग्य परब्रह्म परमेश्वर । ज्ञेय ।

ज्ञान=गम्यम्=(वि०) ज्ञानेन गम्यम् (√गम्+यत्+नपुं०) प्र० ए० व०)=ज्ञान के द्वारा पहुँचने योग्य । ज्ञेय ही जान लिया पाने पर ज्ञान का फल होने के कारण पहले 'ज्ञान-गम्य' कहलाता है । फिर जान लेने पर "ज्ञेय" कहलाता है । तत्त्व-ज्ञान से प्राप्त होने वाला ।

हृदि=(नपुं०) हृद्+सप्त० ए० व०=हृदय में ।

सर्वस्य=सर्व+षष्ठी० ए० व०=सब के ।

विष्ठितम्=वि √स्था+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=विशेष रूप से स्थित है ॥

अर्थ—वह (परब्रह्म परमेश्वर समस्त सूर्यादि) ज्योतियों का भी ज्योति (प्रकाश करने वाला-चैतन्य प्रकाश) और अन्धकार ने अत्यन्त परे कहा जाता है । वह ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान-गम्य है और सब के हृदय में विशेष रूप से स्थित है ॥ १७ ॥

व्याख्या—"ज्योतिषां ज्योतिरेकम्" (यजु० ३४ । १) वह परब्रह्म

परमेश्वर सब ज्योतियों की मूल एक ही ज्योति है । जैसे हमारे सूर्य मण्डल में भरी हुई ज्योति से बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, बृहस्पति, शनि, यूरेनैस नेपच्यून और प्लूटो नाम के नव ग्रहों इकतीस चन्द्रमाओं, दो हजार क्षुद्र ग्रहों, अनेक उलकाओं और धूम्र केतु आदियों को प्रकाश मिलता है। जैसे अन्य अनेक सूर्यों के प्रकाश से उन के परिवारों के सदस्यपिण्ड प्रकाशित होते हैं, इसी प्रकार समस्त सूर्यों, सम्पूर्ण तारों, विद्युत और अग्नि को स्वयंप्रकाश परब्रह्म परमेश्वर से प्रकाश प्राप्त होता है। सूर्य, चन्द्र, तारागण विद्युत और अग्नि आदि ये सब बाह्य ज्योतियां हैं।

बुद्धि, मन और इन्द्रियां आदि अध्यात्मिक या भीतरी ज्योतियां कहलाती हैं। उन में विद्यमान प्रकाश भी परब्रह्म के प्रकाश के कारण ही हैं।

विभिन्न लोकों और विभिन्न अन्नादि वस्तुओं के अधिष्ठातृ देवता रूप जो देव ज्योतियां है। उन सब का प्रकाशक भी वह परब्रह्म परमात्मा ही है।

उपरोक्त सब प्रकार के प्रकाशों का समूह परब्रह्म प्रकाश के एक अणु मात्र से अधिक नहीं है।

श्रुति कहती है—

"येन सूर्यस्तपतितेजसेद्धः, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।" अर्थात् जिस स्वयं-ज्योति परब्रह्म से यह तेजयुक्त सूर्य तपायमान होता है। उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है। गीता १५।१२ में फिर भगवान् ने कहा है—"सूर्य में विद्यमान जो तेज समूचे जगत् को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमा तथा अग्नि में विद्यमान है, वह मेरा है, ऐसा तू जान।"

वह परब्रह्म अन्धकार, अज्ञान और माया से बहुत परे है । वह तो स्वयं ज्योति है इसलिये अंधकार उस के समीप कैसे पहुँच सकता है? अंधकार की तो बात ही क्या है। कोई प्रकाश भी उसके समीप टिक सकने में समर्थ नहीं हो सकता। जैसे आकाश तो दिन के समय भी तारा मण्डल से भरा हुआ होता होता है परन्तु सूर्य के प्रचण्ड तेज के कारण आकाश पर एक भी तारा दिखाई नहीं देता है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा के प्रकाश में बड़े से बड़ा सूर्य भी अपने प्रचण्ड महातेज और अपने स्वरूप को खो बैठता है तो फिर सूर्यादि उस स्वयं प्रकाश परब्रह्म कों प्रकाशित कर सकने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? गीता १५।६" में स्वयं भगवान् कहते हैं—

"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।"

अर्थात् उस स्वयं प्रकाश परमेश्वर को न सूर्य प्रकाशता है। न चन्द्रमा न अग्नि।

यही भाव कठ० २।२।१५।। में प्रदर्शित किया गया है—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं।

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि?

तमेवभान्तमनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।"

[यह मन्त्र ठीक इसी रूप में मुण्ड० २।२।१० ।। और श्वेता० ६।१४ ।। में भी है ।]

[अर्थ—वहाँ न सूर्य प्रकाश करता है, न चन्द्रमा, न तारे (चमकते) हैं। नये बिजलियाँ ही चमकती हैं। फिर इस अग्नि के लिये तो कहना ही क्या है ? उसी के प्रकाशित होते हुए ये सब प्रकाशमान होते हैं और उसी के प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है ।।]

और भी—

'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदो विदुः ।।"

[मुण्ड० २।२।९ ।।]

[अर्थ—वह निर्मल अवयव रहित परब्रह्म प्रकाशमय-परम-कोश में विराजमान हैं।

वह सर्वथा विशुद्ध, सर्व ज्योतियों की भी ज्योति है। जिस को आत्म ज्ञानी ही जानने है ।]

वह परब्रह्म परमेश्वर अविद्या और उस के कार्य रूप प्रपंच के सम्बन्ध या स्पर्श से नितान्त रहित है। वह स्वयं ज्ञान स्वरूप है। पूर्व में जो बीस ज्ञान (या ज्ञान के साधन) कहे गए हैं उन का रूप भी वह परमात्मा स्वयं आप ही। है और वह चेतन और बोध स्वरूप है और उन ज्ञान रूप साधनों से जानने योग्य भी आप ही हैं। इस संसार में जानने के योग्य एक मात्र वह परमात्मा ही है क्योंकि जन्म-मरण से मुक्त होने के लिये परमात्मा को जान लेना ही परमावश्यक है। जानने योग्य होने से वह 'ज्ञेय' कहलाता है। उस को जानने के लिये पूर्वोक्त बीस प्रकार के ज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिये उस परब्रह्म को ज्ञान गम्य कहा जाता है। परन्तु उस तक पहुँचना केवल उसकी कृपा पर ही निर्भर है। सारांश यह है कि ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान-गम्य सब कुछ वह परब्रह्म आप ही है। यद्यपि वह शरीर के भीतर बाहर और त्वचा में सब जगह स्थित है। परन्तु हृदय में उसकी स्थिति विशेष रूप से मानी जाती है जैसा कि भगवान् ने इसी श्लोक में कहा है "हृदि सर्वस्य विष्ठितम्" अर्थात् वह ब्रह्म सब के हृदय में विशेष रूप से स्थित है। आगे चलकर गीता १८।१५।। में भी कहा है

'ईश्वर सब भूतों के हृदय-देश में स्थित है।'

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह परमेश्वर तो सर्व-व्यापक है। तो फिर उसे हृदय में विशेष रूप से स्थित क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर यह है कि जब किसी प्राणी को दुःख दिया जाता है तो उस प्राणी का हृदय दुःखी

हो जाता है जिस से वहाँ पर विशेष रूप से विराजमान परमेश्वर भी रुष्ट हो जाता है और जिस प्राणी को सुखी किया जाता है उस के हृदय में विशिष्ट रूप से स्थित परमेश्वर भी सन्तुष्ट हो जाता है। यद्यपि अग्नि सब वस्तुओं के सब अंगों और सारे आकाश में विराजमान है। परन्तु फास्फोर्स में वह विशेष रूप से स्थित है क्योंकि फास्फोर्स को पानी से बाहर निकालते ही वह तुरन्त उस से निकलकर दृश्यमान होने लगती है इस प्रकार अग्नि दियासिलाई के मुख्य छोर में विशेष रूप से निहित होती है जिसे डिबिया पर रगड़ते ही अग्नि की ज्वाला प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार अग्नि का विशेष निवास पोटाशियम क्लोरेट में होता है क्योंकि जब उस में चीनी और गन्धक के तेजाब की एक बूँद मिलती है तो वह उसी समय ज्वाला बन कर प्रकट हो जाती है। सूर्य की धूप सब जगह फैली हुई उतनी प्रचण्ड नहीं होती जितनी दर्पण आदि चमकदार वस्तु में प्रतिबिम्बित होकर प्रचण्ड और देखी न जाने वाली होती है। इसी प्रकार उत्तल लैन्स में सूर्य की किरणें लाँघ कर एक बिन्दु पर एकत्रित हो जाती हैं और वहाँ पर रखे हुए काग़ज या कपड़े को जला देती हैं। योगी जन परमेश्वर के दर्शन भी अपने हृदय स्थल में ही किया करते हैं, देह के किसी और भाग में ऐसा करना सम्भव नहीं है। इसलिये परमेश्वर की स्थिति हृदय-स्थल में विशेष रूप से कही गई है ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इति क्षेत्रम्+तथा ज्ञानम्+ज्ञेयम्+च+उक्तम्+समासतः मत्+भक्तः+एतत्+विज्ञाय मत् भावाय+उपपद्यते ॥

इति=(अव्यय) इस प्रकार।

क्षेत्रम्=(नपुं०)√क्षि+त्रम्+प्र० ए० व०=क्षेत्रम्=क्षेत्र [गी० १३।५ से १३।६ तक क्षेत्र का वर्णन है।]। क्षेत्र।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल्=वैसे ही। और। तथा।

ज्ञानम्=(नपुं)√ज्ञा+ल्युट्+प्र० ए० व०=ज्ञानम्। [गीता० १३।७ से १३।११ तक ज्ञान का साधन कहा गया है।]

ज्ञेयम्=(वि०, नपुं०)√ज्ञा (क्रिया० उभ० सक०=जानना)+यत्+प्र० ए० व०=ज्ञेयम्। ज्ञेय (गी० १३।१२ से १३।१७ तक ज्ञेय का स्वरूप कहा है।]

च=(अव्यय) और।

उक्तम्=√वच्+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है। (मेरे द्वारा) कहा गया है।

समासतः=(पुं०) सम्√अस्+घञ्=समास+तसिल्=समासतस् (अव्यय) =समास से। संक्षेप से।

मत्+भक्तः=(पुं०) प्र० ए० व०=मेरा भक्त।

एतत्=एतद् (सर्व०)+(नपुं०) द्वती० ए० व०=इस को।

विज्ञाय=वि√ज्ञा+ल्यप्=जान कर।

मत्+भावाय=(पुं०)√भू+घञ्=भाव+चतु० ए० व०=भाव के लिये। मम भावाय=मेरे भाव के लिये। मेरे स्वरूप में मिलने के लिये। मेरे पद की प्राप्ति के लिए। मेरे स्वरूप को।

उपपद्यते=उप√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=जाना। प्राप्त होना। योग्य होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=योग्य होता है। प्राप्त होता है।

अर्थ—इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय (का स्वरूप मेरे द्वारा) संक्षेप से कहा गया है। मेरा भक्त इस को जान कर मेरे स्वरूप को (प्राप्त होने के लिये) योग्य होता हैं॥ १८॥

व्याख्या—इस अध्याय के श्लोक ५ और ६ में भगवान् ने क्षेत्र का स्वरूप संक्षेप से वर्णन किया है तथा श्लोक ७ से ११ तक पाँच श्लोकों में ज्ञान और उसके बीस साधनों का संक्षेप से कथन किया गया है और श्लोक १२ से १७ तक छः श्लोको में ज्ञेयअर्थात् जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप से कहा गया है। भगवान् ने यह सब वेदों, उपनिषदों में अपने द्वारा कहा हुआ अर्थ इकट्ठा करके अब फिर गीता में संक्षेप से कहा है। इस में ज्ञेय ही क्षेत्रज्ञ अथवा परब्रह्म है और ज्ञान यहाँ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के तत्त्व से जानने का नाम है। जिस का अन्तिम फल मोक्ष की प्राप्ति है। सब क्षेत्र प्रकृति से ही उत्पन्न होते हुए दृष्टि गोचर होते है। पुरुष आत्मा को कहते हैं प्रकृति और पुरुष दोनों पृथक-पथक कहे जाते हैं परन्तु मूल रूप में ऐसा नहीं है क्योंकि ये दोनों एक ही परमेश्वर के कनिष्ट और श्रेष्ठ दो रूप हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का ही रूपान्तर प्रकृति-पुरुष का विवेक है।

भगवान् कहते हैं, मुझ परमेश्वर में अपने सब भावों को अपर्ण करने वाला मेरा भक्त जिस किसी वस्तु को भी देखता, सुनता या स्पर्श करता है। उसमें मुझ को निश्चय पूर्वक देखता है और वह इन पूर्वोक्त क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय को यथार्थ रूप से जान लेता है। जिस के जान लेने के फलस्वरूप मेरे स्वरूप को पाने योग्य हो जाता है। अन्त में जन्म-मरण से मुक्त होकर मोक्ष को पा लेता है॥ १९॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥

प्रकृतिम्+पुरुषम्+च+एव विद्धि+अनादी उभौ+अपि। विकारान्+च गुणान्+च+एव विद्धि प्रकृति-सम्भवान् ॥

प्रकृतिम्=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ+क्तिन्=प्रकृति+द्विती० ए० व०=प्रकृतिम्=(परब्रह्म परमेश्वर का मूर्त्तिमान संकल्प जिस के कारण सृष्टि की उत्पत्ति होती है, 'प्रकृति' कहलाता है) प्रकृति को। महद्ब्रह्म माया को। अनादि सिद्ध मूल प्रकृति को। अपरा प्रकृति को।

पुरुषम्=(पुं०) पुरति (अग्रे) गच्छति, पुर्+कुषण्=पुरुष+द्विती० ए० व०=पुरुषम्=परब्रह्म परमेश्वर को।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) ही।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) जान।

अनादी=(वि०) यस्यं आदिः नास्ति स अनादि+द्विती० द्वि० व०=अनादि। [नञ् बहुव्री०]। (दो) अनादि।

उभौ=(सर्व०) (वि०) √उ+भक्=उभ+(पुं०) द्विती० द्वि० व०=दोनों को।

अपि=(अव्यय) भी।

विकरान्=(पुं०) वि√कृ+घञ्=विकार+द्विती० ब० व०=विकारों को। विकृतियों को।

च=(अव्यय) और।

गुणान्=(पुं०) √गुण्+अच्=गुण+द्विती० ब० व०=गुणों को। सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों को। इन्द्रियजन्य (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) विषयों को।

च=(अव्यय) और। एवं।

एव=(अव्यय) ही।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) जान।

प्रकृति-सम्भवान्=(पुं० वि० द्विती० ब० व०) प्रकृतेः सम्भवान् (षष्ठी तत्पु०)=प्रकृति से उत्पन्न हुओं को। [सम्भव=(पुं०) सम्√भू+अप्=उत्पत्ति। उत्पन्न हुआ।]

अर्थ—प्रकृति (परब्रह्म परमेश्वर के मूर्तिमान् संकल्प) और पुरुष (परब्रह्म परमेश्वर) दोनों को ही (तू) अनादि (सदा से चले आ रहे) जान और (सब प्रकार के) विकारों को प्रकृति से उत्पन्न हुए जान। एवं तीनों गुणों (और उन से उत्पन्न हुए पदार्थों) को भी (तू प्रकृति से उत्पन्न हुए जान)॥ १९॥

व्याख्या—भगवान् कहते हैं। केवल दो ही ऐसे हैं, जिनका कोई आदि नहीं हैं। उनमें से एक तो स्वयं परब्रह्म परमेश्वर है। जो अमूर्त अव्यक्त स्वप्रकाश और अचिन्त्य आदि गुणों से युक्त है। परन्तु वह केवल मिट्टी के माधो के तुल्य जड़ नहीं है। जब वह आनन्द मग्न होता है तो उसके विना कुछ भी नहीं होता। केवल उसका एक संकल्प होता है जो सदा उसमें समाया रहता है। फिर उसका यह संकल्प मूर्तिमान् या जागृत हो उठता है। तब सारी सृष्टि की रचना हो जाती है। उसके उस संकल्प का नाम ही प्रकृति है। जो उस भगवान् के साथ ही अनादि है अर्थात् वह संकल्प उस परब्रह्म में सदा से विद्यमान चला आ रहा है। यदि वह संकल्प या प्रकृति भगवान् में सदा से विद्यमान न होती तो भगवान् परब्रह्म ही न होता, क्योंकि उसके विना सृष्टि की रचना ही कभी न होती और सृष्टि के विना वह परब्रह्म किसके द्वारा कहा जाता और किससे पर कहा जाता। जैसे यदि अन्धकार ही न होता तो प्रकाश को प्रकाश ही कौन कहता ?

संसार में जो भी विकार या परिवर्तन होते हैं। वे सब प्रकृति द्वारा ही उत्पन्न होते हैं चाहे किसी का जन्म हो, चाहे मरण हो, आंधी का चलना, वर्षा का बरसना आदि अनेक बिकार हैं जो दिन-रात प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं हम भी जो कुछ करते हैं वे सब प्रकृति के कराने से ही करते हैं। सत्व, रज और तम तीनों गुण भी प्रकृति द्वारा ही उत्पन्न होते हैं इनके सब कार्य भी प्रकृति द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। क्योंकि ब्रह्म तो स्वयं कुछ भी नहीं करता है। श्लोक में 'अपि' शब्द से कुछ भ्रम की सम्भावना होती है। जिसे ठीक स्थान पर न बैठा कर कुछ टीककारों ने इस प्रकार अर्थ किया है।

अर्थ—"प्रकृति और पुरुष इन दोनों को भी तू अनादि ही समझ और सब विकारों तथा गुणों को तू प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ जान।"

इस अर्थ से ऐसा भान होता है कि प्रकृति और पुरुष के बिना कोई एक या एक से अधिक अनादि और भी हैं जिनका वर्णन पहले कहीं किया गया हो। परन्तु ऐसा वास्तव में नहीं है। वेदान्त तो केवल एक परब्रह्म को ही अनादि मानता है और गीता का भी यही मत है। सांख्य शास्त्र वाले प्रकृति और पुरुष दो को अनादि मानते हैं। इसलिए भगवान् ने अपने मत का समर्थन करने के लिये और सांख्य वालों का समाधान करने के लिये यह श्लोक कहा है जिसका गर्भाशय यह है—अनादि तो केवल एक परब्रह्म ही है जो निर्विकार और निराकार है। मन, बुद्धि और इन्द्रियों से समोत्वर है। उसमें कोई इन्द्रिय भी नहीं है न अन्तःकरण और मन आदि कोई अवयव ही है। परन्तु तो भी बिना मन या अन्तःकरण उसमें सृष्टि रचना का संकल्प या स्फुरण अवश्य होता है। यदि स्फुरण या संकल्प उसमें अनादि न होता तो उस के द्वारा सृष्टि की रचना कैसे होती ? यह संकल्प या स्फुरण

उसका कनिष्ट रूप है और पुरुष उसका श्रेष्ठ रूप है वास्तव में ये दोनों एक ही हैं परन्तु कार्य रूप में पृथक पृथक प्रतीत होते हैं। इसलिए भगवान् ने पुरुष और प्रकृति दोनों को अनादि कहा है। इनके बिना तीसरा और कोई अनादि नहीं है। इस बात को भली भान्ति जान लेना चाहिए। 'अपि' अव्यय को श्लोक की दूसरी पंक्ति के साथ मिला कर अर्थ करना चाहिए॥ १९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

कार्य-करण-कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः+उच्यते। पुरुषः सुख-दुःखानाम् भोक्तृत्वे हेतुः+उच्यते॥

कार्य-करण-कर्तृत्वे=(नपुं० पुं० सप्त० ए० व०)। कार्यं च करणं च तयोः कर्तृत्वे=कार्य और करण के कर्तापन में। कार्य और करण के उत्पन्न करने में। [आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन महाभूतों के पाँच सूक्ष्म रूप और पांच शब्द स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध, इन दोनों का वाचक कार्य कहलाता है, दूसरे शब्दों में कार्य स्थूल शरीर को कहते हैं।

पाँच ज्ञानेन्द्रियां (श्रोत, त्वचा, नेत्र, रसना घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियां (वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) अहंकार, मन और बुद्धि (अथवा तीन या चार अन्तः करणों वाला लिङ्ग शरीर) इन तेरह को यहाँ करण कहा गया है। कार्य या क्रिया के साधन का नाम करण होता है। प्रकृति (माया या परब्रह्म परमात्मा का संकल्प) इन तेरह करणों द्वारा स्थूल शरीरों की उत्पत्ति करता है।]

हेतु=(पुं०) √हि=तुन्+प्र० ए० व०=कारण। सबब। साधन। हेतु।

प्रकृतिः=(स्त्री०) प्र० ए० व०=परब्रह्म परमेश्वर का मूर्तिमान संकल्प (जिस के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति होती है।) माया। महद्ब्रह्म परमेश्वर की शक्ति।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना) लट्० कर्म० णिच्० प्र० पु०, ए० व०=कही जाती है।

पुरुषः=(पुं०) प्र० ए० व०=जीवात्मा। पुरुष। क्षेत्रज्ञ। भोक्ता। परब्रह्म परमेश्वर का वह रूप जो प्रकृति या माया के संसर्ग से सुख दुःख का अनुभव करता है। यह सुख दुःखादि का आभास उस को अपने स्वरूप को न पहचानने से ही होता है। वास्तव में ये सुख दुःखादि उस के अन्तः-करण के माने हुए होते हैं।

सुख-दुःखानाम्=(नपुं०) षष्ठी० ब० व०। सुखानां च दुःखानां च (द्वन्द्व०)= सुखों और दुःखों के।

भोक्तृत्वे=(पुं०) भोक्तृ+त्व+सप्त० ए० व०=भोक्तापन में। भोक्तृत्व में।

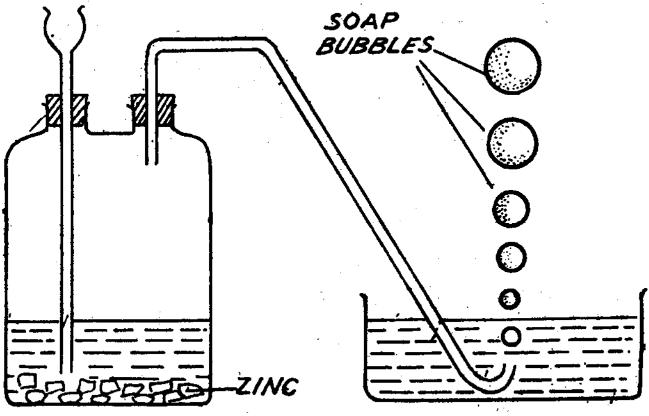
हेतुः=(पु०) प्र० ए० व०=कारण। हेतु।

उच्यते=√वच्+लट्० णिच् प्र० पु० ए० व० कहलाता है।

अर्थ—कार्य (सब प्रकार के स्थूल शरीरों) और करण (इन शरीरों की उत्पत्ति के करने वाले तेरह विशेष साधनों) के उत्पन्न करने में प्रकृति, हेतु (कारण) कही जाती है और सुख-दुःखों के भोक्तृत्व (भोक्ता पन) में पुरुष (जीवात्मा) हेतु या कारण कहलाता है॥ २०॥

व्याख्या—पिछले श्लोक में बतलाया गया है कि केवल परब्रह्म परमात्मा और उसका संकल्प ये दो ही अनादि हैं। उसके संकल्प का नाम ही प्रकृति है। यह प्रकृति जड़ है जो परमात्मा के द्वारा ही **मूर्तिमान्** या कार्यशील होती है। यह सब संसार परब्रह्म परमात्मा का अपना खेल है। जब वह खेलता है तो संसार की नवीन-नवीन रचना होती रहती है परन्तु जब वह इस खेल को समाप्त कर देता है तो उस अव्यक्त परब्रह्म के बिना शेष सब कुछ निःशेष हो जाता है। जब सृष्टि का रचना काल प्रारम्भ होने लगता है तो सब से पहले उस परब्रह्म का संकल्प जागृत हो उठता है। उस का नाम प्रकृति या भगवान् का स्वभाव है यह प्रकृति सत्व, रज और तम तीन गुणों को उत्पन्न करती है। यद्यपि यह कठपुतली की तरह जड़ है। परन्तु परब्रह्म रूप सूत्र धार की सत्ता से यह बुद्धि, अहंकार और मन रूप त्रिसूत्री अन्तःकरणों को उत्पन्न करती है। साथ ही श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों और वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों अर्थात् इन तेरह करणों के समूहों की संसृति कर देती है। फिर इन करणों से अनेक पार्थिव स्थूल शरीरों की रचना होती है जिन को कार्य कहते हैं। प्रत्येक कार्य या स्थूल शरीर में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के सूक्ष्म तत्त्व सम्मिलित होते हैं। साथ ही शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध इन पाँच के विषय भी होते हैं। कभी कभी शरीर के स्थान पर इन दसों को ही कार्य कह कर वर्णन किया जाता है। इन कार्य और करणों की उत्पत्ति का हेतु प्रकृति मानी जाती है। परन्तु ये कार्य और करण तभी सफल होते हैं, जब इस में जीवात्मा प्रविष्ट हो चुकता है और यह जीवात्मा परब्रह्म परमेश्वर का ही अंश होता है। प्रत्येक शरीर के भीतर परमात्मा के दो रूप होते हैं। एक तो परब्रह्म परमेश्वर जो सदा सर्वत्र व्यापक है, दूसरा जीवात्मा जो मन, बुद्धि, अहंकार और लिङ्ग शरीर से इसी तरह घिरा रहता है जिस प्रकार जल के आवरण में वायु का कुछ भाग घिर कर बुदबुदा या बुलबुला बन जाता है और वह जीवात्मा माया रूपी आवरण से ढका हुआ होकर अपने मूल स्वरूप को भूल जाता है। जिस से सांसारिक दुःख-सुख और चिन्ता, रोग, शोकादि विकारों का अध्यास अपने आप पर आरोपित या लागू करने लगता है वास्तव में तो इन सब का उस से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु प्रकृति के गुणों और मन, बुद्धि तथा अहंकार के इन्द्रियों के विषयों में लीन हो जाने से शुद्ध ब्रह्म-अंश

आत्मा को यह सुख दुःख के आभास होने की उपाधि लग जाती है। एक और उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जाता है—दो मुखों वाली कांच को एक



बोतल लो। उसके दोनों मुखों में छिद्र वाले दो कार्क लगाओ एक छिद्र में कीफ वाली कांच की नली लगाओ, जो बोतल के पेंदे तक लम्बी हो। दूसरे कार्क के छिद्र में मुड़ी हुई एक और कांच की नली लगाओ जिसका दूसरा सिरा कांच के प्याले में डाले हुए साबुन के घोल में डूबा हुआ हो। बोतल में जिस्त के टुकड़े डालो, फिर दोनों कार्क इतने कस कर लगा दो जिस से बोतल के भीतर उत्पन्न होने वाली गैस उन कार्कों के स्थान से बाहर न निकल सके। पहले कीफ़ में पानी डालो जिस से जिस्त के टुकड़े पानी में डूब जाएँ फिर कीफ़ में गन्धक का तेजाब डालो। बोतल के पानी में खलबली मच जाएगी और हाईड्रोजन गैस मुड़ी हुई नली के द्वारा साबुन के घोल में प्रविष्ट होने लगेगी। जिस से प्याले के पानी से बड़े-बड़े बुलबुले निकल कर निरन्तर आकाश की ओर चढ़ने लगेंगे। इन बुलबुलों में सब से हल्की गैस हाइड्रोजन भरी हुई होती है। जिन के ऊपर साबुन मिले पानी का आवरण चढ़ा हुआ होता है। जल दो गैसों हाइड्रोजन और आक्सीजन से मिल कर बना होता है। इसलिये जिस्त और तेजाब मिलकर दोनों, पानी में हाइड्रोजन गैस उत्पन्न करते हैं जो जल का ही एक भाग होती है और बुलबुले बन कर आकाश में विचरने लगती है। जब ये बुलबुले फूट जाते हैं तो हवा में मिलकर जल कण बन जाते हैं और फिर कभी धरती पर बरस जाते हैं। इस प्रकार परब्रह्म अंश जीवात्मा माया रूपी साबुन के घोल में फंस कर जन्म लेकर संसार रूपी आकाश में बिचरता है और बार बार जन्म लेता है और सुख दुःख के भोक्तापन का कारण बनता रहता है। श्री ज्ञानेश्वर महाराज जी कहते हैं—

यदि इन पुरुषों और प्रकृति के घर की अवस्था बतलाई जाये तो वह बहुत ही विचित्र है, इन में स्त्री (प्रकृति) जो कुछ उपार्जन करती है। वह पति (पुरुष) चुपचाप बैठा खाता है। ये पत्नी और पति (अर्थात् ईश्वर और माया) कभी मिल कर नहीं रहते और इनकी ठीक तरह से संगति नहीं होती। परन्तु फिर भी यह कितने आश्चर्य की बात है कि उसी स्त्री (महद्ब्रह्म) के गर्भ से सारा संसार उत्पन्न होता है। [और सब प्रकार से संग रहित पुरुष (परब्रह्म) बीज डालने वाला पिता माना जाता है]। कल्याण के (गीतांक) में लिखा है—

प्रकृति जड़ है, उस में भोक्ता पन की सम्भावना नहीं है और पुरुष असङ्ग है, इसलिये उस में भी वास्तव में भोक्तापन नहीं है। प्रकृति के संग से ही पुरुष में भोक्ता पन की प्रतीती-सी होती है और यह प्रकृति पुरुष का संग अनादि है। इस लिये यही पुरुष को भोक्ता पन में हेतु यानी निमित्त माना गया है। प्रकृति में स्थित पुरुष ही प्रकृति जनित गुणों को भोक्ता है और प्रकृति से मुक्त पुरुष में भोक्ता पन की गन्ध मात्र भी नहीं है॥ २०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु॥ २१॥

पुरुषः प्रकृति-स्थ हि भुङ्क्ते प्रकृति-जान गुणान्। कारणम्+गुण-सङ्गः+अस्य सत्+असत्+योनि जन्मसु॥

पुरुषः=(पुं०) प्र० ए० व०=जीवात्मा। क्षेत्रज्ञ। भोक्ता। पुरुष। परब्रह्म परमेश्वर का वह रूप जो प्रकृति या माया के संसर्ग से सुख दुःख को अनुभव करता है और इन द्वन्द्वों के भोक्तापन में हेतु बनता है।

प्रकृति-स्थः=(वि० पुं०—प्र० ए० व०) प्रकृतौ (=अविद्यालक्षणायां कार्य-करणरूपेण परिणतायां) स्थितः [स्थः=(वि० √स्था+क) प्रायः समास में ही 'स्थ' का व्यवहार होता है। यहां 'सप्त० तत्पु' समास है।] कार्य और करण के रूप में परिणत हुई अविद्यारूपा प्रकृति में स्थित हुआ। (प्रकृति से बने हुए स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में से किसी से भी सम्बन्ध रखता हुआ जीवात्मा प्रकृतिस्थ कहलात है)।

हि=(अव्यय) ही।

भुङ्क्ते=(क्रि०) √भुज् (रुधा० उभ० सक०=खाना, भोगना)+लट्० आत्म०, प्र० पु०, ए० व०=भोगता है।

प्रकृति-जान्=(पुं०) प्रकृतेः जान्। प्रकृतितः जातान्=प्रकृति से उत्पन्न हुओं को (पंच० तत्पु०)।

[जब 'ज' समास के अन्त में आता है तब उस का अर्थ होता है—उस से उत्पन्न हुआ जैसे इसी स्थल में—प्रकृतिज+द्वि० बहु वचन=प्रकृतिजान्। (जन्+ड्=ज)]।

गुणान्=(पुं०) √गुण्+अच्=गुण+द्वितीο बο वο=गुणों को त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को। सत्त्व, रज, तम प्रकृति से उत्पन्न तीन गुण कहे जाते हैं। इन्द्रिय-जन्य रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध नामक विषयों को।

कारणम्=(नपुं०) √कृ=णिच्+ल्युट्=कारण+प्रο एο वο+कारणम्= हेतु। जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। कारण है, हेतु है।

गुण-सङ्ग=(पुं०) प्रο एο वο। गुणानां सङ्गः (षष्ठी तत्पु०)। गुणों का संग। गुणों में लगाव। तीनों गुणों से उत्पन्न हुए पदार्थों में आसक्ति।

अस्य=इदम् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० एο वο=इसका। इस पुरुष का। इस जीवात्मा का।

सत्+असत्+योनि-जन्मसु=(नपुं०) सत्यः च असत्यः च योनः तासु=सद्-असद्-योनिषु जन्मानि=सद्-असद्-योनि-जन्मानि तेषु सद् असद्-योनि-जन्मसु=सत् (अच्छी) और असत् (बुरी) योनियों के जन्मों में। [देवादि योनियां 'सत्' योनियां हैं और पशु आदि योनियां 'असत्' योनियां हैं। मनुष्य योनियां सत् और असत् दोनों प्रकार की हैं।]

अर्थ—पुरुष प्रकृति में स्थित हुआ ही प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को भोगता है (और) इस (पुरुष) का (यह इन) गुणों का संग अच्छी और बुरी योनियों के जन्मों का कारण होता है॥ २१॥

व्याख्या—यह पुरुष (जीवात्मा) परब्रह्म परमेश्वर का अंश होने से वास्तव स्वरूप में अकर्ता, अभोक्ता और साक्षी-आत्मा है। परन्तु प्रकृति में स्थित हुआ प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को भोगता है। स्थूल, सूक्ष्म या कारण शरीर से इसका सम्बन्ध ही इसकी पहली प्रकृति में स्थिति कही जाती है। दूसरे कार्य और करण के रूप में परिणत हुई अविद्या से युक्त होना ही, प्रकृति में स्थित होना है। प्रकृति में स्थित जीवात्मा प्रकृति को अपना स्वरूप मानता है। इसलिए वह प्रकृति से उत्पन्न हुए सुख दुःख और मोह रूप से प्रकट गुणों को—'मैं सुखी हूँ।' 'मैं दुःखी हूँ।' 'मैं शूरवीर हूँ।' 'मैं कमजोर हूँ।' 'मैं मूर्ख हूँ।' 'मैं पण्डित हूँ' इत्यादि अनेक प्रकार से मानता हुआ सदा प्रकृति में स्थित रहता है और उस प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थों का उपभोग करता है। उस समय अपने वास्तव रूप की ओर उसका ध्यान ही आकर्षित नहीं होता। यद्यपि जन्म का कारण अज्ञान या अविद्या है। तदपि भोगे जा रहे तीनों गुणों से उत्पन्न हुए पदार्थों में पुरुष की जो आसक्ति होती है उससे वह उन भोगों का तद्रूप या भृत्य (गुलाम) हो जाता है। यही जन्म रूप संसार का प्रधान कारण हो जाता है। श्रुति में भी कहा है—

"स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथ्वीमयः आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद् यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति यथाकारी

यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । अथो खल्वाहु —काममय एवायं पुरुष इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ॥" [बृहदा० ४।४।५]

इस आत्मा के जो बन्धन हैं और जिनसे युक्त होकर यह तद्रूप हो जाता है। उन पदार्थों का यहाँ एक स्थान पर एकत्रित करके निर्देश किया गया है —

[**अर्थ** —वह यह जीवात्मा वास्तव में ब्रह्म है। (परन्तु प्रकृति में स्थित हुआ) वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, क्रोधमय, दयामय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है। जो कुछ इदम्मय (प्रत्यक्ष) और अदोमय (परोक्ष) है, वह वही है। वह जैसा करने वाला और जैसे आचरण वाला होता है। वैसा ही हो जाता है। शुभ कार्य करने वाला शुभ होता है और पाप कर्म करने वाला पापी होता है। वह पुण्य कर्मों से पुण्यात्मा होता है और पाप से पापी होता है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यह पुरुष (जीवात्मा) काममय ही है। वह जैसी कामना वाला होता है, वैसा संकल्प करता है ; जैसे संकल्प वाला होता है वैसा ही कर्म करता है। जैसा कर्म करता है, वैसी फल पाता है।

इस प्रकार यह आत्मा देहेन्द्रिसंघातमय होकर, अन्य प्राप्तव्य वस्तुओं को देखता हुआ, "यह मैंने प्राप्त कर लिया है।" और ' वह मैंने प्राप्त करना है।" इस प्रकार विपरीत ज्ञान युक्त होकर उसकी अभिलाषा वाला अर्थात् काममय होता है। जीव जो-जो कर्म करता है, वे काम की ही चेष्टा से होता है। जो यथाकारी और यथाचारी होता है वह वैसा ही हो जाता है। अच्छा करने वाला अच्छा और बुरा करने वाला बुरा बन जाता है। श्रुति में कहा है—

"कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।"

(मुण्डको० ३।२२)

अर्थात् जो पुत्र-पशु आदि कामनाओं को ही सर्वश्रेष्ठ मानता हुआ उनकी इच्छा करता है वह उन कामनाओं के कारण उन-उन स्थानों में जन्म लेता है (जहाँ वे उपलब्ध हो सकें)। इसी से भगवान् कहते हैं कि गुणों के संग ही (जो कामनाओं को बलवती बनाते हैं) अर्थात् गुणों में आसक्ति (भौतिक पदार्थों में दत्तचित्तता और अनुराग) ही इस भोक्ता पुरुष के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है। इस प्रकार प्रकृति में स्थित हुए पुरुष का गुणों की संगति से देव, पितर, यक्ष, मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंगा आदि अच्छी, बुरी योनियों में जन्म होता है।

सन्त शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर जी कहते हैं—"राजा जैसे अन्य पुरुषों के फेर में पड़ कर अपनी शक्ति भूल जाता है अथवा सिंह किसी व्याधि के वशीभूत होकर जरजर शरीर हो जाता है। उसी प्रकार इस प्रकृति की संगति में फंस कर पुरुष (जीवात्मा) भी अपना सारा तेज गंवा बैठता है। जागा हुआ मनुष्य एकदम से निद्रा के वश में होकर स्वप्न की वासनाओं के चक्कर में पड़ जाता है, उसी प्रकार इस प्रकृति के संसर्ग के कारण (जीवात्मा) को गुणों का भोग भोगना पड़ता है। जिस प्रकार विरक्त पुरुष भी स्त्री के संग में रहने से सांसारिक बन्धनों में जकड़ा जाता है उसी प्रकार यह अजन्मा शाश्वत पुरुष भी प्रकृति के योग से अनेक प्रकार के बन्धनों में बंध जाता है और गुणों के संग के कारण उस पर भी जन्म और मृत्यु के वार होने लगते हैं।" ॥ २१ ॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

उपद्रष्टा=अनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः । परमात्मा+इति च+अपि+उक्तः देहे+अस्मिन्+पुरुषः परः ॥

उपद्रष्टा=(पुं०) उप√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+तृच्=उपद्रष्टृ+ प्र० ए० व०=[समीपस्थः सन् द्रष्टा]=(स्वयं क्रिया न करता हुआ) पास में स्थित होकर देखने वाला।

[जैसे कोई यज्ञविद्या में कुशल पण्डित स्वयं यज्ञ न करता हुआ, यज्ञ कर्म करते हुए पुरोहित और यजमानों द्वारा किए जा रहे कर्म के गुण दोषों को तटस्थ भाव से देखता है। उसी प्रकार प्रकृति जनित कार्य और करणों के व्यापार में स्वयं न लगा हुआ, उनसे पृथक विलक्षण आत्मा उन व्यापार युक्त कार्य और करणों को समीपस्थ भाव से देखने वाला है।] (साक्षी होने से) समीप स्थित होकर देखने वाला।

अनुमन्ता=(पुं०) अनु√मन्+तृच्=उपमन्तृ+प्र० ए० व०=उचित सलाह देने वाला। सम्मति चाहने वाले को सीधे मार्ग पर चलाने वाला। अनुमोदन करने वाला। शुभ कार्य कर्ता को सन्तोष और आनन्द देने वाला। अनुमति देने वाला। यथार्थ सम्मति देने वाला।

च=(अव्यय) और।

भर्ता=(पुं०)√भृ (भ्वा०, जुहो० उभ० सक०=भरना)+तृच्+भर्तृ+ प्र० ए० व०=धारण, पालन और रक्षा करने वाला। भर्त्ता। अपनी सत्ता से देह का पालन-पोषण करने वाला। चैतन्य के आभास से युक्त होने वाले देह, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि को अपनी सत्ता से धारण करने वाला।

भोक्ता=(पुं०) √भुज् (रुधा० उभ० स०=खाना, भोगना)+तृच्=भोक्तृ+प्र० ए० व०=शरीर में निवास करने वाले देवताओं के रूप में समस्त भोगों को भोगने वाला। जैसे सूर्य के रूप में नेत्रों में स्थित होकर रूपों को भोगने वाला। त्वचा में इन्द्र रूप में बैठकर स्पर्श सुख ग्रहण करने वाला। इसी प्रकार दूसरे देवताओं के सम्बन्ध में समझ लेना। जैसा कि भगवान् ने स्वयं गीता १५।१४॥ में कहा है --

"मैं वैश्वानर होकर प्राणियों के देह में रहता हुआ प्राण-अपान के साथ युक्त होकर चार प्रकार के खाए हुए अन्नों को पचाता हूँ (अर्थात् खाता या भोगता हूँ।"

महा+ईश्वरः=(पुं० कर्मधारय०) महान् ईश्वरः प्र० ए० व०=सब से बड़ा ईश्वर। समस्त लोकपाल और ब्रह्मादि सब का स्वामी तथा नियमन करने वाला। सब का आत्मा और स्वतन्त्र होने से महेश्वर।

परम+आत्मा=(पुं०, कर्मधारय०, प्र० ए० व०)=सब से बड़ा। शुद्ध सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मा।

इति=(अव्यय) ऐसा।

च=(अव्यय) और।

अपि=(अव्यय) भी।

उक्तः=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है।

देहे=(नपुं० पुं०) देग्धि प्रतिदिनं√दिह+घञ्=देह+सप्त० ए० व०=देह में।

अस्मिन्=इदम् (सर्व०)+(पुं०) सप्त० ए० व०=इसमें।

पुरुष=(पुं०) पुरति (अग्रे) गच्छति, √पुर्+कुषण्=पुरुष+प्र० ए० व०=जीवात्मा। आत्मा। पुरुष। प्रकृति का कण्ट्रोलर।

परः=(वि०) √पृ+अप्=पर+(पुं०) प्र० ए० व०=परे का। माया से सर्वथा अतीत।

अर्थ (यह जीवात्मा) पुरुष इस (स्थूल पार्थिव) देह में (स्थित होता हुआ) भी (त्रिगुणमयी माया से सर्वथा अतीत या) पर है। (साक्षी होने से) उपद्रष्टा (समीप स्थित हुआ देखने वाला), (उचित सलाह देने वाला तथा शुभ कार्य-कर्ता को आनन्द और सन्तोषप्रद होने से) अनुमन्ता, (एवं अपनी सत्ता से देह आदि का धारण पालन करने वाला होने से) भर्ता, (शरीर में निवास करने वाले देवताओं के रूप में समस्त भोगों का भोगने वाला होने से) भोक्ता, (देह में सारे बसे हुओं ब्रह्मादिक का स्वामी होने से) महेश्वर और (शुद्ध सच्चिदानन्द घन परब्रह्म का अंश होने से) परमात्मा—ऐसा कहा गया है॥ २२॥

व्याख्या —यह शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति द्वारा निर्मित हुआ है इसमें जो चैतन्य शक्ति है उसका नाम जीवात्मा है यद्यपि पृथक-पृथक शरीरों में पृथक-पृथक जीवात्मा भासमान होता है क्योंकि सब शरीरों में प्रकृति के भिन्न-भिन्न प्रकार के संयोग से पृथक-पृथक प्रकार के सुख दुःखों का अनुभव होता है और प्रकृति के इन्हीं गुणों के संग-दोष से इस जीवात्मा को भिन्न-भिन्न प्रकार की योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। यह क्षेत्रज्ञ चेतन आत्मा प्रकृति जनित देहों को प्राप्त होने के कारण ही जीव भाव को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में यह अपने मूल स्वरूप से तो शुद्ध परब्रह्म परमेश्वर ही है। यह क्षेत्रज्ञ शरीर की प्रत्येक कोशिका (CELL) या अणु अणु में स्थित है। यद्यपि यह अपने असली स्वरूप को माया के फेर में पड़ा हुआ होने से भूला रहता है। परन्तु यह उपद्रष्टा है अर्थात् शरीर के अणु अणु में अत्यन्त समीप स्थित हुआ मन, अहंकार, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों द्वारा हो रही सम्पूर्ण क्रियाओं को इसी प्रकार देखता रहता है, जिस प्रकार यज्ञ-विद्या में कुशल कोई पण्डित-स्वयं यज्ञ न करता हुआ, यज्ञ कर्म करते हुए पुरोहित और यजमानों द्वारा किए जा रहे कर्म के गुण-दोषों को तटस्थ भाव से देखता है अथवा परीक्षा-भवन में परीक्षा दे रहे परीक्षार्थियों को वहाँ समीप स्थित हुआ अध्यक्ष देखता है। परन्तु वह वहाँ स्वयं कुछ भी करता नहीं है। सब कार्य उसके साथ रहने वाले मन, बुद्धि और अहंकार ही स्वयं इन्द्रियों द्वारा करते कराते हैं। जैसा कि श्रुति में लिखा है—

"स यत्तत्रकिंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुषः" अर्थात् वह यह पुरुष उन जागृत्-स्वप्नादि अवस्थाओं में जिस-जिस पदार्थ को देखता है। उस-उस पदार्थ के साथ सम्बन्ध वाला होता नहीं है क्योंकि यह आत्मा-पुरुष असंग और केवल उपद्रष्टा ही है। इसलिए यह पुरुष या आत्मा देह इन्द्रियादियों से भिन्न है क्योंकि समीपवर्ती कोई तटस्थ पुरुष ही उनके व्यापारों को अलग बैठा देख सकता है। इससे वह साक्षी कहा जाता है। वह शुभ कार्य कर्ताओं को सन्तोष और आनन्द प्रदान करता है और उचित सलाह या अनुमति देता है। उस अनुमन्ता की इसी अनुमति या सलाह का नाम अन्तर की आवाज या ज़मीर है। जिसको देश पिता गाँधी जैसे महापुरुष सदा सुनते रहे हैं और उस पर आचरण करके संसार में महान् कार्य करते रहे हैं। यह अपनी सत्ता से देहादि का धारण पालन करने वाला है। इसलिए भर्ता कहलाता है।

नेत्रादि इन्द्रिय-द्वारों में सूर्य, इन्द्रादि देवता बैठे हुए हैं, जो सदैव भोग भोगने में तत्पर रहते हैं। ये देवता लोग परब्रह्म के सात्विक स्वरूप हैं जो इस देह में स्थित हुए सम्पूर्ण भोगों को भोगते हैं और भगवान् स्वयं वैश्वानर रूप में उदर स्थित हुए सब प्रकार के अन्नों को खाते और पचाते हैं। इससे यह

शरीर में स्थित आत्मा जो कि प्रकृति के संग-दोष से जीवात्मा कहलाने में बुरा नहीं मानता स्वयं ही सब पदार्थों का भोक्ता है।

वह आत्मा महान् और स्वतन्त्र है और देह में स्थित ब्रह्मा, सूर्य आदि सम्पूर्ण देवताओं का इसी प्रकार सब से बड़ा स्वामी है, जिस प्रकार परमात्मा सारी सृष्टि रूप विराट् शरीर में स्थित सब भूतों का महेश्वर है। इसी प्रकार देह-स्थित यह क्षेत्रज्ञ पुरुष भी अपनी अधिकृत देह का महेश्वर है। यह प्रकृति यद्यपि जड़ है परन्तु जिस प्रकार जड़ बिजली द्वारा अनेक कारखाने चलते हैं, बल्ब जलते हैं। इसी प्रकार आत्मा की सत्ता से प्रकृति संसार के सारे कार्य करती है। परन्तु स्विच के ऊपर नीचे करने वाले पुरुष की तरह प्रकृति का बटन दबाने वाला तो आत्मा ही है यह कार्य उसके सहज स्फुरण से ही हो जाता है।

यह आत्मा प्रकृति के गुणों के संग दोष से प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को न भोगता हुआ भी उनको भोगने वाला अपने आपको समझ कर जन्म मरण के चक्र में फंसा रहता है और अपने आपको जीवात्मा कहलाता है। वास्तव में तो यह स्वयं परमात्मा है जो आत्म-ज्ञान होने के बाद अपने मूल स्वरूप परब्रह्म में मिलकर तद्रूप हो जाता है। जिस प्रकार बुलबुले के फूट जाने पर उसके भीतर की बन्द वायु उससे निकल कर पृथिवी के सब ओर फैली हुई वायु में मिलकर तद्रूप हो जाती है॥ २२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥

यः+एवम्+वेत्ति पुरुषम्+प्रकृतिम्+च गुणैः सह। सर्वथा वर्तमानः+अपि न सः भूयः+अभिजायते॥

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

एवम्=(अव्यय) इस प्रकार।

वेत्ति=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र०, पु० ए० व०= जानता है।

पुरुषम्=(पुं०) पुरति (अग्रे) गच्छति, √पुर+कुषण्=पुरुष+द्वितीय० ए० व० =पुरुष को। आत्मा को। परमात्मा को।

प्रकृतिम्=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ+क्तिन् द्वि० ए० व० =प्रकृति को। त्रिगुणात्मक ईश्वरीय माया को। परब्रह्म परमात्मा के मूर्त्तिमान् संकल्प को।

च=(अव्यय) और।

गुणैः सह=[गुण (पुं०)=√गुण्+अच्=गुण+तृती० ब० प०=गुणैः। सह=(अव्यय) सार्थ। सहित। समेत।

सदा 'सह' के साथ तृती० होती है] गुणों के सहित। सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के ज्ञान सहित।

सर्वथा=(अव्यय) सर्व+थाल्=हर तरह से। सब प्रकार से।

वर्तमानः=(वि० पुं०)√वृत् (भ्वा० आत्म० सक०=विद्यमान होना)+शानच् =प्र० ए० व०=वर्तता हुआ।

अपि=(अव्यय) भी।

न=(अव्यय) न। नहीं।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

भूयः=(अव्यय) भुवे भावाय यस्यति (यतते), भू√यस्+क्विप्=भूयस्=फिर। पुनः।

अभिजायते=अभि√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=उत्पन्न होता है।

अर्थ—इस प्रकार जो पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को (तत्त्व से) जानता है। वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी फिर (कभी) नहीं उत्पन्न होता है॥ २३॥

व्याख्या—भगवान् ने इस पूर्व चार श्लोकों में जो पुरुष और गुणों सहित प्रकृति का वर्णन किया है उस को जो तत्त्व से जान लेता है, वह इस बात को भली भान्ति समझ जाता है कि दृश्यमान सारा संसार त्रिगुणात्मक माया का कार्य होने से क्षणभङ्गुर और विनाशशील है। साथ ही जड़ और अनित्य है। परन्तु आत्मा नित्य, निर्विकार, चेतन और नाश रहित है तथा शुद्ध सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा का ही सनातन अंश है। इस प्रकार जानकर माया से उत्पन्न गुणों और पदार्थों के संग को त्याग कर केवल परमेश्वर में ही एकीभाव से सदा स्थित रहना चाहिए। प्रकृति-संग दोष से जीवात्मा और परमात्मा भिन्न भिन्न भासमान होते हैं परन्तु वास्तव में एक ही हैं। जब यह रहस्य तत्त्व से कोई समझ लेता है तो वह प्रकृति से उत्पन्न किए गये गुणों से युक्त विषय भोगों से उपराम हो जाता है और वह सब तरह से संसार में कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ भी मरने के बाद मुक्त हो जाता है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा से मिलकर तद्रूप हो जाता है और फिर उसे जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता। अविद्या के कारण माया में फँसा या जकड़ा हुआ पुरुष जो पुण्य पाप रूप कर्म करता है। उनके फल को भोगने के लिये ही उसको बार बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु जब उसे ब्रह्मविद्या या आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो उसके पूर्वकृत सब प्रकार के कर्म ज्ञानाग्नि में ईंधन की तरह जल कर भस्म हो जाते हैं और पुनः जन्म धारण करने के लिये इन का कोई बीज मात्र भी शेष नहीं रहता। श्रुति भी कहती है—

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" (मुण्डक० २।२।८)

अर्थात् "यही मैं हूँ।" समझने वाले इस ब्रह्मज्ञानी पुरुष के समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं।

और भी —

"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्डक० ३।२।९)

अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है ब्रह्मज्ञानी जो कर्म ज्ञान-प्राप्ति के बाद करता है। उनका शुभाशुभ फल तो होने वाले कर्मों के साथ ही नष्ट हो जाता है क्योंकि ज्ञानी का प्रकृति से उपजे गुणों से सम्बन्ध विच्छेद होने से सब कर्म प्रदीप्त ज्ञानाग्नि में, होने के साथ ही, भस्म होते रहते हैं। 'अपि' (भी) शब्द कहने से यही अभिप्रय है कि वह ज्ञानी कर्मों को करता हुआ भी उन कर्मों के पाप पुण्य से लिप्त नहीं होता जिस से मरने के बाद मोक्ष पाकर फिर जन्म को प्राप्त नहीं करता। श्री व्यास भगवान् ने ब्रह्म सूत्रों में कहा है —

"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद् व्यपदेशात्।"

[**अर्थ** —"मैं ब्रह्म रूप हूँ।" इस प्रकार के आत्मसाक्षात्कार के प्राप्त होने पर इस तत्त्ववेत्ता पुरुष के पूर्वकृत पुण्य-पाप रूप सारे संचित कर्म नाश हो जाते हैं और बाद में किए हुए कर्मों का उस को स्पर्श ही नहीं होता।

इसलिये सम्पूर्ण कर्मों के निःशेष हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति सहज सिद्ध हो जाती है॥

इस श्लोक पर देशपिता महात्मा गांधी जी की टिप्पणी इस प्रकार है—

"**टिप्पणी** —२, ९. १२ और अन्यान्य अध्यथाओं की सहायता से हम जान सकते हैं कि यह श्लोक स्वेच्छाचार का समर्थन करने वाला नहीं है, बल्कि भक्ति की महिमा बतलाने वाला है। कर्म मात्र जीवन के लिये बंधनकर्ता है। किंतु यदि वह सब कर्म परमात्मा को अर्पण कर दे तो वह बन्धन-मुक्त हो जाता है और इस प्रकार जिस में से कर्तृत्व रूपी अहंभाव नष्ट हो गया है और जो अन्तर्यामी को चौबीस घण्टे पहचान रहा है वह पाप कर्म कर ही नहीं सकता। पाप का मूल ही अभिमान है। जहां 'मैं' नहीं वहाँ पाप नहीं है। यह श्लोक पाप-कर्म न करने की युक्ति बतलाता है।" ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४।

ध्यानेन+आत्मनि पश्यन्ति केचित्+आत्मानम्+आत्मना। अन्ये सांख्येन योगेन कर्म-योगेन च+अपरे॥

ध्यानेन=(नपुं०)√ध्यै (भ्वा० पर० सक०=ध्यान करना)+ल्युट्=ध्यान+तृती० ए० व०=ध्यान द्वारा। ध्यान योग द्वारा। शब्दादि विषयों को श्रोत्रादि इन्द्रियों से हटा कर, उन को मन में स्थिर करके (अर्थात् रोक कर) फिर

मन को अन्तरात्मा में निरोध करके एकाग्र भाव से चिन्तन करने द्वारा। [गीता अध्याय छः में श्लोक ११ से ३२ तक विस्तार पूर्वक वर्णन किए गये ध्यान योग द्वारा]।

आत्मनि=(पुं)√अत्+मनिन्=आत्मन्+सप्त० ए० व०=आत्मा में। ए० व०=आत्मा में। हृदय में। अपने शरीर के भीतर।

पश्यन्ति=√दृश् (देखना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=देखते हैं। अनुभव करते हैं।

केचित्=कम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=के+चित्=केचित्=कई लोग। कुछ लोग। कितने ही मनुष्य।

आत्मानम्=(पुं०)√अत्+मनिन्=आत्मन्+द्विती० ए० व०=आत्मा को। ब्रह्मरूप आत्मा को। परमात्मा को।

आत्मना=(पुं०) आत्मन्+तृती० ए० व०=आत्मा द्वारा। सब प्रकार से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा। योगाभ्यास से शुद्ध हुए अन्तःकरण के द्वारा। अपने आत्मिक बल से।

अन्ये=(वि० सर्व०) अन्य+प्र० ब० व०=दूसरे कुछ लोग।

सांख्येन योगेन=(पुं०) सांख्येन योगेन=सांख्येन एव योगेन=सांख्य ही योग है उसके द्वारा। सांख्य योग के द्वारा। (सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण मुझ से देखे जाने वाले हैं, और मैं उन से भिन्न, उनके व्यापार का साक्षी, उन गुणों से विलक्षण और नित्य चेतन आत्मा हूँ, इस प्रकार के चिन्तन का नाम सांख्य है यही योग है—ऐसे सांख्य योग के द्वारा—'स्वामी शंकराचार्य जी')। प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, माया-ईश्वर जड़-चेतन के भेद को देखने द्वारा।

[संसार का सब कुछ मृगतृष्णा के जल या स्वप्न की सृष्टि के समान केवल माया मात्र है, प्रकृति जनित गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं—यह जान कर मन, इन्द्रियों और शरीर के द्वारा होने वाले कर्मों में कर्तापन के अभिमान से रहित होकर परमात्मा में सदा स्थित रहने द्वारा]।

[गीता-अध्याय २ के श्लोक ११ से ३० तक वर्णित सांख्य-योग के द्वारा]।

[सांख्येन=(वि०) संख्या+अण्=सांख्य+(पुं०, नपुं०) तृती० ए० व०। योगेन=(पुं०) युज्+घञ्+तृती० ए० व०=मेल से। सम्बन्ध से। ढंग से। सांख्य में वर्णित विधि द्वारा]।

कर्म-योगेन=(नपुं०, पुं०) तृती० ए० व०। कर्म-योग के द्वारा। ईश्वरार्पण बुद्धि से किए गये निष्काम कर्मों के द्वारा।

[गीता के दूसरे अध्याय में श्लोक ४० से ७२ तक वर्णित कर्म योग के द्वारा]।

च=(अव्यय) और।

अपरे=(सर्व०) अपर+(पुं०) प्र० ब० व०=दूसरे लोग ।

अर्थ—कई लोग आत्मा (परमेश्वर) को आत्मा में (अपने जीवात्मा के रूप में, अपने शरीर में और अपने हृदय में) आत्मा द्वारा (अपनी निर्मल बुद्धि द्वारा, आत्मक बल द्वारा) ध्यानयोग से देखते हैं। कुछ लोग (आत्मा में आत्मा को आत्मा द्वारा) सांख्य योग से (देखते हैं) और दूसरे कुछ लोग (आत्मा में आत्मा को आत्मा द्वारा) कर्मयोग से देखते हैं ॥ २४ ॥

व्याख्या—ध्यान योग की विधि गीता के छठे अध्याय के श्लोक ११ से ३२ तक विस्तारपूर्वक वर्णन की गई है। कुछ साधक लोग ऐसे हैं, जो उस ध्यान योग की विधि से सदा परमात्मा के दर्शन अपनी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा अपने आत्मिक बल से अपने हृदय में करते हैं ये लोग अपने शरीर में भी सदा उस परब्रह्म परमात्मा को ही विराजमान देखते हैं अन्त में अपने जीवात्मा को जीव पन से छुड़ा कर परमात्मा में मिला कर तद्रूप हो जाते हैं। पांतजल योग के अनुसार शुद्ध पवित्र और एकान्त स्थान में न अति नीचे न अति ऊँचे चैलाजन कुशोत्तर शुद्ध और उपयुक्त आसन पर बैठ कर चित्तवृत्तियों को निरोध करके, इन्द्रियों को विषयों से रोक कर मन को स्थिर और निश्चल करके हृदय-स्थित-परब्रह्म परमात्मा के ध्यान में लीन रहते हैं। उन को अपने अन्त:करण या हृदय में परब्रह्म परमेश्वर का देदीप्यमान रूप में साक्षात्कार होने लगता है। बाहर के संसार से उन का नाता टूट जाता है जीवात्मा परमात्मा में बदल जाता है फिर एक ही परब्रह्म के विना और कुछ शेष नहीं रहता है। उस अवस्था में ध्यानयोगी की कल्पना से सहज स्वभाव ही सृष्टि रचना होने लगती है। साधारण लोग उसे समझने में असमर्थ हो जाते हैं क्योंकि उस ध्यान योगी का उन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ध्यान योगी का पद बहुत ऊँचा होता है और उसे जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से वह अवस्था प्राप्त होती है। जिस में जीवित अवस्था में ही शरीर का सम्बन्ध उस से टूट जाता है। जब वह चाहता है तो शरीर में होता है जब चाहता है आकाशों में उड़ता है। लोग कभी तो उस का अंग-अंग कटा हुआ पृथक-पृथक देखते हैं तो कभी उसको स्वस्थ-देह हुआ देखते हैं। यह ध्यान योगी ये शारीरिक चमत्कार अपनी इच्छा से या जगत् को दिखलाने के लिये नहीं करता बल्कि सहज स्वभाव ही उसके द्वारा अलौकिक और अद्भुत चमत्कार परमात्मा के संकल्प मात्र से होते रहते हैं। जिस से इस ध्यान-योग के करने की ओर पुण्यात्मा शास्त्र पढ़े हुए, गुरु से शिक्षा प्राप्त किए हुए साधक लोगों की रुचि बढ़ती है।

कुछ ज्ञानी लोग सांख्य-योग का आश्रय ग्रहण करके आत्मा में आत्मा को आत्मा द्वारा अनुभव करते हैं। इस सांख्य-योग का वर्णन गीता के दूसरे

अध्याय में श्लोक ११ से ३० तक किया गया है। सांख्य योगी सम्पूर्ण कार्यों को प्रकृति के गुणों द्वारा होते देखता है और सारे संसार में परम पुरुष परमात्मा को रम रहा अनुभव करता है। वह प्रकृति (ईश्वर के स्फुरण संकल्प) और पुरुष (परमात्मा) के बिना और किसी भी पदार्थ या वस्तु को अनादि नहीं मानता है। वह आत्मा और परमात्मा में अभेद बद्धि होकर सच्चिदानन्द घन परपरब्रह्म परमेश्वर में भीतर बाहर सदा एक रूपता से विचरता रहता है उस समय वह परम ज्ञानी और तत्त्ववेत्ता माना जाता है। शुद्ध परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूप हो जाने से वह ज्ञान और विज्ञान का पूरा ज्ञाता हो जाता है। सांख्य योगी, विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व इन चार साधनों से युक्त होता है। आत्मा और अनात्मा के विचार का नाम विवेक है। इस में सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तु का विवेचन किया जाता है।

भोगों की अभिलाषाएँ नष्ट हो जाने और संसार के मिथ्या प्रतीत होने का नाम वैराग्य है।

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान इन छः का वर्ग षट सम्पत्ति कहलाता है।

शम—मन के शान्त और स्थिर करने का नाम है।

दम—इन्द्रियों का निग्रह होता है बाहर भीतर से भोग वासनाओं के नाश हो जाने को उपरति कहते हैं। परमात्मा में पूर्ण विश्वास का नाम श्रद्धा है।

परमात्मा का साक्षात्कार हो जाना सामाधान कहलाता है।

अन्त में परमात्मा के साथ जीवन-काल में तद्रूप हो जाना मुमुक्षुत्व है जो सांख्य योगी का अन्तिम लक्ष्य और ध्येय होता है और दूसरे कुछ लोग कर्मयोगी होते हैं जो न तो ध्यान योग ही साधते हैं और न सांख्य योग ही करते हैं। वे तो निष्काम भाव से शास्त्र विहित कर्म करते रहते हैं और उनके वे सब कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से किए जाते हैं। उन कर्मों द्वारा वे न तो इस संसार के भोगों की इच्छा करते हैं न परलोक या स्वर्ग के सुख और भोग चाहते हैं वे तो सारे कर्म अपना कर्त्तव्य और परमात्मा की प्रेरणा समझ कर करते हैं। यही कारण है कि उन के कर्मों का फल उन के पुनर्जन्म का कारण नहीं बनता. बल्कि ईश्वर के मार्ग का व्यय होकर समाप्त हो जाता है। इस कर्म योग का वर्णन गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक ४० से ७२ तक तथा चतुर्थ अध्याय श्लोक १४ से २४ तक किया गया है। कर्मयोगी निरासक्त होता है और निरासक्त निष्काम कर्मों से अपने शरीर में सूक्ष्म और शुद्ध अन्तःकरण द्वारा परमात्मा के दर्शन करता है जिस से अन्त में मोक्ष को प्राप्त हो जाता है इस प्रकार ध्यानयोग, सांख्य-योगी और कर्म-

योग ये तीन मार्ग निराकार परब्रह्म-परमात्मा में शीघ्र और सीधा मिल जाने के लिये भगवान् ने अर्जुन से कहे हैं चौथा मार्ग साकार उपासना वाला है। जो सुगम और सरल तो बहुत है परन्तु ऊपर कहे गये तीनों मार्गों से अधिक लम्बा है और ब्रह्मलीन होने से पहले अपने इष्टदेव में लीन होने वाला एक पड़ाव (मार्ग में विश्राम) करना पड़ता है ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्यः उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्ये तु+एवम्+अजानन्तः श्रुत्वा+अन्येभ्य; उपासते। ते+अपि च+अतितरन्ति+एव मृत्युम्+श्रुति-परायणाः ॥

अन्ये=अन्य (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=दूसरे (अलपज्ञ लोग)।

तु=(अव्य०) परन्तु। और।

एवम्=(अव्य०) इस प्रकार (पूर्व २४ श्लोक कथित तीनों विधियों में से किसी एक को भी)।

अजानन्तः=न जानन्तः (नञ् तत्पु०)। [√ज्ञा (क्र्या० उभ० सक०=जानना)+शानच्=जानत्+प्र० ब० व०=जानन्तः=जानते हुए।] न जानते हुए।

श्रूत्वा=√श्रु (स्वा० पर० सक०=सुनना)+क्त्वा=सुन कर।

अन्येभ्यः=अन्य (सर्व०)+(पुं०) पंच० ब० व०=दूसरों से। औरों से। ब्रह्म ज्ञानियों से। तत्त्व जानने वाले पुरुषों से।

उपासते=उप √आस् (अदा० आत्म० अक० सक०=चुपचाप बैठना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=(श्रद्धा पूर्वक) उपासते हैं।

ते=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे।

अपि=(अव्यय) भी।

च=(अव्यय) और।

अतितरन्ति=अति √तॄ (भ्वा० पर० सक०=तर जाना। तैरना। पार होना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=निः सन्देह अवश्य तर जाते हैं। पार कर जाते हैं।

एव=(अव्यय) ही।

मृत्युम्=(पुं०) √मृ+ल्युक्+द्विती० ए० व०=मृत्यु को। मृत्यु रूप सागर को।

श्रुति-परायणाः=श्रुतेः परायणाः=श्रुति के परायण हुए। सुनने के लिए परायण हुए पुरुष।

श्रुति=(स्त्री०) √श्रु+क्तिन्=सुनने की क्रिया। परायणाः=(पुं०)

पर+अयना:=परम स्थान बने हुए=प्र० ब० व०। सुनने के लिये दत्त चित्त हुए। सुन कर श्रद्धापूर्वक अनुकरण करने वाले।]

अर्थ- और दूसरे (अल्पज्ञ, पूर्व श्लोक में कथित तीनों योगों को) न जानते हुए (पुरुष) दूसरों (ब्रह्म ज्ञानियों) से सुन कर (परमात्मा को) उपासते हैं और वे भी श्रुति-परायण हुए मृत्यु रूप सागर को अवश्य ही तर जाते हैं॥ २५॥

व्याख्या—जिन की विद्या अल्प है। शास्त्रों का ज्ञान थोड़ा है वे लोग न तो ध्यान-योग की विधि को जानते हैं, न सांख्य योग के तत्त्व को समझते है तथा न ही पूरी तरह से कर्मयोग के ज्ञाता होते हैं। परन्तु यदि उन में श्रद्धा और भक्ति पर्याप्त मात्रा में हो, तो वे ब्रह्मवेत्ता महाज्ञानियों के वचनों को सुन कर उन के कहे हुए मार्ग पर चलने लगते हैं और बार-बार कहे हुए वचनों पर उनके भीतर श्रद्धा और भक्ति जाग उठती है। ऐसे श्रुति परायण हुए श्रद्धालु भक्त भी मृत्यु को अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् वे ब्रह्म को प्राप्त होकर जन्म-मरण से रहित हो जाते हैं। इस में थोड़ा भी सन्देह नहीं है॥ कहा है—

"बार-बार अभ्यास ते मूर्ख होत सुजान।
रसरी आवत जात से सिल पर परत निसान"॥ २५॥

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावर जंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

यावत्+सञ्जायते किञ्चित्+सत्त्वम्+स्थावर-जंगमम्। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्+तत+विद्धि भरत+ऋषभ!॥

यावत्=(वि०) यद्+वतुप्, आत्व=यावत्+(नपुं०) प्र० ए० व०=जितना।

सञ्जायते=सम √जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+लट्० प्र० पुं०, ए० व०=उत्पन्न होता है। उपजता है।

किञ्चित्=किम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=किम्+चित्=कुछ।

सत्त्वम्=(नपुं०) सतो भाव:, सन्+त्व+प्र० ए० व०=होने का भाव। पदार्थ। जीवन। जीव पदार्थ।

स्थावर-जंगमम्=(वि० नपुं०) स्थावरं च जंगमं च (इतरेतर द्वन्द्व०)=स्थावर और जंगम।

[स्थावर=(वि०) √स्था+वरच्=स्थावर=न चलने वाला। अटल। स्थिर। जंगमम्=(वि०) √गम्+यङ्—लुक्+अच्+(नपुं०) प्र० ए० व०=चलने फिरने वाला]।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्=(पुं०) क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञस्य च संयोगात् (इतरेतर द्वन्द्व०)= क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से।

[सम् √युज्+घञ्+(पुं०) पंच० ए० व०=संयोग से। मेल से।]

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उसको।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट् म० पु०, ए० व०=(तू) जान।

भरत-ऋषभ !=(वि०, सम्बोधन) भरतानाम् ऋषभ ! हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन) !

[ऋषभ=(पुं०) √ऋष्+अभच्, कित्=सांड। उत्तम। श्रेष्ठ।]

अर्थ—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन) ! जितना कुछ स्थावर (स्थिर जगत) और जंगम (चलने फिरने वाला जगत) पदार्थ उत्पन्न होता है। (तू) उस को क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के संयोग से (उत्पन्न हुआ) जान ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू भरम वंश में श्रेष्ठ है कि जिस को मुझ परब्रह्म परमेश्वर की मित्रता, प्यार, सत्कार और शिष्यता प्राप्त है। मेरी कृपा से तू इस दुर्लभ गीतामृत ज्ञान को श्रवण कर रहा है। जिस से तू परमपद को प्राप्त हो जायेगा। जो ब्रह्मांड के भीतर कहीं भी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चलने फिरने वाले सब प्राणी जंगम कहलाते हैं तथा लता, वृक्ष आदि स्थिर रहने वाले स्थावर कहे जाते हैं। वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं।

परन्तु इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या क्षेत्रज्ञ, क्षेत्र के साथ इसी प्रकार बन्ध जाता है जिस प्रकार डोल डोरी के साथ बँधा हुआ होता है ? अथवा वस्त्र में सूत्रों के ताने वाने की तरह क्षेत्र के साथ फँसा और जकड़ा जाता है ? अथवा इन दोनों में कोई और सम्बन्ध होता है ?

इस शंका का समाधान और इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार है—

वास्तव में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग ठीक इसी प्रकार से होता है जिस प्रकार सीप में रजत के आभास का सम्बन्ध होता है। अथवा रज्जु में सर्प के भासमान होने का सम्बन्ध होता है किंवा मृगतृष्णा जल में जल दिखाई देता है, या दर्पण में कोई प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण ही प्रकृति और पुरुष एक दूसरे में धँसे हुए प्रतीत होते हैं। वास्तव में क्षेत्रज्ञ तो निर्लेप और अव्यक्त है प्रकृति के साथ उस के संयोग का होना ही सम्भव नहीं है। मनुष्य जब ऐन्द्रजालक द्वारा माया से रचे हुए सिंह को देखता है तो उसे असली सिंह समझ कर भयभीत हो जाता है। परन्तु वास्तव में वह कुछ भी नहीं होता। कई बार स्वप्न में मनुष्य की सगाई होती है। व्याह की निर्धारित तिथि आ जाती है। बाजे बजते हैं। बरात ससुराल-गृह पहुँचती है। गोरी सुन्दर सुशील दुल्हन के साथ फेरे होते हैं। सास और ससुर प्यार करते हैं। सालियां ठठोली करती

हैं। सारी बरात मिठाई खाती है जब दुल्हा दुल्हन को कार में अपने साथ बैठलाकर घर की ओर चल देता है तो आँख खुल जाती है सारा मजा तत्काल किरकिरा हो जाता है। वास्तव में सारा स्वप्न मिथ्या होता है। इसी प्रकार प्रकृति और प्रकृति से बनी हुई सब वस्तुएँ स्वप्नवत् मिथ्या हैं केवल एक परमात्मा ही सत्य और स्थायी है। माया या प्रकृति तो उस का स्फुरण या सहज स्वभाव की कल्पना मात्र है। दूसरे शब्दों में यह संसार केवल आकाश में मेघों से बने हुए गन्धर्व नगर के समान मिथ्या है। परन्तु व्यवहारिक रूप में इस संसार के चराचर रूप प्राणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। जो पुरुष इस सारे रहस्य को निश्चय पूर्वक जान लेता है। उस का मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है और उस के अन्तःकरण में विशुद्ध यथार्थ ज्ञान भर जाता है। 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह । सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ १३ । २३ ॥"

इस वचन के अनुसार क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र को तत्त्व से जान लेने के अनन्तर फिर कभी जीवात्मा का जन्म नहीं होता ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

समम्+सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम्+परमेश्वरम् । विनश्यत्सु+अविनश्यन्तम् +यः पश्यति सः+पश्यति ॥

समम्=(वि०)√सम्+अच्=सम+(नपुं०) प्र० ए० व०=समम् । बराबर । सम भाव से ।

सर्वेषु=(सर्व०) सर्व+(पुं०) सप्त० ब० व०=सब में ।

भूतेषु=(नपुं० पुं०)√भू+क्त=भूत+सप्त० ब० व०=भूतों में । (चराचर) प्राणियों में ।

तिष्ठन्तम्=√स्था+शतृ=तिष्ठत्+(पुं०) द्विती० ए० व०=स्थित को ।

परमेश्वरम्=(पुं०) परमेश्वर+द्विती० एव० व०=परमेश्वर को ।

विनश्यत्सु=(वि०) वि√नश्+शतृ=विनश्यत्+(नपु० पुं०) सप्त० ब० व०= नष्ट होते हुओं में । नाशवानों में ।

अविनश्यन्तम्=(वि०) न विनश्यन्तम् (नञ् तत्पु०) । [वि√नश्+शतृ+(पुं०) द्विती० ए० व०]=न नाश होते हुए को । नाश रहित को । अविनाशी को ।

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो ।

पश्यति=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= देखता है ।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह ।

पश्यति=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= देखता है। पहचानता है। अनुभव करता है। ठीक देखता है।

अर्थ—जो (कोई) नष्ट होते हुए सब भूतों में अविनाशी परमेश्वर को सम (भाव से) स्थित देखता है। वह (ठीक या यथार्थ) देखता है ॥ २७ ॥

व्याख्या—संसार में जो कुछ मूर्तिमान दिखाई देता है। वह सब कुछ माया निर्मित है। जो अनेक तत्त्वों के मिलने से अनेक रूपों में बना हुआ है। इन में से कुछ तो चर और अचर जीवों का रूप धारण किए हुए है और कुछ लोहा पत्थर, मिट्टी आदि के रूप में निर्जीव रूप धारी है। परन्तु इन सब में नित्य ही परिवर्तन होता है। यदि कोई जन्मता हुआ दिखाई देता है तो कोई मरता हुआ भी दीख पड़ता है। जन्म-मरणशील सब कुछ नाश होने वाला कहा जाता है जो जीव या पदार्थ कभी एक अवस्था में स्थिर होकर स्थित नहीं रहता वह नाशवान् है। इसी नाशवान् समुदाय का नाम क्षेत्र है। परन्तु सब क्षेत्रों में उस परमात्मा की सत्ता या झलक जीवात्मा के नाम से विद्यमान है जो परमात्मा सदा एक रस और अविनाशी है। जो जीव नित्य निरन्तर उस परमात्मा के दर्शन नहीं करता हैं। उसका बाकी सब कुछ देखना व्यर्थ है। ज्ञानियों के विचार में वह अन्धा है क्योंकि वह ज्ञान चक्षुओं से हीन है। परन्तु जो पुरुष उस अविनाशी परमात्मा को नित्य निरन्तर देखता है। ध्याता है, चिन्तन करता है, निश्चय करता है, पहचानता है और अनुभव करता है सर्वत्र व्यापक जानता है वही ठीक तरह से देखता और समझता है तथा "अविनाशी वा अरेऽयमात्मा" इस श्रुति के भाव को जानता है। इस प्रकार परमात्मा के देखने का नाम ही आत्म-साक्षात्कार है। जब हम सोते समय स्वप्न देखते हैं तो एक मन-कल्पित जगत् में प्रविष्ट हो जाते हैं वहाँ रंक से राजा और राजा से रंक बन जाते हैं। जिन सुख-साधनों को हमारे बाप दादा ने भी कभी न देखा था उनका उपभोग करने लगते हैं। परन्तु जागने पर स्वप्न-संसार का लेश मात्र भी शेष नहीं रहता है। इसी प्रकार यह जीवन-काल भी एक बड़ा स्वप्न है जिसमें स्त्री, पुत्र, धन, धाम आदि सब कुछ सच्चा प्रतीत होता है परन्तु मरण काल के समय आँख बन्द होते ही यह सब कुछ झूठा बन जाता है। फिर यदि मोक्ष की प्राप्ति हो जाए तो अविनाशी परब्रह्म परमात्मा से मेल हो जाता है अन्यथा इसे नष्ट होते हुए संसार में जन्म लेकर फिर वही बड़ा स्वप्न देखना पड़ता है जिसका दूसरा नाम जीवन काल है ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

समम्+पश्यन्+हि सर्वत्र समवस्थितम्+ईश्वरम्। न हिनस्ति+आत्मना+आत्मानम्+ततः+याति पराम्+गतिम् ॥

समम्=(वि०)√सम्+अच्=सम+(नपुं०) प्र० ए० व०=सम। बराबर। एक समान।

पश्यन्=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+शतृ=पश्यत्+(पुं०) प्र० ए० व०=देखता हुआ।

हि=(अव्यय) क्योंकि। निश्चय पूर्वक।

सर्वत्र=(अव्यय) सर्व+त्रल्=सब जगह। सब में। सर्वत्र। सब भूतों में।

समवस्थितम्=(वि०) सम्-अव√स्था (भ्वा० पर० अक०=खड़ा होना)+ कर्तरि क्त+(पुं०) द्विती० ए० व०=समवस्थित को। सम भाव से अवस्थित को।

ईश्वरम्=(पुं०)√ईश+वरच्+द्विती० ए० व०=ईश्वर को। परमात्मा को।

न=(अव्यय) न। नहीं।

हिनस्ति=√हिंस् (रुधा० पर० सक०=वध करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=वध करता है। हनन करता है। हिंसा करता है। मारता है। घात करता है।

आत्मना=(पुं०)√अत्+मनिन्=आत्मन्+तृती० ए० व०। आत्मा से। अपने द्वारा।

आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्विती० ए० व०=आत्मा को। अपने आप को।

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्=उस से। फिर। उसके पश्चात्। (वह)।

याति√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= प्राप्त होता है।

पराम्=(वि०, स्त्री०)√पृ+अच्+टाप्=परा+द्विती० ए० व०=उत्तमा को। श्रेष्ठा को। परम को।

गतिम्=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+द्विती० ए० व०=गति को।

अर्थ-क्योंकि (निश्चय पूर्वक वह पुरुष) सर्वत्र (सब भूतों में) सम-स्थित् ईश्वर को एक समान देखता हुआ आत्मा (अपने) द्वारा आत्मा (अपने) को नहीं घात करता है। उस से फिर (वह) परमगति (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है॥ २८॥

व्याख्या—समभाव से सर्वत्र अवस्थित ईश्वर को देखता हुआ पुरुष उसमें ही विलीन हो जाता है क्योंकि उसके लिये और कुछ देखने के लिए शेष नहीं होता। जिस से वह जगत् से उपराम और निरासक्त हुआ तथा विषय वासनाओं और विकारों से रहित हुआ अपने हाथों अपने आप का नाश नहीं करता। जो अज्ञानी लोग ईश्वर को समभाव से सर्वत्र व्यापक नहीं

देखते हैं और सदा देह को ही अपना स्वरूप समझ कर इसे पालते और विषयों के रसिया बने रहते हैं वे पुनः-पुनः जन्म लेकर दुःख भोगने के लिये अपने आप का स्वयं हनन करते हैं अपने हाथों अपनी कब्र स्वयं खोदते हैं। इन मूढ़ अज्ञानियों को इस बात का पता ही नहीं चलता कि जन्म मरण से रहित होकर ही पूर्ण सुख की प्राप्ति होती है। ऐसे मूढ लोग प्रायः यह कहते हुए सुने जाते हैं कि "यह जग मीठा। अगला किस ने डीठा॥" देखो जो वास्तव में आत्मा है वह भी अज्ञात होने के कारण अविद्या द्वारा सदा मरा हुआ सा ही रहता है क्योंकि उसके लिये उसका विद्यमान फल भी नहीं होता है। सुतरां सारे अज्ञानी और मूढ लोग आत्मा का घात करने वाले ही हैं। परन्तु जो तत्त्वेत्ता और ज्ञानी लोग आत्म स्वरूप को जानने वाले होते हैं। वे सब जीवों में सम-स्थित आत्मा को समान रूप में देखते हैं। अपना ही स्वरूप होने से उन में किसी से द्वैत-भाव नहीं होता। क्योंकि वे समदृष्टि होने से किसी का बुरा नहीं चाहते। श्रुति में कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

[यजु० अ० ४० मन्त्र ६॥ ईश० मंत्र ६]

[**अर्थ**—परन्तु जो (साधक) सम्पूर्ण भूतों को आत्मा (परमात्मा) में देखता और समस्त प्राणियों में आत्मा को देखता है। फिर वह इस सर्वात्म्य-दर्शन के कारण ही किसी से घृणा नहीं करता।] अज्ञानी भेद-वादी पुरुष सब को अपने से अलग समझता है। किसी से द्वेष करता है किसी से मित्रता करता है किसी को अपना समझता है। किसी को पराया मानता है। ऐसा करके वह अपने शुद्ध स्वरूप को न जानता हुआ अपने द्वारा ही अपना नाश करता है तथा अनजाने में ही अपने गले में जन्म-मरण की फांसी का रस्सा डाल लेता है। ऐसे आत्महत्यारे अज्ञानी जनों को लक्ष्य करके शकुन्तला ने कहा था—

"किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।
यो ऽन्यथासंतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते॥ [महाभारते]

[**अर्थ**—जो पुरुष सत्, चित्, आनन्द, विभु आत्मा को (विषयों के वश हो कर] असत् और जड़ रूप मानता है। उस आत्मा के अपहरण करने वाले चोर पुरुष ने कौन सा ऐसा पाप है जो नहीं किया है ?]

श्रुति में भी कहा है—

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।"

[यजु० अ० ४० मं० ३। ईश० मं० ३॥]

[अर्थ—वे जो-आत्म-घातक लोग हैं वे मर कर असुरों के उन लोकों को प्राप्त होते हैं, जो गाढे अन्धेरे से घिरे हुए हैं और आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित हैं।] परन्तु जिस पुरुष ने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है और सदा सर्वत्र सब भूतों में समभाव से स्थित केवल एक ही परमात्मा को निरन्तर देख लिया है, वह उस के फल स्वरूप परम गति को प्राप्त हो जाता है ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

प्रकृत्या+एव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः । य पश्यति तथा+आत्मानम्+अकर्त्तारम्+सः+पश्यति ॥

प्रकृत्या=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र √कृ+क्तिन्=प्रकृति+तृती० ए० व०=प्रकृति से । प्रकृति द्वारा । परब्रह्म परमेश्वर के मूर्तिमान् संकल्प रूप प्रकृति या माया द्वारा ।

["मायां तु प्रकर्तिविद्यात्" श्वे० ४।१०॥ अर्थात् माया तो प्रकृति को समझना चाहिए ।]

एव=(अव्यय) √इ+वन्=ही ।

च=(अव्यय) और ।

कर्माणि=(नपुं) √कृ+मनिन्=कर्मन+द्वितीο ब० व०=कर्मों को ।

क्रियमाणानि=(वि०) √कृ (तना० उभ० सक०=करना)+णिच्+शानच्+(नपुं०) द्वितीο ब० व०=किये जाते हुओं को । किए जाते हुए ।

सर्वशः=(अव्यय) सर्व+शस्=सर्वशस्=पूर्ण रूप से । सब प्रकार से ।

यः=यद् (सर्व०)+(पु०) प्र० ए० व०=जो ।

पश्यति=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=देखता है ।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल्=तथा । वैसे ही । और ।

आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्विती० ए० व०=आत्मा को ।

अकर्त्तारम्=(वि० पुं०) न कर्त्तारम् (नञ् तत्पु०) √कृ+तृच्=कर्तृ+द्वि० ए० व०=अकर्त्ता को । (अकर्त्ता=कर्म न करने वाला) ।

सः=तद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=वह ।

पश्यति=√दृश्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=देखता है । जान लेता है । वास्तविकता को अच्छी तरह समझता है ।

अर्थ—और जो (पुरुष) सारे कर्मों को पूर्ण रूप से प्रकृति से ही किये जाते हुए तथा आत्मा को अकर्त्ता देखता है । वह (ही) देखता है ॥ २९ ॥

व्याख्या—मन, वाणी और शरीर द्वारा जो भी कर्म किए जाते हैं। वे सब कर्म प्रकृति के द्वारा ही किये जाते हैं। प्रकृति द्वारा सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की उत्पत्ति होती है। शरीर में लगी हुई सारी इन्द्रियां, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के सम्पूर्ण विषय ये सब इन्हीं तीन गुणों के विस्तार हैं। इन्द्रियों का इन्द्रियों के विषयों में अच्छा बुरा बरतना प्रकृति के इन तीनों गुणों के कारण ही होता है। इस प्रकार वस्तुतः सर्वत्र प्रकृति ही कर्म करती है। पुरुष या आत्मा तो नित्य, शुद्ध, मुक्त और सब विकारों से रहित है। वह सदा स्थिर और एक रस रहने वाला है। वह तो इसी प्रकार अकर्त्ता है। जिस प्रकार घर अकर्त्ता होता है जो स्वयं कोई कर्म नहीं करता परन्तु उस में रहने वाले ही सारे कर्म करते हैं अथवा जैसे आकाश में मेघ तो इधर-उधर घूमते-फिरते रहते हैं और जहाँ तहाँ वर्षा भी बरसाते रहते हैं परन्तु आकाश स्थिर, निश्चल और अलिप्त रहता हुआ कोई कर्म नहीं करता। इसी प्रकार प्रकृति ही सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न करती है परन्तु वह आत्मा के तेज, प्रकाश और शक्ति से ही ऐसा कर पाती है। श्रुति में कहा है—

"माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्याव्यवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥" (श्वेता ४।१०)

[**अर्थ**—माया तो प्रकृति को जानना चाहिए और माया-पति महेश्वर को समझना चाहिए। उसी के अङ्गभूत (कारण-कार्य-समुदाय) से यह सारा संसार व्याप्त हो रहा है।]

माया भगवान् की शक्ति रूपा प्रकृति का नाम है। उस माया नाम से कही जाने वाली शक्ति रूपा प्रकृति का अधिपति परब्रह्म परमात्मा महेश्वर है। जो स्वयं तो कोई कर्म नहीं करता है परन्तु उस की सत्ता और प्रकाश से अनुप्राणित हो कर माया या प्रकृति ही अपने गुणों के द्वारा सारे कार्य करती है। जैसे पंखा हवा देता है। ट्यूब और बल्ब जगमगा कर अपना प्रकाश सब ओर बखेरते हैं। पम्प पानी को पृथ्वी से बाहर निकालता है और सब प्रकार की मशीनें हमारे लिये अनेक उपयोगी वस्तुएँ तैयार करती हैं। परन्तु ये सब पंखे, बल्ब, ट्यूबें, नलकूप और मशीनें प्रकृति की भान्ति जड़ हैं जो बिजली की उस धारा या शक्ति से अनुप्राणित होते हैं जिस को आज तक कोई भी इन चर्म चक्षुओं से देख नहीं सका है। यही सम्बन्ध आत्मा का प्रकृति से है परन्तु कहना इसी प्रकार ठीक है, कि सब कर्म सब प्रकार से केवल प्रकृति द्वारा ही किए जाते हैं और आत्मा अकर्ता है अर्थात् कुछ भी नहीं करता। जो कोई इस तत्त्व को जान लेता है। वही सच्चे तत्त्व को पहिचानता और जानता है। जो पुरुष कर्मों का कर्त्ता स्वयं अपने को समझता है वही उन के फलों को भोगने के लिये जन्म ग्रहण करता है और जीवन-जनित दुःखों को भोगता है जो मनुष्य किसी भी शुभाशुभ कर्म का कर्ता अपने को समझता ही नहीं। सब

कर्म केवल प्रकृति के द्वारा ही किये जा रहे मानता है और गुणों को वर्तता हुआ देखता है। उस का जन्म-मरण रूप बन्धन स्वयं कट जाता है। कर्तापन से दुःख भोगने के सम्बन्ध में पंजाब में एक विचित्र कथा कही जाती है जो इस प्रकार है —

साईं बुल्हे शाह नाम के एक प्रसिद्ध कवि और पहुँचे हुए वेदान्ती साधु पंजाब में हुए हैं। जिन की काफ़ियां सब जगह पढ़ी और गाई जाती हैं। एक दिन वे अपने मकान में बैठे हुए ध्यान लीन हुए हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे सिर पर एक बहुत बड़ा पग्गड़ बाँध रखा था। मकान के बाहर बैठे हुए उसके कई एक शिष्य भी हुक्का पी रहे थे। रमज़ान का पवित्र मास प्रारम्भ हो चुका था। जिस में सारा मास मुसलमान लोग रोज़े रखते या निराहार व्रत करते हैं।

उन्हीं दिनों में कुछ मुसलमान स्वयं सेवक यह देखने के लिये चक्कर काट रहे थे कि वे कौन-से मुसलमान हैं ? जिन्होंने रोज़ा या व्रत नहीं रखा है। दैवयोग से वे वहीं आ निकले जहाँ पर बुल्ले शाह के शिष्य बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। उन्होंने आते ही उन से पूछा आप लोग कौन हैं ? शिष्यों ने कहा, हम मुसलमान हैं। यह सुनते ही आगुन्तुक मुसलमान भड़क उठे उन को डण्डों से पीटने लगे। जिस से वे इधर-उधर भाग गये। फिर ये आगन्तुक मुसलमान मकान के भीतर घुसे और बुल्हे शाह को हुक्का गुड़गड़ाते हुए देख कर बोले, अरे तुम कौन हो ? साईं जी ने उत्तर में कहा, हा, हा, हा। दूसरी बार पूछते पर साईं जी ने कहा— ही, ही, ही। तीसरी बार प्रश्न करने पर साईं जी हू, हू, हू करने लगे। आगन्तुकों में से एक ने कहा कि यह पुरुष तो कोई मस्त या सौदाई है यह बात सुनकर सब आगन्तुक वहाँ से वापस लौट गये।

यह देख कर सब शिष्य आकर साईं बाबा की कुशलता पूछ कर अपनी मार-पीट और हुई दुर्दशा कहने लगे। साईं बाबा बोले —कि आप लोग कुछ बने होंगे। मुरीद या शिष्य बोले—कि उन्होंने हम से पूछा था कि तुम कौन हो हम ने कहा था मुसलमान। यह सुनते ही वे हमें डण्डों से पीटने लगे।

साईं बाबा बोले— जो पुरुष प्रकृति और पुरुष को न जान कर इस जगत् में आप कुछ बनता है और अपने को सब कर्मों का अकर्ता नहीं समझता है उस के सिर पर तुम लोगों की तरह बार-बार मृत्यु या यम के डण्डे पड़ते हैं। इसलिये तुम लोग निर्लेप और अकर्ता आत्मा को पहचानों और सब कर्मों के करने वाली प्रकृति को भी अच्छी तरह देख लो ताकि तुम्हारा देखना सार्थक हो सके ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

यदा भूत-पृथक्+भावम्+एक-स्थम्+अनुपश्यति । ततः+एव च विस्तारम्+ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

यदा=(अव्यय) यस्मिन् काले, यद्+दा। जिस समय। जब। जिस काल में।

भूत-पृथक्+भावम्=(पुं०) द्वितीo एo वo। भूतानां पृथग् भावम् (पृथकत्वम्) =भूतों के पृथक् पृथक् भावों को। (भूतों की पृथकता को)। भूतों के अलग-अलग पन को।

एक-स्थम्=(पुं०) द्वितीo एo वo=एकस्मिन् (आत्मनि) स्थितम्=एक में स्थित। एक ही आत्मा (परमात्मा) में स्थित।

अनुपश्यति=अनु √दृश् (भ्वाo परo सकo=देखना)+लट्o प्रo पुo एo वo=(सच्च समझ कर) देखता है।

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्=ततः=उस से (तस्मात्)।

एव=(अव्यय)=ही।

च=(अव्यय) और।

विस्तारम्=(पुं०) वि √स्तृ+भावे घञ्+द्वितीo एo वo=(उन सम्पूर्ण भूतों के विस्तार को। (सब की) उत्पत्ति और विकास को।

ब्रह्म=(नपुं०) √बृंह्+मनिन्=ब्रह्मन्+द्वितीo एo वo=ब्रह्म को।

संपद्यते=सम् √पद् (दिवाo आत्मo सकo अकo=जाना, प्राप्त होना)+लट्o प्रo पुo एo वo=प्राप्त होता है।

तदा=(अव्यय) तस्मिन् काले, तद्+दा=तदा=तब। उस काल में।

अर्थ– जब (कोई मनुष्य) संपूर्ण भूतों के पृथक् भाव (अलग अलग पन) को एक ही (आत्मा-परमात्मा) में स्थित देखता है और उस (आत्मा-परमात्मा) से ही (उन सब भूतों) के विस्तार (उत्पत्ति और विकास) को (भी देखता है)। तब वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है॥ ३०॥

व्याख्या– इस संसार में इतने अधिक प्राणी हैं कि जिन की संख्या किसी प्रकार भी ज्ञात नहीं की जा सकती। नाना प्रकार की आकृतियों वाले भान्ति-भान्ति के विलक्षण जीव प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं और सिनेमा के चल-चित्रों की भान्ति नेत्रों के सन्मुख और परोक्ष होते रहते हैं। जो पुरुष इन में स्थित केवल उसी एक आत्मा को देखता है जिसे वह अपने भीतर स्थित समझता है तथा वह उन सब को एक ही परमात्मा से निकल कर फैले हुए अनुभव करता है। तो उसे देखने या समझने के लिये और कुछ शेष नहीं रहता। श्रुति में कहा है—

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत॥

[ईश० मं ७। यजु ४०।७]

[जिस काल में परब्रह्म परमेश्वर को भली-भान्ति जानने वाले महापुरुष के अनुभव में समस्त प्राणी एक मात्र परमात्मा स्वरूप ही हो चुकते हैं उस

काल में उस एकमात्र परमेश्वर का निरन्तर साक्षात् करने वाले पुरुष के लिये कौन-सा मोह रह जाता है ? और कौन-सा शोक रह जाता है ?] वह तो शोक-मोह से सर्वथा रहित हुआ आनन्द परिपूर्ण ब्रह्म रूप ही हो जाता है ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

अनादित्वात्+निर्गुणत्वात् परमात्मा+अयम्+अव्ययः शरीर-स्थः+अपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥

अनादित्वात्=(वि०) न आदित्वात् (नञ् तत्पु०) (पंच० ए० व०)। (अनादेः भावः=अनादित्वम् । आदि=कारणं, तद् यस्य न अस्ति तद् अनादि ।) आदि, कारण को कहते हैं, जिसका कोई कारण न हो, उसका नाम अनादि है और अनादि के भाव का नाम अनादित्व है । अनादि होने से ।

निर्गुणत्वात्=(वि०) निर्गतः गुणेभ्यः=निर्गुणः निर्गुणस्य भावः=निर्गुणत्वम्+(पुं०) पंच ए० व०=निर्गुणत्वात् । निर्गुण होने से । सत्त्व, रज और तम-इन तीनों गुणों से परे होने से । त्रिगुणातीत होने से । परमात्मा=(पुं०) परम+आत्मन्+प्र० ए० व० (कर्मधारय स०)= परब्रह्म परमेश्वर ।

अयम्=इदम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=अयम्=यह ।

अव्ययः=(वि०) न व्ययः यस्य (नञ् बहु०), वि√इण्+अच्+(पुं०) प्र० ए० व०=अपरिवर्तनशील । सदा एक रस रहने वाला । जिसका क्षय नहीं होता । अविनाशी । अव्यय ।

शरीर-स्थः=(वि०) शरीरेषु स्थः=शरीरोंमें स्थित हुआ । [(पुं०) प्र० ए० व०] [स्थ=(वि०)√स्था+क=स्थ । इस शब्द का व्यवहार प्रायः समास में ही होता है जैसे इस स्थान में ।]

अपि=(अव्यय) भी ।

कौन्तेय=[सम्बोधन । (पुं०) ए० व०] हे कुन्ती के पुत्र (अर्जुन) !

न=(अव्यय) न । नहीं ।

करोति=√कृ०(तना० उभ० सक०=करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= करता है ।

न=न । नहीं ।

लिप्यते=√लिप्+(तुदा० उभ० सक०=लीपना)+णिच्+लट्० प्र०, पु० ए० व०=लिपायमान होता है ।

अर्थ—हे कुन्ती के पुत्र (अर्जुन) ! अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अव्यय (अविनाशी) परमात्मा (आत्मा, पुरुष, क्षेत्रज्ञ और महेश्वर नामों से

पूर्वोक्त) शरीरों में स्थित हुआ भी (वास्तव में) न (कुछ) करता है। और न लिपायमान होता है ॥ ३१ ॥

व्याख्या—हे भूआ-कुन्ती-पुत्र-प्रिय-भ्राता अर्जुन! अत्यन्त गूढ़ भेद की बात ध्यान से सुनो। परमात्मा, आत्मा, पुरुष, क्षेत्रज्ञ और महेश्वर ये सब एक ही परब्रह्म परमेश्वर के नाम हैं। जो अनादि है । निर्गुण है और अव्यय या अविनाशी है। आदि का अर्थ है कारण। जिसका कोई कारण न हो उसका नाम अनादि है और अनादि के भाव का नाम अनादित्व है। अनादि की किसी काल में भी उत्पत्ति नहीं होती। वह सदा से ही है । यह परमात्मा अनादि होने से अव्यय या अविनाशी है अर्थात् वह अपने स्वरूप से कभी क्षीण नहीं होता।

वह पमात्मा निर्गुण अर्थात् मायाजनित गुणों से रहित है। जो वस्तु गुणयुक्त होती है उसका गुणों के क्षय होने पर क्षय हो जाता है। परन्तु वह परमात्मा गुण रहित है। उस का कभी क्षय नहीं होता इसलिये भी अव्यय या अविनाशी है।

श्रुति में कहा है –

"न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।" (श्वे० ६।९)

[**अर्थ**—इस परमात्मा का न तो कोई जनक (उत्पन्न करने वाला) है और न कोई स्वामी है।]

"अविनाशी वा-अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा।" (वृह० ४।५।१४)

[**अर्थ**—हे मैत्रेय! यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी या अव्यय है और अनुच्छेद (कट कर अलग न होने वाले) धर्म वाला है।] ऐसा होने पर भी यह परमात्मा सब शरीरों में स्थित हुआ भी न कुछ करता है और न उन के किए हुए कर्मों के फल से लिप्त होता है। यह परमात्मा सब शरीरों में इसी प्रकार स्थित है। जिस प्रकार अनेक छोटे बड़े जलाशयों में सूर्य के अनेक प्रतिबिम्ब स्थित होते हैं। यद्यपि वे अनेक और पृथक पृथक दिखाई देते हैं। परन्तु वास्तव में वे एक ही सूर्य के होते हैं और उन प्रतिबिम्बों और असली सूर्य में साधारणतया देखने में कोई अन्तर नहीं दीखता । क्योंकि असल और नकल में एक जैसी चमक दमक और गर्मी अनुभव होती है इसी प्रकार परमात्मा सब शरीरों में प्रतिबिम्बित हो रहा है और कोई प्रतिबिम्ब जैसे जल से लिपायमान नहीं होता इसी प्रकार परमात्मा का इन शरीरों में स्थित प्रतिबिम्ब भी शरीरों के धर्मों से लिपायमान नहीं होता। वास्तव में परमात्मा शरीरों में उस रूप में स्थित नही है जिस प्रकार कोई जीव किसी स्थान में स्थित होता है। वह तोसदा सर्वत्र व्यापक रहता है और सारे संसार सारे प्राणियों और प्रकृति तथा उसके गुणों से निर्लेप रहता है। जैसा कि कहा भी है –" एको देवः सर्वभूतेषु निगूढः।" इस श्रुति के अनुसार—परमात्मा शरीरों में रहता हुआ भी नहीं

रहता। आत्मा की स्थिति की शरीरों प्रतीति अवश्य होती है। इसलिए प्रत्येक शरीर में स्थित कहा जाता है। फिर यह परमात्मा कर्ता कैसे हो सकता हैं? जब कर्त्ता ही न रहा, तो फिर कर्मों से कैसे बँध सकता है? और जैसे आकाश किसी वस्तु से लिपायमान नहीं होता क्योंकि वह कोई मादी (भौतिक) वस्तु नहीं है और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है। इसी प्रकार परमात्मा भी किसी से लिप्त नहीं है।क्योंकि वह तो सूक्ष्म से सूक्ष्मतर क ीसीमा से भी अनन्त बाहर है। वास्तव में प्रकृति ही प्रकृति के गुणों में बरतती है और "प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि।" जब जीव इस बात को समझ लेता है तब उस के अज्ञान का पर्दा फट जाता है और वह गुणातीत शुद्ध ब्रह्म होकर अपने मूल स्वरूप अव्यक्त में मिल जाता है॥ ३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा सर्व-गतम्+सौक्ष्म्यात्+आकाशम्+न उपलिप्यते। सर्वत्र+अवस्थित: +देहे तथा+आत्मा न+उपलिप्यते॥

यथा=(अव्यय) यद्+थाल्=यथा। जिस प्रकार। जैसे। ज्यों।

सर्व-गतम्=(वि०) सर्वेषु गतम् (सप्त० तत्पु०) सब में गया हुआ। सर्व व्यापी। (नपुं० प्र० ए० व०)

सौक्ष्म्यात्=(नपुं०) सूक्ष्म+ष्यञ्=सौक्ष्म्य+पंच० ए० व०+सूक्ष्म होने के कारण से।

आकाशम्=(पुं० नपुं०) आकाशन्ते सूर्योदयोऽत्र इति आ√काश्+घञ्=आकाश+(नपुं०) प्र० ए० व०=आकाशम्=शून्य जो आकाश तत्त्व के नाम से प्रसिद्ध है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

उपलिप्यते=उप√लिप् (तुदा० उभ० सक०=लीपना)+कर्मवाच्य, लट्० प्र० पु० ए० व०=लीपा जाता है। लिपायमान होता है। लिप्त होता है। सम्बन्धयुक्त होता है।

सर्वत्र=(अव्यय) सर्व+त्रल्=सर्वत्र। सब जगह।

अवस्थित:=अव√स्था (भ्वा० पर० सक०=स्थित होना)+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=स्थित रहता हुआ। (भी)।

देहे=(नपुं० पुं०) देग्धि प्रति दिनं,√दिह्+घञ्+सप्त० ए० व०=देह में। शरीर में।

तथा=(अव्यय) तद्+थाल्=तथा। तेन प्रकारेण=वैसे ही। उसी प्रकार।

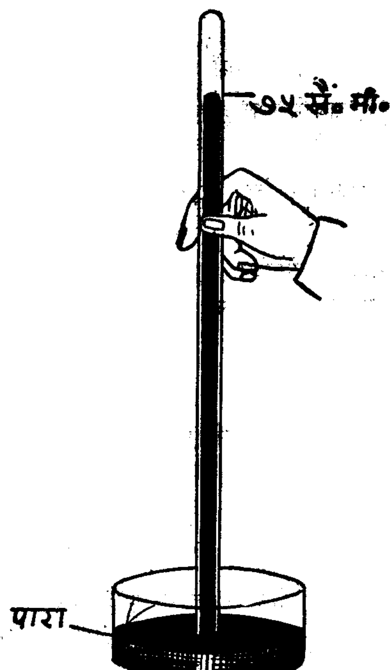
आत्मा=(पुं०)√अत्+मनिण्=आत्मन्+प्र० ए० व० आत्मा (परमात्मा)।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

उपलिप्यते=लीपा जाता है । लिपायमान होता है । सम्बन्ध युक्त होता है ।

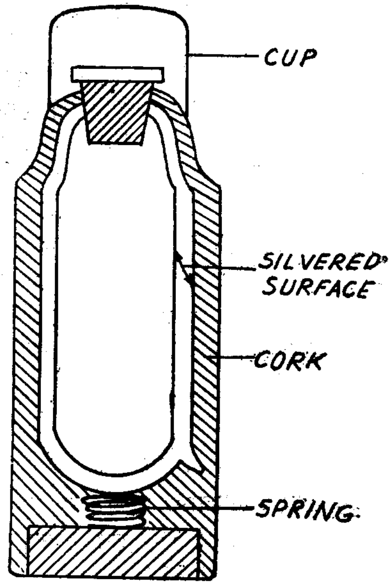
अर्थ—जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होने के कारण से (किसी वस्तु से) लिपायमान नहीं होता । उसी प्रकार सर्वत्र शरीरों में स्थित रहता हुआ भी आत्मा (किसी भी वस्तु से) लिपायमान नहीं होता ॥ ३२ ॥

व्याख्या—सारा ब्रह्माण्ड असीम है जिस में अनेक सूर्य, चन्द्र पृथिवियां, तारे, धूमकेतु और उल्का आदि गर्म और ठण्डे विचर रहे हैं ये सब पिण्ड हवा, पानी, अग्नि और मिट्टी आदि अनेक भिन्न भिन्न तत्त्वों से बने हुए हैं । आकाश तत्त्व जो खाली या शून्य स्थान का नाम है । वह सारे ब्रह्माण्ड का आधार होने से सदा सर्वत्र एक रस और सर्वव्यापी है । कोई भी स्थान इस से रहित नहीं है परन्तु यह तत्त्व तोल, माप, रूप, रंग रस, गन्ध स्पर्श आदि सब गुणों से रहित है । आकाश के ठीक स्वरूप को समझने के लिये इस स्थान पर कुछ यन्त्रों और विज्ञान के कितपय प्रयोगों का वर्णन किया जाता है—



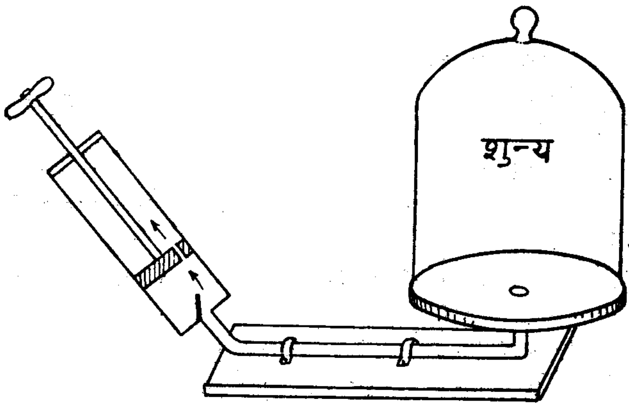
प्रयोग (१)—एक मीटर लम्बी काँच की सुदृढ़ एक नली लों । जिसका एक सिरा बन्द हो । उसकों सीधी करके पारे से सारी भर लो । मुँह को अँगुली से बन्द करके उसे पारे के प्याले में उलटा करो और पारे के भीतर उसका मुँह डुबो कर अँगुली निकाल लो । आप देखोगे कि शीघ्र ही पारा नीचे उतर जाने से नली का २५ सैंटीमीटर ऊपर का भाग खाली हो गया है और शेष ७५ सैंटी मीटर निचला भाग पारे से भरा हुआ है । अब यह "वायु दबाव मापक" यन्त्र बन गया है जिस के २५ सैंटी मीटर खाली भाग में हवा आदि कोई सूक्ष्म या स्थूल वस्तु नहीं है केवल शून्य है । उसी का नामआकाश है ।

प्रयोग (२)—प्रत्येक तापमापक यन्त्र में जो खालीं स्थान दिखाई देता है उस में हवा आदि कुछ नहीं होता केवल शून्य या आकाश ही होता है ।



प्रयोग (३)—थरमोस बोतल कांच की एक दोहरी बोतल होती है जिसकी दोनों दीवारों के मध्य भाग की हवा निकाली हुई होती है अर्थात् उस में केवल शून्य या आकाश ही होता है। जिस के कारण इस बोतल में डाला हुआ दूध आदि गर्म तरल पदार्थ कई घण्टे गर्म ही रहता है और कूटी हुई बर्फ चिर काल तक वैसी ही ठण्डी रहती है।

प्रयोग (४)—वायुनिष्कासन पम्प के द्वारा किसी विशेष पात्र की वायु निकाल देने से भी उस पात्र में शून्य या आकाश ही रह जाता है।



आकाश न पानी से गीला होता है। न वायु से सूखता है। न धूएँ से श्यामल बनता है। न ताप से तपित होता है। न शब्द से शब्दायमान होता है। न सुगन्धि या दुर्गन्धि से ही प्रभावित होता है। न उसमें धूलि ही हवा के बिना उड़ सकती है। न मेघ ही उत्पन्न हो सकते हैं क्योंकि धूआँ, ताप, धूलि, मेघ, सुगन्धि, दुर्गन्ध, धुन्द, वर्षा, ओले और हिम-कण केवल वायु मण्डल से ही सम्बन्ध रखते हैं। आकाश मण्डल का इन सब से किंचित्मात्र भी सम्बन्ध

नहीं है। परन्तु आकाश, जलवायु, पृथिवी. अग्नि और इनसे बने हुए सारे भूतों तथा जीव-प्राणियों में व्यापक है परन्तु उनमें से वह किसी एक से भी लिप्त अवश्य नहीं होता न कोई इस पर ही लिप्त होता है। इसी प्रकार परमात्मा या आत्मा भी सर्वव्यापी है। परन्तु न उससे कोई लिप्त होता है और न वह किसी से लिप्त होता है। वह तो किसी भी गुण, कर्म, स्वभाव से किंचित्मात्र भी लिपायमान या सम्बन्धित नहीं होता। वह तो सदा असंग और सदैव निर्लेप ही रहता है ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

यथा प्रकाशयति+एकः कृत्स्नम्+लोकम्+इमम्+रविः। क्षेत्रम्+क्षेत्री तथा कृत्स्नम्+प्रकाशयति भारत ! ॥

यथा=(अव्यय) जिस प्रकार। जैसे। यथा। (येन प्रकारेण)।

प्रकाशयति=प्र√काश् (भ्वा० दिवा० आत्म० अक० सक०)+पर० (णिच्) लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्रकाशता है। प्रकाशित करता है।

एकः=(संख्या०) (पुं०) प्र० ए० व०=एक।

कृत्स्नम्=(वि०)√कृत्+क्स्न्+(पुं०) द्विती० ए० व०=सम्पूर्ण को। समस्त को।

लोकम्=(पुं०)√लोक्+घञ्+द्विती० ए० व०=लोक को।

इमम्=इदम् (सर्व०)+पुं०) द्विती० ए० व०=इसको।

रविः=(पुं०)√रु+इ+प्र० ए० व०=सूर्य।

क्षेत्रम्=(नपुं०)√क्षि+त्रन्=क्षेत्र+द्विती० ए० व०=क्षेत्र को। देह वर्ग को। शरीरों को। देह को।

क्षेत्री=(पुं०) क्षेत्र+इनि=क्षेत्रिन्+प्र० ए० व०=क्षेत्री=जीवात्मा (अपनी पहचान न करने से)। आत्मा। परमात्मा।

तथा=(अव्यय) तद्+थाल्=वैसे ही। उसी प्रकार।

कृत्स्नम=(वि०)√कृत्+क्स्न्+(पुं०) द्विती० ए० व०=सम्पूर्ण को। सारे को।

प्रकाशयति=प्र√काश्+णिच्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्रकाशता है। प्रकाशित करता है।

भारत !=(सम्बोधन ए० व०) (पुं०) भरतस्य गोत्रापत्यम्, भरत+अण्। हे भरत-वंशज (अर्जुन) !

अर्थ—हे भरत वंशज (अर्जुन) ! जिस प्रकार (हमारा यह) एक ही सूर्य सारे लोक (अर्थात् अपने परिवार के सारे पिण्डों) को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार क्षेत्री (आत्मा) भी सम्पूर्ण क्षेत्र (देहों) को प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

व्याख्या—इस पृथ्वी पर अनेक देश हैं। जिनमें से एक भारत भी है। जो शकुन्तला के पुत्र प्रतापी सम्राट् भरत के नाम से भारत कहलाता है क्योंकि "भारतेन चिह्नितं तस्येदं वा" के अनुसार—भरत+अण्="भारत" होता है। इसलिए "हे भारत !" इस सम्बोधन से भगवान् का अभिप्राय यह प्रतीत

होती है कि हे अर्जुन ! तू उस भरत सम्राट् का वंशज है, जिसके राज-तेज से सम्पूर्ण भारत देश भा में रत अर्थात् प्रकाशमान हो रहा था। इसी कारण से सहस्रों वर्ष बीत जाने पर भी आज तक इस देश का नाम 'भारत' विख्यात चला आ रहा है। हे अर्जुन ! तेरे द्वारा भी भारत वंश भा (प्रकाश) में, रत (लीन या ओत-प्रोत) हो रहा है। इसी प्रकार एक ही आत्मा से सारी देह का एक-एक कण या सैल (CELL) प्रकाशित रहता है।

हे अर्जुन ! इस ब्रह्माण्ड में सैंकड़ों आकाश गंगायें हैं प्रत्येक आकाश गंगा में छः अर्ब से अधिक सूर्य हैं उन सब का प्रकाशक केवल एक परब्रह्म परमात्मा ही और प्रत्येक सूर्य जिस प्रकार अपने-अपने परिवार के पिण्डों के समूह अर्थात् अपने द्वारा प्रभावित सम्पूर्ण लोक को प्रकाशता है उसी प्रकार आत्मा या क्षेत्री अपनी अधिकृत सम्पूर्ण देह को प्रकाशता है। जैसे अपने अधिकृत क्षेत्र में एक ही सूर्य होता है इसी प्रकार अपनी अधिकृत देह में आत्मा भी एक ही है जो वास्तव में सब देहों में बस रही महान् आत्मा या परमात्मा का केवल इसी तरह एक प्रतिबिम्बमात्र है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड का प्रत्येक सूर्य परब्रह्म परमात्मा के प्रकाश का केवल एक प्रतिबिम्बमात्र है। जैसे सूर्य सारे संसार को प्रकाशता हुआ भी संसार की वस्तुओं के गुण-दोषों से लिप्त नहीं होता वैसे ही क्षेत्री भी सम्पूर्ण देह को प्रकाशता हुआ देह के संग-दोषों से लिप्त नहीं होता। जैसे किसी भी प्राणी का जीना और स्थिर रहना सूर्य के बिना सम्भव नहीं। इसी प्रकार किसी क्षेत्र या देह का जीवित और स्थिर रहना बिना आत्म-प्रकाश के सम्भव नहीं है। यद्यपि सूर्य सारे संसार का रक्षक, प्रकाशक और उसमें व्यापक है परन्तु फिर भी संसार से अलग, असंग और निर्लिप्त रहता है यही हाल देह के सम्बन्ध में आत्मा का है। जैसा कि श्रुति में कहा है—

"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

[कठ० २।२।११]

[**अर्थ** —जिस प्रकार सारे संसार का चक्षु रूप सूर्य नेत्रों के बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता। उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता क्योंकि सब में रहता हुआ भी वह सब से अलग है ॥] ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः+एवम्+अन्तरम्+ज्ञान-चक्षुषा। भूत-प्रकृति-मोक्षम्+च ये विदुः+यान्ति ते परम्।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः=(पुं०) क्षेत्रस्य च क्षेत्रज्ञस्य च (इतरेतर द्वन्द्व०) षष्ठी० द्वि० व०=क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के।

एवम्=(अव्यय) इस प्रकार।

अन्तरम्=(वि०)√अन्+अरन्, तुडागम=अन्तर+(नपुं०) द्विती०, ए० व० =अन्तरम्=अन्तर को। फ़र्क़ को। भेद को।

ज्ञान-चक्षुषा=(नपुं०) ज्ञानस्य चक्षुः तेन (तृती० तत्पु०) ज्ञान के चक्षु द्वारा। [चक्षुषा=चक्षुस् (√चक्ष्+उसि)+नपुं०) तृती० ए० व०= आँख से]।

भूत-प्रकृति-मोक्षम्=(पुं) भूतानां प्रकृतेः मोक्षम् (षष्ठी० तत्पु०) द्वितीय० ए० व०=भूतों की प्रकृति से छुटकारे को।

[भूत-प्रकृति=(स्त्री०) मूल प्रकृति। सब प्राणियों का उत्पत्ति स्थान।] भूत-प्रकृति के मोक्ष को। विकार सहित प्रकृति को। अविद्या रूप भूतों की प्रकृति के मोक्ष को अर्थात् उसका अभाव कर देने को। आकाशादिक सर्व भूतों की कारण रूपा, माया, अविद्या, अज्ञान इत्यादि नामों वाली परमेश्वर की शक्ति से छुटकारे को।

च=(अव्यय) और।

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो लोग।

विदुः=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०= विदन्ति। विकल्प से इस धातु के "लट् लकार" में रूप लिट् लकार के समान होते हैं जिससे प्र० पु०, ब० व० में 'विदुः' रूप होता है। जानते हैं।

यान्ति=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना। प्राप्त होना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=प्राप्त होते हैं।

ते=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे।

परम्=(नपुं०)√पृ+अप्=पर+द्विती० ए० व०=परम्=परम गति को। मोक्ष को। परब्रह्म को॥

अर्थ—इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को और भूतप्रकृतिमोक्ष को जो लोग ज्ञानचक्षु द्वारा जानते हैं, वे परम-ब्रह्म या मोक्ष को प्राप्त होते हैं॥ ३४॥

व्याख्या—इस अध्याय में कहे गए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जिन महापुरुषों ने अच्छी तरह समझ लिया है फिर उसे अपने सम्पूर्ण जीवन में ढाल लिया है उन्होंने ज्ञान रूपी नेत्रों से साक्षात् देखकर ब्रह्म को जान लिया है। आत्म-साक्षात्कार का नाम ही ज्ञान-चक्षु है। इसी अध्याय के श्लोक ७ से श्लोक ११ तक जिस ज्ञान के बीस लक्षण कहे गए हैं वही ज्ञान "ज्ञान नेत्र" कहलाता है, क्योंकि उसके द्वारा मोक्ष या ब्रह्म पद की प्राप्ति होती है और क्षेत्रज्ञ या परमात्मा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है तथा प्रकृति-निर्मित सब शरीरों या क्षेत्रों की अनित्यता और असारता ज्ञात हो जाती है। भूत-प्रकृति को त्याग देने या उसका अभाव कर देने का मार्ग मिल जाता है क्योंकि वे ब्रह्म-वेत्ता ज्ञानी लोग प्रकृति के गुणों के संग से भासमान कर्तृभाव का आरोप त्याग कर शुद्ध और खालस सोने की तरह माया रूप मैल से रहित होकर ब्रह्म रूप कुन्दन बन जाते हैं। इस प्रकार आकाशादि सर्व भूतों की कारण रूपा, माया, अविद्या, त्रिगुणमयी, प्रकृति आदि नामों से कही जाने वाली भूत प्रकृति छूट जाती है। जब आकाश मेघों से रहित हो जाता है तो निर्मल और नीला भासमान होने लगता है। जब सब मलों से शुद्ध हुआ जलबिन्दु ओस का रूप धारण करके

पत्तों और पुष्प-पत्तियों पर स्थित हो जाता है तो उसकी तुलना में मोती की आब (आभा) भी तुच्छ होकर रह जाती है। इसी प्रकार प्रकृति और उसके गुणों से रहित हुआ जीवात्मा परमात्मा कहलाने लगता है। यही उसका परम गति को प्राप्त होना है ॥

इस अध्याय में भगवान् ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को जिस प्रकार समझाया है उसका तत्त्व से जानना उसको ज्ञान-चक्षु द्वारा देखना है। इस देखने और भूतों की प्रकृति के मोक्ष को जो ज्ञानी ज्ञान-चक्षु द्वारा जान लेते हैं। वे सीधे परब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन-संवादे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्री भगवान् से कहे हुए, उपनिषदों में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग-शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग' नाम का तेरहवां अध्याय कथित हुआ है ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् । हरिः ॐ तत्सत् ॥

॥ अथ चतुर्दशोऽध्यायः ॥

श्री भगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

परम्+भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानाम्+ज्ञानम्+उत्तमम् । यत्+ज्ञात्वा मुनयः सर्वे पराम्+सिद्धिम्+इतः+गताः ॥

परम्=(नपुं०) √पृ+अप्=पर+द्विती० ए० व०=परम्=पर को । परम को ।

भूयः=(अव्यय) भुवे भावाय यस्यति यतते, भू √यस् (दिवा० पर अक०=प्रयत्न करना)+क्विप्=भूयस्=पुनः । फिर ।

प्रवक्ष्यामि=प्र√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लृट्० उ० पु०, ए० व०=कहूँगा । कहता हूँ ।

ज्ञानानाम्=(नपुं०) √ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान+षष्ठी० ब० व०=ज्ञानों का । ज्ञानों में ।

ज्ञानम्=(नपुं०) ज्ञान+द्विती० ए० व०=ज्ञान को ।

उत्तमम्=(वि०) (नपुं०) उद्+तमम्+द्विती० ए० व०=उत्तम को । सर्वोत्कृष्ट को ।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिस को ।

ज्ञात्वा=√ज्ञा (क्र्या० उभ० सक०=जानना)+क्त्वा=जान कर ।

मुनयः=(पुं०) मनुते जानाति यः, √मन्+इन्, उत्व=मुनि+प्र० ब० व०=मुनि लोग । महात्मा लोग । मननशील लोग ।

सर्वे=सर्व (सर्व० वि०)+(पुं०) प्र० ब० व०=सारे । सब ।

पराम्=(वि० स्त्री०) √पृ+अच्+टाप्=परा+द्विती० ए० व०=पराम्=परा को परम को ।

सिद्धिम्=(स्त्री०) √सिध्+क्तिन्=सिद्धि+द्विती० ए० व०=सिद्धि को ।

इतः=(अव्यय) इदम्+तसिल्=इतस्=यहाँ से । इस संसार से ।

गताः=√गम्+क्त+(पुं०) प्र० ब० व०=गये हैं । प्राप्त हुए हैं । प्राप्त हो गये हैं ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

(अब) फिर (मैं) सब ज्ञानों में सर्वोत्कृष्ट परम ज्ञान को (तेरे प्रति शीघ्र ही) कहूँगा। जिस को जान कर सारे मुनि लोग परम सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं ॥ १ ॥

व्याख्या—तेरहवें अध्याय में भगवान् ने सब कर्मों का होना प्रकृति द्वारा कहा है और जीवात्मा अपने को कर्मों का कर्ता मान कर प्रकृति की संगति से जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है। जिस से जन्म ग्रहण करके कर्मों का भोक्ता बन जाता है। जब पुरुष कर्मों के फल को न चाह कर प्रकृति और उसके गुणों के फँदे से छूट जाता है तो जन्म-मरण से मुक्त होकर परब्रह्म में मिल जाता है। इसी का नाम परागति या परा सिद्धि को प्राप्त होना है। अब भगवान् उस परम श्रेष्ठ और उत्तम ज्ञान का उपदेश अर्जुन के प्रति करना चाहते हैं। जिस को जान कर सारे मुनि लोग परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं। इस श्लोक में यह बात स्पष्ट बतलाकर भगवान् अर्जुन की गीता सुनने की रूचि को और अधिक उत्तेजित किया चाहते हैं। ताकि वह उसको और भी ध्यान पूर्वक सुने ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इदम्+ज्ञानम्+उपाश्रित्य मम साधर्म्यम्+आगताः। सर्गे+अपि न+उपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

इदम्=इदम् (सर्वनाम)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इस को।

ज्ञानम्=(नपुं०) ज्ञान+द्विती० ए० व०=ज्ञान को।

उपाश्रित्य=उप-आ√श्रि+ल्यप्=आश्रय करके। आश्रय लेकर। धारण करके।

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मे, मम=मेरे।

साधर्म्यम्=(नपुं०) समानो धर्मोऽस्य (बहुव्री०) अनिच्, समानस्य सः= सधर्मन् (वि०)+ष्यञ्=साधर्म्य+द्विती० ए० व०=साधर्म्य को। समान धर्मों होने के भाव को। समान धर्मता को। एक धर्मता को। स्वरूप की समानता को। एक रूपता को।

आगताः=आ √गम्+क्त+(पुं०) प्र० ब० व०=आये हुए। प्राप्त हुए (पुरुष)।

सर्गे=(पुं०) √सृज् (दिवा० आत्म० सक०। तुदा० पर० सक०। सृष्टि करना।)+घञ्=सर्ग+सप्त० ए० व०=सर्ग में। सृष्टि के रचना काल में। सृष्टि के आरम्भ काल में। सृष्टि के आदि काल में।

अपि=(अव्यय) भी ।
न=(अव्यय) न । नहीं ।
उपजायन्ते=उप√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+लट्० प्र० पु० ब० व०=(पुनः) उत्पन्न होते हैं ।
प्रलये=(पुं०) प्रलीयते अस्मिन्, प्र√ली+अच्=प्रलय+सप्त० ए० व०= प्रलय में । प्रलय काल में ।
न=(अव्यय) न । नहीं ॥
व्यथन्ति=√व्यथ् (भ्वा० उभ० अक०=दुःखी होना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=दुःखी होते हैं । पीड़ित होते हैं । व्याकुल होते हैं ॥

अर्थ—इस ज्ञान को आश्रय करके मेरे साधर्म्य (एकरूपता) को प्राप्त हुए (मुनि लोग) सृष्टि की उत्पत्ति काल में भी उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय काल में (भी) व्यथित (दुःखी) नहीं होते हैं । अर्थात् वे लोग जन्म-मरण दोनों से रहित हुए सदा परब्रह्म परमेश्वर में मिले रहते हैं) ॥ २ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो मुनि लोग मेरे द्वारा बतलाये जाने वाले इस सर्वोत्कृष्ट परम ज्ञान को जान कर अपने जीवन में उतार लेते हैं । वें उस के द्वारा मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाते है । वे न ही सृष्टि की उत्पत्ति के काल में परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप से पृथक होकर जन्म धारण करते हैं और न प्रलय काल में ही अन्य जीवों की भान्ति व्यथित या दुःखी होते हैं वे तो सदा के लिये भगवान् के स्वरूप में मिलकर अपनी पृथक सत्ता मिटा देते हैं । जिस प्रकार अनेक घड़ों के फूट जाने पर उन का भीतरी आकाश महाकाश में मिल कर एक रूपता को प्राप्त हो जाता है अथवा अनेक दीपकों के बुझ जाने पर उनकी ज्योतियां महाज्योतियों में मिल कर एकरूपता को धारण कर लेती हैं । इसी प्रकार इस उत्तम ज्ञान को जानने वाले मुनियों के जीवात्मा परब्रह्म में मिलकर उसी के स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं, और फिर कभी उस से पृथक नहीं होते । इस लिये जब सृष्टि के आदि काल में जन्म ही नहीं होता । तो प्रलय काल में उन की मृत्यु का तो कोई प्रश्न ही नहीं है ।

[स्वामी शंकराचार्य जी कहते हैं—"मम परमेश्वरस्य साधर्म्यं मत्स्वरूपताम् आगता. प्राप्ता इत्यर्थो, न तु समानधर्मतां साधर्म्यं क्षेत्रज्ञेश्वरयोः भेदानभ्युपगमाद् गीताशास्त्र—अर्थात् यहाँ साधर्म्य का अर्थ "समानधर्मता" नहीं हैं । क्योंकि गीता शास्त्र में क्षेत्रज्ञ और ईश्वर का भेद स्वीकार नहीं किया गया है] ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥ ३ ॥

ममः योनिः+महद्+ब्रह्म तस्मिन्+गर्भम्+दधामि+अहम् । सम्भवः सर्व-भूतानाम्+ततः+भवति भारत ॥

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरी।

योनिः=(पुं०, स्त्री०) यौति संयोजयति, √यु (अदा० पर० सक०=मिलाना। जोड़ना। क्रिया० उभ० सक० बांधना)+नि=योनि+प्र० ए० व०=योनिः=स्त्रियों की जननेन्द्रिय। भग। गर्भाधान का स्थान। सब भूतों का उत्पत्ति स्थान। (सब का कारण रूप) बीज डालने या धारण करने का स्थान। उपादान कारण।

महद्+ब्रह्म=(नपुं०) महत्+ब्रह्मन्+प्र० ए० व०=महद्ब्रह्म=[महत्=सब से बड़ी। ब्रह्म=ब्राह्मी शक्ति, उत्पत्ति स्थान। योनि।] उत्पत्तिशील वस्तुओं (योनियों) में सब से बड़ी योनि। प्रकृति। संसार में होने वाले सम्पूर्ण परिवर्तनों को करने वाली। अव्यक्त। मूल प्रकृति। त्रिगुणात्मक माया।

तस्मिन्=तद् (सर्व०) सप्त० ए० व० (पुं० नपुं०)=उस में।

गर्भम्=(पुं०) √गृ (भ्वा० पर० सक०=छिड़कना। सींचना)+भन्=गर्भ+द्विती० ए० व०=गर्भ को। शुक्र शोणित के संयोग से उत्पन्न भ्रूण को। हमल को। माता के उदर में उत्पन्न होने वाले बच्चे को।

दधामि=√धा (जुहो० उभ० सक०=धारण करना। स्थापित करना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=स्थापित करता हूँ। धारण करता हूँ।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

सम्भवः=(पुं०) सम् √भू+अप्+प्र० ए० व०=जन्म। उत्पन्न। पैदायश।

सर्व-भूतानाम्=(विशेषण विशेष्य) सर्वेषां भूतानाम्=(नपुं० षष्ठी० ब० व०) =सब भूतों का। सब भूतों की।

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्=उस से। फिर। उस (जड़=माया और चेतन=ब्रह्म के संयोग) से।

भवति=√भू+लट्० प्र० पु०, ए० व०=होता है। होती है।

भारत !=हे भरत के वंश में उत्पन्न हुए (अर्जुन) !

अर्थ—हे भरत वंश में उत्पन्न हुए (अर्जुन) ! महद्ब्रह्म (प्रकृति-माया) (मेरी योनि (योनि चिह्न से युक्त स्त्री) है। मैं उस में (सब प्राणियों की उत्पत्ति का कारण) गर्भ स्थापित करता हूँ। फिर उस से सारे भूतों का जन्म होता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस स्थान पर भगवान् ने अर्जुन को "भारत" नाम से सम्बोधित करके व्यञ्जना शक्ति का प्रयोग किया है। अभिप्राय यह है कि हे अर्जुन ! जो तुम अपने आप को भरत वंश में उत्पन्न हुआ समझ रहे हो यह तुम्हारी अज्ञानता है। वास्तव में तुम तो मेरे वंश में उत्पन्न हुए हो। सत्य बात तो यह है कि तुम तो मुझ परब्रह्म परमेश्वर के ही पुत्र हो। भारत कहना तो

काकु के कारण है वास्तव में तो बच्चू कहा है जब कोई किसी को यह कहता है कि तू बड़ा उस्ताद है तो उसका यह अर्थ कभी नहीं होता कि तू बड़ा गुरु है। बल्कि उसका अर्थ आदर सूचक बड़ा गुरु न होकर निन्दा सूचक अर्थ बड़ा चालाक होता है। यहां भगवान् तो यह कहते हैं कि हे अर्जुन! केवल तू अकेला ही मेरा पुत्र तो नहीं है यह सब चराचर मात्र ही मेरी सन्तानें हैं। क्योंकि यह महद्ब्रह्म मेरी योनि या योनि युक्त स्त्री है। यह मेरी स्त्री माया प्रकृति अविद्या आदि अनेक नामों से पुकारी जाती है। जो आकाश से भी अधिक व्यापक होने से तथा सारे कार्यों की उत्पत्ति और वृद्धि का कारण होने से महद्ब्रह्म कहलाती है। यह महद्ब्रह्म या त्रिगुणात्मक माया मेरी योनि युक्त स्त्री है अर्थात् बच्चों को जन्म देने वाली स्त्री है कोई बाँझ स्त्री नहीं है। मैं ही इस के उदर में सारे चराचर जीवों के उत्पन्न करने वाले गर्भों को स्थापित करता हूँ क्योंकि सृष्टि काल में मेरा यह संकल्प होता है कि "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय"। प्रलय-काल में मुझ अव्यक्त परब्रह्म में लीन हुए जो अविद्या, काम, कर्म वाले क्षेत्रज्ञ नाम धारी जीव हैं। उन सब जीवों को सृष्टि काल में, कार्य कारण संघात रूप भोग्य-क्षेत्र के साथ सम्बन्ध करने के लिये मैं महद्ब्रह्म योनि में बीज को सेचन करता हूँ। उन उत्पन्न हुए जीवों के शरीरों की वृद्धि के लिये आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी का मेल प्रकृति द्वारा यथा योग्य मिलाता हूँ। इस प्रकार इस महद्ब्रह्म योनि में मेरे द्वारा स्थापित किए गये गर्भ से ही हिरण्यगर्भ से लेकर अमीबा पैरामीशियम आदि तुच्छतर जीवों तक की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्ममहद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

सर्व-योनिषु कौन्तेय! मूर्तयः सम्भन्ति याः । तासाम्+ब्रह्म-महद्+योनिः+अहम्+बीज-प्रदः पिता ॥

सर्व-योनिषु=(पुं० स्त्री०) सर्वासु योनिषु । सब योनियों में। (देव, पितृ, मनुष्य, पशु और कीट पतंग तथा वनस्पति आदि) संपूर्ण योनियों में। (सप्त० ब० व०)।

कौन्तेय!=हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! [काकु से हे महद् ब्रह्म-पुत्र (अर्जुन)!]

मूर्तयः=(स्त्री०) √मुर्छ् (भ्वा० पर० अक०=तरल पदार्थों का गाढ़ा होना)+क्तिन्=मूर्ति+प्र० ब० व०=मूर्तयः=मूर्तियां। शरीराकार अलग-अलग अंगों के अवयवों की रचना युक्त व्यक्तियां। देहें।

सम्भवन्ति=सम्√भू+लट्० प्र० पु०, ब० व०=उत्पन्न होती हैं।

याः=यद् (सर्वनाम)+(स्त्री०) प्र० ब० व०=जो। जितनी।

तासाम्=तद् (सर्व०)+(स्त्री०) षष्ठी ब० व०=उन की। उन सब की।

ब्रह्म-महद्=(नपुं०) ब्रह्मन्-महत्+प्र० ए० व०=ब्रह्ममहद्=महत् ब्रह्म रूप माया। त्रिगुण मयी प्रकृति।

योनि:=(पुं० स्त्री०) सारी प्रकृति या माया ही एक बहुत बड़ी योनि है। जिस स्त्री को इतनी बड़ी योनि लगी हुई है। उस के आकार का तो कोई पता ही नहीं है।

अहम्=अस्मद् (सर्वनाम)+प्र० ए० व०=मैं (पर-ब्रह्म परमेश्वर)।

बीज-प्रद:=(पुं०) बीजं प्रद: (द्वितीο तत्पु०) [बीज=(नपुं०) विशेषेण कार्य-रूपेण अपत्यतया च जायते, वि√जन्+ड्, उपसर्गस्य दीर्घ:। अथवा विशेषेण ईजते कुक्षिं शरीरं वा गच्छति, वि√ईज्+अच्=बीज। वीर्य। उपादान कारण।

प्रद:=(पुं०) प्र√दा (जुहो० उभ० सक०=देना। भ्वा० पर० सक०=देना)+क=प्रद+प्र० ए० व०=देने वाला।]

बीज प्रदाति, √दा+क। बीज या वीर्य को देने वाला। बीज या वीर्य डालने वाला। गर्भाधान करने वाला।

पिता=(पुं०) पाति रक्षति अपत्यम्, √पा+तृच्=पितृ+प्र० ए० व०=पिता। जनक। बाप।

अर्थ—हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! (काकु से—हे महद्-ब्रह्म अथवा पर-ब्रह्म पुत्र अर्जुन!) सब योनियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं। उन सब की योनि महद् ब्रह्म है, (उस में) बीज या वीर्य डालने वाला पिता मैं हूँ॥ ४॥

व्याख्या—भगवान् अर्जुन को कुन्ती पुत्र कहते हैं और उपदेश यह करते हैं कि सब योनियों में (कुन्ती माता समेत) जो मूर्तियां उत्पन्न (होती हुई भासमान) होती है। वास्तव में वे सब महद् ब्रह्म रूप योनि में से ही उत्पन्न होती हैं। महद् ब्रह्म अर्थात् माया या प्रकृति को योनि (स्त्री का गुप्त अंग) रूप करके वर्णन किया है और योनि साधारण स्त्री का एक छोटा सा अंग होता है फिर वह स्त्री कितनी महान् होगी जिस की योनि महद् ब्रह्म रूप यह महा विशाल प्रकृति या अनन्त त्रिगुण मयी माया है। भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतंग और सब प्रकार की वनस्पतियों की योनियों में जो-जो जीव-शरीर उत्पन्न होते हैं। अर्थात् शरीराकार अलग-अलग अंगों के अवयवों की रचना युक्त व्यक्तियां प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में—जरायुज, अण्डज स्वेदज, और उद्भिज्ज इन चारों भेदों वाले विलक्षण तथा नाना प्रकार के आकारों वाले जो जो जीव उत्पन्न होते हैं। वे सब वास्तव में महद् ब्रह्म रूप योनि से ही उत्पन्न होते हैं। यह माया मेरी उस स्त्री की योनि है जिस का संसार में किसी को भी कोई अता पता नहीं है। जिस प्रकार एक ही क्षेत्र में अनेक प्रकार की जड़ी बूटियाँ, मक्की, माष आदि नाना प्रकार के अनाज और विविध भान्ति के कीड़े मकौड़े तथा चूहे बिल्ले उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार एक ही महद्ब्रह्म रूप

योनि में सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है और उन सब की उत्पत्ति का मूल कारण या बीज अथवा वीर्य डालने वाला पिता मैं हूँ।

चूँकि पुत्र पिता का ही अंश होता है इसलिये सब जीव परमात्मा के ही अंश हैं और भ्रातृ-भाव से बँधे हुए हैं। इस से भगवान् ने यह भी प्रकट किया है कि सब प्राणियों के जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर हैं वे सब तो इसी तरह प्रकृति के बने हुए हैं। जिस प्रकार माता के शरीर के रुधिर, मांस और हड्डियों से शिशुओं के शरीर बने हुए समझे जाते हैं और उन सब में जो चेतन आत्मा है। वह मुझ पिता रूप परब्रह्म परमात्मा का अंश है। इसलिये प्रकृति सारी सृष्टि की माता है और मैं सारी सृष्टि का पिता हूँ ॥ ४ ॥

नोट—सन्तान चाहने वालों को विधिपूर्वक इन उपुर्यक्त दो मन्त्रों का पाठ नित्य करना चाहिए तथा टीका करना सीख लेना चाहिए।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सत्त्वम्+रजः+तमः+इति गुणाः प्रकृति-सम्भवाः । निबध्नन्ति महाबाहो! देहे देहिनम्+अव्ययम् ॥

सत्त्वम्=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व+प्र० ए० व०=सत्त्व गुण।

रजः=(नपुं०)√रञ्ज्+असुन्=रजस्+प्र० ए० व०=रजः=रजो गुण।

तमः=(नपुं०)√तम्+असच्=तमस्+प्र० ए० व०=तमो गुण।

इति=(अव्यय)√इ+क्तिन्=इति=ऐसे। इस प्रकार। (ये)।

गुणाः=(पुं०)√गुण्+अच्=गुण+प्र० ब० व०=(तीनों) गुण। तीनों रस्से।

प्रकृति सम्भवाः=(वि० पुं०)=प्रकृतेः सम्भवाः (षष्ठी० तत्पु०)=प्रकृति से उत्पन्न हुए।

[सम्भवाः=(पुं०) सम√भू+अप्=सम्भव+प्र० ब० व०=सम्भवाः =उत्पन्न हुए।]

निबध्नन्ति=नि√बन्ध् (क्रिया० पर० सक०=बांधना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=बांधते हैं

महाबाहो !=(सम्बो० ए० व०, पुं०) हे लम्बी भुजाओं वाले (अर्जुन) !

देहे=(नपुं०, पु०)√दिह् (अदा० उभ० सक०=भ्रष्ट करना)+घञ्=देह +सप्त० ए० व०=देह में। शरीर में।

देहिनम्=(पुं०) देह+इनि=देहिन्+द्विती० ए० व०=देही को। देहधारी [illegible] के स्वामी को। जीवात्मा को।

[illegible] पुं०) (नञ् बहु०) द्विती० ए० व०=अविनाशी को। [illegible] को।

अर्थ—हे लम्बी भुजाओं वाले (अर्जुन) ! सत्त्व गुण, रजोगुण और तमो गुण ऐसे ये प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण इस अविनाशी निर्विकार देही (जीवात्मा) को देह में बाँधते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम लम्बी भुजाओं वाले हो। शक्तिशाली हो। बड़ी पहुँच वाले हो क्योंकि मुझ परमेश्वर को साक्षात् देहधारी रूप में देख रहे हो। मेरी प्रकृति भी अत्यन्त शक्तिशाली है जिससे सत्त्व गुण, रोजगुण और तमो गुण, इन तीनों की उत्पत्ति हुई है। जो परब्रह्म अंश निर्विकार और अविनाशी जीवात्मा (देही या क्षेत्रज्ञ) को इसी तरह बाँध लेते हैं जिस प्रकार शिकारी का जाल मृग को जकड़ लेता है। अथवा मकड़ी का जाला मक्खी को लपेट लेता है। किंवा ये तीनों गुण रस्सों की तरह जीवात्मा को देह में बाँध लेते हैं। गुण धागों को भी कहते हैं। धागो की भान्ति ही ये तीनों गुण देह में जीवात्मा को जगड़ लेते हैं जीवात्मा का बाँधा जाना जड़ प्रकृति के द्वारा ही होता है जो परब्रह्म की सत्ता से अनुप्राणित होकर ही यह कार्य करती है और इस देह को प्रकृति जनित गुणों के वशीभूत हुआ जीवात्मा पूर्व जन्मों के कर्मों के कारण स्वयं अपने ऊपर देह इसी प्रकार बना लेता है, जिस प्रकार रेशम का कीड़ा, रेशम का ताना तन कर अपने ऊपर रेशम कोष या कोया बना लेता है वास्तव में तो वह जीवात्मा स्वरूप से सब विकारों से रहित और अविनाशी है और उसका बन्धन तो हो ही नहीं सकता। परन्तु अज्ञान के कारण उसने अपने को बँधा हुआ मान रखा है और इन गुणों के कारण सदा ममता आसक्ति और इन्द्रियों के विषय भोगों में फँसा रहता है। जिस से शुभाशुभ कर्मों के अनुसार पुनः पुनः देह को धारण करता है। यही इसका प्रकृति से उत्पन्न गुणों के द्वारा देह में बाँधा जाना कहलाता है ॥

परम सन्त विनोबा जी गीता प्रवचन में लिखते हैं —"आत्मा की गति स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी है; परन्तु जिस तरह किसी वस्तु के साथ कोई भारी वजन बाँध दिया जाता है, तो जैसे वह नीच खिचती चली जाती है, उसी तरह शरीर का यह बोझ आत्मा को नीचे खींच ले जाता है। किसी भी उपाय से यदि देह और आत्मा को हम पृथक कर सकें, तो हमारी प्रगति हो सकती है। यह बात भले ही कठिन हो। पर इस का फल भी महान् है। आत्मा के पांव से यह देह रूपी बेड़ी यदि हम काट सकें। तो हमें भारी आनन्द प्राप्त होगा। फिर मनुष्य देह के दुःख से दुःखी न होगा। वह स्वतन्त्र हो जाएगा। यदि इस देह रूपी वस्तु को मनुष्य जीत ले। तो फिर उस पर कौन सत्ता चला सकता हैं ? जो अपने आप पर राज्य करता है वह विश्व का सम्राट् बन जाता है। अतः आत्मा पर देह की जो सत्ता हो गई हैं। उसे हटा दो। देह के जो दुःख सुख हैं; वे विदेशी हैं। सब विजातीय हैं। आत्मा से उनका तिल मात्र भी सम्बन्ध नहीं है ॥" ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

तत्र सत्त्वम्+निर्मलत्वात्+प्रकाशकम्+अनामयम् । सुख-सङ्गेन बध्नाति ज्ञान-सङ्गेन च अनघ ! ॥

तत्र=(अव्यय) वहाँ । उनमें । उन तीनों गुणों में ।

सत्त्वम्=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व=सत्त्व+प्र० ए० व०=सत्त्व गुण ।

निर्मलत्वात्=(वि०) निर्गतः मलः यस्मात् स निर्मलः, तस्य भावः निर्मलत्वम् । (नपुं०) पंच०, ए० व० ॥ निर्मल होने के कारण से । (स्फटिक मणि की तरह) निर्मल होने से ।

प्रकाशकम्=(वि०) प्र√काश्+णिच्+ण्वुल प्रकाशक+(नपुं०) प्र० ए० व० । प्रकाश करने वाला । प्रकाशशील । प्रकाशक । चमकीला ॥

अनामयम्=(वि०) नास्ति आमयो यस्य सः । (नञ् बहुव्री०) । न आमयम् (नञ् तत्पु०) ।

(नपुं०) प्र० ए० व० ।

[आम√या+क अथवा आ √मी+अच्=आमय=रोग, बीमारी, क्षति, चोट, अजीर्ण, उपद्रव, दोष, विकार] रोग या दोष रहित । निरुपद्रव । निर्विकार । निर्दोष ।

सुख-सङ्गेन=(पुं०) सुखस्य सङ्गेन (षष्ठी० तत्पु०) तृती० ए० व०=सुख के सङ्ग से । सुख की आसक्ति से ।

[सङ्ग=(पुं०) √सञ्ज्+घञ्=संयोग, मेल, संसर्ग, अनुराग, आसक्ति ।]

बध्नाति=√बन्ध् (क्र्या० पर० सक०=बाँधना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= बाँधता है ।

ज्ञान-सङ्गेन=(पुं०) ज्ञानस्य सङ्गेन (षष्ठी० तत्पु०) ज्ञान के संग से । ज्ञान की आसक्ति या अभिमान से ।

च=(अव्यय)=और ।

अनघ !=(पुं० सम्बो० ए० व०) नास्ति अघं, पापं, दुःखं, व्यसनं, कालुष्यं, वा यस्य (यस्मिन्) नञ् बहुव्री०=हे निष्पाप अर्जुन ! हे व्यसन-दोष आदि रहित अर्जुन ! ।

अर्थ—हे पाप, दोष और व्यसन आदि से रहित (अर्जुन) ! उन (तीनों गुणों) में सत्त्व गुण (स्फटिक मणि की भान्ति) निर्मल होने से प्रकाश करने वाला और रोग या विकार से रहित है । वह सुख के संग से और ज्ञान के सम्बन्ध से (देही-जीवात्मा को) बाँधता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन, तू तो निष्पाप है। निर्दोष है और सब प्रकार के व्यसनों से रहित है इसलिये तुझे अर्थात् तेरी देह में व्यापक जीवात्मा को तो बाँध सकने में इन सत्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों में से कोई भी समर्थ नहीं है। परन्तु साधारण प्राणी को तो इन तीनों गुणों में से कोई एक या तीनों गुण ही बाँध लेते हैं, इन में से सत्त्व गुण सब में उत्तम और श्रेष्ठ है। जिस के वशीभूत हुआ मनुष्य धर्म-कर्म, यज्ञ, तप, होम, तर्पण आदि वेद विहित और शुभ कर्म करता है। दान-पुण्य करता है। दया भाव से ओत-प्रोत रहता है। क्योंकि सत्त्व गुण इसी प्रकार निर्मल और प्रकाशशील होता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि नि ल और प्रकाशक होती है सत्त्व-गुणी-पुरुष सदा निरामय और दोष रहित होते हैं। उन के ललाट ज्योतिर्युक्त और मुखमण्डल अग्नि की तरह प्रज्वलित देदीप्यमान और आभा पूर्ण होते हैं और प्रसाद गुण से सना सने हुए और स्निग्ध रहते हैं, हृदय की प्रसन्नता इस प्रकार बाहर झलकती है। जिस प्रकार मलमल के वस्त्र में ढकी हुई लालटेन या टार्च का प्रकाश फूट-फूट कर बाहर निकलता है। उससे चित्त और समस्त इन्द्रियों में दुःख तथा आलस्य का अभाव हो जाता है। चेतन शक्ति बलवती और प्रगतिशील बन जाती है।

सत्त्व गुण जीवात्मा को पहले तो सुख के संग से बाँधता है दूसरे ज्ञान के संग से बाँधता है। बाँधने का यह आशय कदापि नहीं है कि प्रकृति या उस के गुण उस के स्वरूप में कोई परिवर्तन कर देते हैं या कोई विकार उत्पन्न कर देते हैं। वह तो देह धारी होकर भी स्वभावतः निर्विकार और अविनाशी ही रहता है। बार-बार भी जन्म धारण करता हुआ स्वयं कभी मरता नहीं है। परन्तु इन गुणों से मोहित या आसक्त हुआ अपने आप को नाशवान् या विकारी समझने लगता है। बन्धुओं का वियोग, शारीरिक रोग या मन की व्यथा से प्रभावित होकर "हाय मैं मरा," "हाय मैं मारा गया" कह कर रोता है और व्याकुल होकर पृथिवी पर गिरता हे। सिर पर दोहत्थड़ मारता है। छाती पीटता है। मूर्छित होता है और कई बार ऐसा भी होता है कि हृदय गति रुक जाने से प्राणों से हाथ धो बैठता है। इस प्रकार ये तीनों गुण अपनी-अपनी प्रबलता के काल में जीवात्मा को अपने स्वरूप से बेख़बर और ग़ाफ़िल कर देते हैं। जिस के अन्तःकरण में सत्त्व गुण की प्रधानता और अधिकता होती है। वह उस की संगति से अपने आप को सुखी समझता है। यही उसका सत्त्व गुण के द्वारा सुख से बाँधना है, क्योंकि वास्तव में तो आत्मा न कभी सुखी होता है और न कभी दुःखी होता है। ये सुख दुःखादि द्वन्द्व तो केवल प्रकृति के गुणों का गुणों में ही बरतना है। आत्मा तो इन गुणों के संग से ही उन सुख दुःखादियों को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है ठीक इसी तरह जैसे किसी पुत्र के मरने पर माता अपना मरना मानती है अथवा कोई

पिता जिसे पहले पुत्र के मरने की तार आ चुकी हो उसी पुत्र के घर जीवित आ जाने पर अपना पुनर्जन्म मानने लगता है। इसी प्रकार यह सत्त्व गुण जीवात्मा को ज्ञान संग या ज्ञान सम्बन्ध से भी बाँधता है। अन्त:करण की ज्ञान वृत्ति के सुझाव से जीवात्मा यह समझते लगता है "मैं ज्ञानवान् हूँ", "मैं सब कुछ जानता हूँ।" ऐसा समझना ही सत्त्वगुण द्वारा जीवात्मा को ज्ञान के संग से बाँधना है क्योंकि यह आत्मा तो स्वभाव से ही सर्वज्ञ है, जो सब में व्यापक है। उस का दूसरों को अल्पज्ञ और अपने को सर्वज्ञ समझना इस बात का प्रमाण है कि उस का ज्ञान कच्चा और अधूरा है। यह ज्ञान भी सुख का साथी होने से क्षेत्र अर्थात् अन्त:करण का ही धर्म है। आत्मा का नहीं क्योंकि उसे आत्मा का धर्म मान लेने पर उस में आसक्त होना और उसका बाँधना नहीं बन सकता। यद्यपि इस श्लोक में सत्त्वगुण के लक्षण कहे गये हैं और अगले श्लोकों में रजोगुण और तमोगुण के लक्षण वर्णन किये गये हैं। परन्तु ये तीनों गुण पृथक-पृथक कभी नहीं रहते। तीनों सदा मिलकर ही रहते हैं। जैसे कोई भी भला काम करना यद्यपि सत्त्व गुण का लक्षण है, तथापि भले काम को करने की प्रवृत्ति होना रजोगुण का धर्म है। इसलिये सत्त्वगुण के स्वभाव वालों में भी रजोगुण का कुछ न कुछ मिश्रण सदैव रहता है इन तीनों गुणों के पारस्परिक आश्रय और झगड़े से ही सृष्टि के सब पदार्थ बनते हैं।

॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

रज:+राग+आत्मकम्+विद्धि तृष्णासङ्ग-समुद्भवम्। तत्+निबध्नाति कौन्तेय! कर्म-सङ्गेन देहिनम्॥

रज:=(नपुं०) √रञ्ज्+असुन्=रजस्+प्र० और द्विती० ए० व०=रजोगुण को।

राग+आत्मकम्=(वि०, नपुं०, द्विती० ए० व०) राग: एव आत्मा यस्य तत् (बहुव्री०) [राग=(पुं०) √रञ्ज् (भ्वा०, दिवा०, उभ० अक०=रंगना, लाल होना, प्रसन्न होना)+घञ्=प्रेम। अनुराग।

आत्मकम्=(वि०) आत्मन्+कन्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=स्वभाव वाले को।] अनुरागी स्वभाव वाले को।

गेरु, सिन्दूर, लाल रंग आदि की भान्ति पुरुष को विषयों में रञ्जन करने वाले अर्थात् रंगने या अनुरक्त करने वाले का नाम "रागात्मक" है। राग के स्वभाव वाला। राग रूप। जिस समय स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई-बन्धु और धनादि पदार्थों का श्रवण, स्मरण, दर्शन और स्पर्शन आदि के कारण अन्त:करण की वृत्ति में स्नेह या अनुराग उत्पन्न होता है

तथा मनोरंजन होने लगता है, तो उस अवस्था को रागात्मक अवस्था कहते हैं।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) जान। (तू) समझ।

तृष्णा-सङ्ग-समुद्भवम्=(वि० नपुं०, द्विती० ए० व०) तृष्णायाः सङ्गात् च समुद्भवम्=तृष्णा और संग से उत्पन्न हुए को।

[अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा का नाम तृष्णा है तथा प्राप्त विषयों में—मन की प्रीति, रूप, स्नेह का नाम संग या आसक्ति है।]

तत्=तद् (सर्व०)+नपुं० (प्र० ए० व०=वह। वह (रजो गुण)।

निबध्नाति=नि√बन्ध (क्र्या० पर० सक०=बाँधना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=बाँधता है।

कौन्तेय !=(सम्बोधन ए० व०, पुं०) हे भूआ कुन्ती के पुत्र अर्जुन !। हे प्रिय फुफेरे भ्राता अर्जुन !।

कर्म-सङ्गेन=(पुं०) कर्मणां संगेन (षष्ठी० तत्पु०) तृती०, ए० व०=कर्मों के संग से। कर्म करने की आसक्ति या लग्न से। कर्मों और उनके फलों की आसक्ति से।

देहिनम्=(वि० पु०) देह+इनि=देहिन्+द्विती० ए० व०=देह धारी को। जीवात्मा को।

अर्थ—हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! तृष्णा और संग (आसक्ति) से उत्पन्न हुए रागात्मक (पुरुष को विषयों के रस में लाल या अनुरक्त करने के स्वभाव वाले) रजो गुण को (तू) जान। वह इस देही (जीवात्मा) को कर्मों के संग (कर्म करने की रुचि, आसक्ति, लग्न या पुनर्जन्म) से बाँधता है॥ ७॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तू उस कुन्ती का पुत्र है जो मेरी फुफ्फी या भूआ है इससे तू मुझे अति प्रिय है तथा मुझ परमेश्वर कृष्ण स्वरूप धारी का सखा है। इससे तुझ को सत्त्व, रज और तमोगुण में से कोई भी बाँध नहीं सकता। परन्तु अन्य सब प्राणियों में जिस-जिस गुण की अधिकता या प्रचुरता होती है, वह-वह गुण उस-उस प्राणी को अपने स्वाभाविक गुणों से बाँधता है। जैसे रजोगुण जो तृष्णा (इच्छा) और संग (आसक्ति) से उत्पन्न होता है और अपने अधीन पुरुष को विषय वासनाओं और भोगों के रस में लाल या अनुरक्त कर देता है। जिस पुरुष के अन्तःकरण में रजोगुण की प्रधानता, प्रचुरता या अधिकता होती है। वह जिस समय स्त्री, पुत्र, मित्र, बांधव और धनादि पदार्थों का श्रवण, स्मरण, दर्शन या स्पर्शन आदि करता है तो उसके अन्तःकरण की वृत्ति में स्नेह या अनुराग उत्पन्न हो जाता है तथा उसको मनोरञ्जन होने लगता है। उस समय उसकी यह अवस्था रागात्मक दशा कहलाती है तथा उस अवस्था में उसके भीतर प्रिय पदार्थों के पाने की अभिलाषा

अत्यन्त प्रबल हो जाती है और जब वे पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं तो उनमें आसक्ति या लग्न उत्पन्न हो जाती है। फिर इसी तृष्णा, प्रीति, आसक्ति और अनुराग से यह पुरुष अपने मनचाहे कर्मों के करने में जुट जाता है। जिससे फिर रजोगुण उसको कर्मपाश में बाँध लेता है। यद्यपि जीवात्मा अपने स्वरूप से अकर्ता और अलिप्त है। परन्तु गुणों की भूल भुलैयों में पड़ा हुआ वह स्वयं अपने आपको बँधा हुआ सा मानता है और तीनों गुणों के धर्मों को अपने आप पर आरोपित कर लेता है। जिससे रेशम के कीड़े की तरह देह रूपी स्व-रचित रेशम के तार में लिप्ट जाता है। कर्मों में कर्तापन के अभिमान का नाम भी कर्मों का संग है। जिससे कर्मों के फलों की अभिलाषा से पुनर्जन्मों की प्राप्ति होती है। यही जीवात्मा के कर्मों के संग से बँधना है।

अब इस सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसी दास जी के विचार भी श्रवण कीजिए जो इस प्रकार हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
सो माया-बस भयउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं ॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ॥

[रामचरित० उ० कां० गरुड प्रति काक०]

[**अर्थ**—यह जीव अविनाशी ईश्वर का अंश है जैसा कि भगवान् ने स्वयं गीता १५।७ में कहा है "ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:" जो चैतन्य, निर्मल और सहज ही में सुख की खानि है ॥

हे गोसाईं! यह जीव माया के वश होने से तोते और बन्दर की भान्ति फँस गया है ॥

जब लोग तोते को पकड़ते हैं तो दो दीवारों में गड़ी हुई खूंटियों के साथ लाल, हरे चमकदार रंग की एक लम्बी रस्सी तान कर बांध देते हैं जो हरी या लाल मिर्च की भान्ति अति सुन्दर होती है। तोते उस पर आकर बैठने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उसको पकड़ने के साथ ही घूम कर उलटे होकर लटक जाते हैं यद्यपि उसे छोड़कर वे सहज ही उड़ सकते हैं। परन्तु यह विधि बच जाने की उनकी समझ में नहीं आती जिससे वे धरती पर गिर कर मर जाने के भय से पंजों में पकड़ी हुई उस रस्सी को नहीं छोड़ते। इसलिए शिकारी लोग उन्हें सहज ही कपड़े की सहायता से पकड़ कर पिंजरों में बन्द कर लेते हैं और वे तोते कारागार का कष्ट सहते हैं। यही हाल अज्ञानी जीव का है। जो छुटकारे की विधि न जानने के कारण शरीर रूपी पिंजरों में फंसा रहता है और बार-बार जन्म लेता और मरता रहता है। ऐसे ही बन्दर को पकड़ने वाले बहुत छोटे मुँह के बासन में धान की खीलें भर कर उसे मुँह तक धरती

में दबा देते हैं केवल उसका मुँह बाहर निकला हुआ नंगा रखते हैं। जब बन्दर उसमें हाथ डालता है तो खीलों को हाथ में भर कर मुट्ठी को बन्द कर लेता है तब वह न मुट्ठी को खोलता है और न उसका हाथ बाहर निकलता है जिससे इसी दशा में पकड़ लिया जाता है और फिर आयु पर्यन्त बन्दर-पालक के डण्डे खाता रहता है ॥

सो जैसे तोता और बन्दर चैतन्य रूप होकर जड़ वस्तुओं में फँस कर नहीं निकलते, ऐसे ही जीव अपनी अज्ञानता से माया या प्रकृति के गुणों में फंस कर बाहर निकल नहीं पाता, जिससे जन्म-मरण आदि नाना प्रकार के दुःखों और क्लेशों को बार-बार भोगता रहता है ॥

जड़ (माया) और चैतन्य (जीव) दोनों में गाँठ पड़ गई है सो वह यद्यपि झूठी है (अर्थात् सहज ही छूट सकती है) परन्तु अज्ञानता के कारण उसका छूटना बहुत कठिन हो गया है ॥

यह जीव जब से संसारी हुआ है अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन में फंसा है तब से यह जड़ चैतन्य की पड़ी हुई न तो कांठ निर्मुक्त हुई है और न यह सुखी हुआ है ॥]" ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

तमः+तु+अज्ञानजम्+विद्धि मोहनम्+सर्व-देहिनाम् । प्रमाद+आलस्य-निद्राभिः+तत्+निबध्नाति भारत ! ॥

तमः=(नपुं०)√तम्+असच्=तमस्+द्विती० ए० व०=तमोगुण को ।

तु=(अव्यय) परन्तु । और । भी । तो ।

अज्ञानजम्=(वि०) न ज्ञानम् अज्ञानम् (नञ् तत्पु०)। अज्ञानाद् जातम्=अज्ञानजम् । √ज्ञ+भावे ल्युट्=ज्ञान । √जन्+ड्=जन । (नपुं०) द्विती० ए० व०=अज्ञान से उत्पन्न हुए को । अज्ञान से उत्पन्न होने वाले को ।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) जान । (तू) समझ ।

मोहनम्=(पुं०)√मुह् (दिवा० पर० अक०=मूर्च्छित होना । मोहित होना)+घञ्+द्विती० ए० व०=मोहने वाले को । मोहित करने वाले को ।

सर्व-देहिनाम्=(पुं०) सर्वेषां देहिनाम् (षष्ठी० तत्पु०) । [देह+इनि=देहिन् (वि० पुं०)+षष्ठी० ब० व०] । सब देहधारियों के ।

प्रमाद+आलस्य-निद्राभिः=प्रमादः च आलस्यं च निद्रा च=प्रमादालस्य-निद्राः, ताभिः (इतरेतर द्वन्द्व०)=प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा ।

[प्रमाद=(पुं०) प्र√मद्+घञ् असावधानी । लापरवाही। मस्ती। पागलपन । इन्द्रियों और अन्तःकरण की व्यर्थ चेष्टा।

आलस्य=(वि०) अलस+ष्यञ् (स्वार्थे) अथवा आ√लस्+ष्यञ्= सुस्ती, काहली। कर्तव्य कर्म में अप्रवृत्ति रूप निरुद्यमता।

निद्रा=(स्त्री०)√निन्द् (भ्वा० पर० सक०=निन्दना)+रक, न लोप-टाप्=निद्रा+तृती० ब० व०=(इतरेतर द्वन्द्व समास में तीन शब्द होने से अन्तिम 'निद्रा' शब्द बहुवचनान्त है।)

निद्रा=शयन । सोना । नींद । जीव की वह अवस्था, जिसमें कर्मेन्द्रियां विषयों से हट जाती हैं। प्राणियों की वह अवस्था जिसमें संज्ञा-वहा नाड़ियों का काम रुक जाता है, आंखें बन्द हो जाती हैं। शरीर शिथिल पड़ जाता है और चेतना जाती रहती है।]

तत्=तद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=वह।

निबध्नाति=नि√बन्ध (क्र्या० पर० सक०=बांधना)+लट्०प्र० पु०, ए० व०=बांधता है।

भारत !=(पुं० संबो० ए० व०) हे भरत वंश में उत्पन्न हुए अर्जुन !

[यहाँ भगवान् ने अर्जुन को एक विशेष व्यंग्य से भारत कहा है - तात्पर्य यह है कि तू उसी भरत वंश में उत्पन्न हुआ है जिसमें रजोगुण और तमोगुण से भरपूर ये कौरव लोग उत्पन्न हुए हैं परन्तु तू तो कूड़े के ढेर पर उगे हुए सोसन के फूल के समान है ॥]

अर्थ—हे भरत वंश में उत्पन्न हुए अर्जुन! सब देह धारियों के मोहने वाले और अज्ञान से उत्पन्न होने वाले तमोगुण को भी (तू) जान। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा (इस देही या जीवात्मा) को बांधता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि भारत वंश में उत्पन्न होने वाले कई एक कौरव और उनके अनुयायी लोग इस तमोगुण के फन्दे में फंस चुके हैं। परन्तु तुझ पर इसका प्रभाव कभी नहीं हो सकता। इस तमोगुण का असली साम्राज्य तो रावणादि राक्षसों दैत्यों, वधिकों, चोरों, डाकुओं और हिंसकों पर ही विशेष रूप से होता है। तेरे जैसे सत्त्व गुणी पुरुषों पर नहीं। यह तमोगुण अज्ञान मूलक है। यह देहधारीमात्र को मोह में डालता है और यह जीवात्मा को असावधानी, आलस्य तथा निद्रा के पाश में बांधता है। यह तमोगुण मेघा-च्छादित आकाश वाली अमावस्या की गूढ तिमिरमयी काली रात के समान है जिसमें जीव को कुछ भी सूझता नहीं है। जिसके वशीभूत हुआ जीव ज्ञानान्धा हो जाता है। इसके कारण सब इन्दियों में जड़ता आ जाती है और उन पर जमूद और आलस्य का पूरा अधिकार हो जाता है। उसके सब अंग ऐंठने और अलसाने लगते हैं। कार्य-धन्धों की ओर से अरुचि होने लगती है। जंभाइयां

आने लगती हैं, आँखें उन्मीलित रहने पर भी दृष्टि निमीलित हो जाती है। जीव बुड़बुड़ाता है, खोटे भयानक स्वप्न देखता है। प्रमाद वश पागलों की तरह विचित्र चेष्टाएँ करता है। शराबी की भान्ति उसकी अवस्था मोहमयी होती है। तमोगुणी पुरुष के हृदय से उचित अनुचित का भेदभाव भी मिट जाता है। तमोगुण से अज्ञान उत्पन्न होता है और अज्ञान से तमोगुण पैदा होता है। इन दोनों में बीज और वृक्ष की भान्ति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अज्ञान बीज रूप है और तमोगुण उससे उत्पन्न हुआ वृक्ष रूप है और फिर उसी तमोगुण रूपी वृक्ष से अज्ञान रूपी बीज उत्पन्न होता है। इसलिए तमोगुण से अज्ञान की उत्पत्ति होती है और अज्ञान से तमोगुण की उत्पत्ति होती है। जैसे चुम्बक से बिजली की उत्पत्ति होती है और बिजली से चुम्बक-शक्ति उत्पन्न होती है॥

प्रमाद, आलस्य और निद्रा तीनों मिलकर जीवात्मा को मुक्ति पथ से भ्रष्ट कर देते हैं और जन्म-मरण के चक्र में फंसाए रखते हैं। यही तमोगुण का जीव को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बांधना है। नहीं तो यह जीवात्मा तो परब्रह्म परमात्मा का उसी तरह का प्रतिबिम्ब है। जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब निर्मल सरोवर के जल में दिखाई देता है। उस प्रतिबिम्ब को उसी तरह कोई गुण बांध नहीं सकता जिस प्रकार जल में रहने वाला कोई बड़े से बड़ा जल-जीव भी उस चन्द्र-बिम्ब को न पकड़ सकता है और न ही खा सकता है॥

इस तमोगुण के विषय में महात्मा विनोबा के विचार कुछ इस प्रकार हैं :—

तमोगुण का मुख्य प्रणाम "आलस्य" है इसी से फिर नींद और प्रमाद का जन्म होता है। इन तीनों को जीत लिया, तो फिर तमोगुण को ही जीत लिया समझो। इनमें से आलस्य तो बड़ी ही भयंकर है। अच्छे से अच्छे आदमी भी आलस्य के कारण बिगड़ जाते हैं। जब तक इस आलस्य को न पछाड़ा जाए, तब तक सब प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं। सच्ची नींद वह है जो गहरी और निःस्वप्न हो। मरने पर यम-यातना जो कुछ होती हो सो हो। परन्तु जिसे नींद अच्छी नहीं आती, दुःस्वप्न आते रहते हैं उसकी यातना का हाल मत पूछिए। वेद में ऋषि त्रस्त होकर कहते हैं—

"परा दुःस्वप्न्यं सुव।"

अर्थात् 'ऐसी दुष्ट नींद मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए।'

अंग्रेज कवि शेक्सपियर ने कहा है—

"राजा के सिर पर तो मुकुट है परन्तु सिर के भीतर चिन्ता है।" राजा को चिन्ता के कारण नींद नहीं आती। जागने के समय जो सोता है वह

सोने के समय जागता है। जो देर तक सोते ही रहते हैं, उनको नींद खा जाती है। यदि आधा जीवन नींद में ही चला जाए, तो हमें फिर क्या मिलने वाला है ?

जब बहुत सा समय नींद में ही चला जाता है तो फिर तमोगुण का तीसरा दोष "प्रमाद" अपने आप होने लगता है। निद्राशील मनुष्य का चित्त, दक्ष और सावधान नहीं रह सकता। उससे अनवधानता उत्पन्न होती है अधिक नींद से आलस्य बढ़ता है और आलस्य से विस्मृति उत्पन्न होती है। प्रमाद पर विजय पाने के लिए आलस्य और निद्रा को जीतना। इस रीति से तमोगुण पर विजय प्राप्त हो जाती है ॥ ८ ॥

सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

सत्त्वम्+सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ! । ज्ञानम्+आवृत्य तु तमः प्रमादे संजयति+उत ॥

सत्त्वम्=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व+प्र० ए० व०=सत्त्व गुण ।

सुखे=(नपुं०)√सुख्+अच्+सप्त० ए० व०=सुख में ।

[सुख=मन की वह उत्तम तथा प्रिय अनुभूति, जिसके द्वारा अनुभव कर्त्ता का विशेष समाधान और सन्तोष होता है और जिसके बराबर बने रहने की उसे सदा अभिलाषा बनी रहती है । आनन्द । हर्ष ।]

सञ्जयति=सम्√जि (भ्वा० पर० सक०=जीतना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =नियुक्त करता है । लगता है ।

रजः—(नपुं०)√रञ्ज्+असुन्=रजस्+प्र० ए० व०=रजोगुण ।

कर्मणि=(नपुं०)√कृ+मनिन्=कर्मन्+सप्त० ए० व०=कर्म में (लगता है) ।

भारत !=हे भारत वंश में उत्पन्न अर्जुन !

ज्ञानम्=(नपुं०) ज्ञान+द्विती० ए० व०=ज्ञान को ।

आवृत्य=आ√वृत्+ल्यप्=आच्छादित करके । ढक कर ।

तु=(अव्यय) परन्तु । तो ।

तमः=(नपुं०) (तम्+असुच्=तमस्+प्र० ए० व०=तमोगुण ।

प्रमादे=(पुं०) प्र√मद्+घञ्+सप्त० ए० व०=प्रमाद में ।

सञ्जयति=सम्√जि+लट्० प्र० पु०, ए० व०=संयुक्त करता है । लगता है ।

उत=(अव्यय)√उ+क्त=भी । फिर । और ।

अर्थ—हे भरत वंश में उत्पन्न हुए अर्जुन ! सत्त्व गुण सुख में तथा रजोगुण कर्म में संयुक्त करता है । परन्तु तमोगुण तो ज्ञान को ढक कर फिर प्रमाद से संयुक्त करता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे श्रेष्ठ भरत वंश में जन्म धारी अर्जुन! मेरे द्वारा किए जा रहे उपदेश को तू ध्यानपूर्वक सुन। जब सत्त्व गुण उत्कर्षता को प्राप्त होता है, तो अन्तःकरण में सुख का आविर्भाव होता है अर्थात् सत्त्व गुण दुःख के कारण को दबा कर इस पुरुष को सुख में जोड़ देता है। यह सत्त्व, गुण, प्रमाद, आलस्य और व्यर्थ की, हानिकारक निद्रा को हटा कर आत्म-चिन्तन या निजानन्द सुख से संयुक्त करता है और रजोगुण इस लोक और परलोक के फल देने वाले कर्मों में प्रवृत्त करता है तथा मन में नाना प्रकार के भोगों की इच्छा उत्पन्न कर देता है। स्त्रियों से प्यार, पुत्रों की लालसा. धन-धान्य की वृद्धि की अभिलाषा। सुन्दर वस्त्रों और वाहनों की चाह तथा प्रभुत्व और राज-काज में रुचि उत्पन्न कर देता है। इस रजोगुण की प्रबलता के समय में दिनों दिन इच्छाएं और वासनाएँ प्रबल से प्रबलतर होती जाती हैं। रजोगुणी पुरुष के लिए सारी धरती का आधिपत्य भी थोड़ा है। वह तो दूसरी नवीन भूमियां भी अपने अधिकार में लाना चाहता है। इस समय संसार भर में संयुक्त राज्य अमेरिका सब से बड़ा रजोगुणी देश माना जाता है।

तमोगुण तो सत्त्व गुण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को इसी प्रकार ढक लेता है जिस प्रकार घने नीले मेघ, प्रचण्डरश्मि सूर्य को ढक लेते हैं। उस समय मनुष्य की कर्तव्य-अकर्तव्यता का निर्णय करने वाली बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार पाकिस्तान के भूतपूर्व शासक याहिया खाँ की बुद्धि बंगला देश पर किए गये आक्रमण के समय नष्ट हो गई थी। जिससे उस ने अपनी सेना से ऐसे अत्याचार करवाए थे जिन को सुन कर मनुष्यता लज्जा से मुँह छिपा लेती है। यह नीच तमोगुण मनुष्य को प्रमाद से युक्त कर देता है। जो वस्तु जानी पहचानी है उस को न जानना प्रमाद है। इस श्लोक में "उत" शब्द का अर्थ 'भी' भी हो सकता है। इस से यहाँ आलस्य और निद्रा को भी ग्रहण करना चाहिए अर्थात् तमोगुण ज्ञान को ढक कर प्रमाद, आलस्य और निद्रा में संयुक्त कर देता है। जो कार्य अवश्य करने योग्य हैं उन का न करना आलस्य कहलाता है और दिन रात ऊँघते रहना अर्थात् लय नामा तामसी वृत्ति विशेष का नाम निद्रा है॥ ९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

रजः+तमः+च+अभिभूय सत्त्वम् भवति भारत। रजः सत्त्वम्+तमः+च+एव तमः सत्त्वम्+रजः+तथा॥

रजः=(नपुं०)√रञ्ज्+असुन्=रजस्+द्वितीं० ए० व०=रजोगुण को।
तमः=(नपुं०)=√तम्+असच्=तमस्+द्वितीं० ए० व०+तमोगुण को।
च=(अव्यय) और।

अभिभूय=अभि √भू+ल्यप्=दबाकर।
सत्त्वम्=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व+प्र० ए० व०=सत्त्व गुण।
भवति=√भू+लट्० प्र० पु०, ए० व०=होता है।
भारत!=(सम्बो० ए० व०) हे भरत वंश में उत्पन्न हुए अर्जुन!
रजः=(नपुं०) रजस्+प्र० ए० व०=रजोगुण।
सत्त्वम्=(नपुं०) सत्त्व+द्विती० ए० व०=सत्त्व गुण को।
तमः=(नपुं०) तमस्+द्विती० ए० व०=तमोगुण को।
च=(अव्यय) और।
एव=(अव्यय) ही। (ऐसे या वैसे) ही।
तमः=(नपुं०) तमस्+प्र० ए० व०=तमोगुण।
सत्त्वम्=(नपुं०) सत्त्व+द्विती० ए० व०=सत्त्व गुण को।
रजः=(नपुं०) रजस्+द्विती० ए० व०=रजोगुण को।
तथा=तद्+थाल=तथा। और॥

अर्थ—हे भरत वंश में उत्पन्न हुए अर्जुन! रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण को (दबा कर) रजोगुण तथा सत्त्व गुण और रजोगुण को (दबा कर) तमोगुण (प्रभावशाली) होता है॥ १०॥

व्याख्या—हे भारत! सत्त्व गुण इन तीन गुणों में अत्यन्त उत्तम और श्रेष्ठ होता है जिस समय किसी पुरुष के अन्तःकरण में सब प्रकार से उस का साम्राज्य होता है उस समय उस का शरीर इन्द्रियां और अन्तःकरण ब्रह्म प्रकाश से प्रकाशित हो जाते हैं उस समय उस की धारणा कुछ इस प्रकार की हो जाती—कि 'न कोई बैरी, न ही बेगाना, सकल-संग हम को बन आई।" उस पुरुष को अत्यन्त शान्ति और सुख का अनुभव होने लगता है और ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगती है तथा रजोगुण के कार्य लोभ. सकाम-कर्म-प्रवृत्ति और भोग-वासनादि का अन्त हो जाता है। साथ ही तमोगुण के कार्य निद्रा (सच्ची नींद का नहीं) आलस्य, प्रमाद, दम्भ, दर्प, क्रूरता और हिंसा वृत्ति का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी को रजो गुण और तमोगुण को दबा कर सत्त्वगुण का प्रभावशाली और वृद्धि-शील होना कहते हैं।

जब किसी के अन्तःकरण में सत्त्व गुण और तमोगुण फीके पड़ जाते हैं। उस समय शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरण में सकाम कर्मों में प्रवृत्ति, सर्व-इन्द्रियों के भोगों की वासना, प्रभुत्व और चौधर की कामना, लोभ, अहंकार और इच्छाओं की पूर्ति में बाधाओं से क्रोध और अशान्ति उत्पन्न हो जाते हैं। उस समय सत्त्व गुण के कार्य ज्ञान, सुख, शान्ति, समता, शुचिता और विवेक का ह्रास हो जाता है तमोगुण के कार्य निद्रा, आलस्य और प्रमाद भी दब जाते हैं।

इसी प्रकार जब शरीर इन्द्रियों और अन्तःकरण में तमोगुण की वृद्धि होती है। तब मनुष्य में मूढता, अज्ञानता, निद्राशीलता, आलस्य, दीनता, निर्दयता, शिथिलता, अशुचिता और प्रमादादि दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं वह अफ़ीम, भाँग, चरस, शाराब आदि मादक पदार्थों का सेवन और भक्षण करने लगता है जिस से बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। सत्व गुण उस के समीप से दुम दबा कर भाग जाता है उस के कार्य विवेक, ज्ञान और सुख आदि भी उस का अनुसरण कर जाते हैं। उस पुरुष में कर्मण्यता और साहस का अभाव हो जाने से रजोगुण भी क्षीण और हीन होकर अभाव की चर्म सीमा को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार सत्त्व गुण और रजोगुण इन दोनों को दबा कर तमोगुण प्रबल हो जाता है और वह ज्ञान आदि को आच्छादित करके शेष दोनों को परास्त कर देता है ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

सर्व-द्वारेषु देहे+अस्मिन्+प्रकाशः उपजायते । ज्ञानम्+यदा तदा विद्यात्+विवृद्धम्=सत्त्वम्+इति+उत ॥

सर्व-द्वारेषु=(नपुं०) सर्वेषु द्वारेषु (सप्त० ब० व०)=सब द्वारों में।

[द्वार्=(स्त्री०) √दृ+णिच्+विच् वा अक् शरीर के नौ बड़े छिद्र और अन्तःकरण तथा असंख्य रोम कूप।]

देहे=(नपुं० पुं०) देग्धि प्रति दिनं √दिह्+घञ्=देह+सप्त० ए० व०= देह में।

अस्मिन्=इदम् (सर्व०)+पुं०, नपुं०) सप्त० ए० व०=इस में।

प्रकाशः=(पुं०) प्र √काश्+अच्=प्रकाश+प्र० ए० व०=चेतना। अन्तः-करण या बुद्धि की वृत्ति। ज्ञान। प्रकाश। (ज्ञान रूपी) प्रकाश।

उपजायते उप√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=उत्पन्न होता है। उपजता है। प्रकट होता है।

ज्ञानम्=(नपुं०) √ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान+प्र० ए० व०=बोध, जानकारी, ज्ञान। आत्म साक्षात्कार।

यदा=(अव्यय) यस्मिन् काले, यद्+दा, जिस समय, जब, जहाँ।

तदा=(अव्यव) तस्मिन् काले, तद्+दा, उस समय, तब, वहाँ।

विद्यात्=√मिद् (अदा० पर० सक०=जानना)+विधि० प्र० पु०, ए० व० =जानना चाहिए।

विवृद्धम्=(वि०) वि √वृध् (भ्वा० आत्म० अक०=बढ़ना)+क्त=विवृद्ध+ (नपुं०) प्र० ए० व०=बढ़ा हुआ (है)।

सत्त्वम्=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व+प्र० ए० व०=सत्त्व गुण।

इति=(अव्यय) √इ+क्तिन्=इति, इस प्रकार। ऐसा।
उत=(अव्यय) √उ+क्त=कि।

अर्थ—जिस समय इस देह में (और इसके) सब द्वारों में प्रकाश (चेतना) और ज्ञान (बोध) उत्पन्न होता है, उस समय ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्व-गुण बढ़ा हुआ है ॥ ११ ॥

व्याख्या—इस जीवात्मा के सुख दुःख के भोगने का साधन केवल यह देह ही है और सब देहों में मनुष्य शरीर ही सर्वोत्तम है, क्योंकि इस मनुष्य शरीर द्वारा ही जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त होता है जैसा कि गोसाईं तुलसी दास जी ने कहा है—

बड़े भाग मानुष-तन पावा। सुर-दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधनधाम मोच्छ कर द्वारा। ... ...
नर-तनु भव-वारिधि कहं बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
नर-तन सम नहि कवनिउ देही। जीव चराचर जांचत जेही॥
सो तनुधरि हरि भजहिं न जे नर। होंहिं विषयरत, मंद-मंदतर॥

इस श्लोक में 'अस्मिन्' शब्द का प्रयोग करके भगवान् ने मनुष्य शरीर की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया है। इस देह में स्थित जो शब्दादि विषयों की उपलब्धि के साधन रूप श्रोत्रादि नव द्वार है एवं असंख्य रोमकूप हैं तथा बुद्धि और अन्तःकरण हैं। जब इन सब में चेतना, स्फूर्ति, निर्मलता, स्वच्छता, स्वस्थता और चमक उत्पन्न हो जाती है। तो इस देह के ये सब भाग सात्विक प्रकाश से भरपूर हो कर जगमगा उठते हैं इस प्रकाश का प्रभाव आस-पास की सब वस्तुओं और प्राणियों पर भी पड़ने लगता है। तब बुद्धि और अन्तः-करण में सोया हुआ ज्ञान जाग उठता है, अज्ञानान्धकार का पर्दा फट जाता हैं। तब इस प्रकाश में ज्ञान रूपी नेत्रों द्वारा जीवात्मा को असली स्वरूप दिखाई देने लगता है। जिस से मुक्ति का द्वार खुल जाता है। उस समय इस देह में सत्त्व गुण की वृद्धि हुई समझनी चाहिए। यह सत्त्व गुण भी माया से उत्पन्न हुआ ही होता है। परन्तु इस के प्रकाश में आत्मा का असली स्वरूप और मोक्ष का द्वार दोनों स्पष्टतया दिखाई देने लगते हैं। अब यह जीवात्म के भाग के वश की बात है कि वह चाहे तो इस प्रकाश का लाभ न उठाकर उसे व्यर्थ में गंवा दे, चाहे तो मोक्ष द्वार को खोल कर उसके भीतर प्रविष्ट जो जाए। सत्त्व गुण तो उस दीपक के तुल्य है जो मिट्टी का बना हुआ है और उसके भीतर स्नेह या तेल भरा हुआ है तथा सिर पर अग्नि की ज्वाला जल रही है। जिस में कालख भी है, दहन-शक्ति भी है और प्रकाश भी है। उस के ऊपर उलटी लटकती हुई चपणी तो कालख से भर जाती है। पतंगे पंखों के जल जान से भूमि पर गिर कर अधजले तड़पने लगते हैं और प्रकाश से लाभ उठाने वाले

लोग अपने सारे कार्य संवार लेते हैं। इसी प्रकार सत्त्व गुण को प्राप्त होकर भी मूर्ख लोग चपनी की तरह और काले या अभिमानी हो जाते हैं और कुछ अज्ञानी पतंगों की भान्ति अपना सर्व नाश भी कर लेते हैं परन्तु अधिक संख्या उन पुरुषों की होती है जो सत्त्व गुण के प्रकाश से लाभ पा कर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

लोभः प्रवृत्तिः+आरम्भः कर्मणाम्+अशमः स्पृहा । रजसि+एतानि जायन्ते विवृद्धे भरत+ऋषभ ! ॥

लोभः=(पुं०)√लुभ् (दिवा० पर० सक०=लोभ करना)+घञ्+प्र० ए० व०=लालच । लोभ । दूसरे के पदार्थ को ग्रहण करने की उत्कट अभिलाषा, और संचित धन का समुचित समय पर भी त्याग न करना ।

प्रवृत्तिः=(स्त्री०)√वृत्+क्तिन+प्र० ए० व०=लग्न । झुकाव । अविच्छिन्न काम करना। दिन रात धन्धे में लगे रहना । सातत्य । सांसारिक विषयों में निरन्तर अनुरक्ति । नाना प्रकार के कर्म करने के लिये मानसिक भावों का जागृत होना ।

आरम्भः=(पुं०) आ√रभ्+घञ् मुम च=आरम्भ+प्र० ए० व०= आरम्भः=शुरू करना । सकाम भाव से प्रारम्भ करना ।

कर्मणाम्=(नपुं०)√कृ+मनिन्=कर्मन्+षष्ठी० ब० व०=कर्मों का ।

अशमः=(पुं०) न शमः (नञ् तत्पु०) । √शम् (दिवा० पर० अक०=शान्त होना)+घञ्=शम+प्र० ए० व०=शमः । अशमः=अशान्ति । चंचलता । बेचैनी । भटकन । मन की अस्थिरता ।

स्पृहा=(स्त्री०)√स्पृह् (चुरा० उभ० सक०=इच्छा करना)+अ+टाप्+प्र० ए० व०=सांसारिक भोगों को अपने लिये आवश्यक मानना । धर्मानुकूल पदार्थों की प्राप्ति की कामना ।

रजसि=(नपुं०)√रञ्ज्+असुन्=रजस्+सप्त० ए० व०=रजो गुण में ।

एतानि=(सर्व०) एतद्+(नपुं०) प्र० व० ब०=ये सब ।

जायन्ते=√जन्+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=उत्पन्न होते हैं ।

विवृद्धे=(वि०) वि√वृध् (भ्वा० आत्म० अक०=बढ़ना)+क्त+(नपुं०) सप्त० ए० व०=बढ़ने पर ।

भरत+ऋषभ !=हे भरतानां ऋषभ (श्रेष्ठ) ! (बहुव्री०) हे भरत वंश में श्रेष्ठ अर्जुन ! ॥

अर्थ—हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! लोभ, प्रवृत्ति, (नाना प्रकार

के) कर्मों का आरम्भ अशान्ति और स्पृहा (विषयों और भोगों की वासना) (ये सब) रजोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू भरत वंश में श्रेष्ठ है इसलिये दूसरों की भान्ति तुझ पर रजोगुण का प्रभाव नहीं हो सकता फिर भी तू रजो गुण के लक्षण को मुझ से भली भान्ति सुन—

लोभ अर्थात् दूसरों के पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छा करना, अपने पास सब कुछ होने पर भी दूसरों के धन धान्य को स्वीकार कर लेना, भोजन से पेट भरा होने पर भी दूसरों के घर में खाने के लिये बैठ जाना। भर्तृहरि की तरह त्यागी होने पर भी लाल समझ कर पान की पीक से रक्त हुए थूक को रात को राह चलते उठाना, एक ही समय में दक्षिणा के लोभ से कई घरों में न्योता या निमन्त्रण स्वीकार करना। शरीर को नग्न और जटाधारी रखते हुए भी धन को एकत्रित करना तथा संचित धन का समुचित समय पर भी त्याग न करना इत्यादि अनेक कार्य लोभ की श्रेणी में गिने जाते हैं, प्रवृत्ति अर्थात् ईश्वर के पूजन अर्चन ज्ञान, ध्यान, खाने, पीने परिवार का रक्षण, समय पर सोने आदि समुचित, योग्य, स्वास्थ्य वर्धक और मोक्ष प्राप्ति का चिन्तन आदि सब कुछ छोड़ कर लौकिक सकाम कर्मों में आठों पहर जुटे रहना। इस प्रवृत्ति (लग्न या झुकाव) के बढ़ जाने पर मनुष्य उस लोहे की मशीन की तरह बन जाता है जिस में सोचने की शक्ति और बुद्धि क्षीण हो जाती है। और फिर मनुष्य अपने आराम, सुख और भावी छुटकारे की ओर कोई ध्यान नहीं देता, तब उस की वृत्ति गधे जैसी होती है। गधे और प्रवृत्तिशील पुरुष में केवल एक ही अन्तर यह होता है कि गधा तो दूसरे की ताड़ना तथा मार से डरता हुआ भार ढोता है। परन्तु प्रवृत्तिशील लालची पुरुष स्वेच्छा से बिना दम लिये समय कुसमय का विचार न करता हुआ काम करता है।

आरम्भ—अर्थात् एक काम अभी समाप्त नहीं होता कि पुरुष अन्य नाना प्रकार के काम धन्धे अनेक स्थानों पर करने या करवाने आरम्भ कर देता है जिस से कोई कार्य भी पूरी तरह सम्पूर्ण नहीं होता जिस से मन की चंचलता और बेचैनी बढ़ती है। मन की स्थिरता न होने से अन्तःकरण में परमात्मा का स्वरूप इस प्रकार दिखाई नहीं देता जिस प्रकार अत्यन्त हिलते हुए जल में अपने मुख का प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता है।

अशान्ति—अन्तःकरण की व्याकुलता, बिना कारण सोचते रहना, बिना कारण सदा सब किसी से डरते रहना, सब के साथ झगड़ा करना अपने-पराये सब को गाली देना खीझते रहना, चिड़चिड़ापन, सपने को सदा रोगी, दुःखी और निर्धन समझना दूसरों की उन्नति और प्रगति को सहार न सकना,

किसी कार्य को करने में मन का न लगना, समय पर कोई भी निश्चय कर सकने में असमर्थ होना इत्यादि। ये सब लक्षण पुरुष के भीतर बाहर होने वाली अशान्ति को प्रकट करते हैं।

स्पृहा—सब प्रकार की इच्छा का नाम स्पृहा है। झोंपड़ी में रहकर भी राजभवनों में रहने के स्वप्न देखना, निर्धन होने पर भी मोटरों, विमानों और हाथियों पर चढ़ने की इच्छा करना, कुरूप होने पर भी राजकुमारी के साथ विवाह करवाने की आशा रखना इत्यादि अनेक ऐसी इच्छाएँ करना जो शायद कभी पूरी न हो सकें इस स्पृहा के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार अधिक कहने से क्या है भरत श्रेष्ठ? जब मानव शरीर में रजोगुण की प्रवृद्धि होती है तब उस में लोभ, प्रवृत्ति, नाना प्रकार के कर्मों का आरम्भ अशान्ति और स्पृहा उत्पन्न हो जाते हैं॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥

अप्रकाशः+अप्रवृत्तिः+च प्रमादः+मोहः+एव च। तमसि+एतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन!॥

अप्रकाशः=(पुं०) न प्रकाशः (नञ् तत्पु०)√काश्+अच्+प्र० ए० व०= अन्धकार। मुरदनी छा जाना। शरीर की कान्ति का नाश। अज्ञानान्धकार। शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरण तीनों का अन्धकार।

अप्रवृत्ति=(स्त्री०) न प्रवृत्ति (नञ् तत्पु०) कर्मों के करने में अरुचि।

च=(अव्यय) और।

प्रमादः=(पुं०) प्र√मद्+घञ्+प्र० ए० व०=असावधानी। लापरवाही। मस्ती। पागलपन। भूल। व्यसनों में लीनता।

मोहः=(पुं०)√मुह्+घञ्+प्र० ए० व०=भ्रम। भ्रान्ति। परेशानी। अज्ञान। मूर्खता बेहोशी। ममता। निद्रा। मूर्खों जैसा प्यार। नाशवान् प्यार।

एव=(अव्यय) ही। ऐसे ही।

च=(अव्यय) और।

तमसि=(नपुं०) तमस्+सप्त० ए० व०=तमोगुण में।

एतानि=एतद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ब० व०=ये सब।

जायन्ते=√जन्+लट्० प्र० पु० ब० व०=उत्पन्न होते हैं।

विवृद्धे=(वि०) वि√वृध्+क्त+सप्त० ए० व०=बढ़ने पर।

कुरुनन्दन!=(वि० सम्बो० ए० व०) हे कुरु वंश की वृद्धि करने वाले!। हे कुरु वंश को आनन्द देने वाले!। हे श्रेष्ठ कुरुवंश में उत्पन्न हुए अर्जुन!॥

अर्थ—हे कुरु नन्दन ! अप्रकाश (कान्ति रहितता, अन्धकार, अज्ञान), अप्रवृत्ति (सब प्रकार के कर्मों के करने में अरुचि), प्रमाद (लापरवाही, असावधानी, व्यसनों में रति) और ऐसे ही मोह (ममता, झूठा प्यार, प्रिय वस्तु के नाश को अपना मरण समझना) ये सब तमोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—हे कुरुवंश की वृद्धि करने वाले अर्जुन ! तुम कुरुवंश में सर्व श्रेष्ठ और आनन्द प्रदाता हो। तमोगुण तुम्हारे पास कदापि फटक नहीं सकता क्योंकि यह गुण तो दैत्यों, राक्षसों और आलस्य प्रिय लोगों में अधिक होता है जो अपने भीतर बाहर की शुद्धता से लापरवाह होते हैं। भक्ष्य, अभक्ष्य, गले सड़े तथा सब प्रकार के घृणित पदार्थ खा लेते हैं। वस्त्र गले सड़े पहनते हैं जिन से दुर्गन्धि के फव्वारे छूटते रहते हैं। न उन के चेहरे चमकदार या प्रकाशमान् होते हैं, न उन के रूप में निखार होता है यह सब दुर्गुण प्रभु-चिन्तन और सत्त्व गुण में न विचरने से ही उत्पन्न होते हैं। उन के अन्तःकरणों में भी अज्ञानान्धकार छाया रहता है जिस से उन्हें भूल कर भी आत्म साक्षात्कार नहीं होता है। हट्टे कट्टे शरीर वाले होकर भी कोई कर्म करना अच्छा नहीं समझते सदा दूसरों के दान और भिक्षा पर ही निर्भर रहते हैं। हाथ पाँव हिलाना तो मानो पाप ही समझते हैं। यज्ञादि कर्म करने की बाबत तो वे भूल कर भी सोचते नहीं हैं। सदा भांग, चरस, मद्य, हतीश, अफ़ीम पोस्त आदि मादक वस्तुओं के सेवन में रुचि रखते हैं। जिस से सदा ऊँघते रहते हैं और सोये हुए की तरह बुड़बुड़ाया करते हैं। पागलों जैसे बने रहते हैं। बुद्धिमत्ता की कभी कोई बात ही नहीं करते, सदा मोह-माया में फँसे रहते हैं। जब कोई प्रिय वस्तु या प्रिय जीव नष्ट हो जाता है तो अपना ही मरण मानते हैं। छाती पीटते हैं। सिर पर दोहत्थड़ मारते हैं, दीवारों से सिर टकराते हैं। मृतकों पर बेहोश होकर गिरते हैं। चीखते हैं चिल्लाते हैं और हाय-हाय कहते हुए सिर पर आकाश उठाते हैं। ये उपरोक्त सब चिन्ह उन लोगों में ही पाये जाते हैं जिन में तमोगुण की अधिकता होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! जब (किसी में) तमोगुण की वृद्धि होती है तब उस में अप्रकाश अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धेतु तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयम्+याति देहभृत् । तदा+उत्तम-विदान्+लोकान्+अमलान्+प्रतिपद्यते ॥

यदा=(अव्यय) यस्मिन् काले, यद्+दा=जिस समय । जब ।

सत्त्वे=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व+सप्त०=सत्त्व गुण में। सत्त्व गुण के।
प्रवृद्धे=(वि०) वि√वृध्+क्त+सप्त० ए० व०=बढ़ने पर।
तु=(अव्यय)√तुद्+डु=तो, तब, परन्तु, फिर।
प्रलयम्=(पुं०) प्रलीयते अस्मिन्, प्र√ली+अच्+द्विती० ए० व०=नाश को। मृत्यु को।
याति=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= जाता है। प्राप्त होता है।
देह-भृत्=(पुं०) देहं बिभर्ति (बहुव्री०) जो देह को पुष्ट करता है। जो देह को धारण करता है। √भृ+क्विप् (प्र० ए० व०)=जीवात्मा।
तदा=(अव्यय) तस्मिन् काले, तद्+दा=उस समय। तब।
उत्तम-विदाम्=[उत्तम (वि० पुं) उद्+तमप्=सर्वोत्कृष्ट। विष्णु। महत् तत्त्व आदि। विदान्=विद् (अदा० पर० सक०=जानना। दिवा० आत्म० अक० =होना, तुदा० उभ० सक०=पाना, रुधा० आत्म० सक०=विचार करना। चुरा० आत्म० सक०=कहना। चुरा० आत्म० अक०=सचेत होना, निवास करना। क्विप्=विद्+षठी० ब० व०=विदाम्] उत्तमं वेत्ति यः सः (बहुव्री०)=जो उत्तम को जानता है=वह "उत्तमवद्"। उत्तम (महत् तत्त्व या विष्णु) को जानने वालों के। सर्वोत्कृष्ट होने वालों के विष्णु के पाने वालों के। सर्वोत्कृष्ट (परब्रह्म) को विचार करने वालों के। सर्वोत्कृष्ट के कथन करने वालों के। उत्तम कर्म करने वालों के। उत्तम में निवास करने वालों के।
[इस प्रकार 'उत्तम' और "√विद्" के जितने भी अर्थ हैं वे सब इस श्लोक में ठीक लग सकते हैं।]
लोकान्=(पुं०)√लोक्+घञ्=द्विती० ब० व०=लोकों को।
अमलान्=(वि० पुं०) नञ् बहुव्री०। अमल+द्विती० ब० व०=मैल-हीनों को। निर्मलों को। दिव्यों को। स्वर्गादियों को।
प्रतिपद्यते=प्रति√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=जाना। प्राप्त होना)+ लट्=प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।

अर्थ—जब देहधारी (जीवात्मा) सत्त्व गुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होता है। तब फिर उत्तमवदों के दिव्य (स्वर्गादि) लोकों को प्राप्त होता है॥ १४॥

व्याख्या—कोई मनुष्य आजीवन बहुधा सत्त्व गुण से युक्त रहता है और शुभ कर्म करता है। अन्य कोई जीव जीवन भर रजोगुण से युक्त रहता है जिस से वह उस गुण के अनुरूप ही कर्म करता है। अन्य कोई जीव सारा जीवन तमोगुण में लीन होकर ही व्यतीत कर देता है। परन्तु इन तीनों प्रकार के देहधारियों में मृत्यु होने के समय जिस देहधारी या जीवात्मा में सत्त्व गुण बढ़ा

हुआ होता है अर्थात् उस की देह के सब द्वारों में प्रकाश उत्पन्न हो जाता है तथा ज्ञान द्वारा परमात्मा का आभास हो जाता है, और अन्तःकरण विषय वासनाओं से रहित हो फर स्वच्छ शान्त और निर्मल हो जाता है, तो उसको या तो सर्वोत्कृष्ट-विष्णु का लोक प्राप्त होता है या वह प्रभु भक्तों को मिलने वाले लोकों में गमन करता है अथवा उत्तम कर्म करने वाले लोगों को प्राप्त होने वाले इन्द्रादि देवताओं के लोकों को जाता है। इसी से सत्त्व गुण में प्रवृत्ति करने के हेतु ही मरण काल में प्राणी को गीता सुनाने की प्रथा प्रचलित है। ईश्वर की कृपा से कई बार मरण काल में पापी पुरुष भी सत्त्व गुण को धारण कर लेते हैं। ऐसा तो सम्भवतः किसी काल में ही होती है। बहुधा तो जीवन भर का अभ्यास ही मरण काल का सहायक होता है। यह अभ्यास सत्त्व गुण सम्बन्धि हुआ तो तार देता है अन्यथा शेष दो गुणों वाला होने पर डुबो देता है अर्थात् अधम योनियों में डाल देता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजसि प्रलयम्+गत्वा कर्म-सङ्गिषु जायते। तथा प्रलीनः+तमसि मूढ-योनिषु जायते ॥

रजसि=(नपुं०) √रञ्ज्+असुन्=रजस् सप्त० ए० व०=रजोगुण में।

प्रलयम्=(पुं०) प्रलीयते अस्मिन्, प्र√ली+अच्+द्विती० ए० व०=प्रलय को। नाश को। मृत्यु को।

गत्वा=√गम्+क्त्वा=जाकर। प्राप्त होकर।

कर्म-सङ्गिषु (मनुष्येषु लोकेषु वा)=कर्मणां सङ्गिषु=कर्मों के सङ्गियों में। कर्म करने वाले मनुष्यों वा लोकों में [√सञ्ज्+घिनुण्=सङ्गिन्+सप्त० ब० व०=सम्पर्क में आने वालों में। आसक्ति वालों में]।

जायते=√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=उत्पन्न होता है।

तथा=तद्+थाल्=तथा (अव्यय) और वैसी ही।

प्रलीनः=(पुं०) प्र√ली+क्त+प्र० ए० व०=भली भान्ति लीन हुआ। मरा हुआ।

तमसि=(नपुं०) तमस्+सप्त ए० व०=तमोगुण में।

मूढ-योनिषु=(पुं० स्त्री०)√यु+नि=योनि+सप्त० ब० व०=योनिषु। मूढानां योनिषु (षष्ठी० तत्पु०)=मूर्च्छितों की योनियों में। मूर्खों की योनियों में पशुपक्षियों की योनियों में।

जायते=√जन्+लट्० प्र० पु० ए० व०=उत्पन्न होता है ॥

अर्थ—(बढ़े हुए) रजो-गुण में मृत्यु को प्राप्त हो कर (देह-भृत) कर्म-सङ्गियों के लोकों अथवा कर्मतङ्गी पुरुषों या कुलों में उत्पन्न होता है तथा तमो-गुण में अच्छी तरह से लीन हुआ (मृत्यु को प्राप्त हुआ देह-भृत) मूढ़-योणियों (महामूर्ख जीवों किंवा मूर्च्छित वनस्पतियों अथवा कीट पतङ्ग या पशु-पक्षियों की योनियों) में उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जिस जीव को मरण काल में भी लोभ घेरे रहता है और सांसारिक चेष्टाओं में चित्त रमा रहता है। सब प्रकार के कर्मों के आरम्भ की ही चिन्ता बनी रहती है तथा स्पृहा की प्रबलता होती है, वह पुरुष रजोगुण से ओत.प्रोत और घिरा हुआ होता है। जब वह इसी अवस्था में मरता है तो उस का पुनर्जन्म पृथिवी आदि उन लोकों में होता है जिन में कर्म की प्रधानता है तथा उन वंशों में जन्म होता है जिन में सब लोग कृषि, शिल्प, वाणिज्यादि कर्म अधिक करते हैं। जब मरण काल में जीव पर आलस्य का अधिक प्रभाव होता है। शरीर इन्द्रियों और अन्तः करण की चमक दमक और कान्तिहीन, क्षीण, मलीन और नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। किसी काम के करने या कराने की कोई रूचि शेष नहीं रहती है। मोह माया की प्रबलता होती है। तथा मरने वाला प्रमाद वश हुआ अण्ट शण्ट बोलता और बुड़बुड़ाता है उस समय उस देहभृत के भीतर बाहर तमोंगुण प्रचुर यात्रा में छाया हुआ होता है इस तमो-गुण के प्रभाव से वह जीवात्मा बेल, वृक्ष तथा अन्य वनस्पति की योनि को धारण करता है ये सब योनियाँ मूढ़ या मूर्च्छित योनियाँ कहलाती हैं क्योंकि इन में सुख दुःख का अनुभव ठीक इसी तरह से नहीं होता, जिस प्रकार किसी मूर्च्छित व्यक्ति तथा क्लोरोफारम सुँघाए हुए जीव को नहीं होता। जब ये लता, वृक्षादि वनस्पतियां किसी भी दुःख सुख आदि का अनुभव ही नहीं करतीं तो इन को खाने से पाप भी नहीं लगता परन्तु जब किसी पक्षी पर छुरी चलाई जाती है, तो वह तड़पता है, दीन बन कर विलाता और बोलता है। इसी से इन पशु पक्षियों को खाना पाप है। और इन पशु पक्षुओं को भक्षण करने वाले मांसाहारी, तामसी लोग इन षशु-पक्षी रूप मूढ (विचार या ज्ञानहीन) योनियों में ही जन्म लेते हैं ताकि अपने पाप कर्म का फल भुक्त सकें ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

कर्मणः सुकृतस्य+आहुः सात्त्विकम्+निर्मलम्+फलम् । रजसः+तु फलम्+दुःखम्+अज्ञानम्+तमसः फलम् ॥

कर्मणः=(नपुं०) √कृ+मनिन्=कर्मन्+षठी० ए० व०=कर्म का।

सुकृतस्य=(नपुं०) सु√कृ+क्त=सुकृत+षठी० ए० व०=सुकृत का। पुण्य का। धर्मयुक्त का। शुभ का। अच्छे का। सत्त्व गुण का।

आहुः=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लट्० प्र० पुं०, ब० व० (विकल्पिक रूप) कहते हैं ॥
सात्त्विक=(वि०) सत्त्व+ठक् सात्त्विक+(नपुं०) प्र० ए० व०=सत्त्वगुण सम्भूत। सत्त्व गुण सम्पन्न।
निर्मलम्=(वि०) निर्+मल+(नपुं०) प्र० ए० व० (निर्गतः मलात्)=मल से निकला हुआ। रज तम आदि मल से रहित। अशुद्धि सेरहित। स्वच्छ।
फलम्=(नपुं०) √फल्+अच्=फल+प्र० ए० व०=परिणाम। कर्म से प्राप्त होने वाला भोग। फल।
रजसः=(नपुं०) रजस्+षष्ठी० ए० व०=रजोगुण का।
तु=(अव्यय) और। तो। परन्तु।
फलम्=(नपुं०) फल+प्र० ए० व०=फल परिणाम।
दुःखम्=(नपुं०) √दुःख्+अच् वा घञ्=दुःख+प्र० ए० व०=कष्ट। क्लेश। तकलीफ़ पुनर्जन्म। व्याधि। रोग। दुःख।
अज्ञानम्=(नपुं०) न ज्ञानम् (नञ् तत्पु०, प्र० ए० व०)=ज्ञान का अभाव। अविद्या।
तमसः=(नपुं०) तमस्+षष्ठी० ए० व०=तमोगुण का।
फलम्=(नपुं०) प्र० ए० व०=परिणाम। फल ॥

अर्थ—सुकृत (सत्त्व गुण) के कर्म का फल तो सात्त्विक (सुख, ज्ञान तथा वैराग्य आदि) निर्मल (होता है) और रजोगुण का फल दुःख (होता है) तथा तमोगुण का फल अज्ञान होता है। (ऐसा बुद्धिमान् लोग) कहते हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या—सुकृत का अर्थ "अच्छा किया हुआ" होता है। इस श्लोक में यह विशेषण शब्द 'कर्मणः' विशेष्य के साथ आया है। जिस का अर्थ मिल कर होता है—"अच्छे किए हुए कर्मों का" परन्तु श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'रजसः' और 'तमसः' दोनों पद सत्त्वस्य के साथी हैं। इस लिये लक्षणा से यहाँ प्रायः सब टीकाकारों ने 'सुकृत' का अर्थ सत्त्व गुण किया है जो युक्ति युक्त और ठीक है। सत्त्व गुण के कर्म, उन कर्मों का नाम है; जो शास्त्र विहित कर्त्तव्य कर्म होते हैं और निष्काम भाव से किए जाते हैं—जैसा कि भगवान् ने स्वयं कहा है—

"नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥" (गी० १८। २३ ॥)

अर्थात् "जो नियत कर्म (श्रुति, स्मृति रूप शास्त्र विहित नित्य कर्म तथा अपने वर्णाश्रम के अनुसार उचित और अवश्य कर्त्तव्य कर्म) आसक्ति से रहित बिना राग-द्वेष के और फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है। वह कर्म सात्त्विक कहलाता है ॥"

सात्त्विक कर्म का फल, सुख, ज्ञान तथा वैराग्य प्रदाता है तथा निर्मल होता है तथा मरण के अनन्तर दुःख-दोषों से रहित दिव्य प्रकाशमय लोकों की प्राप्ति करवाता है और—

"यत्तु कामेसुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥" (गी० १८ । २४)

अर्थात् परन्तु जो कर्म फल-कामना वाले से अहंकार के साथ और बहुत परिश्रम से किया जाता है वह राजस् कहलाता है ।

रजोगुण का फल दुःख होता हैं क्योंकि रजोगुणी पुरुष को कर्मसङ्गी पुरुषों या लोकों में जन्म धारण करना पड़ता है । जहां कभी मज़दूरी करनी पड़ती है, कभी गधा बन कर भार ढोना होता है, कभी बैल या भैंसा बन कर छकड़े का जूआ ग्रीवा पर धारण करना पड़ता है । जन्म जन्मान्तर में बार-बार रजोगुण के संस्कार अन्तःकरण में प्रभुता की भावना, भोग-वासना, अनेक प्रकार की कामना, लोभ, लालच और प्रवृत्ति आदि के विचार उत्पन्न करते रहते हैं और कर्मों की वासनाओं का फल भोगने के लिये बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है । जिस में जन्म, मरण, जरा, व्याधि चार महा दुःखों का अनुभव करना होता है । इसी से रजोगुण का फल दुःख कहा गया है ॥

तथा—

"अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥" (गी० १८ । २५ ॥)

अर्थात्—अनुबन्ध (मूर्खता का कर्म), क्षय (अपने द्वारा अपना नाश), हिंसा (दूसरों का नाश) और अपने पौरुष की अपेक्षा (परवाह) न करके मोहवश जो कर्म आरम्भ किया जाता है वह तामस कहलाता है । तामस कर्मों के संस्कार से अन्तःकरण में मोह बढ़ता है । जिस का दूसरा नाम अज्ञानता है जिस के फलस्वरूप कीट, पतंग, लता, वृक्षादि की योनियां प्राप्त होती हैं जिस से फिर कल्प पर्यन्त मोक्ष प्राप्ति का स्वअवसर प्राप्त ही नहीं होता, महापुरुष और महर्षि लोग कहते हैं कि सुख, दुःख और अज्ञान के कारण क्रमशः प्रकृति जनित ये तीनों गुण ही होते हैं । जो अपने संस्कार, जीव के अन्तःकरण में संचित करते रहते हैं और उन संस्कारों के वशीभूत हुए जीवात्मा का जन्म स्वर्ग, पृथिवी और अधमाधम योनियों में क्रमानुसार होता है ॥ १६ ॥

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वात्+सञ्जायते ज्ञानम्+रजसः+लोभः+एव च । प्रमाद-मोहौ तमसः+भवतः+अज्ञानम्+एव च ॥

सत्त्वात्=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व+पंच० ए० व=सत्त्वगुण से ।

सञ्जायते=सम् √जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=उत्पन्न होता है।

ज्ञानम्=(नपुं०) √ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान+प्र० ए० व०=बोध। जानकारी। ज्ञान।

रजसः=(नपुं०) रजस्+पंच० ए० व०=रजोगुण से।

लोभः=(पुं०) √लुभ् (दिवा० पर० सक०=लोभ करना)+घञ्=लोभ+प्र० ए० व०=लोभः=लालच। लोभ। स्वयं धनी होने पर भी दूसरे का धन लेने की इच्छा करना।

एव=(अव्यय) ही। निःसन्देह।

च=(अव्यय) और।

प्रमाद-मोहौ=(पुं०, प्र० द्वि० व०) प्रमादः च मोहः च (इतरेतर द्वन्द्व०)=प्रमाद व मोह।

[प्रमाद=(पुं०) प्र √मद्+घञ्=असावधानी, लापरवाही, मस्ती, पागलपन। व्यसनों में लीनता।

मोह=(पुं०) √मुह्+घञ्=मोह माया। ममता।

तमसः=(नपुं०) तमस्+पंच० ए० व०=तमोगुण से।

भवतः=√भू+लट्० प्र० पु०, द्वि० व०=होते हैं।

अज्ञानम्=(नपुं० प्र० ए० व०) न ज्ञानम् (नञ् तत्पु०)=अज्ञान।

एव=(अव्यय) ही। भी।

च=(अव्यय) और॥

अर्थ—(उत्कर्ष को प्राप्त हुए) सत्त्व गुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से लोभ ही तथा तमोगुण से प्रमाद व मोह (उत्पन्न होते हैं) और अज्ञान भी (होता है)॥ १७॥

व्याख्या—जब किसी व्यक्ति में सत्त्व गुण की वृद्धि हो जाती है तो उस में ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान से सुख और शान्ति मिलती है। अधिक अभ्यास बढ़ जाने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

रजो गुण के बढ़ जाने से लोभ की उत्पत्ति होती है। लोभ से ही सकाम कर्म करने में प्रवृत्ति होती है अर्थात् प्राणी गतिशील बनता है। फिर आसक्ति का जन्म होता है। इसी प्रकार कामना और कर्मादि राजस भावों की वृद्धि हो जाती है। प्रमाद, मोह और अज्ञान की उत्पत्ति तमोगुण से होती है जिन के कारण जीव का नरक में निवास होता है। इस प्रकार प्रकाश (ज्ञान) प्रवृत्ति (गति) और मोह (अज्ञान) क्रम से बढ़े हुए रजस् और तमस् के परिणाम या चिह्न होते हैं॥ १७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणप्रवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

ऊर्ध्वम्+गच्छन्ति सत्त्व-स्थाः+मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जघन्य-गुण-प्रवृत्तिस्थाः+अधः+गच्छन्ति तामसाः ॥

उर्ध्वम्=(नपुं०) उद् √हा+उ पृषो० ऊर् आदेश=ऊर्ध्वं+द्विती० ए० व०=ऊपर को। ऊँचाई को। उच्च स्थान को। देव लोक या स्वर्गादि उच्च लोकों को।

गच्छन्ति=√गम्+लट्० प्र० पु०, ब० व०=जाते हैं।

सत्त्व-स्थाः=(पुं०, वि०) सत्त्व+√स्था+क=सत्त्व+स्थ+प्र० ब० =सत्त्व गुण में स्थिति वाले। सत्त्व गुण में स्थित हुए (पुरुष)।

मध्ये=(पुं०, नपुं०) √मन्+यक्, नि० ह्रस्व धः=मध्य+सप्त० ए० व०= मध्य में। बीच में। मनुष्य योनि में।

[प्रायः मनुष्य योनि ही शरीरों के मध्य में होती है अथवा मनुष्य ही देवता और पशु-पक्षी तथा कीट-पतंादि का मध्यवर्ती होता है अथवा मनुष्य लोक ही आकाश और पाताल के लोकों का मध्यवर्ती लोक है।]

तिष्ठन्ति=√स्था+लट्० प्र० पु०, ब० व०=ठहरते हैं। रहते हैं। बैठते हैं। जन्म लेते हैं।

राजसाः=(पुं०) रजस्+अण्=राजस+प्र० ए० व०=रजोगुण में स्थित लोग।

जघन्य-गुण-वृत्ति-स्थाः=(पुं०) जघन्यः (निन्दनीयः) च असौ गुणः च= जघन्य-गुणः (तमो गुणः) तस्य वृत्तं निद्रालस्यादि) तस्मिन् स्थिताः= जघन्य-गुण-वृत्त-स्थाः (=मूढाः)=जघन्य गुण (=तमो-गुण) के आचरणों में स्थित हुए। तमोगुण के कार्य, प्रमाद, निद्रा और आलस्य आदि में स्थित हुए। [जघन+यत्=जघन्य=निन्दनीय]।

अधः=(अव्यय) अधर+असि=अधस्=नीचे। पाताल में। नरक में। पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि योनियों में। नीच योनियों में।

गच्छन्ति=√गम्+लट्० प्र० पु०, ब० व०=जाते हैं। प्राप्त होते हैं।

तामसाः=(पुं०) तमस्+ण या अण्=तामस+प्र० ब० व०=तमोगुणी लोग।

अर्थ—सत्त्व गुणों में स्थित हुए (पुरुष) ऊपर (देव लोकों) को जाते हैं, (रजोगुण में स्थित हुए) राजस लोग मध्य (मनुष्य लोक) में ठहरते (जन्म लेते) हैं। (और) जघन्य गुण (निन्दनीय गुण - तमोगुण) के आचरणों (प्रमाद, आलस्य और निद्रा आदि) में स्थित हुए तामस लोग अधोगति (पशु-पक्षी, कीट पतंगादि निकृष्ट योनियों) को प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या—महाभारत के अश्वमेध पर्व में ३९वें अध्याय का दसवां श्लोक भी इस श्लोक से मिलता-जुलता है। मनुस्मृति १२।४०॥ में भी ऐसा ही वर्णित है।

"जघन-गुणावृत्ति-स्थाः" में जो "वृत्ति" शब्द आया है उसका सम्बन्ध पूर्व कथित "सत्त्व" और 'राजसाः' से भी समझना चाहिए। इससे अर्थ इस प्रकार होगा—

सत्त्व गुण की जो शास्त्र-जन्य ज्ञानरूप तथा शुभ-कर्म रूप वृत्ति है, उस सत्त्वगुण की वृत्ति में स्थित हुआ अर्थात् श्रद्धापूर्वक उस वृत्ति को धारण करने वाला यह पुरुष (जीवात्मा) ब्रह्मलोक तक ऊपर के स्वर्गादि देव लोकों को प्राप्त होता है अर्थात् उस ज्ञान की न्यूनता और अधिकता के कारण से वे सब सत्त्व-गुण स्थित पुरुष न्यून या अधिक सुखों वाले देव लोकों में उत्पन्न होते हैं। वे लोग स्वर्ग-सुख भोगने से पहले कभी पृथ्वी पर मनुष्य या पशु-पक्षी होकर उत्पन्न नहीं होते। परन्तु ये सब स्वर्ग भी अनित्य ही हैं। इस लिये परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये इस से भी ऊपर प्रयत्न करना पड़ता है क्योंकि मोक्ष पाने के लिये त्रिगुणातीत अवस्था का होना परमावश्यक है। मोक्ष प्राप्ति वाली स्थिति तो सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से अत्यन्त परे की है तो भी यह सात्त्विक अवस्था की ही पराकाष्ठा है अर्थात् सत्त्व-गुण की वृत्ति में स्थित होने के अनन्तर ही पुरुष गुणातीत अवस्था को प्राप्त हो सकता है। उस से पहले नहीं। प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) से परे के आत्म स्वरूप परमेश्वर या निराकार निर्गुण परब्रह्म को पहचान कर पुरुष का तद्रूप हो जाना ही मोक्ष कहलाता है।

जिन पुरुषों की मृत्यु रजो गुण में स्थित हुए ही होती है वे मृत्यु लोक में मनुष्य जन्म ग्रहण करते हैं। यह मनुश्य-लोक पाप-पुण्य मिश्रित लोक है।

सत्त्व गुण और रजोगुण की अपेक्षा तमो गुण तो अत्यन्त जघन्य गुण है जिस में मोह, निद्रा और आलस्य आदि प्रवृत्त होते हैं। इस गुण में घिरे हुए लोग तामस कहलाते हैं वे सब अधोगति को प्राप्त होते हैं अर्थात् पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि योनियों में ही उत्पन्न होते हैं। यद्यपि सात्त्विक और राजस पुरुष भी कभी-कभी निद्रा, आलस्य और मोह वृत्ति में स्थित हो जाते हैं, इस से उनको पश्वादि शरीरों की प्राप्ति होनी चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है। हाँ अन्त काल में तमोगुण के बढ़ जाने पर ऐसा होना सम्भव भी है। परन्तु यह अन्त-कालीन तमोगुण वृत्ति में स्थिति लाखों करोड़ों में से किसी अत्यन्त मन्द भाग्य पुरुष को ही प्राप्त होती है और घुणाक्षर न्याय से अन्तकाल में किसी महापुरुष के मेल से तमोगुणी को भी सद्गति प्राप्त हो जाती है। भगवान् ने तमोगुण की वृत्ति में स्थित पुरुष का विशेषण जो "तामस" कहा है वह साभिप्राय है। जिस का आशय यह है कि तमोगुण युक्त तामस पुरुष ही पश्वादि अधम

योनियों को प्राप्त होते हैं, तमोगुण वृत्ति में स्थित सात्त्विक और राजस पुरुष नहीं, जैसा कि एक उर्दू कवि ने कहा है —

नेकों को न ठहराइयो बद ऐ फ़रज़न्द !
एक आध अदा अगर उनकी हो न पसन्द ।
कुछ नक़्स अनार की लताफ़त में नहीं ।
गर हों उस में गले सड़े दाने चन्द ॥

अर्थात्— हे पुत्र ! सात्त्विक पुरुषों को कभी बुरा न समझना, यदि उन के आचरण में रजोगुण या तमोगुण की कोई एक आध घटना घटित हुई हो क्योंकि उस अनार के सर्वोत्कृष्ट गुण में कोई न्यूनता नहीं होती जिस में केवल एक दो दाने गले सड़े हुए हों ॥

वास्तव में तमोगुण से युक्त तामस पुरुष वे ही होते हैं जिन में आठों पहर सदा तमोगुण ही वर्तमान रहता है । ऐसे पुरुष ही पशु आदि योनियों में जन्मते हैं । सात्त्विक और राजस् पुरुष नहीं, क्योंकि उन में सत्त्व गुण या रजोगुण प्रधान होता है और तमोगुण अत्यन्त गौण रूप में होता है । किसी किसी पुस्तक में इस श्लोक के "वृत्ति" शब्द के स्थान पर "वृत्त" शब्द पाया जाता है जिस का अर्थ भी वृत्ति शब्द वाला ही है । परन्तु हमारे विचार में गीता या वेद शास्त्रों में पाठान्तर का होना ठीक नहीं है क्योंकि एक शब्द इन में असली है जो भगवान् के मुखारविन्द से निकला है और दूसरा नकली है जो लिपिकार के प्रमाद या असावधानी का परिणाम है । इसलिये विद्वानों को सहमत होकर रामायण, गीता, वेदादि में पाये जाने वाले पाठान्तर का एक बार ही पक्का निश्चय और निर्णय कर लेना चाहिए । ताकि भक्तों की पूर्ण श्रद्धा इन पर स्थिर बनी रहे ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

न+अन्यम्+गुणेभ्यः कर्त्तारम्+यदा द्रष्टा+अनुपश्यति । गुणेभ्यः+च परम्+वेत्ति मत्+भावम् सः+अधिगच्छति ॥

न=(अव्यय) न । नहीं ।

अन्यम्=(वि०, सर्व०) √अन्+य=अन्य+(पुं०) द्वितो० ए० व०=दूसरों को । भिन्न को । अन्य किसी को ।

गुणेभ्यः=(पुं०)√गुण्+अच्=गुण+पंच० ब० व०=(सत्त्व, रज और तम इन तीनों) गुणों से (बिना) (कार्य, कारण और विषयों के रूप में परिणत हुए) गुणों से (अतिरिक्त) ।

कर्तारम्=वि० (पुं०) √कृ+तृच्=कर्तृ+द्वितो० ए० व०=कर्ता को । करने वाले को ।

यदा=(अव्यय) यस्मिन् काले, यद्+दा=यदा। जिस समय। जब।

द्रष्टा=(वि० पुं०)=√दृश्+तृच्+द्रष्टृ+प्र० ए० व०=द्रष्टा। देखने वाला। समष्टि चेतन में एकीभाव से स्थित हुआ साक्षी पुरुष। ज्ञानी विचारवान् पुरुष।

अनुपश्यति=अनु√दृश्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=देखता है।
[त्रिगुणमयी माया से उत्पन्न हुए अन्तःकरण के सहित इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में विचरना ही गुणों में बर्तना है।]

गुणेभ्यः=(पुं०)√गुण्+अच्=गुण+पंच० ब० व०=तीनों गुणों से।

परम्=(पुं०, वि०)√पृ+अप्=पर+द्विती० ए० व०=पर को। अतीत को। परे वाले को। अत्यन्त परे (मुझ सच्चिदानन्दघन स्वरूप परमात्मा) को।

वेत्ति=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट् प्र० पु०, ए० व०= जानता है।

मत्+भावम्=(पुं० द्विती० ए० व०) मम भावम् (षष्ठी० तत्पु०) [भाव= √भू+णिच्+अच्]=मेरे भाव को। मेरे निर्गुण स्वरूप को।

सः=तद् (सर्वनाम)+प्र० ए० व०=वह पुरुष।

अधिगच्छति=अधि√गम्+लट्० प्र० पु० ए० व०=प्राप्त होता है॥

अर्थ—जब द्रष्टा [समष्टि चेतन में एकी भाव में स्थित हुआ पुरुष—ब्रह्मज्ञानी पुरुष] (कार्य, कारण और विषयों के रूप में परिणत हुए—सत्त्व, रज और तम इन तीनों) गुणों से (बिना), अन्य किसी कर्ता को नहीं देखता है और (तीनों) गुणों से अत्यन्त पर (परब्रह्म) को जानता है। (तब) वह मेरे भाव (अर्थात् मेरे निर्गुण स्वरूप) को प्राप्त होता है॥ १९॥

व्याख्या—अज्ञान वश हुआ यह मनुष्य अपने को शरीर समझ कर, सब कर्मों का कर्ता और भोक्ता बना रहता है। जिससे जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है और नाना प्रकार के सुखों और दुःखों का अनुभव करता है। परन्तु वास्तव में तो यह जीवात्मा न किसी कार्य का कर्ता है और न ही किसी कर्म के फल का भोक्ता है क्योंकि सब कर्म प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा ही होते हैं। ये सत्त्व आदि तीनों गुण कार्य, कारण और विषय इन तीन आकारों के परिणाम को प्राप्त हो जाते हैं। इन तीन गुणों से भिन्न अन्य कोई कर्ता त्रिकाल में कभी नहीं होता। यद्यपि प्रकृति और उससे सम्भूत ये तीनों गुण जड़ हैं परन्तु परब्रह्म परमात्मा की सत्ता या प्रकाश से ये ठीक उसी प्रकार प्रगिशील हो जाते हैं जिस प्रकार बटन दबाने से बिजली की सब प्रकार की मोटरें चलने लगती हैं अथवा ईंधन को प्रज्वलित करने से राकेट अन्तरिक्ष की ओर उड़ने लगते हैं। इसलिए समस्त अवस्थाओं में स्थित हुए गुण ही समस्त कर्मों के कर्ता हैं अर्थात् ये गुण ही अन्तःकरण, शरीर और विषय आदि भावों को

प्राप्त हुए सम्पूर्ण कर्मों के कर्ता होते हैं परन्तु जीवात्मा (देही) को अपने से युक्त करके उसे कर्ता और भोक्ता होने का भान कराते हैं। गीता के अध्याय ५ श्लोक ८ और ९ में कहा है—

"तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता और बन्द करता हुआ इस प्रकार समझे कि इनमें से मैं स्वयं तो कुछ भी नहीं करता हूँ। यह सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बरत रही हैं॥"

इसी प्रकार अध्याय ३ श्लोक २८ में लिखा है—

"हे महाबाहो! तीनों गुणों (और उनके द्वारा होने वाले) सब प्रकार के कर्मों के विभागों के रहस्य को भली-भान्ति जानने वाला ज्ञानी पुरुष "सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, ऐसा समझ कर उनमें आसक्त नहीं होता॥"

इस प्रकार जो पुरुष इन तीनों गुणों को ही एकमात्र कर्म करते हुए देखता है तथा देह, इन्द्रियों और अन्तःकरण को इन गुणों का विकारमात्र जानकर अपने को उनसे पृथक रूप में देखता है वह इस देह, इन्द्रियों या अन्तःकरण की तृप्ति के लिए किसी भी पाप कर्म में रत नहीं होता, न ही पुण्य कर्म का कर्ता बन कर उसके फल की इच्छा करता है। इन तीनों गुणों से अति परे जो महान् और असीम प्रभुसत्ता है। अपने को उसी का प्रतिबिम्ब या अंश समझकर आप सब का द्रष्टा या साक्षी बन जाता है॥

जैसे आकाश में स्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब भूमि में स्थित सरोवर के जल के साथ लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार परब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप जीवात्मा माया या प्रकृति के गुणों से न लिप्त होता है न कोई कर्म ही करता है। "जैसे धूएँ से अग्नि और मैल से दर्पण तथा झिल्ली या जेर से गर्भ ढका रहता है वैसे ही काम या कामनाओं से जीवात्मा का ज्ञान ढक जाता है॥" (गीता ३।३८)।

परन्तु "शस्त्र" या "गुरु के उपदेश" से जब इस अज्ञान का पर्दा फट जाता है तब फिर पुरुष द्रष्टा होकर तीन गुणों से पर, स्व स्वरूप परब्रह्म को जान लेता है और तद्रूप हो जाता है। इस सम्बन्ध में श्रुति कहती है—"ब्रह्मवेद (विद्) ब्रह्मैव भवति" अर्थात् "मैं ब्रह्म रूप हूँ।" इस प्रकार से ब्रह्म को अपनी आत्मा जानता हुआ यह पुरुष ब्रह्म रूप ही हो जाता है अथवा ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म ही होता है॥

देश पिता गाँधी जी इस पर इस प्रकार टिप्पणी लिखते हैं:—

टिप्पणी—गुणों को कर्ता मानने वाले को अहंभाव होता ही नहीं। इससे उसके सब काम स्वाभाविक और शरीर—यात्रा भर के लिए होते हैं और शरीर यात्रा परमार्थ के लिए ही होती है। इसलिए उसके सारे कामों में निरन्तर

त्याग और वैराग होना चाहिए। ऐसा ज्ञानी स्वभावतः गुणों से परे निर्गुण ईश्वर की भावना करता और उसे भजता है ॥" ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

गुणान्+एतान्+अतीत्य त्रीन्+देही देह-समुद्भवान् । जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखै+विमुक्तः+अमृतम्+अश्नुते ॥

गुणान्=(पुं०)√गुण्+अच्=गुण+द्विती० ब० व०=गुणों को ।

एतान्=एतद्+(पुं०) द्विती० ब० व०=इनको ।

अतीत्य=अति√इण् (अदा० पर० सक०=जाना)+ल्यप्=अतिक्रम्य । लांघ कर । उल्लंघन करके ।

त्रीन्=त्रि+द्विती० ब० व०=तीनों को ।

देही=(वि० पुं०) देही+इनि=देहिन्+प्र० ए० व०=देहधारी । जीवात्मा । देही । शरीरधारी । पुरुष । मनुष्य ।

देह-समुद्भवान्=(वि०) पुं० । देहसमुद्भवान् द्विती० ब० व०=देह को उत्पन्न करने वालों को । (द्विती० तत्पु०) । देहोत्पत्ति बीजभूतान्=देहोत्पत्ति बीज भूतों को ।

जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः=(नपुं०) जन्म च मृत्युः च जरा च दुःखानि च तैः (इतरेतर द्वन्द्व समास) । जन्म, मृत्यु, जरा (बुढ़ापे) और (रोगादि) दुःखों से ।

विमुक्तः=वि√मुच्+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=छूटा हुआ । विमुक्त हुआ ।

अमृतम्=(वि०) न मृतम् (नञ् तत्पु०, पुं० द्विती० ए० व०)=अमृत को । परमानन्द को ।

अश्नुते=√अश् (स्वा० आत्म० सक०=भोगना, खाना, पाना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=भोगता है ॥

अर्थ—देह को उत्पन्न करने वाले इन तीनों गुणों को लांघ कर देही (जीवात्मा) जन्म, मृत्यु, जरा (बुढ़ापे) और (रोग, शोक, चिन्तादि) दुःखों से विमुक्त हुआ अमृत (परमानन्द) को (जीवनकाल में ही) भोगता है ॥ २० ॥

व्याख्या—सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण माया या प्रकृति से उत्पन्न होते हैं । फिर ये गुण जब गुणों में ही बरतते हैं तो अनेक प्रकार के शरीरों को

[illegible] कर देते हैं। जब देहधारी-देही या जीवात्मा अपने जीवनकाल में ही इन तीनों गुणों को लाँघ जाता है अर्थात् इन गुणों से अत्यन्त ऊपर उठ जाता है तो वह मोक्ष पाने का अधिकारी हो जाता है और मृत्यु होने पर वह परब्रह्म परमेश्वर में लीन हो जाता है। जिससे फिर कभी उसकाजन्म नहीं होता, इसके साथ ही मृत्यु, जरा और रोग, शोक, चिन्ता आदि का टण्टा भी समाप्त हो जाता है। जिससे यह पुरुष शाश्वत् शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य को जब पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो वह देह में रहता हुआ भी अपने को उस देह से भिन्न अनुभव करने लगता है। जिससे फिर इस देह के लिए कोई भी पाप या पुण्य नहीं करता, उस अवस्था में यह प्रकृति या माया के तीनों गुणों से रहित हो जाता है जिसका अन्तिम परिणाम जन्म-मरण आदि से रहित होना होता है। बुद्धि, अहङ्कार, मन, पाँच ज्ञानेद्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियां, पाँच महाभूत और पाँच इन्द्रियों के विषय इन तेईस तत्त्वों का यह स्थूल शरीर बना हुआ है और ये सब तत्त्व प्रकृति जन्य गुणों के कार्य हैं। इनसे सम्बन्ध तोड़ लेना ही गुणातीत होना कहलाता है। यह कथन अत्यन्त सूक्ष्म विधि का सूचक है। आत्मा वास्तव में असंग है गुणों के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अज्ञान के होने से ही वह अपना सम्बन्ध इन गुणों से अनुभव करने लगता है। जब ज्ञानी पुरुष विदेह अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब उसका देह से जीवनकाल में ही सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है जिससे वह दुःखातीत और गुणातीत हो जाता है और मरने पर परमानन्द को प्राप्त हो जाता है॥ २०॥

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते॥ २१॥

कैः=लिङ्गैः=त्रीन् गुणान्+एतान्+अतीतः+भवति प्रभो!। किम्+आचारः कथम्+च+एतान्+त्रीन्+गुणान्+अतिवर्त्तते॥

कैः=किम् (सर्व०)+(पुं०) तृती० ब० व०=किन के द्वारा। किन से।

लिङ्गैः=(पुं०)√लिङ्ग्+घञ् या अच्=लिङ्गः+तृती० ब० व०=लिङ्गों द्वारा। लक्षणों द्वारा। चिह्नों द्वारा। निशानियों से।

त्रीन्=त्रि+(पुं०)+द्विती० ब० व०=तीनों को।

गुणान्=गुण+(पुं०) द्विती० ब० व०=(सत्त्व, रज, तम) गुणों को।

एतान्=एतद् (सर्वनाम)+(पुं०) द्वितीo ब० व०=इन को।

अतीतः=अति+√इण्+(कर्ता) में) क्त=अतीत हुआ। लाँघा हुआ। टपा हुआ। पार गया हुआ। अतिक्रान्त हुआ।

भवति=√भू+लट्, प्र० पु०, ए० व०=होता है।

प्रभो!=(पुं०, सम्बोधन, ए० व०) हे प्रभो! [प्र√भू+डु=सर्वोच्च स्वामी]।

किम्+आचारः ?=(पुं०) 'कः अस्य आचारः ?' इति। प्र० ए० व०। (वह) किस आचार वाला है ? उस का कैसा आचार होता है ?।

कथम्=(अव्यय) कैसे। किस तरह से। किस प्रकार।

च=(अव्यय) और।

एतान्=एतद् (सर्वनाम)+(पुं०) द्वितीo ए० व०=इन को।

त्रीन्=त्रि+(पुं०) द्वितीo ब० व०=तीनों को।

गुणान्=(पुं०) गुण+द्वितीo ब० व०=गुणों को।

अतिवर्त्तते=अति√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=लाँघता है। अतिक्रमण करता है। पार करता है॥

अर्थ—अर्जुन बोला—

हे प्रभो! (सत्त्व, रज, तम) इन तीनों गुणों को लांघा हुआ (पुरुष) किन लिङ्गों (चिन्हों या लक्षणों) से (युक्त) होता है ? किस आचार वाला होता है ? और किस प्रकार (वह) इन तीनों गुणों को लांघता है ?॥ २१॥

व्याख्या—अर्जुन ने कहा—हे भगवन्! आप संसार के सम्पूर्ण दुःखों को निवृत्त करने के लिए समर्थ हैं क्योंकि आप समस्त संसार के स्वामी हर्ता, कर्त्ता और परमेश्वर हैं इसलिए आप प्रभु हैं और मुझे सब कुछ समझाने में समर्थ हैं। हे प्रभो! यद्यपि आप ने पहले मुझे स्थितप्रज्ञ और भक्तिमान् पुरुषों के लक्षण बतलाए थे जिनके गुण "सर्वारम्भपरित्यागी", "तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः" "उदासीनः" इत्यादि कह कर कथन किए थे और ज्ञानियों को सर्वारम्भपरित्यागी भी कहा था। अब मैं सिद्धावस्था को प्राप्त हुए गुणातीत पुरुष के सम्बन्ध में पूछता हूँ, कि १—वह किन-किन लक्षणों से युक्त होता है ? अर्थात् वह किन-किन चिन्हों से पहचाना जाता है ? २—उसका आचार कैसा है ? अर्थात् गुणातीत पुरुष दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करता है ? तथा उसकी रहनी, सहनी और चेष्टा कैसी होती है और ३—वह इन तीन गुणों को किस तरह लाँघ जाता है ? अर्थात् वह अपनी वृत्ति को कैसे निर्गुणी बना लेता है ? तात्पर्य यह कि वह सत्त्व, रज और तम माया रचित इन तीनों गुणों से कैसे छुटकारा प्राप्त कर लेता है ?॥ २१॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धरीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

प्रकाशम्+प्रवृत्तिम्+च मोहम्+एव च पाण्डवः । न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥

उदासीन-वत्+आसीनः+गुणैः+यः+न विचाल्यते । गुणाः+वर्त्तन्ते+इति+एव यः+अवतिष्ठति न+इङ्गते ॥ २३ ॥

सम-दुःख-सुखः स्वस्थः सम-लोष्ट+अश्म-काञ्चनः । तुल्य-प्रिय+अप्रियः+धीरः+तुल्य-निन्दा+आत्म-संस्तुतिः ॥ २४ ॥

मान+अपमानयोः+तुल्यः+तुल्यः+मित्र+अरिपक्षयोः । सर्व+आरम्भ-परित्यागी गुण+अतीयः सः+उच्यते ॥ २५ ॥

प्रकाशम्=(पुं०) प्र√काश् (भ्वा० आत्म० अक०=चमकना)+अच्=प्रकाश+द्विती० ए० व०—प्रकाश को । उजियाले को । रोशनी को । आभा को । तेज को ! अन्तःकरण और इन्द्रियों में आलस्य का अभाव होकर जो एक प्रकार की चेतना होती है ; उसको । सत्त्व गुण के कार्य प्रकाश को ।

च=(अव्यय) और ।

प्रवृत्तिम्=(स्त्री०) प्र√वृत्+क्तिन्=प्रवृत्ति+द्विती० ए० व०=प्रवृति को । कामों में दिन रात लगे रहने को । लग्न को । अविच्छिन्न उद्योग को । रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति को ।

च=(अव्यय) और ।

मोहम्=(पुं०)√मुह्+घञ्=मोह+द्विती० ए० व०=मोह को । निद्रा और आलस्य आदि की अधिकता से अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतन शक्ति के रूप मोह को । तमोगुण के कार्य मोह को । (नपुं०) माया के फंदे या जाल को ।

पाण्डव !=(पुं०) पाण्डोः अपत्यम्, पाण्डु+अण्=पाण्डव+सम्बोधन, ए० व०=हे पाण्डव !। हे पाण्डु के पुत्र (अर्जुन) !

न=(अव्यय) न । नहीं ।

द्वेष्टि=√द्विष् (अद० उभ० सक०=वैर करना)+लट्० प्र० पु० ए० व०= द्वेष करता है । बुरा समझता है । दु:ख मानता है ।

संवृत्तानि=सम्=√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०)=विद्यमान होना । बर्तना)+ क्त=संवृत्त+(नपुं०) द्विती० ब० व०=प्रवृत्त हुओं को । संचलित हुओं को । बर्तते हुओं को । वर्त्तमान हुओं को । घटित हुओं को ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

निवृत्तानि=नि√वृत्+क्त+(नपुं०) द्विती० ब० व०=निवृत्त हुओं को । समाप्त हुओं को । हटे हुओं को । न हुओं को ।

कांक्षति=√काङ्क्ष (भ्वा० उभ० सक०=इच्छा करना)=लट्+प्र० पु० ए० व०=इच्छा करता है । चाहता है । आकांक्षा करता है । (२२)

उदासीन-वत्=उत्√आस् (अदा० आत्म० अक० स०=रहना, चुपचाप बैठना) +शानच्=तटस्थ । विरक्त । उदासीन+वत् (अव्यय,√वा+डति)= उदासीनवत्=उदासीन के सदृश । विरक्त के समान । तटस्थ की तरह । साक्षी के सदृश ।

आसीन:=(वि०)√आस्+शानच्=चुपचाप बैठा हुआ । स्थित हुआ ।

गुणै:=(पुं०)√गुण्+अच्=गुण+तृती० ब० व०=गुणों से (द्वारा), प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों द्वारा ।

य:=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (पुरुष) ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

विचाल्यते=वि√चल् (भ्व० पर० अक०=चलना, हिलना, डोलना)+कर्म-वाच्य, लट्० णिच् प्र० पु० ए० व०=चलायमान नहीं किया जाता है । विचलित नहीं किया जाता है ।

गुणा:=(पुं०) गुण+प्र० ब० व०=प्रकृति उद्भूत सत्त्व, रज, तम तीनों गुण ।

वर्तन्ते=√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=बर्तना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= बरतते हैं ।

इति=(अव्यय) ऐसे । इस प्रकार ।

एव=(अव्यय) केवल । ही ।

य:=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो ।

अवतिष्ठति=अव√स्था (भ्वा० पर० अक०)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=स्थिर रहता है । स्थित रहता है । टिका रहता है ।

[स्वामी शंकराचार्य जी कहते हैं—

"छन्दोभङ्ग-भयात् परस्मैपद-प्रयोगः न अनुतिष्ठति इति वा पाठान्तरम् ।" अर्थात् यहाँ छन्दोभङ्ग होने के भय से "आत्मनेपद" (अवतिष्ठते) के स्थान में "परस्मैपद" (अवतिष्ठति) का प्रयोग किया है अथवा "योऽवतिष्ठति" के स्थान पर "योऽनुतिष्ठति" ऐसा पाठान्तर समझना चाहिए ।]

न=(अव्यय) न । नहीं ।

इङ्गते=√इङ्ग (भ्वा० पर० सक०=हिलना । डोलना । चलायमान होना) +लट्० प्र० पु०, ए० व०=डोलता है । विचलित होता है । हिलता है । (२३)

सम-दःख-सुखः=(वि०, पुं०, बहुव्री०) समे दुःख-सुखे यस्य सः=जो दुःख-सुख में समान है । दुःख-सुख में समान रहने वाला । दुःख-सुख को समान समझने वाला । (प्र० ए० व०)

स्वस्थः=(पुं०, वि०, प्र० ए० व०) स्वे आत्मनि स्थितः प्रसन्नः=जो अपने आत्म-स्वरूप में स्थित-प्रसन्न है । (स्व+√स्था+घञ्) । अपने मूल स्वरूप (परमात्मा) में स्थित । स्व-स्थः अपने में स्थित ।

सम-लोष्ट+अश्म-काञ्चनः=(वि० पुं० प्र० ए० व०) लोष्टं च अश्मा च काञ्चनं च समानि यस्य सः (द्वन्द्व० युक्त बहुव्री०)=जिस के विचार में मिट्टी, पत्थर और सोना आदि समान हो गए हैं वह तत्त्व-वेत्ता पुरुष । मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव वाला । ढेले पत्थर सोने में सम विचार वाला ।

[लोष्ट=(पुं०. नपुं०)√लोष्ट् (भ्वा० आत्म० सक०=जमा करना, ढेर करना)+घञ्=मिट्टी का ढेला या डला ।

अश्म=(पुं०) अश्नुते व्याप्नोति संहन्ति अनेन वा इति√अश्+मनिन् =अश्मन् (समास में 'न्' का लोप हुआ) ।

काञ्चन=(नपुं०)√काञ्च्+ल्यु=काञ्च न=सोना ।]

तुल्य-प्रिय+अप्रियः=(वि० पुं०, प्र० ए व०) प्रियं च अप्रियं च (=प्रियाप्रिये) समे यस्य सः (बहुव्री०)=प्रिय और अप्रिय दोनों को ही समान समझने वाला । प्रिय और अप्रिय के संयोग-वियोग में समभाव से रहने वाला ।

धीरः=(वि०, पुं०, प्र० ए० व०) धी (बुद्धि, चित्त)+√रा+क=जिस का चित्त, विकार-जनक कारणों के रहते हुए भी विचलित नहीं होता । धैर्यवान् । बुद्धिमान् । धीमान् ।

तुल्य-निन्दा+आत्म-संस्तुतिः=(वि० पुं० प्र० ए० व०) निन्दा च आत्म-संस्तुतिः

च तुल्ये यस्य सः=अपनी निन्दा और स्तुति में समान भाव वाला।
[निन्दा=(स्त्री०)√निन्द्+अ-टाप्=बदनामी। संस्तुति=सम्+√स्तु+क्तिन्=प्रशंसा।] (२४)

मान-अपमानयोः=(पुं०) माने च अपमाने च (इतरेतर द्वन्द्व) सप्त० द्वि० व०=मान और अपमान में।
[मान=(पुं०)√मान्+घञ्=सम्मान। प्रतिष्ठा। अपमान=(पुं०) अप√मान्+घञ्=निरादर। बेइज्जती।।]

तुल्यः=(पुं०) प्र० ए० व०। तुलया सम्मितम्। तुला+यत्=एक ही प्रकार का। बराबर। समान। सदृश। तुल्य। सम। निर्विकार।

तुल्यः=समान। सदृश। बराबर। सम।

मित्र+अरि-पक्षयोः=(पुं० सप्त० द्वि० व०) मित्रस्य पक्षे च अरेः पक्षे च (षष्ठी० तत्पुरुष०, बहुव्री०)=मित्र के पक्ष में और अरि के पक्ष में। मित्र और अरि के पक्ष में। [मित्र=(नपुं०) मित्र्यति (स्निह्यति√मिद्+त्र, अथवा मनोति (मानं करोति),√मि+क्त्र=मित्र। स्नेही। सम्मान करने वाला। हितैषी। अरि=(पुं०)√ऋ+इन्=अरि, शत्रु, वैरी। मनुष्य जाति के छः शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर (कामः क्रोधस्तथा लोभो मदमोहौ च मत्सरः)]।

सर्व+आरम्भ-परित्यागी=(पुं०, वि०, प्र० ए० व०) दृष्टादृष्टार्थानि कर्माणि आरभ्यन्ते इति आरम्भाः सर्वान् आरम्भान् परित्यक्तुं शीलम् अस्य (बहुव्री०)=दृष्ट और अदृष्ट फल के लिए किए जाने वाले कर्मों का नाम "आरम्भ" है, ऐसे सर्व आरम्भों को त्याग करने का जिस का स्वभाव है वह 'सर्वारम्भ-परित्यागी' होता है। सारे आरम्भों का त्याग करने वाला। समस्त आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित हुआ (पुरुष)। सारे धन्धों का त्यागी। शरीर-धारण-मात्र के लिए आवश्यक कर्मों के बिना सारे कर्मों का त्याग करने वाला। [आरम्भ=(पुं०) आ√रभ्+घञ् मुम् च। परित्यागी=परि√त्यज्+घिनुण् (इन्)=त्यागिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=त्यागने वाला]।

गुण+अतीतः=(वि० पुं०, प्र० ए० व०) गुणान् अतीतः (अति क्रान्तः)=सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों को लाँघा हुआ। अतीतः=(वि०) अति√इण्+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=लाँघा हुआ। पार गया हुआ।

सः=तद् (सर्वनाम)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+कर्मवाच्य लट्० प्र० पु० ए० व०=कहा जाता है। कहलाता है॥ २५॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

हे पाण्डु के पुत्र (अर्जुन)! जो (सत्त्व गुण के कार्य) प्रकाश को और (रजोगुण के कार्य) प्रवृत्ति (=कर्मों में, सब कुछ भूल कर संलग्नता) को तथा (तमो गुण के कार्य) मोह (सुस्ती) को—प्रवृत्त हुए जान कर न बुरा मानता है और न ही निवृत्त हुओं को (पुनः) चाहता है ॥ २२ ॥

(जो) उदासीन की भान्ति स्थित हुआ गुणों से चलायमान नहीं किया जाता है। "केवल गुण ही सब काम कर रहे हैं" इस प्रकार (निश्चय से) (नित्य ब्रह्म में) स्थित रहता है और डोलता नहीं है ॥ २३ ॥

(जो) सुख, दुःख में सम रहने वाला है, स्वस्थ (=शरीर का हृष्ट पुष्ट और अपने आत्म स्वरूप में स्थित अर्थात् प्रसन्न) है, जिस तत्त्ववेत्ता पुरुष के विचार में मिट्टी, पत्थर और सोना (आदि सब पदार्थ) सम हैं। प्रिय, अप्रिय में सम बुद्धि वाला है, धीर (=बुद्धिमान्-ज्ञानी) और (जो) अपनी निन्दा और स्तुति को सम समझने वाला है ॥ २४ ॥

(जो) मान और अपमान में सम-भाव से स्थित रहने वाला, मित्र-पक्ष और शत्रु पक्ष में तुल्य (शरीर धारण मात्र के कर्मों के बिना) समस्त कर्मों का परित्यागी है। वह (पूर्वोक्त सब गुणों से युक्त पुरुष) गुणातीत अर्थात् सत्त्व, रज तम तीनों गुणों से पार लाँघा हुआ कहलाता है ॥ २५ ॥

व्याख्या—इस अध्याय के श्लोक २१ में अर्जुन ने जो तीन प्रश्न पूछे हैं। उन में से पहले प्रश्न "कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति?" का उत्तर श्लोक २२ में दिया गया है और "किमाचारः?"

इस दूसरे प्रश्न का उत्तर २३, २४, २५ इन तीन श्लोकों में दिया गया है। और ये चारों श्लोक एक साथ विचारने योग्य हैं। क्योंकि जिस गुणातीत पुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है उसको दर्शाने वाला वाक्य "गुणातीतः स उच्यते" श्लोक २५ का अन्तिम पाद है जिस से चारों श्लोकों को एक साथ पढ़े बिना चारों के अर्थों की पूर्ति नहीं होती।

वह तीनों गुणों को लाँघा हुआ पुरुष किन चिन्हों से युक्त होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

हे पाण्डु-पुत्र अर्जुन! प्रकाश जो सत्त्व गुण का कार्य है, उस से शरीर इन्द्रियों और अन्तःकरण में हलकापन, निर्मलता और चेतना आ जाती है और चेहरे से शान्ति और आनन्द की किरणें निकल कर मुखमण्डल के चारों ओर प्रकाश का एक वृत्त सा बनाए रखती हैं। इस प्रकाश के होने से ज्ञानी के अन्तःकरण रूप सरोवर में निर्मल ज्ञान जल पूर्णता से भर जाता है। यद्यपि इस प्रकाश से गुणातीत पुरुष सदा युक्त रह सकता है परन्तु यह भी प्रकृति से

सम्बन्ध रखने वाला ही एक गुण है जिस से अन्तिम अवस्था में गुणातीत पुरुष अवश्य ही परे हो जाता है। इसलिए गुणातीत पुरुष इस प्रकाश की प्रवृत्ति होने पर न ही उस से घृणा करता है और न ही उस के परे हट जाने पर फिर उस के पूर्ववत् प्रवृत्त होने की आकांक्षा करता है। प्रवृत्ति जो रजो गुण का कार्य है उस के प्रवृत्त होने पर नाना प्रकार के कार्य करने का स्फुरण होता रहता है तथा काम, लोभ स्पृहा और आसक्ति की उत्पत्ति की सम्भावना होती है। परन्तु गुणातीत पुरुष में यदि कभी कर्म करने की प्रवृत्ति आ भी जाए तो भी उस में काम लोभ स्पृहा और आसक्ति आदि दुर्गुण उत्पन्न नहीं होते और वह इस प्रवृत्ति के वर्तमान होने से घृणा या द्वेष नहीं करता तथा उस के निवृत्त हो जाने पर फिर उस की आकांक्षा भी नहीं करता वैसे तो चलना फिरना आदि कर्मों का आरम्भ गुणातीत के शरीर द्वारा भी होता रहता है परन्तु उस के अन्तःकरण में सब प्रकार के राग द्वेष का अभाव होता है।

और मोह जो तमो गुण का कार्य है। उस में मनुष्य के शरीर में तन्द्रा स्वप्न सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ होती हैं। सत्त्व गुण और रजोगुण के प्रकाश प्रवृत्ति आदि सम्पूर्ण कार्य शरीर इन्द्रियों और अन्तःकरण से लुप्त हो जाते हैं। और अज्ञानादि बढ़ जाते हैं। परन्तु मोह के कार्य तन्द्रा, स्वप्न या सुषुप्ति के होने पर भी गुणातीत पुरुष का आत्म ज्ञान नष्ट नहीं होता और नही फ़ीका पड़ता है। इस लिए इस प्रकार के मोह के होने पर भी गुणातीत पुरुष उस से नफ़रत या घृणा नहीं करता अर्थात् वह गाढ़ी नींद सो लेता है। जब वह किसी पुरुष द्वारा अथवा किसी दूसरे कारण विशेष से उस मोह या तन्द्रा अथवा निद्रा से निवृत्त हो जाता है। तो फिर उस की आकांक्षा भी नहीं करता है देशपिता गाँधी ने यह ठीक ही कहा है—

"जो गुणों को पार कर गया है उस पर सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों के परिणाम का कोई प्रभाव नहीं होता। पत्थर प्रकाश की इच्छा नहीं करता न प्रवृत्ति या जड़ता का कोई द्वेष करता है। उसे बिना चाहे शान्ति है। उसे कोई गति देता है, तो वह उसका द्वेष नहीं करता। गति देने के बाद उसे ठहरा कर रख देता है, तो इस से प्रवृत्ति (=गति) बन्द हो गई, मोह (जड़ता) प्राप्त हुई है ऐसा सोच कर वह दुःखी नहीं होता, वरन् तीनों स्थितियों में वह एक समान बर्तता है। पत्थर और गुणातीत में अन्तर यह है कि गुणातीत चेतन मय है और उस ने ज्ञान पूर्वक गुणों के परिणामों का—

स्पर्श या त्याग किया है और जड़-पत्थर सा बन गया है। पत्थर गुणों का अर्थात् प्रकृति के कार्यों का साक्षी है, पर कर्ता नहीं है, वैसे (गुणातीत) ज्ञानी भी उनका साक्षी रहता है कर्ता नहीं रह जाता ॥"

सन्त विनोबा जी इस बात को अपने अनूठे ढंग से समझाते हुए कहते हैं—

"भले ही आप सत्त्व गुणी हो जाइये, अहंकार को जीत लीजिए, फलासक्ति को भी छोड़ दीजिए, फिर भी जब तक यह शरीर चिपटा है, तब तक बीच-बीच में (सत्त्व) रज तम के हमले होते ही रहेंगे। थोड़ी देर के लिए हमें ऐसा लगा भी कि हम ने इन (तीनों) गुणों को जीत लिया तो भी वे फिर ज़ोर मारेंगे। अत: सतत जागृत रहना चाहिए। समुद्र का पानी वेग से भीतर घुस कर जिस तरह बड़ी खाड़ियाँ बना देता है उसी तरह इन तीनों गुणों के जोरदार प्रवाह हमारी मनोभूमि में प्रविष्ट होकर खाड़ियाँ बना लेते हैं। अत: ज़रा भी छिद्र न रहने दीजिए। पक्का इन्तज़ाम और पहिरा रखिए। चाहे कितनी भी सावधानी और दक्षिता रखिए, जब तक आत्म ज्ञान नहीं हुआ है आत्म-दर्शन नहीं हो गया है तब तक खतरा ही समझिए। अत: जैसे भी हो आत्म ज्ञान प्राप्त कर लीजिए।" (और गुणातीत हो जाइए)।

जिस प्रकार सूर्य प्रात: काल मध्याह्न और सायं काल से न द्वेष करता है न प्रसन्न होता है और हिमालय सर्दी गर्मी और वर्षा से प्रभावित नहीं होता तथा तीव्र ग्रीष्म ऋतु भी अग्नि को जला कर समाप्त नहीं कर सकती इसी प्रकार सत्त्व रज और तम तीनों गुणों का गुणातीत आत्मदर्शी ज्ञानी पर भी हर्षाने या रुलाने वाला कोई प्रभाव नहीं होता ॥ २२ ॥

अब अगले तीन श्लोकों में भगवान् अर्जुन के इस दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं कि "गुणातीत पुरुष किस आचार वाला होता है?"

श्री भगवान् बोले—हे पाण्डुनन्दन अर्जुन! अब तुम उस गुणातीत के आचार व व्यवहार सुनो। वह सदा उदासीन या तटस्थ रहता है अर्थात् वह केवल द्रष्टा ही होता है। दृश्य संसार या देह-गेह आदि से सम्बन्ध रखने वाला नहीं होता वह न किसी का शत्रु होता है, न मित्र तथा न किसी का पक्षपाती ही रहता है और सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों से कभी विचलित नहीं किया जाता क्योंकि वह स्वयं अपने को कभी कर्ता नहीं मानता है वह तो सदा यही समझता है कि "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" (गीता ३।२८) अर्थात् "गुण ही गुणों में बर्तते हैं।" वह समझता है कि सब इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राण आदि शरीर के सब अवयव और उन के शब्दादि सम्पूर्ण विषय ये सब गुणों के ही विस्तार हैं। इसलिये इन्द्रियाँ मन और बुद्धि जो अपने अपने विषयों में विचरते हैं यही गणों का गुणों में बरतना कहलाता है। आत्मा का न तो गुणों से उत्पन्न हुए इन्द्रियों, मन और बुद्धि से कोई सम्बन्ध है और न गुणों से उत्पन्न हुए विषयों से ही कोई नाता है। वह तो नित्य, चेतन, असङ्ग और सदा एक रस है। इस रहस्य को गुणातीत ज्ञानी भली-भान्ति समझता है और सब कर्मों में गुणों का गुणों में बर्तना मानता है। इस प्रकार वह सदा अपने स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा में जीवित ही एकी भाव से स्थित रहता है और

वह फिर अपनी इस ब्राह्मी स्थिति से न हिलता है और न डोलता है। वरन् सदा अडिग रहता है। गुणातीत अपनी इस स्थिति का अनुभव तो करता है परन्तु वर्णन नहीं कर सकता। जो वर्णन कर सकता है वह गुणातीत नहीं है क्योंकि उसमें अहम्भाव मौजूद है॥

जब चन्द्रमा चढ़ता है तब समुद्र में ज्वार-भाटा होता है, चन्द्र-कान्तमणि पसीजने लगती है और कुमुद विकसित होते हैं परन्तु चन्द्रमा उन सब से अलग, निर्लिप्त और तटस्थ रहकर केवल साक्षी या द्रष्टा ही बना रहता है। इसी प्रकार सत्त्व गुण जो शुभ कर्मों में लगाता है, रजोगुण जो वैषयिक कर्मों में प्रवृत्त करता है तथा तमो गुण जो मोह, अज्ञान आदि में निमग्न करता है। इन तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष भी केवल अपने स्वरूप में स्थित हुआ उदासीन अडिग गुणों के स्वरूप को समझने वाला, तटस्थ साक्षी और द्रष्टा बना रहता है और इस स्थिति से कभी विचलित नहीं होता है॥ २३॥

गुणातीत पुरुष सुख और दुःख दोनों में सम स्थिति वाला होता है। उस के शरीर और अन्तःकरण को न किसी प्रकार का सुख ही सुखी करता है न किसी प्रकार का दुःख ही दुःखी करता है। क्योंकि साधारण मनुष्य तो प्रकृति जनित स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप तीन प्रकार के शरीरों में ही रहते हैं। चूँकि गुण ही गुणों में बरतते हैं। ये तीनों शरीर भी प्रकृति के कार्य हैं और सुख-दुःख भी प्रकृति जनित हैं। इसलिये इन शरीरों में रहने वाले सुखों से सुखी होते हैं और दुखों से दुःखी होते हैं। यद्यपि गुणातीत पुरुष भी दूसरों के विचार में इन तीन प्रकार के शरीरों में ही रहता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता क्योंकि वह तो स्वस्थ होता है अर्थात् अपने (स्वरूप परब्रह्म परमात्मा) में ही स्थित होता है। इसलिये उसे सुख दुःख में से किसी का भी अनुभव नहीं होता। बीमार या रोगी ही दुःख को अधिक अनुभव करता है और सुख की आकांक्षा करता है, स्वस्थ तो स्वभाविक ही सुखी होता है। उसे उस सुख का अनुभव ही नहीं होता और रुग्ण की तरह उसे रोग भी अधिक दुःखी नहीं करता। गुणों में फँसे हुए भी एक प्रकार के रोगी हैं केवल गुणातीत ब्रह्म ज्ञानी ही स्वस्थ कहे जा सकते हैं। जैसे ये ब्रह्म में स्थिति पुरुष स्वस्थ कहे जाते हैं वैसे ही अन्य या गुणयुक्त पुरुष प्रकृति-स्थ कहलाते हैं॥

गुणातीत पुरुष को मिट्टी के ढेले (ठीकरी), लोष्ट (लोहे की मैल—मण्डूर), पत्थर और सुवर्ण में कोई अन्तर मालूम नहीं होता क्योंकि वह तो निर्लोभ होता है। मिट्टी के ढेले से उसे क्या प्रयोजन है? तथा मण्डूर या उसकी भस्म से भी उसका कोई काम नहीं है। पत्थर की भी उसे आवश्यकता नहीं है। सोने को भी उसने क्या करना है? उसके लिए अधम, मध्यम और उत्तम तीनों प्रकार के पदार्थ बेकार हैं क्योंकि उस में भेद-बुद्धि समाप्त हो जाती है और

समदृष्टि अथवा भीतरी दृष्टि (द्रष्टावृत्ति) ही स्थिर और स्थाई हो जाती है। उस गुणातीत को सुख का साधन रूप प्रिय वस्तु और दुःख का साधन रूप अप्रिय वस्तु दोनों बराबर हैं अथवा शत्रु-मित्र में कुछ भेद नहीं होता। उसको न कोई पदार्थ शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि के अनुकूल प्रतीत होता है न विपरीत क्योंकि यह अनुकूलता और विपरीतता तो केवल प्रकृति-स्थ पुरुष के विषय हैं न कि स्व-स्थ के।

गुणातीत मूर्ख नहीं होता, धीर या धीमान् होता है। धैर्यवान् या स्थिर-बुद्धि होता है। किसी भी दुःख-सुख या द्वन्द्व में विचलित नहीं होता। लोक-निन्दा और लोक-स्तुति में सदा सम रहता है। उस पर कोई दोष चाहे वह सच्चा हो, चाहे झूठा हो, कोई प्रभाव नहीं डालता और न ही उसको गुणों का वर्णन ही हर्षित करता है। वह तो अपने निन्दक और स्तुति-कर्ता दोनों को सम-दृष्टि से देखता है। उनके किसी भी अच्छे बुरे कथन से उसके तन मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। गुणातीत पुरुष तो संसार की ओर से दृष्टि मूंद कर सदैव आत्म स्वरूप में निमग्न रहता है और स्थावर व जंगम विश्व में आत्म-तत्त्व के बिना और कुछ भी देखता नहीं है। उस समय उसको शरीर के दुःख-सुखों का भान ही नहीं होता। नीच, मध्यम और उत्तम वस्तुओं का अन्तर ही प्रतीत नहीं होता। प्रिय और अप्रिय दोनों उसके अन्तःकरण की तुला में बराबर तुल जाते हैं। उस बुद्धिमान् धीर पुरुष को निन्दा और स्तुति एक समान हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार जिस तरह किसी बिजली के खम्बे के लिये रात दिन बराबर होते हैं॥ २४॥

निन्दा और स्तुति का सम्बन्ध केवल वाणी से होता है परन्तु मान और अपमान का सम्बन्ध शरीर, वाणी और मन तीनों से होता है। यही इन में अन्तर है। गुणातीत जैसे निन्दा और स्तुति दोनों से ही प्रभावित नहीं होता वैसे ही मान और अपमान से प्रसन्न और खिन्न नहीं होता। न सत्कार का भाव ग्रहण करता है, न तिरस्कार से दूर भागता है। दोनों अवस्थाओं की उपस्थिति में विकार रहित रहता है। यद्यपि गुणातीत न किसी को मित्र मानता है न शत्रु समझता है। फिर भी कुछ लोग ऐसे होते हैं जो बिना कारण ही उस के शत्रु बने रहते हैं क्योंकि वे लोग संकुचित विचारों वाले और धर्मान्ध होते हैं। उनको अपने पंथ या मत से भिन्न पूजा-ढंग अपनाने वाले विष तुल्य भासमान होते हैं। इसलिए उनका गुणातीत महात्मा से शत्रुता का व्यवहार करना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार जो लोग उस गुणातीत के आचरण से प्रभावित हो जाते हैं वे उसमें प्रीतिमान् होकर उससे मित्रता का व्यवहार करने लगते हैं। परन्तु गुणातीत पुरुष इन दोनों शत्रु-पक्षियों और मित्र-पक्षियों से उदासीन रहता है। उनमें से किसी से भी द्वेष या प्रेम नहीं करता। क्योंकि

उसमें भेद-बुद्धि नहीं होती। यद्यपि गुणातीत स्वाभाविक ही खाता, पीता, चलता, फिरता और शौचादि शारीरिक कर्म करता रहता है। परन्तु ये सब केवल शरीर-यात्रा के अंग-मात्र ही होते हैं जो श्वास-प्रश्वास की भान्ति सहज-स्वभाव ही होते रहते हैं इनकी गिनती सर्वारम्भ में नहीं की जाती है क्योंकि इनके न होने से शरीर ही स्थिर नहीं रह सकता है। परिपक्व और पूर्णावस्था तक पहुँचने के लिये नर-शरीर ही एक बड़ा साधन है इन सहज, स्वभाविक कर्मों के अतिरिक्त शेष सब कर्म सर्वारम्भ श्रेणी के भीतर गिने जाते हैं। उन सब कर्मों का तो गुणातीत परित्यागी ही होता है। इस प्रकार इन तीनों श्लोकों में कहे हुए ये सब आचार-विचार जिस महापुरुष में देखे जाते हैं वह गुणातीत या सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से पार गया हुआ कहलाता है॥ २५॥

टिप्पणी—विज्ञानवेत्ता लोग सत्त्व गुण को 'उष्णता' समझते हैं। जिससे प्रकाश आदि की उत्पत्ति होती है। रजोगुण को 'गति' मानते हैं। जिससे प्रवृत्ति या कर्मों में संलग्नता उत्पन्न होती है। उनके विचार में तमो गुण का अर्थ आकर्षण है। जो मोह का कारण है। संसार के सब कार्य उष्णता, गति और आकर्षण, इन तीनों के मेल से ही होते हैं॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

माम्+च यः+अव्यभिचारेण भक्ति-योगेन सेवते। सः+गुणान् समतीत्य +एतान्+ब्रह्म-भूयाय कल्पते॥

माम्=(अस्मद्) (सर्व०)+द्वितो० ए० व०=मुझ को।

च=(अव्यय) और।

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

अव्यभिचारेन=(पुं०) नञ् तत्पु०, न कदाचिद् यो व्यभिचरति तेन=न+वि-अभि√चर् (भ्वा०, चुरा० पर० सक०=जाना, खाना, स्नेह करना)+घञ्=अव्यभिचार+तृती० ए० व०=अव्यभिचारी से। विचलित न होने वाले से। अविच्छेद से। तेलधारा की भान्ति चलने वाले से। वफादारी से। नमक हलाली से। अनुकूल से। विजातीय-वृत्तियों के व्यभिधान से रहित तेल-धारा की तरह सजातीय वृत्तियों के प्रवाह वाले से। स्थायी से। कभी न छूटने वाले से। अनन्य से। सती साध्वी स्त्री के पति से प्रेम जैसे।

भक्ति-योगेन (पुं०) भजनं भक्तिः, सा एव योगः, तेन (कर्मधा० तृती० ए० व०)=नारायण के भजन का नाम भक्ति है। वही योग है। भक्ति योग से। भक्ति रूप योग के द्वारा।

[केवल एक सर्वशक्तिमान्. परमात्मा को ही अपना स्वामी मानता हुआ स्वार्थ और अभिमान को त्याग कर श्रद्धा और भाव के साथ परम प्रेम से निरन्तर चिन्तन करने को "अव्यभिचारी-भक्ति-योग कहते हैं।]

सेवते=√सेव् (भ्वा० आत्म० सक०=सेवा करना। पूजना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=सेवता है। भजता है। पूजता है। सेवन करता है।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

गुणान्=(पुं०) गुण+द्विती० ब० व०=गुणों को। सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों को।

समतीत्य=सम्-अति√इ+ल्यप्=अच्छी तरह लाँघ कर।

एतान्=एतद् (सर्वं०)+(पुं०) द्विती० ब० व०=इनको।

ब्रह्म-भूयाय=ब्रह्म—√भू+य+(पुं०) चतु० ए० व०=ब्रह्म हो सकने के लिए। ब्रह्म भाव प्राप्त करने के लिये। ब्रह्म में एक भाव होने के लिए।

[ब्रह्मभवनाय-मोक्षाय अर्थात् ब्रह्म लोक को पाने के लिए। मोक्ष के लिए (श्री स्वामी शंकराचार्य जी)]

कल्पते=√कल्प (नाम धातु)+आत्म० लट्० प्र० पु०, ए० व०=योग्य होता है। समर्थ होता है।

अर्थ—और जो (पुरुष) अविच्छेद (अटूट) भक्ति योग से मुझ को सेवता (या भजता) है वह इन तीनों (सत्त्व, रज और तम) गुणों को लाँघ कर ब्रह्म-रूप हो जाने के लिए योग्य होता है॥ २६॥

व्याख्या—अब इस श्लोक में भगवान् अर्जुन के तीसरे प्रश्न—"गुणातीत पुरुष इन गुणों को कैसे लाँघता है?" का उत्तर देते हुए कहते हैं—कि जो पुरुष मुझ परमात्मा को कभी न टूटने या विच्छेद न होने वाली भक्ति से सेवन करता है वह केवल मुझ को ही एक मात्र सर्वश्रेष्ठ समझता है, सब नाते त्याग कर केवल मुझ को ही माता, पिता, भ्राता, मित्र, परम हितकारी आदि सब कुछ मानता है। सती साध्वी स्त्री की तरह मुझ को ही पति परमेश्वर या स्वामी जान कर तन, मन, धन से मेरी पूजा या आराधना करता है तथा अनन्य प्रेम से निरन्तर मेरे चरणों में लीन रहता है संसार और शरीर से अपने को भिन्न और साक्षी या द्रष्टा अनुभव करने लगता है। क्षण मात्र के लिये भी मेरे ध्यान से विमुक्त या वियुक्त नहीं रहता। सदा मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वाधार सम्पूर्ण जगत् के हर्ता-कर्ता का ही बना रहता है वह गुणातीत होकर मेरा ही रूप बन जाता है और देहत्याग के अनंतर मुझ में एकीभाव से मिल जाने के योग्य बन जाता है। क्योंकि वह इस बात

को भीतरी दृष्टि से देख लेता है कि मैं तो किसी भी काम का कर्ता नहीं हूँ। केवल द्रष्टामात्र हूँ ये सब कार्य इन्द्रियों, शरीर और अन्त:करण के द्वारा ही होते हैं जो प्रकृति से उद्भूत गुणों से बने हुए हैं तथा उन में जिस जिस गुण की अधिकता है वैसे ही सात्त्विक, राजस या तामस कर्म सम्पन्न होते हैं अर्थात् गुण ही गुणों में बर्तते हैं मेरा तो इस शरीर, इन्द्रियों अन्त:करण और उनके द्वारा किये जा रहे कार्यों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार का सच्चा और पवित्र ज्ञान उत्पन्न हुआ अव्यभिचार भक्ति-योग से मेरा सेवन करता हुआ वह महापुरुष ब्रह्मरूप होने के योग्य होकर गुणातीत हो जाता है और जो भक्त द्रष्टा न होकर भी मेरा अनन्य भक्त है। वह भी मुझ को सेवता हुआ गुणातीत हो जाता है और जन्म-मरण से रहित होकर मेरे स्वरूप में मिल जाने के योग्य हो जाता है तथा मरने के बाद मोक्ष प्राप्त कर लेता है। क्योंकि वह ब्रह्म लोक से होकर मुझ ब्रह्म तक पहुँच जाता है। तेज का जो अंश, तेज से निकल कर किरण बन गया था। वह फिर अपने मूल स्वरूप तेज में मिल कर तेज ही बन जाता है इसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा से निकला हुआ होता है वह गुणातीत होकर फिर परमात्मा में मिल जाता है। छोटी से छोटी लहर भी सागर में भिन्न नहीं होती। इसी प्रकार सब शरीरों में व्यापक जीवात्मा भी परमात्मा से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार मैं भी ईश्वर से भिन्न नहीं हूँ इस प्रकार की एकता की भावना से गुणातीत परमात्मा के अत्यन्त समीप हो जाता है और 'सोहम्' उस की धारणा हो जाने से ब्रह्मैक्य का आलिंगन कर लेता है। तब फिर तीनों गुणों द्वारा तना हुआ पर्दा फट कर अपने आप ही नीचे गिर जाता है ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

ब्रह्मण:+हि प्रतिष्ठा+अहम्+अमृतस्य+अव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्य+एकान्तिकस्य च ॥

ब्रह्मण:=(नपुं०)√बृह्+मनिन्=ब्रह्मन्+षष्ठी० ए० व०=ब्रह्म की। परब्रह्म की। वेद का। ब्रह्माण्ड का। शबल ब्रह्म का।

हि=(अव्यय) क्योंकि। ही।

प्रतिष्ठा=(स्त्री०) प्रति√स्था+अङ्—टाप्+प्र० ए० व०=नीव। मूल स्थिति। जड़। आधार। प्रतिष्ठा। आश्रय। स्वरूप। प्रतिष्ठति अस्मिन् इति=प्रतिष्ठा जिसमें प्रतिष्ठित (स्थित—ठहरा हुआ) हो उसका नाम प्रतिष्ठा है। स्थिति।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं (वासुदेव—कृष्ण)। परब्रह्म।

अमृतस्य=(नपुं०) नञ् तत्पु०। अमरत्त्व की। मोक्ष की। अमृत की।

अव्ययस्य=(वि०, नपुं०, षष्ठी० ए० व०) न+वि√इण्+अच् (नञ् बहुव्री०)=अव्यय की। अविनाशी की।

च=(अव्यय) और।

शाश्वतस्य=(वि० पुं०, नपुं०, षष्ठी० ए० व०) शश्वत्+अण्=शाश्वत। सदा स्थायी (स्थिर) रहने वाले की।

च=और। तथा।

धर्मस्य=(पुं०, नपुं०) धरति लोकान्, ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा, √धृ+मन्=धर्म+षष्ठी० ए० व०=धर्म की।

सुखस्य=(नपुं०)√सुख्+अच्=सुख+षष्ठी० ए० व०=सुख की।

एक अन्तिकस्य=(वि०), अन्त्यते=संवध्यते सामीप्येन इति√अन्त+घञ्, सोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयः ठन्=अन्तिक+षष्ठी० ए० व०=अन्तिकस्य। अखण्ड एक रस का।

च=(अव्यय) और॥ एवं।

अर्थ—क्योंकि अबिनाशी ब्रह्म (परब्रह्म, वेद ब्रह्माण्ड) और अमृत (अमरत्व, मोक्ष) तथा शाश्वत (सनातन) धर्म एवं अखण्ड एक रस सुख की प्रतिष्ठा (स्थिति मूलकारण) मैं ही हूँ॥ २७॥

व्याख्या—पिछले श्लोक में भगवान् ने अपने सेवन से भक्त को प्राप्त होने वाला फल गुणातीत होना तथा ब्रह्म रूप हो जाने के योग्य होना कहा है। फिर अब उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि जो ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अलक्ष्य, अनादि, अजन्मा, अव्यय शाश्वत और सदा एक रस रहता है वह मैं ही हूँ। जो अपनी इच्छा से नर देह धारी होकर तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। मैं ही अविनाशी हूँ निर्गुण और सगुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा या स्थिति हूँ। उसका मूल कारण हूँ। वास्तव में सब उपाधियों से रहित परब्रह्म की स्थिति भी हूँ। मुझ से भिन्न और कोई सत्ता नहीं है। वेदों का कारण मैं हूँ। समस्त ब्रह्माण्ड का सहारा भी मैं ही हूँ। मैं अमृत हूँ। अमरत्व और मोक्ष की प्रतिष्ठा हूँ। अर्थात् मेरी सत्ता से ही मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है। क्योंकि मैं ही अमरत्व या मुक्ति का पर्यवसान हूँ। जिस धर्म को धारण करने से नित्य-—मोक्ष की प्राप्ति होती है वह सनातन धर्म भी मेरे सहारे ही स्थित है। मैं ही एकान्तिक सुख हूँ। अर्थात् अखण्ड एक रस आनन्द का कारण हूँ। मुझ परमानन्द स्वरूप परमात्मा से भिन्न दूसरा कोई भी सुख प्राप्त करने के योग्य नहीं है।

यथा श्रुति—"या वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" अर्थात् देश, काल वस्तु परिच्छेद से रहित सर्वव्यापक परमात्मा ही सुख स्वरूप है। परिच्छिन्न

पदार्थों में किंचितमात्र भी सुख नहीं है। उपरोक्त अव्यय ब्रह्म अमृत शाश्वत धर्म और एकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा या पराकाष्ठा केवल एक मैं ही हूँ। इस से मेरा चिन्तन करते हुए मुझ में मिल जाने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। ताकि फिर कभी जन्म न हो सके ॥ २७ ॥

ॐ तत्सत्।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

शुभमस्तु। मंगलमस्तु ॥

इस प्रकार श्री भगवान् से गाये हुए (=कहे हुए) उपनिषदों में ब्रह्म विद्या में तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में गुण-त्रय विभाग योग नामक चतुर्दश अध्याय कथित हुआ ॥

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

ऊर्ध्व-मूलम् + अधः शाखम् + अश्वत्थम् + प्राहुः + अव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि यः + तम् + वेद सः + वेद-वित् ॥

ऊर्ध्व-मूलम् = (वि० पुं० द्विती० ए० व०) ऊर्ध्वं मूलः यस्य तम् (बहुव्री०) = ऊँचाई में स्थित मूल (जड़) वाले को। (परब्रह्म रूप) ऊर्ध्व मूल वाले को। ऊपर जड़ वाले को। मायापति सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही संसार रूपी वृक्ष का कारण होने से इस वृक्ष का मूल हैं। जो सब से उच्च या ऊपर हैं ॥ ऊर्ध्व = उद् √हा + ड पृषो० 'ऊर्' आदेश = ऊपर की ओर उठा हुआ (मूल = √मूल् + क, या √मू + क्ल)।

अधः-शाखम् = (वि० पुं० द्विती० ए० व०) अधः शाखाः यस्य तम् (बहुव्री०) = नीची शाखाओं वाले को। नीचे की ओर शाखाओं वाले को। [अधस् = (अव्यय) अधर + असि = नीची। नीचे की ओर। नीचे के लोक में। नीचे के लोकों में।

शाखा = (स्त्री०) √शाख् (भ्वा० पर० सक० = व्याप्त करना) + अच्-टाप् = टहनी। तना।]।

[परब्रह्म से नीचे ब्रह्मा है जो संसार की उत्पत्ति करता है। यह हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा 'अधः' अर्थात् परब्रह्म से नीचे है और वही इस संसार का विस्तार करने वाला होने से मूल तना है। और उस से विस्तरित किया हुआ संसार उस से निकले हुए मोटे तने और टहनियाँ या शाखायें हैं।]

अश्वत्थम् = (पुं०) न श्वः (चिरं) तिष्ठति इति (नञ् तत्पु०) √स्था + क, पृषो० = अश्वत्थ + द्विती० ए० व० = पीपल को। अश्वत्थ को। कल तक न स्थित रहने वाले संसार रूपी वृक्ष को। [पीपल वृक्ष तो सैंकड़ों साल स्थित रहता है परन्तु संसार रूप पीपल वृक्ष का कल अगला कल्प होता है। इस लिए यह आज तक अर्थात् वर्तमान कल्पान्त तक ही

समाप्त हो जाता है]। अश्वत्थ का अर्थ—"घोड़ों का थान" भी होता है। प्राचीन काल में घोड़े पीपल के वृक्ष के नीचे ही बाँधे जाते थे जिस से वे बीमार नहीं होते थे इस लिए "पीपल" वृक्ष का नाम "अश्वत्थ" या घोड़े "बाँधने का स्थान" पड़ गया।

प्राहुः=प√ब्रू (अदा॰ उभ॰ सक॰=कहना)+लट्॰ प्र॰ पु॰, ब॰ व॰ =प्रब्रुवन्ति पक्षे प्र+आहुः=प्राहुः=कहते हैं। (वेद शास्त्र पुराण, ऋषि-मुनि आदि सब) कहते हैं।

अव्ययम्=(वि॰) वि√इण्+अच् (नञ् बहुव्री॰)=अव्यय+(पुं॰) द्विती॰ ए॰ व॰। अव्यय को। अविनाशी॥

छन्दांसि=(नपुं॰)√छन्द् (चुरा॰ पर॰ सक॰=ढकना। प्रसन्न करना। कामना पूर्ण करना)+असुन्=छन्दस्+प्र॰ ब॰ व॰=सम्पूर्ण वेद। शैक्सपियर ने कहा है—"बहते हुए झरनों में सद्ग्रन्थ (वेद) मिलते हैं। पत्थरों की चट्टानों में (वेद के) प्रवचन सुनाई देते हैं॥"

यस्य=(सर्वं॰) यद्+(पुं॰) षष्ठी॰ ए॰ व॰। जिस के।

पर्णानि=(नपुं॰)√पॄ (जुहो॰ क्र्या॰ सक॰=भरना, पालन पोषण करना, परिपूर्ण करना, तृप्त करना)+न=पर्ण, अथवा√पर्ण (चुरा॰ पर॰ सक॰=सब्ज करना। हरा भरा करना)+अच्=पर्ण+प्र॰ ब॰ व॰ =पर्णानि=पत्ते।

यः=यद् (सर्वं॰)+(पुं॰) प्र॰ ए॰ व॰=जो (पुरुष)।

तम्=तद् (सर्वं॰)+(पुं॰) द्विती॰ ए॰ व॰=उसको।

वेद=√विद् (अदा॰ पर॰ सक॰=जानना)+प्र॰ पु॰, ए॰ व॰=वेत्ति (इस धातु के लट् लकार में विकल्प से लिट् लकार के समान भी प्रत्यय होते हैं) इससे "वेद"=प्र॰ पु॰, ए॰ व॰ का विकल्प से रूप है।) जानता है।

सः=तद् (सर्वं॰)+(पुं॰) प्र॰ ए॰ व॰=वह।

वेद-वित्=(वि॰) पुं॰, प्र॰ ए॰ व॰) वेदान् वेत्ति √विद्+क्विप्=वेद-विद्=वेदों को जानने वाला।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

जिस के पत्ते वेद हैं (ऐसे) उर्ध्व मूल वाले अधः शाखाओं वाले अश्वत्थ को (सब) अविनाशी कहते हैं। जो उस को जानता है, वह वेदों को जानने वाला है॥ १॥

व्याख्या—इस से पूर्व १४वें अध्याय में भगवान् ने सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों का वर्णन करके गुणातीत पुरुष के लक्षण कहे थे फिर अध्याय

के अन्त में कहा था कि मैं ही अमृत हूँ, मैं ही अव्यय हूँ। मैं ही शाश्वत धर्म हूँ तथा मैं ही एकान्तिक सुख हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ। जो अव्यभिचारी भक्ति से मुझे सेवता है वह गुणों से लाँघा हुआ होकर मेरे ब्रह्म-रूप को पाने के योग्य हो जाता है। जो मेरे सगुण-रूप की भक्ति करता है। वह मर कर ब्रह्म लोक में जाता है। वहाँ ब्रह्मा से विशेष ज्ञान पाकर फिर परब्रह्म परमेश्वर में मिल जाता है ॥

अब इस अध्याय के आरम्भ में कृपालु भगवान् ने फिर आगे अपना गीतामृत उपदेश करना, बिना अर्जुन के प्रश्न किये ही आरम्भ कर दिया और वे बोले—

जिस प्रकार सूर्य बहुत ऊँचाई पर होता है और उसकी किरणों का जाल नीचे की ओर फैला हुआ होता है। इसी प्रकार यह संसार रूपी वृक्ष जो पीपल के समान बहुत विशाल है उस का मूल बहुत ऊँचा है अर्थात् वह अव्यक्त निराकार, नित्य अनन्त अनादि सब से बड़ा और महान् है। सब का आधार और सब से ऊपर होने के कारण उसे यहाँ "ऊर्ध्व-मूल" कहा गया है। जिस प्रकार किसी वृक्ष की जड़ें धरती में छिपी रहती हैं उसी प्रकार यह परब्रह्म स्वस्वरूप में छिपा रहता है और किसी के भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यह संसार रूपी पीपल का वृक्ष उखाड़ कर उल्टा रखा हुआ वृक्ष नहीं है यह तो इसी आकृति में उत्पन्न हुआ है इस लिये सदा हरा भरा रहता है। ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ इस वृक्ष का प्रधान स्कन्ध है। जिस के बढ़ने और कार्यशील होने का कारण निर्गुण ब्रह्म से उत्पन्न हुई माया है जो पानी में घुली हुई खाद्य सामग्री की भान्ति परमेश्वर रूपी जड़ में होती हुई प्रधान स्कन्ध ब्रह्मा में पहुँचती है और फिर वहाँ से शाखाओं और पत्तों में जाती है इस से इस वृक्ष का पालन-पोषण और प्रगति या बढ़ती होती है। आदि पुरुष परमेश्वर से उत्पत्ति वाला होने के कारण तथा नित्यधाम से नीचे ब्रह्मलोक में वास करने के कारण हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मा परमेश्वर की अपेक्षा अधः है और वही संसार का विस्तार करने वाला होने से इस वृक्ष का प्रधान स्कन्ध या जड़ से बाहर बढ़ा या निकला हुआ मोटा भाग है इस से आगे नीचे की ओर से प्राणियों के समुदाय रूप शाखाओं का प्रसार है अथवा अनेक आकाश गंगाओं, उन में स्थित असंख्य सूर्यों, ग्रहों, उपग्रहों और सृष्टियों का प्रसार है और छन्द (वेद अर्थात् श्रुति और धर्म ग्रन्थ) इस अश्वत्थ वृक्ष के पत्ते हैं। जिन के द्वारा यह वृक्ष ढका हुआ है।

√छिद् से छन्द शब्द बना है जिसका अर्थ १—ढकना। २—प्रसन्न करना और ३—कामना पूरी करना आदि होता है और 'छन्द' का अर्थ

"ढकने वाला", "प्रसन्न करने वाला" और "कामना पूरी करने वाला" होता है।

जैसे पत्ते वृक्ष को सब ओर से ढके रखते हैं। उसकी रक्षा करते हैं। दूसरों को अपनी छाया से ठण्डक और शान्ति देते हैं। वैसे ही वेदों और धर्म ग्रन्थों के अध्ययन करने से मन को शान्ति और तन को सुख मिलता है। उन में कहे हुए कर्म काण्ड के करने से आत्मा, धर्म और शरीर की रक्षा होती है और उनके द्वारा मनोकामनाओं की पूर्ति होती है।

संस्कृत-व्याकरण में सब धातुओं को दस गणों में श्रेणी-बद्ध किया गया है जिसका एक विशेष अभिप्राय यह भी है—

१ √भू आदि गण, √भू' का अर्थ होना होता है अर्थात् सब से पहले जीव की उत्पत्ति होती है।

२—√अद् आदि गण, '√अद्' का अर्थ भक्षण करना होता है अर्थात् जीव उत्पन्न होने के बाद दूध आदि पदार्थ भक्षण करता है जिस से उसका पालन-पोषण और वृद्धि होती है।

३—√हु आदि गण, '√हु' का अर्थ हवन करना होता है। जो वेद-मन्त्रों के द्वारा ही किया जाता है और यह हवन करना मनुष्य-जीवन में किये जाने वाले षोडश-संस्कारों में ही परमावश्यक और अनिवार्य माना जाता है।

४—√दिव् आदि गण, '√दिव्' का अर्थ, चमकना, प्रसन्न होना, अभिलाषा पूरी होना, आदि होता है। जो हवन करता है वह चमकता है। हृष्ट-पुष्ट होता है। प्रसन्न होता है और उसकी मनोकामनाएँ पूरी हो जाती हैं।

५—√सु आदि गण, √सु का अर्थ "रस निकालना" यज्ञ करना और स्नान करना आदि होता है। संस्कृत हुआ पुरुष नित्य-स्नान, देवार्चन और हवनादि कर्म करता है और परिश्रम करके अपने शरीर का अर्क या रस निकालता है।

६—√तुद् आदि गण, √तुद् का अर्थ दुःख देना या पीड़ित करना होता है जब कोई पुरुष संयमादि द्वारा प्रभु-भक्ति और तप-आदि करता है अथवा जीविका-उपार्जन के लिए परिश्रम करता है तो वह अपने शरीर और इन्द्रियों को एक प्रकार से कष्ट या दुःख देता है। इसी से तुदादि गण छठे स्थान पर रखा गया है।

७—√रुध् आदि गण, √रुध् का अर्थ रोकना, छिपाना, ढकना आदि होता है। इसलिये अब मनुष्य उस अवस्था को प्राप्त हो जाता है जब इन्द्रिय-निग्रह उस के लिये परमावश्यक होता है और अपने तप और भक्ति

को छिपाने से कल्याण होता है। बच्चों को संयम में रहने की शिक्षा दी जाती है।

८—√तन् आदि गण, √तन् का अर्थ फैलाना, तानना, पूरा करना, रचना करना इत्यादि होता है। इसलिये इन्द्रिय-निग्रह और तप के बाद मनुष्य अपने आत्मा को फैलाता है अपने लक्ष्य कार्य मोक्ष-प्राप्ति के प्रयत्न को पूरा करता है अपनी सन्तान की उन्नति की रचना करता है।

यदि पन्द्रह भाग शोरा ३ भाग गन्धक और दो भाग कोयला पीस कर इकट्ठे कर लिये जाएं तो यह राकेट को आकाश में पहुँचाने वाला ईंधन बन जाता है अथवा इसे कागज़ की पुड़िया में रस्सियों से अच्छी तरह रुद्ध करके यदि उस के भीतर अग्नि की चिंगारी का प्रवेश कर दिया जाए तो वह गोला दिल दहलाने वाले धमाके से फट जाता है और चारों ओर के वातावरण में फैल जाता है। कहने का भाव यह है कि रुद्ध हो जाने से प्रत्येक पदार्थ महा शक्तिशाली हो जाता है। जब कि अनिरुद्ध पदार्थ उसकी अपेक्षा अति शक्ति हीन होता है। कुत्तों से घिरा हुआ बिल्ला स्वतन्त्र बिल्ले से अधिक पराक्रम का कार्य करता है।

९ √क्री आदि गण, √क्री का अर्थ खरीदना या विनमय करना आदि होता है। फिर मनुष्य लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के व्यापार करता है। पारलौकिक व्यापार इस की शान्ति और सुख के लिये होते हैं। परन्तु लौकिक व्यापार केवल जन्ममरण के कारण ही बनते हैं।

१०—√चुर् आदि गण, √चुर् का अर्थ चुराना है। जो लोग क्रय-विक्रय द्वारा अपार धन उपार्जन कर लेते हैं। दूसरों को दुःखी और भूखे नंगे देख कर भी उस धन का सदुपयोग नहीं करते, उन का वह धन चुराया जाता है। व्याकरण भी वेदों का अंग या मुख माना जाता है उस की इस उपरोक्त शिक्षा से शान्ति और सुख मिलता है। जीवन यात्रा सुलभ होती है और इस के अनुसार आचरण करने से मन की अभिलाषाएं पूर्ण होती हैं।

जिस प्रकार वृक्ष के हरे पत्तों में छिद्र होते हैं जिन के द्वारा वृक्ष सांस लेते हैं और जड़ से आया हुआ जल-मिला खाद्य-पदार्थ जो पौधों के शरीर का अंग बन जाता है। उस से बचा हुआ पानी वृक्ष के मल, मूत्र और पसीने आदि के रूप में उस के पत्तों के इन छिद्रों द्वारा बाहर निकल जाता है इसी प्रकार वेदों के अनुसार आचरण करने से मनुष्य के तन-मन और धन के मल बाहर निकल आते हैं।

पत्तों में पर्ण-हरिम या क्लोरोफिल नाम का एक हरा पदार्थ होता है जो हवा से कार्बानिक ऐसिड गैस ग्रहण करता है और उसे फाड़कर उसकी आक्सीजन छोड़ देता है जिस से संसार के प्राणियों का जीवन स्थिर रहता है

उस से बचे हुए कार्बन नामक भाग में सूर्य की धूप से ऊर्जा प्राप्त करके मिलाता है। जिस से निशास्ता, शक्कर, प्रोटीन, तेल आदि अनेक पदार्थ और फल फूल आदि बन जाते हैं; जिन से सारे संसार का पालन पोषण और कल्याण होता है। इसी प्रकार वेदमन्त्रों द्वारा किए हुए हवन से वायु मण्डल की हवा शुद्ध और पवित्र होती है। जिस से प्राणी मात्र को जीवन प्राप्त होता है। दूसरे वेद, शास्त्र तथा कलाकौशल आदि सम्बन्धि-पुस्तकों को पढ़ने और उन पर आचरण करने से, संसार के संपूर्ण धन्धे और कार्य पूरे होते हैं जिन से प्राणियों का भरण पोषण और कल्याण होता है। इस से सिद्ध होता है कि ये वेदादि ग्रन्थ इस संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष के पत्ते हैं।

जिस प्रकार समुद्र एक ओर से तो मेघों के द्वारा सोखा जाता है और दूसरी ओर से नदियों द्वारा भरा जाता है; इस से न वह कभी घटता है और न बढ़ता है। इसी प्रकार इस संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष की स्थिति है। इस में एक ओर तो जीव जन्मते रहते हैं और दूसरी ओर मरते रहते हैं और महाकल्प तक यह इसी तरह बना रहता है। इसी लिए इसे अव्यय कहा जाता है। अव्यय कहने का एक और कारण भी है वह यह है कि इस का मूल कारण या जड़ पर-ब्रह्म, परमेश्वर स्वयं अव्यय या अविनाशी है और जिसकी जड़ सदा हरी भरी और जीवित रहती हो उसे मरने वाला या मरा हुआ कौन कह सकता है? जीवात्मा स्वयं अव्यय या अविनाशी है यद्यपि वह भी महा प्रलय काल में अपना पृथक कोई अस्तित्व नहीं रखता क्योंकि उस समय सब कुछ अव्यक्त प्रभु में समा जाता है। संसार को अश्वत्थ इस लिए कहा गया है क्योंकि यह कल अर्थात् महाप्रलय काल के बाद नहीं रहेगा। इस स्थान पर श्वः या कल से तात्पर्य महाप्रलय काल के बाद पुनः सृष्टि की सजना का शुरू होने वाला कल है। "संसार का प्रतिक्षण रूपान्तर होता रहता है इस से वह अश्वत्थ (अर्थात् आगामी कल तक न टिकने वाला) है। परन्तु ऐसी स्थिति में वह सदा रहने वाला होने तथा उसका मूल ऊर्ध्व या परमेश्वर होने से वह अविनाशी है। वेद ब्रह्म से उपदेश पाते हैं फिर पुरुष उस से इसी प्रकार लाभ उठाते हैं। जिस प्रकार वृक्षों के हरे पत्ते सूर्य से ऊर्जा लेकर भोज्य-सामग्री शक्कर, आटा, तेल प्रोटीन और जीवन-तत्त्व (विटामन) आदि बनाते हैं और उन से अन्य जीव लाभ उठाते हैं।

यद्यपि मनुष्य शरीर की रचना में सब से पहले नाभि और उसके इर्द गिर्द का भाग बनता है परन्तु शरीर का मुख्य और सर्वोत्तम भाग होने से मस्तिष्क ही जो सिर में सुरक्षित है, मूल माना जाता है और वह शरीर के सर्वोच्च स्थान में स्थित है इसलिए इससे मानव-शरीर को भी ऊर्ध्व-मूल अश्वत्थ (कल को न रहने वाला) पीपल वृक्ष कहा गया है। सुषुम्णा सहित इस मस्तिष्क के चार बड़े भाग हैं फिर इन चारों के अनेक उपभाग हैं जो इस उलटे अश्वत्थ की अनेक जड़ें समझी

जाती हैं। यह मस्तिष्क ही सोचता, समझता, सूँघता, देखता, सुनता, स्मरण करता, गर्म सर्द को अनुभव करता, दु:खी सुखी होता, सब अंगों से सूचनाएँ ग्रहण करता और सब अंगों को आज्ञाएँ देता इत्यादि अनेक कर्म करता है। फिर इस मस्तिष्क से निकल कर तन्त्रिकाओं के तीन जाल वृक्ष की शाखाओं की तरह नीचे की ओर सारे शरीर में नाखुनों तक फैले हुए हैं :—

१. केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र जो मस्तिष्क और सुषुम्णा के रूप में कपाल के भीतर से लेकर रीढ़ की हड्डी में फैला होता है।

२. वे तन्त्रिकाएँ जो मस्तिष्क और सुषुम्णा से निकल कर सारे शरीर में फैली हुई हैं।

३. स्वतन्त्र तन्त्रिकाएँ जिन में कुछ ऐसी तन्त्रिकाएँ होती हैं जो शरीर के भीतर की बहुत सी अनैच्छिक क्रियाओं का नियन्त्रण करती हैं। बाहें और टाँगें भी इस शरीर रूपी उलटे पीपल वृक्ष के तने हैं। वेद के सूक्त, काव्य की सूक्तियाँ और शास्त्र का ज्ञान इस वृक्ष के हरे पत्ते हैं, ज्ञान का उपदेश वाणी द्वारा किया जाता है। जिस से सारे संसार का कल्याण और पालन पोषण होता है। इस शरीर रूपी पीपल वृक्ष का अन्त ब्रह्म-ज्ञान के कुठार से किया जाता है ॥

अर्थात् जन्म मरण से छुटकारा पाना ही इस वृक्ष का जड़ से काट डालना है। इस प्रकार जो पुरुष आत्मा और अनात्मा को समझ कर उनका अच्छी तरह से अनुभव कर लेता है वही मूल सहित संसार रूप उल्टे अश्वत्थ वृक्ष को जान लेता है। सुतरां जो इस प्रकार वेदार्थ का जानने वाला है। वह सर्वज्ञ है।

कठ-उपनिषद (अध्याय २। वल्ली ३। मन्त्र १) में इस अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखं एषोऽश्वत्थ: सनातन:। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोका: श्रिता: सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद् वै तत् ।"

[अर्थ—जिस का मूल परब्रह्म परमेश्वर ऊपर है, जो सर्वश्रेष्ठ, सब से सूक्ष्म और सर्वशक्तिमान् है; और जिस की प्रधान शाखा (मूल स्कन्ध) ब्रह्मा है तथा अवान्तर शाखाएँ देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि क्रम से नीचे हैं। ऐसा यह ब्रह्माण्ड रूप पीपक-वृक्ष अनादि कालीन या सदा से है। कभी प्रकट रूप से और कभी अप्रकट रूप से अपने कारण रूप परब्रह्म में सदा स्थित रहता हैं। इसलिए सनातन या अव्यय है। इसका जो मूल कारण है, अर्थात् जिस से यह उत्पन्न होता है; और जिस से सुरक्षित है तथा जिस में विलीन होता है वही शुक्र (विशुद्ध दिव्य तत्त्व) है, वही ब्रह्म है, उसी को अमृत कहते हैं। सब लोक उसी के आश्रित हैं। कोई भी उस का अतिक्रमण (उल्लंघन) करने में

समर्थ नहीं है। हे निचकेता ! वही वह तत्त्व है जिस के सम्बन्ध में तुम ने पूछा था।]

अनेक धर्म ग्रन्थों में संसार को पीपल के वृक्ष बड़ के वृक्ष या गूलर के वृक्ष से उपमा दी गई है। यूरोप की प्राचीन भाषाओं में इसे "विश्व-वृक्ष" या 'जगत्-वृक्ष' कहा गया है। पत्तों से वृक्ष ढका हुआ होता है। देवताओं ने मृत्यु से डरकर त्रयीविद्या में प्रवेश किया था और अपने आप को वेद मन्त्रों या छन्दों से ढक लिया था। देवताओं ने जो छन्दों के द्वारा अपने को आच्छादित किया था वही छन्दों का छन्दपन है अर्थात् देवताओं को आच्छादित करने के कारण ही मन्त्रों का नाम छन्द हुआ है। श्रुति में इस अर्थ को कितने सुन्दर ढंग से कहा गया है—

"देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥"

(छान्दो० १।४।२।।)

स्मृति में भी संसार वृक्ष का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है—

"अव्यक्त मूल प्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः ।
बुद्धि-स्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तर कोटरः ॥ १ ॥
महाभूत विशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा ।
धर्माधर्म-सुपुष्पश्च सुख-दुःख फलोदयः ॥ २ ॥
आजीव्यः सर्व-भूतानां ब्रह्म-वृक्षः सनातनः ।
एतद् ब्रह्मवनं चैव ब्रह्मा चरति साक्षि-वत् ॥ ३ ॥
एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना ।
ततश्चात्म-गतिं प्राप्य तस्मान्नावर्त्तते पुनः ॥ ४ ॥

[**अर्थ**—संसार रूपी वृक्ष की जड़ अव्यक्त (परब्रह्म परमेश्वर) है। उसी से वह उत्पन्न होता है। और उसी के अनुग्रह से वह बढ़ता है। बुद्धि उस वृक्ष का मूल स्कन्ध (मोटा तना) है। इन्द्रियों के छिद्र उस के कोटर हैं ॥ १ ॥

आकाश आदि पाँच भूत उस की शाखाएँ हैं। तथा शब्द स्पर्शादि सब विषय उस के पत्ते हैं। धर्म और अधर्म उस के फूल हैं। सुख और दुःख उन फूलों से पैदा हुए फल हैं ॥ २ ॥

इस प्रकार का वह ब्रह्म सनातन वृक्ष प्राणियों की आजीविका का स्थान है। यह ब्रह्म का वन है। इस में ब्रह्म (जीवात्मा) साक्षि-वत् आचरण करता है ॥ ३ ॥

इस वृक्ष को आत्म-ज्ञान रूपी विशाल तलवार से काट छांट फैंक कर तत्त्व ज्ञानी पुरुष आत्म गति को प्राप्त होता है और वह फिर उस गति से वापस नहीं लौटता है ॥ ४ ॥]

चारों वेदों का ज्ञान इस अश्वत्थ वृक्ष के एक एक पत्ते में भरा हुआ है। सारा आकाश ऋग्वेद है। फलों से लदे हुए वृक्ष धान के हरे भरे खेत पौधे और लताएँ यजुर्वेद के पृष्ठ हैं। बहते हुए झरने, गाते हुए पक्षी और पर्वतों की शब्दायमान गुफाएँ साम वेद का रूप हैं। इसी प्रकार विमान, जलपोत, रेलें, मोटरें, टेलीविजन, रेडियो, सनेमा आदि अथर्व वेद के पृष्ठ हैं। इस प्रकार संसावृक्ष का सम्पूर्ण वैदक परम्परा के अनुसार है। इसे जिस ने जान लिया। उसे वेद वेत्ता कहना चाहिए ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अधः+च ऊर्ध्वम्+प्रसृताः+तस्य शाखाः+गुण-प्रवृद्धाः+विषय-प्रवालाः। अधः+च मूलानि+अनुसन्ततानि कर्म+अनुबन्धीनि मनुष्य लोके ॥

अधः=(अव्यय) अधर+असि=अधस्=नीचे। नीचे की ओर।

च=(अव्यय) और।

ऊर्ध्वम्=(नपुं०) उद√हा+उ, पृषो० ऊर् आदेश=ऊर्ध्व+प्र० ए० व० =ऊपर। ऊपर की ओर।

प्रसृताः=(वि० शाखाः का स्त्री०) प्र√सृ+क्त+टाप्=प्रसृता+प्र० ब० व०=फैली हुई हैं।

तस्य=तद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=उसकी।

शाखाः=(स्त्री०)√शाख् (भ्वा० पर० सक०=व्याप्त करना)+अच्-टाप् =शाखा+प्र० ब० व०=शाखाएँ टहनियाँ।

[मुख्य शाखा रूप ब्रह्मा से जिन सारे लोकों और उन में रहने वाले देव मनुष्य और सम्पूर्ण जीव योनियों का जन्म हुआ है तथा विस्तार हुआ है वही सब इस वृक्ष की शाखाएँ हैं।]

गुण-प्रवृद्धाः=(वि० 'शाखाः का' स्त्री०) गुणैः (=सत्त्व-रजस्तमोभिः) प्रवृद्धाः (=स्थूली-कृताः) [तृती० तत्पु०] उपादान-भूतैः=अपने उपादान कारण रूप—सत्त्व रज और तम इन तीनों गुणों से बढ़ी हुई (स्थूल भाव को प्राप्त हुई)।

[प्रवृद्धाः=(वि० स्त्री०) प्र√वृध्+क्त+टाप्=प्रवृद्धा+प्र० ब० व० =बढ़ी हुई। पुष्टि पाई हुई।

विषय-प्रवालाः=(स्त्री०) विषयाः (शब्दादयः) प्रवाला इव यासु ताः (शाखाः) [बहुव्री०]। विषय (शब्द, स्पर्श रूप रस और गन्ध) रूपी कोंपलों वाली। विषय भोग रूप अङ्कुरों वाली।

[प्रवाला:=(स्त्री०) प्र√व (ब) ल्+णिच्+अच्=प्रवाल-टाप्+प्र० ब० व०=प्रवाला कर्मफल रूप देहादि शाखाओं से शब्दादि विषय कोंपलों के समान अंकुरित होते हैं। शब्दादि पाँचों स्थूल देह और इन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण उन शाखाओं की कोंपलों के रूप में कहे गये हैं।

अध:=(अव्यय) अधस्=नीचे। नीचे की ओर।

च=(अव्यय) और।

मूलानि=(नपुं०)√मूल्+क वा√मू+क्ल=मूल+प्र० ब० व०=मूलानि =जड़ें।

अनुसन्ततानि=(नपुं०) अनु-सम्√तन् (तना० उभ० सक०=फैलना, फैलाना) +क्त+प्र० ब० व०=सब जगह फैली हुई हैं। सब लोकों में फैली हुई हैं।

कर्म+अनुबन्धीनि=(नपुं०) कर्मणाम् अनुबन्धीनि या:=कर्मों के बन्धन वाली। कर्मों के अनुसार बाँधने वाली।

[अनुबन्धीनि=(नपुं०) अनु√बन्ध (क्र्या० पर० सक०=बांधना) +प्र० ब० व०=बाँधने वाली]

मनुष्य-लोके=(पुं०) मनुष्याणां लोके (षष्ठी० तत्पु०, सप्त० ए० व०) =मनुष्यों के लोक में। मनुष्य योनियों में।

[अहंता ममता और वासना ये तीन दृढ़ मूल या जड़ें हैं। जो मनुष्यों को ही कर्मों के अनुसार बाँधने वाली होती हैं। क्योंकि अन्य सब योनियाँ तो केवल पूर्वकृत कर्मों का फल ही भोगती हैं। और केवल मनुष्य योनि को ही नवीन कर्मों के करने का अधिकार है।]

अर्थ—उस (संसार रूप पीपल वृक्ष) की शाखाएँ (देव मनुष्य तिर्यक आदि योनियां अथवा अनेक लोक-लोकान्तर) नीचे और ऊपर (सब जगह) फैली हुई हैं। जो (सत्त्व रज तम तीनों) गुणों के द्वारा बढ़ी हुई हैं। और विषय-भोग रूप कोंपलों वाली हैं। तथा नीचे मनुष्य लोक में कर्मों के अनुसार (आवागमन के चक्र में) बाँधने वाली जड़ें सब जगह फैली हुई हैं॥ २॥

व्याख्या—इस संसार रूपी वृक्ष का कोई पारावार नहीं है, जिस में सैकड़ों आकाश गंगाएँ हैं और उन में से प्रत्येक में अरबों सूर्य और उनके परिवार अपने अपने मार्गों पर बिना दम लिये निरन्तर घूम रहे हैं। सब से ऊपर परब्रह्म परमेश्वर है जिस से प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्त्व उत्पन्न हुए हैं इन दोनों ने ही समस्त ब्रह्माण्ड का प्रसार कर रखा है। प्रकृति से तीन गुण सत्त्व (उष्णता), रज (गति) और तम (आकर्षण) उत्पन्न होते हैं। जिनसे मूर्ति-

मात् विविध प्रकार के शरीर धारी जगत् की सृष्टि होती है जिन शरीरों से पुरुष या जीवात्मा का सम्बन्ध होता है वे चेतन कहलाते हैं बाकियों का नाम जड़ होता है जड़-चेतन की ग्रन्थि बन जाने से जीवात्मा जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करता रहता हैं। प्रकृति जड़ होने से स्वतन्त्र नहीं है वह तो परमेश्वर का ही एक अंश है। यह संसार-वृक्ष प्रकृति का ही फैलाव है। जिसका मूल ब्रह्म है। नीचे ऊपर सब ओर सारा ब्रह्माण्ड इस वृक्ष की शाखाओं से भरा हुआ है। जो सत्त्व, रज, तम तीनों गुण रूपी वर्षा, कूओं और नदियों के जलों से वृद्धिमती हुई हैं ये शाखायें ब्रह्माण्ड में फैले हुए लोक-लोकान्तरों के रूप में मोटी हैं और उनमें स्थित प्राणियों के रूप में छोटी और पतली हैं तथा उन में से भी कुछ अत्यन्त छोटी शाखाएँ हैं जो नाक, कान, आँख, जिह्वा और त्वचा के रूपों में है। पाँच सूक्ष्म भूतों में से पृथिवी से त्वचा उत्पन्न होती हैं। प्रकाश से आंख, जल से जीभ इत्यादि। "शब्दरागात् श्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः। रूपरागात् तथा चक्षुः घ्राणे गन्धजिघृक्षया ॥" अर्थात् जब प्राणियों के आत्मा में शब्द सुनने की भावना उत्पन्न हुई। तब कान उत्पन्न हुआ। रूप पहचानने की इच्छा से आँख और सूँघने की इच्छा से नाक पैदा हुई और फिर इन को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूपी कौंपले निकलीं, जो अपनी कारण-भूत इन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्मतर हैं ॥ मोटी शाखाओं—अर्थात् लोकों में देव, मनुष्य, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि नाना प्रकार के प्राणी निवास करते हैं जिन को किसी न किसी प्रकार की भोग-इन्द्रियाँ अवश्य लगी हुई होती हैं और इन्द्रियों द्वारा जीव, विषय-भोग भोगता है। इन सब का सम्बन्ध कर्म के साथ है। कोई कर्म, धर्म की वासना से होता है तो कोई अधर्म की वासना से भी होता है। यही वासनाएँ इन शाखाओं से नीचे की ओर निकली हुई जड़ें हैं। जो संसार में सब जगह फैली हुई हैं जो कर्म के बन्धनों द्वारा जीवात्मा या पुरुष को बाँध लेती हैं। वास्तव में तो जीवात्मा इन के द्वारा बाँधा नहीं जाता है परन्तु वह अपने असली स्वरूप को भूल कर अपने आप को इन से बँधा हुआ मानने लगता है। इसलिए आत्मा को अपने असली स्वरूप को जान कर मोक्ष प्राप्ति के लिये त्रिगुणात्मक और ऊर्ध्वमूल वृक्ष के इस फैलाव से मुक्त हो जाना चाहिए। अहंता, ममता और वासना रूप मूल केवल मनुष्ययोनि के कर्मों के अनुसार ही बाँधने वाले होते हैं क्योंकि अन्य सब योनियों में तो केवल पहले जन्मों के कर्मों के फल को भोगने का ही अधिकार है और मनुष्य योनि में तो नवीन कर्म भी किए जाते हैं यदि इन शुभाशुभ कर्मों के फल का त्याग नहीं किया जाएगा तो ये बाँध लेते हैं जिससे मरने के बाद नवीन जन्म की प्राप्ति होती है। यह कर्मों का बन्धन करने वाली जड़ें मनुष्य लोक (या लोकों) में ही फैली हुई होती हैं क्योंकि दूसरे लोक तो केवल भोग लोक ही

होते हैं। अज्ञानी पुरुष इस वृक्ष के मूल ईश्वर को जानता और देखता नहीं है। इसलिये वह इस मनुष्य लोक में सदा कर्म पाश से ही बँधा रहता है।

परन्तु जो पुरुष आसक्ति का सर्वथा त्याग करके दृढ़ वैराग्य युक्त होकर सदा परब्रह्म के स्वरूप में लीन रहता है उसके लिये यह वृक्ष नष्ट हो जाता है और केवल मूल रूप परमेश्वर ही रह जाता है जब फँसाने वाला वृक्ष ही न रहा तो फिर उस पर कोई पक्षी अपना नीड या घोंसला ही कैसे बना सकता है? अर्थात् कर्म बन्धन के मूल रूप संसार के धुन्ध के बादलों की भान्ति लुप्त हो जाने से जन्म-मरण रूप वर्षा का बरसना ही असम्भव हो जाता है।

महाभारत (अश्व० ३५, २०—२३ और ४७, १२—१५) में ब्रह्मवृक्ष का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

"अव्यक्त-बीज-प्रभवो बुद्धि-स्कन्धमयो महान्।
महाहंकारविटपः इन्द्रियान्तर—कोटरः॥
महाभूत विशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान्।
सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एवं छित्वा च भित्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः॥
हित्वा संगमयान् पाशान् मृत्यु जन्मजरोदयान्।
निर्ममो निरंकारो मुच्यते नात्र संशयः॥"

[अर्थ—अव्यक्त प्रकृति (परब्रह्म का स्फुरण) जिसको उत्पन्न करने वाला बीज है। बुद्धि जिसका सबसे मोटा तना है। महाऽहंकार विटप है और दस इन्द्रियां उस विटप और स्कन्ध की खोडें (छाल फट कर बने दराड़) हैं। पाँच महाभूत मोटी शाखाएँ हैं। [यह महाभूत सूक्ष्म रूप में हैं, जो पाँच तन्मात्राएँ भी कहलाते हैं) और विशेष अर्थात् स्थूल महाभूत जिस की छोटी छोटी टहनियाँ हैं। इस प्रकार सदा लगे हुए पत्तों, पुष्पों और शुभाशुभ (मीठे, कड़वे या पाप, पुण्य) फल धारण करने वाला सारे प्राणियों के लिए आधारभूत यह संसार बहुत बड़ा सनातन ब्रह्म-वृक्ष है। ज्ञानी पुरुष इस को तत्त्वज्ञान रूपी खड्ग से काट कर टुकड़े टुकड़े कर दे और जन्म-मरण-जरा-रोग उत्पन्न करने वाले संग-मय पाशों को नष्ट कर डाले और ममता तथा अहंकार को छोड़ दे। तब वह मुक्त हो जाएगा। इस में कोई संशय नहीं है।] ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल—
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

न रूपम्+अस्य+इह तथा+उपलभ्यते न+अन्तः+न च+आदिः+न च सम्प्रतिष्ठा । अश्वत्थम्+एनम्+सुविरूढ-मूलम्+असङ्ग-शस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदम्+तत्+परिमार्गितव्यम्+यस्मिन्+गताः+न निवर्तन्ति भूयः । तम्+एव च+आद्यम्+पुरुषम् प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

न=(अव्यय) न । नहीं ।

रूपम्=(नपुं०)√रूप्+अच्=रूप+प्र० ए० व०—रूपम्=शक्ल । स्वरूप ।

अस्य=इदम् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=इस का । इस संसार वृक्ष का ।

इह=(अव्यय) इदम्+ह, 'इ' आदेश=यहाँ । इस स्थान में । इस लोक में ।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल्=वैसा ।

उपलभ्यते=उप√लभ्+कर्मवाच्य लट्० प्र० पु०, ए० व०=पाया जाता है । उपलब्ध किया जाता है (विचार काल में) ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

अन्तः=(पुं०)√अम्+तन्+अन्त+प्र० ए० व०=समाप्ति । अखीर । छोर । अन्त ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

च=(अव्यय) और ।

आदिः=(पुं०) आ√दा+कि आदि+प्र० ए० व०=आरम्भ । आदि । प्रारम्भ ।

न=न । नहीं ।

च=और ।

सम्प्रतिष्ठा=(स्त्री०) सम् प्रति√स्था+भावे अङ्=सम्प्रतिष्ठा+प्र० ए० व०=अच्छी प्रकार से स्थिति । स्थिति । मध्य स्थिति । (है) ।

अश्वत्थम्=(पुं०) न श्वः (चिरं) तिष्ठति इति√स्था+क पृषो० (नञ् बहुव्री०)=अश्वत्थ+द्विती० ए० व०=अश्वत्थ को । संसार रूप पीपल के वृक्ष को ।

एनम्=इदम्, एतद् (सर्व०) (पुं०)+द्विती० ए० व०=इस को ।
[इदम् और एतद् शब्दों को द्विती० के तीनों वचनों में तथा तृती०, ए० व० षष्ठी० और सप्त० के द्वि० वचनों में 'एन' भी हो जाता है इससे सब लिङ्गों में तीन-तीन रूप बन जाते हैं जैसे पुं० में—
द्विती०—एतम्, इमम्, एनम् । एतौ, इमौ, एनौ । एतान्, इमान्, एनान् ।
तृ०—एतेन, अनेन, एनेन ।
ष० स०—एतयोः अनयोः एनयोः]

सुविरूढ-मूलम्=(वि० पुं०) सु-वि√रुह् (भ्वा० पर० अक०=उगना)+क्त =सुविरूढ ।
सुष्ठु विरूढानि (विरोहं गतानि) मूलानि यस्य तम् (बहुव्री०)=जिस की जड़ें अत्यन्त दृढ़ हो गई हैं । भली भान्ति सङ्गठित हो चुकी हैं उसको। पक्के रूप में जड़ी हुई जड़ वाले को ।
अहंता, ममता और वासना रूप अति दृढ़ मूलों वाले को ।

असङ्ग-शस्त्रेण=(नपुं०) असंगः पुत्र-वित्त-लोकैषणादिभ्यो व्युत्थानं तेन= पुत्रेच्छा, वित्तेच्छा तथा लोकेच्छा आदि से उपरामता रूप असंग शस्त्र द्वारा । वैराग्य रूप शस्त्र से । संग-रहित रूप शस्त्र द्वारा ।

दृढेन=(वि०)√दृह् (भ्वा० पर० अक० सक०=कस कर बांधना । दृढ़ करना)+क्त=दृढ़+(नपुं०) तृती० ए० व०=दृढ़ से । पक्के से ।

छित्त्वा=√छिद् (रुधा० पर० सक०=काटना)+क्त्वा=काट कर । (३)

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्=फिर । उस के बाद ।

पदम्=(पुं०)√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=प्राप्त करना । जाना)+ अच्=पद+द्विती० ए० व०=पद को । परमपद रूप परमेश्वर को ।

तत्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको ।

परिमार्गितव्यम्=परि√मार्ग् (चुरा० पर० सक०=ढूंढना । खोजना ।)+ तव्यत्=परिमार्गितव्य+(नपुं०) प्र० ए० व०=अच्छी तरह ढूंढना चाहिए ।

यस्मिन्=यद् (सर्व०)+(पुं०) सप्त० ए० व०=जिस में ।

गताः=√गम् (भ्वा पर० सक०=जाना)+क्त=गत+(पुं०) प्र० ब० व०= गये हुए (पुरुष) ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

निवर्तन्ति=नि√वृ (भ्वा० आत्म० अक०=बर्तना)+लट्०, परस्मै०, प्र०

पु०, ब० व०=अवर्तन्ते। वापस लौटते हैं। वापस लौट कर (संसार में) जन्म लेते हैं।

भूय:=(अव्यय) भुवि भावा अस्यति यद्वतें, भू√यस्+क्विप्=भूयस्=पुन:। फिर।

तम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उस को।

एव+(अव्यय)√इ+वन्=ही।

च=(अव्यय) और।

आद्यम्=(वि० पुं०) आदौ भव: इत्यर्थे, आदि+यत्=आद्य+द्विती० ए० व० =आदि (पुरुष) को। आदि से होने वाले को। आद्य को। अनादि को।

पुरुषम्=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति, √पुर्+कुषन्=पुरुष+द्विती० ए० व० =पुरुष को।

प्रपद्ये=प्र√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=जाना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) प्राप्त होता हूँ। (मैं) शरण लेता हूँ।

यत:=(अव्यय) यद्+तसिल्=जिस से। जिस (परमेश्वर) से। (यस्मात्)।

प्रवृत्ति=(स्त्री०) प्र√वृत्+क्तिन्=+प्रवृत्ति+प्र० ए० व०=माया रचित संसार वृक्ष की प्रवृत्ति (प्रसारिता, होंद, प्रकटता)।

प्रवृता=(स्त्री०) प्र√सृ+क्त+टाप्+प्र० ए० व०=फैली हुई (है)। विस्तार को प्राप्त हुई है।

पुराणी=(वि० स्त्री०) पुरा भव:, पुरा+ट्यु नि०, वा पुरा नीयते, पुरा√नी+ड—ई=पुराणी+प्र० ए० व०=पुराणी। पुरातन। सनातन। (४)

अर्थ—यहाँ (इस लोक या जगत् में) इस (संसार रूप वृक्ष) का (जैसा ऊपर कहा गया है) वैसा रूप पाया नहीं जाता है, न (इस संसार का) आदि है और न अन्त है तथा न सम्प्रतिष्ठा (=अच्छी तरह से स्थिति) है। इस अच्छी तरह दृढ़ हुई जड़ों वाले (संसार रूप) पीपल के वृक्ष को असङ्ग (वैराग्य) शस्त्र से काट कर (३) फिर उस (परम) पद (परमेश्वर) को अच्छी तरह ढूंढना चाहिए, जिस को प्राप्त हुए (लोग) फिर (संसार में जन्मने के लिए) वापस नहीं लौटते हैं। (इस लिए तू ऐसा दृढ़ निश्चय कर कि) मैं उस ही आद्य पुरुष (परमात्मा) की शरण को प्राप्त होता हूँ", जिस से यह (माया रचित संसार की) पुरातन प्रवृत्ति (प्रसारिता) फैली हुई हैं॥ ४॥

व्याख्या—इस ऊर्ध्व मूल, अध: शाखाओं वाले अश्वत्थ रूप संसार का जैसा वर्णन ऊपर किया गया है। वैसा स्वरूप संसार में कहीं दिखाई नहीं देता है, क्योंकि यह संसार एक बड़ा स्वप्न है। जिस प्रकार स्वप्न में देखी हुई सब वस्तुएँ मिथ्या होती हैं अर्थात् जागने पर उनकी स्थिति कुछ भी नहीं होती

है। इसी प्रकार यह संसार भी मिथ्या है क्योंकि ज्ञान-चक्षु खुल जाने पर यह अदृश्य हो जाता है और इसके स्थान पर सदा सत्य परब्रह्म परमेश्वर ही दिखाई देने लगता है। यह संसार मृग-तृष्णा जल के सदृश है। केवल महान् बाजीगर की माया द्वारा रचा गया है। गन्धर्वनगर के समान दृष्ट-नष्ट है अर्थात् देखते-देखते ही नष्ट होने वाला है।

कहते हैं कि स्वप्न में, किसी राजा ने एक मिरासी को प्रसन्न हो कर एक सुन्दर हाथी प्रदान किया। जब मिरासी उसे लेकर घर की ओर चला तो मार्ग में स्थित किसी धनी पुरुष ने उस हाथी की बहुत प्रशंसा की और मिरासी से उस के दाम पूछे। मिरासी ने उसका मूल्य एक लाख रुपया बतलाया। परन्तु धनी ने उसे केवल पाँच रुपये में खरीदना चाहा। जिस से वह मिरासी उस पर बहुत बिगड़ा, क्रोध के वशीभूत हुए मिरासी की आँख खुल गई वहाँ न कोई हाथी था तथा न ही खरीदने वाला कोई धनी था। यह देख कर मिरासी ने झट से नेत्र बन्द कर लिये और बोला कि भाई! जाओ नहीं। पाँच रुपये में ही हाथी लेते जाओ। इसी प्रकार जो संसार, जीवों को सत्य रूप में भासमान् हो रहा है। वह सत्य नहीं है केवल आभास मात्र है क्योंकि वह तत्त्व-ज्ञान के उपरान्त पाया नहीं जाता। परन्तु इस का आदि या आरम्भ भी नहीं है क्योंकि यह किसी को मालूम नहीं है कि इसकी परम्परा कब से चली आ रही है। यदि किसी पूर्व कल्प के पहले इसके पहली बार आरम्भ होने की कोई कल्पना की भी जाये तो प्रश्न उठता है कि उससे पहले पर-ब्रह्म क्या करता होगा? इस का तो कोई उत्तर ही नहीं है। इसी से तो कहा जाता है कि इस संसार का कोई आदि नहीं है यह तो कल्प कल्पान्तर सदा से इसी प्रकार चला आ रहा है। कभी तो अपने मूल पर-ब्रह्म में लीन हो जाता है और कभी उस से निकल कर प्रकट हो जाता है।

इस प्रकार होते रहने से इस का अन्त भी कभी नहीं होता अर्थात् इस बात का भी किसी को कोई पता नहीं है कि इस की परम्परा कब तक चलती रहेगी। यानी यह कब तक ब्रह्म में लीन होता रहेगा? और कब फिर लीन होकर पुन: न उपजेगा? इस के आधार स्थान, स्थिति वा मध्य का भी किसी को कोई पता नहीं है कि वह कहाँ है और किस स्वरूप का है या है भी, अथवा है ही नहीं। इस प्रकार इसके आदि और अन्त के मध्य की अवस्था भी किसी को उपलब्ध नहीं होती। क्योंकि जिस वस्तु का आदि अन्त दोनों छोर मालूम हों उस का मध्य जाना जा सकता है अन्यथा नहीं।

फिर इस अश्वत्थ वृक्ष की जड़ बहुत पक्की और सुदृढ़ है क्योंकि वह तो स्वयं परब्रह्म परमात्मा के रूप में है। जो किसी प्रकार भी उखाड़ी

नहीं आ सकती। उस जड़ से बाहर निकला हुआ ही यह संसार रूपी पीपल वृक्ष है। जड सत्य शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्म परमेश्वर है। वृक्ष उस की माया से रचा हुआ बाज़ीगर की माया की तरह मिथ्या है। परन्तु सत्य की तरह भासमान हो रहा है वास्तव में यह जड़ से जुड़ा हुआ नहीं है। उसके साथ इस प्रकार सटा हुआ है कि जिस से यह सुदृढ़ता से जड़ से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। जिस प्रकार किसी के प्रतिबिम्ब को हम तेज़ धारा तलवार से नहीं काट सकते इसी प्रकार हम साधारण उपायों से इसे जड़ से जुदा नहीं कर सकते। न इसे काट छांट कर नष्ट कर सकते हैं। इस लिये भगवान् ने इसे जड़ से जुदा करने और नष्ट करने का एक ही उपाय असहयोग बताया है जिसकी शक्ति महात्मा गांधी जी ने भारतवासियों को प्रकट रूप में दिखा दी थी और उस अंग्रेज़ साम्राज्य का अन्त करके रख दिया था जो भूगोल के पांचवें भाग पर छाया हुआ था और जिस में कभी सूर्य-अस्त नहीं होता था।

भगवान् ने "संसार से असहयोग" का नाम असंग-शस्त्र जताया है जिसे दूसरे शब्दों में वैराग्य भी कहते हैं इस लिये मनुष्य जब तक विषयों से असहयोग न करे और उनके प्रलोभनों से दूर न रहे तब तक वह उन में फँसा ही रहता है और यह संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष बना ही रहता है। इस लिये इस वृक्ष को दृढ़ असंग शस्त्र से या सुदृढ़ वैराग्य रूप शास्त्र द्वारा काट कर अर्थात् जड़ से वियुक्त करके फिर परमपद रूप परमेश्वर को अच्छी तरह ढूंढ लेना चाहिए जो जड़ या मूल में सदा छिपा रहता है। मनुष्य को यह तथ्य भली भान्ति समझ लेना चाहिए कि ब्रह्म लोक पर्यन्त के सब भोग क्षणिक और नाशवान् हैं। इसलिये संसार के सब प्रकार के विषयों और भोगों में सत्ता, प्रीति, सुख और रमणीयता का न भासना वैराग्य रूप शस्त्र होता है। अहंता, ममता और वासना का त्याग करना ही संसार रूप वृक्ष का काटना है और उस की तीन प्रकार की जड़ें जो डाढ़ी जटाओं के रूप में लटका करती हैं वे पुत्रैष्णा वित्तैष्णा, तथा लोकैष्णा आदि का रूप धारण किए हुए हैं अथवा अहंता, ममता और वासना के रूप में फैली हुई हैं उन्हें भी बार बार अभ्यास रूपी शाण पर खर-धार या तीक्ष्ण किए हुए वैराग्य रूपी कुल्हाड़े से काटकर फेंक देना चाहिए।

उस के पश्चात् उस परम वैष्णव-पद को ढूंढना चाहिए अर्थात् जान लेना चाहिए कि जिस में पहुँचे हुए पुरुष फिर संसार में नहीं लौटते अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते।

जब उस पीपल का मुख्य तना, शाखाएँ और उपर की जड़ें कट जाएँ अर्थात् संसार का प्रसार धुएँ के बादलों की भान्ति उड़ कर नष्ट भ्रष्ट हो जाए तो उस के मूल रूप पर ब्रह्म को खोद कर उस का साक्षात्कार कर लेना

चाहिए । उसी का नाम परम पद को प्राप्त करना है । श्रुति में कहा है—

"तद् विष्णोः परमं पदम्" अर्थात् वह विष्णु का परम-पद है । फिर श्रुति में कहा है—

"सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ॥"

अर्थात् वह ब्रह्मपद ही अन्वेषण करने योग्य है और वह ब्रह्म ही जानने की इच्छा करने योग्य है ।

इस प्रकार ये पुरुष इस परम-पद में प्रविष्ट हो जाते हैं । वे फिर वापस लौट कर संसार में जन्म नहीं लेते ।

'भगवान् ने गी० ८।२१' में पहले भी कहा है—
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु : परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥"

[अर्थ—जो अव्यक्त, अक्षर (अविनाशी) कहलाता है, उसी को परम गति या परम-पद कहते हैं । जिसे पाने के बाद लोगों का पुनर्जन्म नहीं होता, वह मुझ विष्णु का परम धाम है ।] फिर इस प्रकार की दृढ़ धारणा कर लेनी चाहिए कि "मैं उसी आद्य-पुरुष को प्राप्त हो रहा हूँ" जिस से यह पुरातन प्रवृत्ति अर्थात् सगुण भोग रूप संसार का प्रवाह विस्तरित होता है । जैसे कि ऐन्द्रजालिक पुरुष से मायामय सिंह, हस्ति और अन्य पदार्थों की प्रवृत्ति होती है ॥ ३, ४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

निर्मान-मोहाः+जित-सङ्ग-दोषाः+अध्यात्म-नित्याः+विनिवृत्त-कामाः । द्वन्द्वैः+विमुक्ताः सुख-दुःख-संज्ञैः+गच्छन्ति+अमूढाः पदम्+अव्ययम्+तत् ॥

निर्मान-मोहाः=(वि०, पुं०, प्र० ब० व०) मानः च मोहः च=मानमोहौ, तौ निर्गतौ येभ्यः ते (द्वन्द्व०, बहुव्री०) । मान और मोह नष्ट हो गया है जिन का । जिन का अभिमान और अज्ञान नष्ट हो गया है । मान और मोह से रहित हुए ।

जित-सङ्ग-दोषाः=(वि०, पुं०, प्र० ब० व०) सङ्ग एव दोषः=सङ्गदोषः, जितः सङ्ग-दोषो यैः ते (बहुव्री०)=जीत लिया है संग या आसक्ति रूप दोष जिन्होंने । संग (आसक्ति) रूप दोष को जीते हुए ।

अध्यात्म-नित्याः=(वि०, पुं०), प्र० ब० व०) अध्यात्म (=परमात्मस्वरूप) आलोचनित्याः (=तत्पर:) ये बहुव्री०)=सदा परमात्मा के स्वरूप की आलोचना करने में तत्पर। परमात्मा के स्वरूप में नित्य (निरन्तर) स्थिति वाले। अध्यात्म चिन्तन में सदा तत्पर रहने वाले।

विनिवृत्त-कामाः=(वि० पुं०), प्र० ब० व०) [वि-नि√वृत्+क्त=विनिवृत्त] विशेषतो निर्लेप निवृत्ताः कामा येषां ते (बहुव्री०)=जिनकी सारी कामनाएँ निर्लेप भाव से (मूल सहित) निवृत्त हो गई हैं। अच्छी तरह से नष्ट हुई कामनाओं वाले। भली भान्ति दूर हुई इच्छाओं वाले।

द्वन्द्वैः=(नपुं० तृती० ब० व०) द्वौ द्वौ सहाभिव्यक्तौ, द्वि-शब्दस्य द्विस्वं, पूर्व-पदस्य अम्भावः, उत्तर-पदस्य नपुंसकत्वं नि०। द्वन्द्वों से। दो परस्पर विरुद्ध भावों से। सुख-दु:खादि युगलों से।

विमुक्ताः=(वि०) वि√मुच्+क्त+(पुं०) प्र०, ब० व०=विमुक्त हुए। छूटे हुए।

सुख-दु:ख-संज्ञैः=(वि० नपुं०, तृती० ब० व०) सुखानि च दु:खानि च तैः संज्ञैः+सुख-दु:ख नामों वालों से।

गच्छन्ति=√गम् (भ्वा० पर० सक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=जाते हैं। प्राप्त होते हैं। पाते हैं।

अमूढाः=न मूढाः ये ते (नञ् बहुव्री०)√मुह्+क्त+पुं०, प्र० ब० व०=जो मूर्ख नहीं हैं, वे लोग। ज्ञानी लोग। मोह से रहित हुए पुरुष।

पदम्=(नपुं०)√पद्+अच्=पद+द्विती० ए० व०=पद को। स्थान को।

अव्ययम्=(वि√इण्+अच्, नञ् बहुव्री०) (नपुं० द्विती० ए० ब०) अव्यय को। अविनाशी को।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उस को।

अर्थ—मान और मोह से रहित हुए, संग (आसक्ति) रूप दोष को जीते हुए, अध्यात्म (परमात्मा के स्वरूप) में सदा स्थिति वाले, (निर्लेप भाव से मूल सहित) अच्छी तरह से नष्ट हुई कामनाओं वाले, सुख-दु:ख आदि नामों वाले द्वन्द्वों से विमुक्त (छूटे) हुए, ज्ञानी लोग (पूर्व-कथित) उस अविनाशी परम-पद को प्राप्त होते हैं॥ ५॥

व्याख्या—अब इस श्लोक में भगवान् उन ज्ञानी लोगों के लक्षण बताते हैं जो उस परम-पद को प्राप्त होते हैं जिस का वर्णन पूर्व किया गया है—

भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! जिन लोगों के मन में अपनी बड़ाई की इच्छा नहीं है प्रतिष्ठा की लिप्सा नहीं है तथा मान की लालसा नहीं है, तमोगुण का प्रधान भाव मोह नहीं है और जिन्होंने संग अर्थात् आसक्ति के दोष को जीता

हुआ है, विद्या, गुण और धन आदि का अभिमान नहीं है, अविवेक बुद्धि से रहित हैं तथा किसी से ऐसा सम्बन्ध स्थापित नहीं करते जिस के विच्छेद हो जाने से दुःख या कष्ट हो और मिलाप से सुख मिले और जो लोग लोक और परलोक के भोगों के प्रलोभनो से मुक्त हो चुके हैं। विषय-विकारों के साथ सम्बन्ध तोड़ चुके हैं। अन्तःकरण को शुद्ध-बुद्ध-दुग्ध से धोए हुए हैं। नित्य-अध्यात्म लीन चित्त हुए रहते हैं। अपने परमस्वरूप के विचार, चिन्तन या ध्यान में सदैव लगे रहते हैं। क्षणमात्र के लिए भी अपने को परमात्मा से से पृथक नहीं करते हैं और जो जन सब प्रकार की इच्छाओं, तृष्णाओं, वासनाओं और स्पृहाओं से रहित हो चुके हैं और जिन लोगों के मन में किसी प्रकार की कामना शेष नहीं रही है।

इसी प्रकार जो लोग सुख या दुःख आदि उत्पन्न करने वाले द्वन्द्वों से रहित हो चुके हैं। शीत-उष्ण की परवाह नहीं करते और जिनको प्रिय अप्रिय का विचार नहीं है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, मान-अपमान और स्तुति-निन्दा जिन्हें सम हो चुके हैं।

जो इन उपरोक्त गुणों वाले पुरुष अमूढ या ज्ञानी बन चुके हैं तथा विचारवान्, बुद्धिमान् या तत्त्व-वेत्ता कहलाते हैं। वे लोग मेरे अविनाशी परम-पद को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सच्चिदानन्दघन पर-ब्रह्म परमेश्वर के स्वरूप में मिल जाते हैं। जिस से संसार में फिर उनका जन्म नहीं होता है ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

न तत्+भासयते सूर्यः+न शशाङ्कः+न पावकः। यत्+गत्वा न निवर्तन्ते तत्+धाम् परमम्+मम ॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उसको। उस (पद) को। उस (स्वयं प्रकाश-मय परम-पद) को। उस (धाम) को।

भासयते=√भास् (भ्वा० आत्म० अक०=चमकना)+णिच्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्रकाशित करता है। चमकाता है। प्रकाशित कर सकता है। चमका सकता है।

सूर्यः=(पुं०)√सृ+क्यप्, नि० साधुः। प्र० ए० व०। प्रत्येक सौर जगत् के ये सब से बड़े जाज्वल्यमान पिण्ड, जिनसे उनके अपने मण्डलों के सब ग्रहों, उपग्रहों, क्षुद्रग्रहों, उल्काओं और धूम्रकेतुओं को गर्मी और प्रकाश मिलते हैं। (कोई भी) सूर्य। (सब को प्रकाशित करने की शक्ति वाला

होने पर भी) [क्योंकि ये अरबों, खर्बों अनन्त सूर्य उसी परम-धाम के प्रकाश से प्रकाशित करने वाले बने हुए हैं।]

न=(अव्यय) न। नहीं।

शशाङ्कः=(पुं०)√शश् (भ्वा० पर० सक०=उछल कर चलना)+अच्=शश=चन्द्रमा में दिखाई देने वाला काला धब्बा जो खरगोश के चित्र सा दिखाई देता है। शश+अङ्कः। शशः (कृष्णचिन्हम्) अङ्के (क्रोडे) यस्य सः=चन्द्रमा।

[हमारे सौरमण्डल में लगभग इकतीस चन्द्रमा हैं ये सारे सूर्य से प्रकाश पा कर दूसरों को प्रकाशित करते हैं। क्योंकि प्रत्येक सूर्य का प्रकाश अपने मण्डल के प्रत्येक चन्द्रमा पर पड़ कर परिवर्तित होता रहता है। जिस से पृथ्वी पर रात्रि चद्रिकामय बन जाती है। परन्तु दिन के समय सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा आभाहीन दिखाई देता है।]

न=(अव्यय) न, नहीं।

पावकः=(पुं०)√पू (भ्वा० आत्म०, क्र्या० उभ० सक०=पवित्र करना)+ण्वुल=पौ+अकः (प्र० ए० व०)=अग्नि। वैद्युत अग्नि।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिस को। जिस (परमपद) को। जिस (परमधाम) को।

गत्वा=√गम्+क्त्वा=जा कर। प्राप्त होकर। (लोग)।

न=(अव्यय) न, नहीं।

निवर्तन्ते=नि√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=बरतना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=लौटते हैं। पीछे (संसार) में (नहीं) आते हैं।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह।

धाम=(नपुं०) दधाते गृहस्थादिकं, धीयते द्रव्य जातम् अस्मिन् इति वा। √धा+मनिण्=धामन्+प्र० ए० व०=धाम। घर। स्थान।

परमम्=(वि०) परम्+(नपुं०)+प्र० ए० व०=सब से परे का। परम।

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा॥

अर्थ—जिस (परम पद) को प्राप्त होकर (अमूढ़—ज्ञानी पुरुष) लौट कर (संसार में) वापस नहीं आते हैं; उस (स्वयं प्रकाश परम पद) को न (कोई) सूर्य प्रकाशित करता है, न (कोई) चन्द्रमा, न अग्नि। वह मेरा परम धाम है॥ ६॥

व्याख्या—इसी प्रकार का एक मन्त्र कठ०, २।२।१५, मुण्डक २।२।१० और श्वेताश्वर ६।१४ में भी पाया जाता है। जो इस प्रकार है—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

[अर्थ—उस स्वप्रकाश परमानन्द स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर को न (कोई) सूर्य ही प्रकाशित करता है। न (कोई) चन्द्रमा और न (कोई) तारों का समूह ही तथा न यह विद्युत ही प्रकाशित कर सकती है तो फिर इस लौकिक अग्नि की बात या सामर्थ्य ही क्या है? (कि उसे प्रकाशित कर सके)। क्योंकि ये सभी उस परब्रह्म के प्रकाशित होने पर उसके पीछे-पीछे प्रकाशित होते हैं और उसके प्रकाश से ही ये सब (ब्रह्माण्ड में स्थित पिण्ड समुदाय) प्रकाशित होते हैं।]

यद्यपि उस परब्रह्म के प्रकाश को किसी के भी चरम-चक्षु देख नहीं सकते, परन्तु वह प्रकाश अत्यन्त तीव्र और प्रचण्ड प्रकाश है। जिस को देखने की इच्छा करता हुआ महात्मा मूसा उसकी पहली ही झलक से मूर्च्छित होकर गिर पड़ा था। जिस प्रकार कल्पित किरणें (X-RAYS) अपारदर्शी शरीर के माँस के दूसरी ओर झाँक जाती हैं परन्तु उन्हें देख सकना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार उस परब्रह्म परमेश्वर का तीव्र और प्रचण्ड प्रकाश यद्यपि किसी को दिखाई नहीं देता परन्तु फिर भी सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत-प्रकाश और तारा गण आदि सब को प्रकाशित किए हुए हैं। इस लिए ये सब प्रकाश मिल कर भी उस प्रकाश को प्रकाशित नहीं कर सकते। यद्यपि वह प्रकाश-मय परमधाम सदा और सर्वत्र व्यापक है। हमारे भीतर बाहर फैला हुआ है, परन्तु किसी भी अन्य प्रकाश के द्वारा वह प्रकाशित न होने के कारण हमारी आँखों से ओझल रहता है। वह तो ज्ञान-चक्षुओं से भी नहीं देखा जा सकता ज्ञानियों को केवल भासमान् ही होता है।

जो पुरुष उस परम पद को प्राप्त होता है वह कहीं दूर के आकाशों में नहीं जाता। उसका जीवात्मा तो शरीर के भीतर ही अपने स्थान पर स्थित ही उस परमधाम रूप प्रकाश में मिलकर तद्रूप हो जाता है। तथा सर्वव्यापी बन जाता है। उस का फिर उस परब्रह्म से पृथक् होना असम्भव हो जाता है। घड़े का जल परमपाविनी गंगा में डाला हुआ गंगाजल ही बन जाता है तथा उस में से सब भेद भाव और पृथक सत्ता रूप रंग आदि मिट जाते हैं जिस से उस का फिर कभी संसार में पुनर्जन्म नहीं होता। जिस को ये ज्ञानी लोग अपुनरावृत्ति के लिए प्राप्त होते हैं वही मेरा प्रकाश है। वही मेरा परम पद है। वही मेरा परम धाम है। वही मैं हूँ। जिस के बिना और कुछ नहीं है।।

बृहज्जाबाल उ० (८।६।) में लिखा है—

"यत्र न सूर्यस्तपति, यत्र न वायुर्वाति,
यत्र प चन्द्रमा भाति, यत्र न नक्षत्राणि भान्ति,
यत्र नाग्निर्दहति, यत्र न मृत्यु प्रविशति,
सानन्दं परमानन्दं, शान्तं शाश्वतं सदाशिवं,
ब्रह्मादि वन्दतं, योगिध्येयं परं पदं,
यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ॥"

[अर्थ — जहाँ (कोई) सूर्य तपता नहीं, जहाँ (किसी प्रकार का कोई) वायु बहता या चलता नहीं, जहाँ (कोई भी) चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता, जहाँ न (किसी आकाश गंगा के) तारे चमकते हैं। न (किसी प्रकार की) आग जलती या जलाती है। जहाँ (कभी) मृत्यु प्रवेश नहीं करती। जहाँ (किसी प्रकार के) दुःख प्रविष्ट नहीं होते। वह सदानन्द, परमानन्द शान्त शाश्वत् (सदा रहने वाला सनातन) सदा कल्याण करने वाला ब्रह्मा आदि देवताओं ऋषियों, मुनियों साधु सन्तों भक्तों और हरिजनों से वन्दित योगियों के ध्यान करने योग्य "परमपद" है जहाँ जाकर योगि-जन जन्म लेने के लिए जगत् में लौट कर नहीं आते ॥]

कई लोग शंका करते हैं और कहते हैं कि जहाँ जाया जाता है वहाँ से लौटना भी पड़ता है तो इस श्लोक में न लौटने की बात क्यों कही गई है ? क्योंकि योग और वियोग दोनों का अनिवार्य सम्बन्ध होता है। इस पर भगवान् ने अगले श्लोक में प्रकाश डाला है। यहाँ तो केवल इतना ही समझ लेना चाहिए। कि जैसे घटाकाश महाकाश का ही अंश होता है वैसे ही जीवात्मा परमात्मा का ही अंश होता है जिस से अपने मूल रूप परब्रह्म में मिल जाने के अनन्तर फिर वह उस से कभी पृथक नहीं होता है। जैसे जल में प्रतीत होने वाला सूर्य का अंश (अर्थात् प्रतिबिम्ब) जल रूप निमित्त का नाश होने पर सूर्य को ही प्राप्त हो जाता है और फिर वापस नहीं लौटता है वैसे ही उस परमात्मा का यह अंश (प्रतिबिम्ब रूप जीवात्मा) भी अज्ञान रूप जल के नष्ट हो जाने से परमात्मा में मिल जाता है और फिर नहीं लौटता है ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

मम+एव+अंशः+जीव-लोके जीव-भूतः सनातनः । मनः षष्ठानि +इन्द्रियानि प्रकृति-स्थानि कर्षति ॥

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मे, मम=मेरा ।

एव=(अव्यय) ही ।

अंशः=(पुं०)√अंश (चुरा० पर० सक०=विभाजित करना । बाँटना)

+अच्=अंश+प्र० ए० व०=रूप (टुकड़ा नहीं)। सत्ता। (जिस प्रकार पुत्र पिता का अंश होता है)। प्रतिबिम्ब।

जीव-लोके=(पुं०) जीवानां लोके (षष्ठी० तत्पु०) सप्त० ए० व०=संसारे। =जीव लोक में। संसार में। इस देह में।

जीव-भूत:=(पुं०) जीव बना हुआ। जीव नाम धारी। जीवात्मा। जीव रूप शक्ति। भोक्ता। कर्त्ता। जीव हुआ। (प्र० ए० व०)।

सनातन:=(वि०) सदा+ट्युल्, तुट् नि० दस्य न: (प्र० ए० व०) अनादि। सनातन। सदा से चला आ रहा और सदा रहने वाला। नित्य। स्थायी।

मन:=(नपुं०)√मन्+असुन्=मनस्+द्विती० ए० व०=मन को। मन आदि को। मन आदि। मन: यासु षष्ठ: तानि इन्द्रियाणि। मन जिन में छठा है उन इन्द्रियों को।

षष्ठानि=(वि०) षण्णां पूरण: षष्+डट् युक्=षष्ठ+(नपुं०) द्विती० ब० व०=छ: को।

इन्द्रियाणि=(नपुं०) इन्द्रिय+द्विती० ब० व०=इन्द्रियों को। ज्ञानेन्द्रियों को।

प्रकृति-स्थानि=(नपुं०) प्रकृतिषु स्थानि (सप्त० तत्पु०)।

श्रोत्रादीनि प्रकृति स्थानि=स्व-स्थाने कर्ण-शष्कुल्यादौ प्रकृतौ स्थानानि =कर्ण-छिद्र आदि अपने अपने गोलक रूप प्रकृतियों में स्थित हुई को। अथवा—त्रिगुण मयी प्रकृति या माया में टिकी हुई को।

कर्षति=√कृष्+लट्० प्र० पु०, ए० व०+णिच्=खींच लेता है। खींच ले जाता है।

अर्थ—जीव लोक (=इस शरीर या संसार) में जीव रूप धारी (आत्मा) मेरा ही अंश (=प्रतिविम्ब) है। जो (मरण काल में) प्रकृति स्थित (हृदय, कान, नाक, जीभ और त्वचा के विवरों में रहने वाली) मन आदि छ: ज्ञान इन्द्रियों को (अपने साथ) खींचता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—जैसे अनेक घड़ों में विभाग रहित स्थित हुआ भी महाकाश उन में पृथक् पृथक् की भान्ति प्रतीत होता है। इसी प्रकार प्रत्येक देह में स्थित जीवात्मा भी पृथक् पृथक् की भान्ति प्रतीत होता है वह वास्तव में तो एक ही परमात्मा का अखण्ड रूप है। इसी प्रकार जब बहते हुए वायु का वेग प्रचण्ड रूप धारण कर लेता है तो सरोवर के जल के तल पर वायु से भरे हुए अनेक बुदबुदे उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तू वे वास्तव में उसी अखण्ड वायु के रूप होते हैं जो विशाल वायु-मण्डल में व्यापक हैं।

इस स्थान पर कुछ मूढ लोग यह शंका करते हैं कि भगवान् ने प्रत्येक जीव को अपना अंश कहा है। जिस से प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का टूटा हुआ या विभक्त टुकड़ा माना जायेगा। जब किसी वस्तु से कोई टुकड़ा कट कर पृथक् हो जाता है और कोई टुकड़ा आकर उस से पुनः जुड़ जाता है। तो ऐसा होने से परमात्मा बढ़ने और नाश होने वाला बन जाएगा। और ऐसी दशा में वह अव्यय अनन्त अक्षर और अविनाशी न रह सकेगा। जन्म-मरण धर्म वाला हो जाएगा।

वास्तव में अंश कहने का भाव यहाँ टुकड़ा या खण्ड नहीं है। बल्कि जैसे सूर्य संसार भर के सब जलाशयों में प्रतिबिम्बित हुआ अपने समान रूप वाले प्रतिबिम्बों से भिन्न प्रतीत होता है और वे सब प्रतिबिम्ब सूर्य का अंश होते हुए भी सूर्य से भिन्न दिखाई देते हैं। जलों के सूख जाने पर वे पुनः अपने मूल स्वरूप सूर्य में मिल जाते हैं। दोन अवस्थाओं में सूर्य से टूट कर न कुछ पृथक् होता है न कुछ जुड़ता या मिलता है यही सूर्य और उस के प्रतिबिम्ब जैसा सम्बन्ध परमात्मा और जीवात्मा का है। उस प्रभु से न कोई प्रकृति जनित (या मादी) वस्तु पृथक होती है और न ही मिलती है। जिस से वह न्यूनाधिक कभी नहीं होता। इस से सदा असीम और अविनाशी बना रहता है। परमात्मा तो उस असीम अनन्त स्थायी सनातन प्रज्वलित अग्नि के ढेर के समान है। जिस की ज्वाला से जीव रूपी अनेक दीपक जलते और बुझते चले आ रहे हैं। परन्तु वह ब्राह्मी अखण्ड ज्योति सदा से जलती चली आ रही है और सदैव जलती रहेगी।

यह जीवात्मा मरण काल में जब देह का त्याग करता है तो हृदय से मन को खींच लेता है। शष्कुलियों अर्थात् कर्ण-छिद्रों से श्रवण शक्ति ग्रहण करता है। नासिका से घ्राण शक्ति को ग्रसता है, जीभ या रसना से आस्वादन लेता है। नेत्रों से देखने वाली शक्ति को आकर्षित करता है तथा त्वचा से स्पर्शशक्ति को खींचता है। इस प्रकार मन जिनमें छठा है, ऐसी कर्ण-छिद्रादि अपने अपने गोलक रूप प्रकृतियों में स्थित हुई, श्रोत्रादि इन्द्रियों को शरीर त्यागता हुआ जीव आत्मा आकर्षित करके अपने साथ ले जाता है और अगले जन्म में नये शरीर को रचता हुआ पुनः इन छहों को उस में यथा स्थान स्थापित कर देता है। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष, भक्त और ज्ञानी-जनों के जीवात्मा उन को आकर्षित नहीं करते। उनको भौतिक शरीर में ही जुड़े रहने देते हैं, जिस से निर्लेप, शुद्ध और हल्के फुल्के होकर परमात्मा में मिल जाते हैं। जैसे जो साधु लोग हाथी, घोड़े, पालकियाँ, चेले, बालके आदि लेकर संसार यात्रा करते हैं वह यहीं फँसे रहते हैं। परन्तु त्यागी, वैरागी, संगति रहित और निर्लिप्त ईश्वर शरण को प्राप्त हुए पुरुष परम पद को पा लेते हैं। श्री ज्ञान देव जी

कहते हैं कि—"आत्मा अपनी विस्मृति के कारण आप ही प्रकृति रूप होकर उस में अनुरक्त हो जाता है तब वह मन रूपी रथ पर चढ़ता है। कर्ण-छिद्रों से बाहर निकलता है और शब्द रूपी सुन्दर वन में प्रवेश करता है। प्रकृति के गुण रूपी घोड़ों की बागडोरें पकड़ कर त्वचा रूपी दिशा की ओर चल पड़ता है और स्पर्श रूपी घोर वन में प्रवेश करता है। किसी समय वह नेत्र द्वार से निकल कर रूप-विषय भरे मोहक पर्वतों में भ्रमण करने लगता है। कभी रसना के मार्ग से रस रूपी सरोवर में डुबकियाँ लगाता है तथा रोम रूप गुहा में गिरता है और कभी यह मेरा अंश घ्राण-मार्ग से निकल कर सुगन्ध रूपी दारुण वन में जाकर पुष्पों को सूंघने लगता है। इस प्रकार देह और इन्द्रियों को स्वामी बन कर यह जीवात्मा मन को छाती से लगा कर शब्दादि विषय समुदायों का उपभोग करता है। इसी से संसार में फँसा रहता है। इसी से बार बार जन्म लेता और मरता है।"

यद्यपि जीव-लोक का अर्थ जगत् या संसार भी होता है परन्तु इस श्लोक में इस का अर्थ—जीवात्मा का निवास-स्थान शरीर ही उपयुक्त मालूम होता है और यह शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार का होता है। परन्तु यहाँ स्थूल शरीर से ही अभिप्राय है। इन्द्रियाँ मन सहित ग्यारह मानी जाती हैं। पाँच कर्म-इन्द्रियाँ तो स्थूल होने के कारण स्थूल शरीर के साथ ही जुड़ी रह जाती हैं इसलिये उनके स्थान पर यह "प्रकृति" शब्द दिया गया है और प्रकृति-स्थानि—"मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" का विशेषण बना दिया गया है। बुद्धि का भी मन में प्रवेश हो जाता है और ज्ञानेन्द्रियों के रहने के स्थान कर्मेन्द्रियाँ और हृदय की रचना प्रकृति की सहायता द्वारा आत्मा स्वयं नवीन शरीर में कर ही लेता है। श्रुति कहती है—

"स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः।
तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ॥"

[अर्थ—वह परमात्मा ही इस संघात या देह में नाखूनों के अग्र भागों से प्रविष्ट होता है और वह परमात्मा ही इस देह को उत्पन्न करके आप ही जीव रूप हो कर पुरुष में प्रवेश करता है] ॥ ७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

शरीरम्+यत्+अवाप्नोति यत्+च+अपि+उत्क्रामति+ईश्वरः ।
गृहीत्वा+एतानि संयाति वायुः+गन्धान्+इव+आशयात् ॥

शरीरम्=(नपुं०)√शॄ (क्र्या० पर० सक०=नाश करना या होना)+ईरन्=शरीर+द्विती० ए० व०=शरीर को। देह को।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिस को।

अवाप्नोति=अव√आप् (स्वा० पर० सक०=प्राप्त होना, पाना, पहुँचना)+
लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिस को। जिस (पहले शरीर) को।

च=(अव्यय) और। फिर।

अपि=(अव्यय) भी। ही। निश्चय। ठीक।

उत्क्रामति=उत्√क्रम् (भ्वा० पर० अक० सक०=निकल जाना, त्यागना)+
लट्० प्र० पु०, ए० व०=त्यागता है। छोड़ता है।

ईश्वरः=(पुं०)√ईश् (अदा० आत्म० अक०=समर्थ होना)+वरच्=ईश्वर+
प्र०, ए० व०=स्वामी। (देह का) स्वामी। जीवात्मा।

गृहीत्वा=√ग्रह् (क्र्या० उभ० सक०=ग्रहण करना। आकर्षित करना। खींचना)+क्त्वा=ग्रहण करके। खींच कर। अपने साथ बाँध कर।

एतानि=एतद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ब० व०=इनको। इन (मन सहित पाँचों ज्ञान-इन्द्रियों) को।

संयाति=सम्√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना। प्राप्त होना)+लट्०
प्र० पु०, ए० व०=जाता है। प्राप्त होता है। ले जाता है।

वायुः=(पुं०)√वा+उण्, 'युक्' आगम=वायु+प्र०, ए० व०=पवन।
हवा। समीर। वायु।

गन्धान्=(पुं०)√गन्ध् (चु० आत्म० सक०=माँगना, जाना, गन्ध फैलाना)+
अच्=गन्ध+द्विती० ब० व०=गन्धों को। सुगन्धों या दुर्गन्धों को।

इव=(अव्यय)√इ+क्वन् (बा०)=जैसे। भान्ति। तरह।

आशयात्=(पुं०) आ√शी (अदा० आत्म० अक०=लेटना, सोना, रहना)+
अच्=आशय+पुं०, ए० व०=स्थान से। (गन्ध के) स्थान से॥

अर्थ—वायु (गन्ध के) स्थान से गन्धों को जैसे (खींच कर ले जाता है)। (वैसे ही) ईश्वर (अपने आप को देहों का स्वामी समझने वाला जीवात्मा) भी जिस (शरीर को) छोड़ता है; (उस से) इन (छठी ज्ञान सहित पाँच कर्मेन्द्रियों) को खींच कर उस शरीर में ले जाता है, जिस को पुनः वह प्राप्त होता है॥ ८॥

व्याख्या—आशय का अर्थ घर या रहने का स्थान अथवा जन्म-स्थान होता है। गन्ध का अर्थ बू या घ्राणेन्द्रिय को प्रभावित करने वाली "वायु मिश्रित किसी प्रकार की गैस" होता है। गन्ध दो प्रकार की होती है, एक

सु-गन्ध या खुशबू, दूसरी दुर्गन्ध या बदबू। खुशबू के आशय (रहने या जन्म के स्थान) पुष्प, चन्दन, केसर, कस्तूरी, इतर, सैण्ट, फल इत्यादि वस्तुएँ होती हैं और दुर्गन्ध के वासस्थान कूड़ा-कर्कट, सण्डास, मरे हुए पशु-पक्षी, सड़े हुए फल, दुर्गन्ध पूरित जलाशय इत्यादि होते हैं। कुछ गन्ध ऐसे भी होते हैं कि जिन को पूरी तरह से न तो सुगन्ध कहा जा सकता है और न ही दुर्गन्ध माना जा सकता है फिर ये सुगन्ध भी नाना प्रकार के होते हैं और दुर्गन्ध भी भान्ति-भान्ति के होते हैं। परन्तु एक बात सब में साँझी होती है कि ये सब गैस बन कर वायु में मिलते हैं और वायु इन्हें अपने साथ खींच कर दूर तक ले जाती है प्रायः सब गन्धों के सूँघने से इस बात का पता चल जाता है कि ये किस प्रकार के आशय या वस्तु से निकल कर आ रहे हैं। भगवान् से इस श्लोक में न तो सुगन्ध कहा है न दुर्गन्ध कहा है। केवल "गन्धान्" पद प्रयुक्त किया है जिस से अभिप्राय अच्छे बुरे आदि सब प्रकार के गन्धों से है और इस उपमान का उपमेय मन सहित पाँच-ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। जो सुगन्ध की भान्ति उत्तम या सत्विक भी हो सकती हैं और दुर्गन्ध की भान्ति निकृष्ट या तामस भी हो सकती हैं तथा मध्यवर्ती 'गन्ध' या 'राजस' भी हो सकती हैं। इनके अच्छा या बुरा होने का प्रभाव आगामी जन्म के शरीर, वंश या स्वभाव पर पड़ता है इसलिये जिन टीकाकारों ने गन्ध का अर्थ केवल सुगन्ध ही किया है। हमारे विचार में वह भगवान् के आशय के अनुकूल नहीं है। क्योंकि ज्ञानी पुरुष का जीवात्मा तो जीवन काल में ही इन्द्रियों के विषयों के रस से रहित हो जाता है वह तो गन्ध ग्रहण करने वाले वायु की भान्ति मरण काल में मन सहित इन्द्रियों को कभी साथ नहीं ले जाता है क्योंकि उस ने तो आयु भर के मनन, चिन्तन, ध्यान और ज्ञान के द्वारा निरन्तर इसका अभ्यास किया हुआ होता है। परन्तु साधारण प्राणियों के जीवात्मा अज्ञानता के वशीभूत हुए अपने को साक्षात् 'देह' या 'देह का स्वामी' मान कर इन्द्रियों के विषयों के रस भोगने में लगे रहते हैं। अपने मूल स्वरूप को वे प्रकृति के गुणों के अधीन हुए सदैव भूले रहते हैं। इसलिये जिस प्रकार वायु अच्छे बुरे स्थान से सुगन्ध और दुर्गन्ध को लेकर उड़ता है इसी प्रकार जीवात्मा जिस भी शरीर में जन्म धारण करता है मरण-काल में उसमें स्थित कान, आँख, जीभ, नासिका और त्वचा से श्रवणादि ज्ञान इन्द्रियों को तथा हृदय से मन को अच्छे बुरे मध्यम अर्थात् सात्विक तामस और राजस गुणों से युक्त हुओं को अपने साथ लेकर देह से बाहर निकलता है और किसी अन्य देह में भोजनादि में विटामिन या जीव-तत्त्व का रूप धारण करके प्रविष्ट होता है और शुक्राणु का रूप धारण करता है फिर जब यह शुक्राणु स्त्री या मादा के अण्डे में प्रविष्ठ होता है तो अपने ऊपर नवीन शरीर की बेखबरी और अनिच्छावस्था में ही रचना करता है उसमें प्रकृति द्वारा पाँच कर्मेन्द्रियों की रचना हो जाती है और इस नवीन

शरीर के हृदय में मन की स्थापना हो जाती है तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने उपयुक्त स्थानों में टिक जाती हैं। अण्डे की बाहरी भीत के भीतर ही सारे शरीर की रचना सम्पूर्ण हो जाने पर शिशु या बच्चे का जन्म होता है जो माता द्वारा पाला पोसा हुआ फिर बड़ा हो जाता है ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन के समुदाय का नाम ही सूक्ष्म-शरीर है। कई महापुरुषों का ऐसा बिचार है कि इन छहों में पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राणेन्द्रियों और ग्यारहवीं बुद्धि को भी समझना चाहिए। इस प्रकार इन सत्तरह तत्त्वों के मिलने से यह सूक्ष्म शरीर बना हुआ होता है। जिस को जीवात्मा पहले शरीर से लेकर इस तरह उड़ता है जिस प्रकार गन्ध को लेकर वायु उड़ता है और फिर यह इस प्रकार दूसरे शरीर में प्रविष्ट होकर शुक्राणु बनता है जिस प्रकार सुगन्ध मिला वायु नासिका में घुस कर स्थित होता है और वहाँ पर से फिर अगला कार्य प्रारम्भ होता है ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

श्रोत्रम्+चक्षुः स्पर्शनम्+च, रसनम्+घ्राणम्+एव च। अधिष्ठाय मनः+च+अयम्+विषयान्+उपसेवते ॥

श्रोत्रम्=(नपुं०)√श्रु+ष्ट्रन्=श्रोत्र+द्वितीο एο वο=श्रोत्र को।

चक्षुः=(नपुं०)√चक्ष्+उसि=चक्षुस्+द्वितीο एο वο=चक्षु को। नेत्र को। आँख को।

स्पर्शनम्=(वि०)√स्पर्श् वा स्पृश्+करणे ल्युट्+स्पर्शन+(नपुं०) द्वितीο एο वο=(छूने के साधन) त्वचा को। चमड़ी को।

च=(अव्यय) और।

रसनम्=(नपुं०)√रस्+करणे ल्युट्=रसन+द्वितीο एο वο=(स्वाद के साधन) रसना को। जिह्वा को। जीभ को।

घ्राणम्=(नपुं०)√घ्रा+करणे ल्युट्=घ्राण+द्वितीο एο वο=(सूँघने के साधन) नाक को। घ्राण को सूँघने की शक्ति को।

एव=(अव्यय) ही। ऐसे ही।

च=(अव्यय) और। तथा।

अधिष्ठाय=अधि√स्था+ल्यप्=आधार बना कर। आश्रय करके। सहारा करके।

मनः=(नपुं०) मन्यते बुध्यते अनेम,√मन्+असुन्=अनस्+द्वितीο एο वο=मन को। [मन=प्राणियों में वह शक्ति जिस के द्वारा उन को वेदना,

संकल्प, इच्छा, द्वेष प्रयत्न और विचार आदि का अनुभव होता है। इसको चित्त और अन्त:करण भी कहते हैं।]

च=(अव्यय) और।

अयम्=इदम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=यह। यह (ईश्वर)। यह (जीवात्मा)।

विषयान्=(पुं०) विषिण्वन्ति स्वात्मकतया विषिणं संबध्नन्ति, वि√सि+अच्, षत्व=विषय+द्विती० ब० व०=विषयों को। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा गृहीत होने वाले पदार्थों (रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श) को।

अर्थ—यह (ईश्वर-जीवात्मा, शरीर में स्थित हुआ) श्रोत्र (कान), चक्षु (आँख) और त्वचा (चमड़ी) को तथा रसना (जीभ), घ्राण (नाक) और मन को आश्रय करके ही विषयों (रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श के आनन्द) को भोगता है॥ ९॥

व्याख्या—वास्तव में तो आत्मा अकर्ता, अभोक्ता और निर्लेप है और परमात्मा का अंश या प्रतिबिम्ब है। परन्तु जब यह जीवात्मा अज्ञानता के कारण अपने आप को शरीर का स्वामी कर्ता और भोक्ता समझ कर मन और इन्द्रियों को अपने साथ रखता है तो यह जीवात्मा अपना सम्बन्ध शरीर के साथ जोड़ लेता है और इन्द्रियों के द्वारा होने वाले कर्मों को अपने द्वारा होते हुए मानने लगता है। तब कान, नाक, जीभ, आँख और चमड़ी के द्वारा सुनने, सूँघने, स्वाद लेने, देखने और स्पर्श करने से आनन्द का अनुभव करने लगता है और मन को विषय भोगों के पीछे छोड़ देता है। जिससे वह ब्रह्म मार्ग से भटक जाता है और इन्द्रियों द्वारा विषयों के भोग भोगने लगता है। वास्तव में तो वह स्वयं इन कर्मों का कर्ता नहीं है, न इनके फलों का भोगने वाला है। उसका अज्ञान ही उसके बन्धन का कारण है। श्रुति में कहा है—

"आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:।"

अर्थात् इन्द्रियों और मन से युक्त हुआ ही आत्मा 'भोक्ता' होता है अन्यथा नहीं ऐसा बुद्धिमान् लोग कहते हैं" परन्तु जो महापुरुष इन छहों से युक्त नहीं होते हैं, वे तो केवल सुनने के लिए ही सुनते हैं। देखने के लिए ही देखते हैं। ज्ञान के लिए ही छूते हैं। प्राण यात्रा के लिए ही खाते हैं और केवल सांस लेने के लिए नाक का प्रयोग करते हैं। मन उन के वशीभूत होने से सदा नपुंसक ही बना रहता है जिस से पाणिनि मुनि के कहने का समर्थन होता है। वे विषयी पुरुषों की भान्ति यह कभी नहीं कहते—

मनस् नपुंसक मान कर, भेजा प्यारी पास।
रसिया उस में रम रहा, सु किये पाणिनि नास॥

इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए देश-पिता गांधी जी कहते हैं—

यहां "विषय" शब्द का अर्थ बीभत्स विलास नहीं है, बल्कि प्रत्येक इन्द्रिय की स्वभाविक क्रिया है, जैसे आँख का विषय है देखना, कान का सुनना, जीभ का चखना। ये क्रियाएं जब विकार वाली, अहंभाव वाली होती हैं, तब दूषित—बीभत्स ठहरती हैं। जब निर्विकार होती है तब ये निर्दोष हैं। बच्चा आँख से देखता या हाथ से छुता हुआ विकार नहीं पाता। इस लिये नीचे के श्लोक में कहते हैं—॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि, भुञ्जानं वा
गुणान्वितम् । विमूढा नानुपश्यन्ति,
पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

उत्क्रामन्तम्+स्थितम्+वा+अपि भुञ्जानम्+वा गुण+अन्वितम् । विमूढाः+न+अनुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान-चक्षुषः ॥

उत्क्रामन्तम्=(वि० पुं०) उत् √क्रम् (भ्वा० पर० अक० सक०=निकल जाना, छोड़ जाना)+शतृ=उत्क्रामत्=द्विती० ए० व०=(शरीर से) निकलते हुए को। (शरीर) छोड़ कर जाते हुए को।

स्थितम्=(वि० पुं०)√स्था(भ्वा० पर० अक०=ठहरना स्थित होना) +क्त+द्विती० ए० व०=(शरीर में) स्थित हुए को।

वा=(अव्यय)√वा+क्विप्=वा, या, अथवा।

अपि=(अव्यय) भी।

भुञ्जानम्+(वि०, पुं०)√भुज् (रुधा० उभ० सक०=खाना, भोगना)+ शानच्=भुञ्जान+द्विती० ए० व०=(विषयों को) भोगते हुए को।

वा=(अव्यय) वा, या, अथवा।

गुण+अन्वितम्=(वि० पुं०) (सुखदुःखमोहाख्यैः) गुणैः अन्वितम् (अनुगतं, संयुक्तम् इत्यर्थम्) [तृती० तत्पु०]=(सुख-दुःख-मोह आदि) गुणों से युक्त हुए को। (सत्त्व, रज, तम तीनों) गुणों से युक्त हुए को।

[गुण=(पुं०) √गुण्+अच्=गुण, लक्षण। धर्म। डोरी। अन्वितम्= अनु √इण्+क्त+द्विती० ए० व० (पुं०)=युक्त हुए को। सम्बन्ध स्थापित किए हुए को]।

विमूढाः=(वि० पुं०) वि √मुह् (दिवा० पर० अक०=मूर्ख होना) +क्त+प्र० ब० व०=विशेष मूर्ख लोग। परले सिरे के मूर्ख पुरुष। गाढ मोह को प्राप्त हुए। विशेष भ्रम में पड़े हुए।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अनुपश्यन्ति=अनु √दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=देखते हैं। जानते हैं।
पश्यन्ति=√दृश्+लट्० प्र० पु०, ब० व०=देखते हैं।
ज्ञान-चक्षुषः=(पुं० वि०) ज्ञानस्य चक्षुः यस्य अस्ति (बहुव्री, प्र० ब० व०) ज्ञान की आंख वाले। ज्ञान-दृष्टि रखने वाले। विद्वान् लोग। ज्ञानी पुरुष ॥

अर्थ—(मरण काल में शरीर को त्याग कर) जाते हुए को, या (देर से उस में) स्थित हुए को, अथवा (विषयों को) भोगते हुए को किंवा गुणों के साथ युक्त हुए को (इस ईश्वर=प्रभु अंश या झलक जीवात्मा को) भी विमूढ पुरुष नहीं देखते हैं (जानते हैं)। (केवल) ज्ञान-दृष्टि रखने वाले (ज्ञानी लोक ही) देखते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—प्रत्येक पुरुष प्रत्यक्ष रूप में जीवों को नित्य ही शरीर-त्याग करते हुए देखता है और प्रत्येक प्राणी की देह में जीवन-धारी के दर्शन भी करता है। फिर प्रत्येक प्राणी को नेत्रादि द्वारा विषयों को भोगते हुए भी जानता है और सब के स्वभाव की भी परख करता है किसी का स्वभाव सत्त्वगुण प्रधान होता है तो किसी में रजो गुण की अधिकता होती है तथा किसी में तमो गुण की प्रबलता होती है, इसी से सब पुरुष और जीव जन्तु सुख दुःख और मोह आदि गुणों से युक्त होते हैं। इस प्रकार अत्यन्त दर्शन-गोचर होते हुए भी इस ईश्वर अर्थात् आत्मा को विमूढ (ज्ञान नेत्र फूटे हुए) लोग ठीक इसी प्रकार नहीं देखते जिस प्रकार किसी यात्री के पास से भैंसें ले जा रहा कोई पुरुष लांघ जाता है और थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर उस को एक दूसरा भाई यात्री मिलता है और पूछता है कि अरे भाई इधर को भैंसे ले जाता हुआ कोई पुरुष भी गया है तब वह यात्री बार बार सोचने पर भी यही कहता कि भाई! मैं ने तो इधर मे भैंसें ले जाता हुआ कोई आदमी नहीं देखा मूढ लोग आत्मा को शरीर धारण करते शरीर छोड़ते, जीवित चलते फिरते और गुणों से युक्त देखते हुए भी उस की वास्तविकता को नहीं देखते क्योंकि वे लोग तो दृष्ट और अदृष्ट विषय भोगों की लालसा के बल से मिथ्या कार्यों में चित्त आकृष्ट हुए होते हैं और सदा गाढ मोह के अंधकार में लीन रहते हैं। उन के हृदय में भी तो ज्ञान-दीपक ही नहीं जलता है इसी से वे देखते हुए भी नहीं देखते हैं। सुनते हुए भी नहीं सुनते हैं। परन्तु तत्त्वज्ञाता महात्मा लोग उस आत्मा के यथार्थ स्वरूप को सदा जानते और देखते हैं क्योंकि भगवान् की कृपा से उनको दिव्य चक्षु मिले हुए होते हैं। इस को जान कर फिर वे जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर अपने मूल स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर में मिल जाते हैं ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यतन्तः+योगिनः+च+एनम्+पश्यन्ति+आत्मनि+अवस्थितम् ।
यतन्तः+अपि+अकृत-आत्मानः+न+एनम्+पश्यन्ति+अचेतसः ॥

यतन्तः=√यत् (भ्वा० उभ० अक०=यत्न करना)+शतृ=यतत्+प्र० ब० व०=यतन्तः=प्रयत्नं कुर्वन्तः=यत्न या प्रयत्न करते हुए।

योगिनः=(वि० पुं०) योग+इति वा √युज्+घिनुण्=योगिन्+प्र० ब० व०=योगी जन। योगी लोग।

च=(अव्यय) और।

एनम्=इदम्, एतद् (सर्व०)+(पुं०) द्वितीे० ए० व०=इसको। इस (आत्मा) को।

पश्यन्ति=√दृश्+प्र० पु०, ब० व०=देखते हैं।

आत्मनि=(पुं०)√अत्+मनिन्=आत्मन्+सप्त० ए० व०=आत्मनि (स्वस्यां बुद्धौ)=अपने में। अपने शरीर में। अपने हृदय में। अपने अन्तःकरण में।

अवस्थितम्=अव√स्था+कर्तरि क्त+(पुं०) द्वितीे० ए० व०=स्थित हुए को।

यतन्तः=यत्न करते हुए।

अपि=(अव्यय) भी।

अकृत+आत्मानः=(वि०, पुं०, प्र० ब० व०,) [अकृत=(वि०) न√कृ+क्त =अकृत। अकृताः=असंस्कृताः=संस्कृत (शुद्ध न किये हुए) आत्मा (अन्तःकरण) वाले।] (तप और इन्द्रिय-जय आदि साधनों से) भक्ति हीन, स्वेच्छाचारी, दुराचारी। अपने अन्तःकरण को शुद्ध न किए हुए।

न=(अव्यय) न। नहीं।

एनम्=(पुं०) इस को। इस आत्मा को।

पश्यन्ति=देखते हैं।

अचेतसः=(वि०, पु०, प्र० ब० व०)√चित्+असुन् (नञ् तत्पु०)=अज्ञानी लोग। अविवेकी जन। बे समझ लोग।

अर्थ—और (तप तथा इन्द्रिय-जय आदि साधनों से अपने अन्तःकरणों को शुद्ध किए हुए) योगी लोग यत्न करते हुए, अपने में स्थित इस (आत्मा) को देखते हैं। परन्तु यत्न करते हुए भी (तप आदि साधनों द्वारा) अपने अन्तःकरण को शुद्ध न किए हुए अज्ञानी लोग इस (आत्मा) को नहीं देखते हैं॥ ११ ॥

व्याख्या—आत्म-साक्षात्कार करने के लिये वेदों, उपनिषदों आदि सच्छास्त्रों का अध्ययन करना, महा पुरुषों द्वारा किए जा रहे ब्रह्म-विद्या के उपदेशों को ध्यानपूर्वक श्रवण और मनन करना तथा तप, ध्यान और योग-साधन आदि करना यह सब कुछ "प्रयत्न करने" के अन्तर्गत है। जो ज्ञानी लोग इस प्रकार के प्रयत्न करने से पहले अपने मन और इन्द्रियों को वशीभूत कर चुके हैं। कर्मों की आसक्ति और उन के फल से रहित हो चुके हैं तथा प्राणी-मात्र में सम-दृष्टि होकर सब में एक ही आत्मा को जानते हैं न किसी से द्वेष रखते हैं और न किसी में आसक्ति है। विषय-विकारों से रहित हो कर पूरी तरह शान्त-चित्त हो गये हैं। उनके अन्तःकरणों को शुद्ध कहा जाता है। ऐसे पूर्ण ज्ञानी योगी यत्न करते हुए अपने भीतर-बाहर आत्मा या परमात्मा के दर्शन करते हैं और जीवन-काल में ही विदेह बन जाते हैं तथा देहत्याग के बाद मन और इन्द्रियों को खींच कर अपने संग नहीं ले जाते। जिस से मोक्ष पाते हैं। परन्तु जो लोग शास्त्रों को भी पढ़ते हैं। महा पुरुषों के वचनों या उपदेशों को भी सुनते हैं। तिलक, माला, जनेऊ और शिखा भी धारण करते हैं। सन्ध्यावन्दन भी करते हैं। यह उन का आत्म-दर्शन के लिए प्रयत्न करना तो ठीक है परन्तु साथ ही जब वे विषय विकारों में फँस कर इन्द्रियों के भी किङ्कर बने रहते हैं। काम, क्रोध, मोह, लोभ उन के अन्तः-करणों में सदा डेरे डाले रहते हैं तो वे मूढ़ और मलीन मन कहलाते हैं ऐसे अविवेकी पुरुष अपने भीतर आत्मा को नहीं देखते हैं। इसलिये हे अर्जुन! यत्नशील ज्ञानवान् योगी ही सर्वव्यापक परमात्मा को अपने भीतर स्वस्वरूप में देखते हैं।

जो नम्रता और श्रद्धा से ईश्वर को भजते हैं। वे आत्म-शुद्ध हो जाते हैं और ईश्वर को पहचान लेते हैं। जो यम नयमादि की अवहेलना करके केवल बुद्धि बल के प्रयोग से ईश्वर को पहचानना चाहते हैं वे अचेतस् या चित्त से रहित होते हैं वे ईश्वर को पहचान नहीं सकते ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

यत्+आदित्य-गतम्+तेजः+जगत्+भासयते+अखिलम् । यत्+चन्द्रमसि यत्+च+अग्नौ तत्+तेजः+विद्धि मामकम् ॥

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

आदित्य-गतम्=(वि० नपुं० प्र०, ए० व०) आदियं गतम् (द्विती० तत्पु०) =सूर्य में विद्यमान । सूर्य गत । आदित्य-आश्रय हुआ । सूर्य में स्थित हुआ ।

[आदित्य=(पुं०) अदिति+ण्य । अदिति पुत्र सूर्य ।

गतम् =√गम् + क्त + (नपुं०) प्र० ए० व० = गया हुआ। टिका हुआ। स्थित हुआ]

तेजः = (नपुं०) √तिज् (चुरा० उभ० सक० = तेज करना। भ्वा० आत्म० सक० = सहन करना) + असुन् = तेजस् + प्र०, ए० व० = दीप्ति प्रकाश तेज, चमक, आभा, गर्मी, धूप इत्यादि गुण। चैतन्य मय ज्योति।

जगत् = (नपुं०) √गम् + क्विप् नि० द्वित्व, तुगागम = जगत् + द्विती० ए० व० = जगत् को। संसार को।

भासयते = √भास् (भ्वा० आत्म० अक० = चमकना) + णिच् लट्० प्र० पु० ए० व० = भासयते (प्रकाशयति) = प्रकाशित करता है। चमकाता है। प्रभा-युक्त करता है।

अखिलम् = (जगत् का वि०) √खिल् + क (नञ् तत्पु०) + (नपुं०) द्विती० ए० व० = समस्त को सम्पूर्ण को। सारे को

यत् = (नपुं०) प्र० ए० व० = जो (तेज)।

चन्द्रमसि = (पुं०) चन्द्रम् (= आह्लादं) मिमीते चन्द्र √मि + असुन् ममादेशः = चन्दमस् + सप्त० ए० व० = चन्द्रमा में॥ चन्द्रमस् = आनन्द देने वाला। अथवा चन्द्रं (कर्पूरं) माति (तुलयति) √मा + असि = चन्द्रमस् = काफ़ूर के समान दीखने वाला।]

यत् = जो (तेज)।

च = (अव्यय) और।

अग्नौ = (पुं०) √अङ्ग + नि, न लोप = अग्नि + सप्त० ए० व० = अग्नि में।

तत् = तद् (सर्व०) + (नपुं०) द्विती० ए० व० = उस को।

तेजः = (नपुं०) तेजस् + द्विती० ए० व० = तेज को।

विद्धि = √विद् (अदा० पर० सक० = जानना) + लोट्० म० पु०, ए० व० = (तू) जान। (तू) समझ।

मामकम् = अस्मद् (सर्व०) + अण्, 'ममक' आदेश = मामक + (नपुं०) प्र०, द्विती० ए० व० = मेरे को। मेरा।

अर्थ—जो तेज सूर्य-गत (स्थित) सारे संसार को प्रकाशित करता है, और जो (तेज) चन्द्रमा तथा अग्नि में है (तू) उस मेरे (तेज) को जान (या उस को मेरा समझ)॥ १२ ॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! सूर्य में जो तेज (ऊर्जा) है अथवा जो चेतना मय ज्योति है। तू उस मेरे तेज को जान ले। इसी तेज या ऊर्जा से सारे संसार को जीवन मिलता है वृक्षों के हरे पत्र इस तेज को ग्रहण

करके अपने लिए तथा अन्य चलने फिरने वाले जीवों के लिए भोजन बनाते हैं। जिसे खा कर सब चराचर जीव जीवित रहते हैं यदि यह मेरा तेज सूर्य में विद्यमान होकर किरणों द्वारा संसार पर छिड़का न जाए तो सारे संसार का जीवन नष्ट हो जाए। इस प्रकार चन्द्रमा में जो तेज है। तू उस मेरे तेज को पहचान ले। यद्यपि वह सूर्य की धूप द्वारा ही उत्पन्न होता है। जो कि मेरा ही रूप है। परन्तु जब वह चन्द्र किरणों के द्वारा धरती पर छिड़का जाता है तो प्राणियों के हृदय शान्त और सुखी हो जाते हैं चाँद के द्वारा धरती पर छिड़का हुआ मेरा यह तेज वनस्पतियों में अमृत डाल देता है।

इसी प्रकार अग्नि में स्थित तू मेरे तेज को देख। जो अग्नि द्वारा पके हुए भोजनों को स्वादिष्ट और स्वास्थ्य-दायक बना देता है। शीत को भगा कर प्राणियों की रक्षा करता है। संसारी मशीनें चलाता है। भोजनों में घुलकर उन्हें स्वादिष्ट बना देता है। जब हम नवग्रह पूजा करते हैं तो मूढ लोग हमारी हँसी उड़ाते हैं वे इस बात को नहीं समझ पाते कि हम लोग तो इस पूजा के द्वारा नव ग्रहों में स्थित ईश्वर के तेज को ही षोडश उपचारों से पूजते हैं। कुछ लोग कहा करते हैं कि यज्ञ करने वाले लोग घी आदि वस्तुओं को व्यर्थ ही जलाते हैं परन्तु इन मूढ़ों को यह ज्ञान नहीं होता लि सूर्य चन्द्र अग्नि आदि में ईश्वर का जो तेज है। 'होता' आदि हवन करने वाले लोग अग्नि में वर्तमान तेज द्वारा ईश्वर को साक्षात् करके उसे प्रसन्न करने का ही प्रयास करते हैं। यद्यपि चेतनामयी ज्योति तो चराचर-सभी पदार्थों में समान भाव से स्थित है। परन्तु सूर्य, चन्द्र और अग्नि में सत्त्व-स्वच्छता की अधिकता है। इन सब में सत्त्व अत्यन्त और प्रकाश अत्यन्त रूपी स्वच्छता है। अतः इन में ब्रह्म ज्योति अत्यन्त प्रत्यक्ष प्रतिभासित होती है इसी लिए इन की विशेषता बतलाई गई है।

श्रुति में कहा है—"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्ड० २।२।१०) अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् उस जगदात्मा पुरुषोतम के प्रकाश से अथवा उस प्रकाश के एक क्षुद्रतम अंश से प्रकाशित हो रहा है अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि में जो तेज है वह ईश्वर का ही तेज है। जिस से संसार की स्थिति स्थिर रहती है। इस लिए हे अर्जुन ! तू मेरे इस तेज के रहस्य को भली भान्ति समझ ले ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

गाम्+आविश्य च भूतानि धारयामि+अहम्+ओजसा। पुष्णामि च +औषधीः सर्वाः सोमः+भूत्वा रस+आत्मकः ॥

गाम्=(स्त्री०)√गम्+डो=गो+द्विती० ए० व०=पृथिवी को (पृथिवी में)।

आविश्य=आ√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना)+ल्यप्=(प्रविश्य) प्रवेश करके ।

च=(अव्यय) और ।

भूतानि=(नपुं०) भूत+द्वितीय० ए० व०=भूतों को ।

धारयामि=√धृ (भ्वा० उभ० सक०=धारण करना)+णिच्+लट्० उ० पु० ए० व०=धारण करता हूँ ।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं ।

ओजसा=(नपुं०)√उब्ज+असुन्, ब् लोप, गुण=ओजस्+तृती० ए० व० =तेज से । शक्ति से । ऐश्वर्य बल से ।

पुष्णामि=√पुष् (क्र्या० पर० सक० अक०=पालना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=पुष्ट करता हूँ । पालता हूँ ।

च=(अव्यय) और ।

औषधी:=(स्त्री०)√उष्+घञ्=ओष+√धा+कि=ओषधि । पक्षे ओष√धा+ङीष=ओषधी । दोनों का द्विती० ब० व०=ओषधी: =औषधियों को । वनस्पतियों को । धान जौ आदि औषधियों को ।

सर्वा:=सर्व (वि० सर्व०)+आ=सर्वा+(स्त्री०) द्विती० ब० व०=सब को । समस्त को । सारी को ।

सोम:=(पुं०)√सु+मन्=सोम+प्र० ए० व०=सोम:=अमृत सोम चन्द्रमा किरण ।

भूत्वा=√भू+क्त्वा=होकर ।

रस+आत्मक:=रस: एव आत्मा यस्य (बहुव्री०)=रस रूप । सब रसों का आत्मा । रस रूप स्वभाव वाला । रसों की खानि । रस स्वरूप ।

अर्थ—और मैं पृथिवी में प्रवेश करके अपने तेज से समस्त भूतों को धारण करता हूँ और मैं रसात्मक सोम होकर समस्त औषधियों को पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥

व्याख्या—श्रुति कहती है—

"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ॥"

(यजु० ३२।६॥)

अर्थात् जिस (परमात्मा) ने उग्र (भयानक-घोर अन्धकारमय) असीम पुलाङ्, दृढ (कड़ी=ठोस) पृथिवी, स्वर् (देव लोक) और नाक लोक (आकाश मण्डल या विष्णुलोक) थामे या धारण किए हुए हैं ॥

और भी—

"स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्" (यजु० १३।४)

अर्थात् व (परमात्मा) इस पृथिवी और आकाश को धारण किए हुए है।

अब इस श्लोक में भगवान् ने स्वयं भी कहा है कि मैं ही पृथिवी में प्रवेश करके सब जीवों का त्राण और पोषण अपने तेज द्वारा करता हूँ क्योंकि शेष सम्पूर्ण पिण्डों का देवता भी मैं ही हूँ और पृथिवी का देवता भी मैं ही हूँ। मेरे आकर्षण से ही पृथिवी अपने मार्ग से भ्रष्ट और च्युत नहीं होती और निरन्तर ३६५ दिन ६ घण्टे ४८ मिण्ट ११ सैकण्ड में सूर्य के चारों ओर अपना एक चक्र पूरा करती है जिससे षट्-ऋतुएँ वर्ष में बारी-बारी बदलती हैं। यही नहीं यह पृथिवी मेरी शक्ति और सत्ता से ही अपने कक्ष के चारों ओर घूम कर २४ घण्टों में एक चक्र पूरा करती है जिस से दिन और रात उत्पन्न होते हैं। मैं इस पृथिवी का उत्तरी सिरा सदा इस प्रकार स्थिर रखता हूँ जिस से इस का कक्ष (धुरी) सदा उत्तरी ध्रुव की सीध में ही स्थिर रहता है और यह सदैव अपने मार्ग पर $66\frac{1}{2}$ अंश का कोण बना कर झुका रहता है। वर्ष में २१ जून की तिथि को पृथिवी का उत्तरी गोलार्ध अधिकतम सूर्य की ओर झुका हुआ होता है और २२ दिसम्बर को दक्षिणी भू-गोलार्ध अधिकतम सूर्य की ओर झुका हुआ होता है। २१ मार्च और २३ सितम्बर को भूमध्य रेखा सूर्य के सामने होती हैं इन दोनों तिथियों में सम्पूर्ण पृथिवी पर दिन रात बराबर होते हैं। हे अर्जुन! यह सब कुछ मेरे ओज से ही होता है।

चन्द्रमा इस पृथिवी से दो लाख चालीस हजार मील दूर है जिस में पृथिवी के १५ दिन का एक दिन और इतनी ही लम्बी रात होती है। वह चन्द्रमा मेरे उस तेज के बल से ही तीन तरह का भ्रमण करता है—१. अपने अक्ष के चारों ओर। २. पृथिवी के चारों ओर और ३. सूर्य के चारों ओर। ४. चन्द्रमा के घूमने का मार्ग, पृथिवी के भ्रमण-मार्ग को। ५. अंश का कोण बना कर काटता है। इसी कारण से प्रत्येक पूर्णिमा को चन्द्र-ग्रहण और प्रत्येक अमावस्या को सूर्य-ग्रहण नहीं होते। वे ग्रहण तो केवल उसी समय होते हैं जब चन्द्रमा दोनों मार्गों के मिलने से बनने वाले बिन्दु पर होता है तथा सूर्य, चन्द्रमा और पृथिवी एक सीध में होते हैं। उस समय या तो पृथिवी मध्य में होती है अथवा चन्द्रमा मध्य में होता है यह सब कुछ मेरी ही शक्ति से द्वारा होता है। चन्द्रमा से निकल कर जो किरणें पृथिवी की वनस्पतियों या औषधियों पर पड़ती हैं वे अमृत रस से सनी हुई होती हैं। इसलिये चन्द्रवा को रसात्मक कहा गया है। सूर्य की ओर से सीधी आई हुई किरणें तो वनस्पतियों के पत्तों में ऊर्जा आदि भर देती हैं। परन्तु चन्द्रमा में जाकर जब वहाँ से धरती की ओर आती हैं तो औषधियों के सम्पूर्ण भागों को पुष्ट और स्वाद-युक्त कर देती है। वास्तव में तो मैं ही रसात्मक चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियों का पालन पोषण करता

हूँ। इसलिए जो लोग चन्द्रमा का पूजनार्चनादि करते हैं। वास्तव में वह मुझे ही अर्पित होता है क्योंकि मैं ही चन्द्रमा में देवता रूप में स्थित हूँ और झलक रहा हूँ। "यहाँ औषधि" शब्द, पत्ते, फूल, फल आदि सारे अङ्ग-प्रत्यङ्गों समेत पृथिवी में उगने वाले वृक्ष, बेल, बूटे, घास-फूस आदि सब का वाचक है। ये सब चन्द्र-किरणों से रस ग्रहण करते हैं ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

अहम्+वैश्वानरः+भूत्वा प्राणिनाम्+देहम्+आश्रितः। प्राण+अपान-समायुक्तः पचामि+अन्नम्+चतुर्+विधम् ॥

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

वैश्वानरः=(पु॰) विश्वानर [(पु॰) अग्नि का पिता]+अण्=वैश्वानर+प्र० ए० व०=जठराग्नि। ["अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते।" (बृह० ५।९।१॥) अर्थात् यह अग्नि वैश्वानर है। जो यह पुरुष के भीतर है, जिस से यह खाया हुआ अन्न पचता है।]

भूत्वा=√भू+क्त्वा=होकर।

प्राणिनाम्=(पु॰) प्राण+इनि=प्राणिन्+षष्ठी० ब० व०=प्राणियों के। मनुष्य आदि प्राणधारियों के।

देहम्=(नपु॰, पु॰) देग्धि प्रतिदिनं√दिह्+घञ्=देह+द्विती० ए० व०=देह को। देह में।

आश्रितः=(पु॰) आ√श्रि+कर्मणि क्त=आश्रित+प्र०, ए० व०=आश्रित हुआ। स्थित हुआ। रहता हुआ।

प्राण-अपान-समायुक्तः=(पु॰) प्राण-अपानाभ्यां समायुक्तः (संयुक्तः) [प्र० ए० व०]=प्राण और अपान वायु से संयुक्त हुआ।

पचामि=√पच् (भ्वा० उभ० सक०=पचाना)+लट्० उ० पु० ए० व०=पचाता हूँ।

अन्नम्=(नपु॰) अद्यते इति√अद्+क्त=अन्न+द्विती० ए० व०=अन्न को। भोजन को।

चतुर्+विधम्=(वि० नपुं०) द्विती० ए० व०=चार प्रकार के—को।

[१—भक्ष्य=चबा कर खाने योग्य—भोजन, रोटी आदि।
२—भोज्य=निगलने योग्य—दूध आदि।
३—लेह्य=चाटे जाने वाले—चटनी आदि।
४—चोष्य=चूसने योग्य—आम, गन्ना आदि।
इस तरह से भोजन के चार प्रकार होते हैं ॥]

अर्थ—मैं वैश्वानर (जठराग्नि) हो कर प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ तथा प्राण और अपान से संयुक्त हुआ (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य) इन चार प्रकार के भोजनों को पचाता हूँ ॥ १४ ॥

व्याख्या—मैं प्राणियों के शरीर में वैश्वानर (जठराग्नि) का रूप धारण किए हुए हूँ। वैसे तो अग्नि मेरा रूप होने से सर्व-व्यापक है जो रगड़ या घर्षण के द्वारा सब जगह प्रकट कर ली जाती है। फ़ास्फ़ोर्स से निकलने लगती है जबकि उसे पानी से बाहर निकाल कर सूखे स्थान पर रखा जाता है। जब सोडियम धातु को मिट्टी के तेल से बाहर निकाल कर पानी में डाला जाता है तो उस से आग प्रकट होने लगती है तथा पोटाशियम क्लोरेट में चीनी मिला कर उसमें तेजाब की एक बूंद डालने से भी अग्नि की ज्वाला उछल पड़ती है। चूर्ण बेचने वाले प्रायः यही खेल किया करते हैं। विज्ञान का यह एक प्रमुख्य सिद्धान्त है कि जब कुछ पदार्थ या तत्त्व रसायनिक ढंग से मिलते हैं तो उनका ताप बढ़ जाता है। जैसे जब सोडा कास्टिक की डलियाँ पानी में डाली जाती हैं तो वे घुलती हुई पानी को इतना गर्म कर देती हैं कि उस बर्तन को हाथ लगाना कठिन हो जाता है। अग्नि का अनुमान ताप-मापक यन्त्र द्वारा किया जाता है। यह यन्त्र बहुत लाभकारी होता है क्योंकि मनुष्य का तापमान इसके द्वारा देख कर उसके स्वस्थ या अस्वस्थ होने का अनुमान लगाया जाता है जो मनुष्य स्वस्थ होता है उसका तापमान ९८·४ अंश फारन-हाइट या ३६·९ अंश सैंटीग्रेड होता है यदि इससे न्यूनाधिक हो तो वह रोगी का होता है। इसे ठीक स्थिर रखने के लिये वस्त्र धारण किए जाते हैं अग्नि का सेवन किया जाता हैं सूर्य की धूप तापी जाती है और पौष्टिक भोजन खाया जाता है। भोजन में लोहे के तत्त्व होते हैं जो खून में मिल जाते हैं और फिर जब यह रक्त आक्सीजन से युक्त होता है, तो लाल होता है परन्तु आक्सीजन से रहित होकर नीला या काला हो जाता है। काला खून फेफड़ों में जा कर प्राण वायु या आक्सीजन से मिल कर लाल हो जाता है और उससे शरीर में नई जठराग्नि और अपान-वायु अर्थात् कार्बन-डाई-आक्साइड दोनों उत्पन्न होते रहते हैं। अपान वायु शरीर से बाहर निकलती रहती है और प्राण-वायु शरीर में प्रविष्ट होती रहती है ये दोनों क्रियाएँ एक मिण्ट में अठारह बार होती हैं और श्वास-निश्वास कहलाती हैं। जब सब प्रकार की अग्नि ही मेरा रूप है तो प्राणियों के शरीरों में स्थित यह वैश्वानर या जठराग्नि भी मैं ही हूँ। यह जठराग्नि मेरी दो शक्तियों प्राण और अपान वायु से मिल कर प्रदीप्त होती है और फिर रोटी की तरह चबा कर खाये जाने वाले, दूध की भान्ति पी कर निगले जाने वाले, चटनी और शहद की तरह चाटे जाने वाले और आम, सन्तरा, गन्ना आदि की भान्ति चूसे जाने वाले चार प्रकार के भोजनों को आमाशय में पचाती है। वास्तव में यह सब पाचन क्रिया मेरे द्वारा ही होती है। मैं ही अग्नि हूँ।

मैं ही सोम हूं। वैश्वानर अग्नि खाने वाला है और सोम खाया जाने वाला अन्न है। सुतरां यह सारा जगत् अग्नि और सोम स्वरूप है। इस प्रकार देखने या समझने वाला पुरुष अन्न के दोष (अन्न में होने वाले जीवों) को खाने के पाप के दोष से लिप्त नहीं होता ॥

भगवान् के कथनानुसार सम्पूर्ण प्रकाशनशक्ति, धारणशक्ति, पोषणशक्ति और पाचनशक्ति आदि जगत् में विद्यमान सम्पूर्ण शक्तियां उसके केवल अपने एक अंश के रूप हैं। अर्थात् जैसे बत्ती जला कर प्रकाश फैलाने में, इञ्जन चला कर चक्की घुमाने में, कार चला कर उस में बैठे हुए यात्रियों को धारण करने में, गर्म किए हुए चूल्हों में पक्के हुए भोजन से प्राणियों को पोषण करने में, पंखे चला कर वायु का विस्तार करने में, रेडियो के द्वारा शब्द का प्राकट्य करने में, ध्वनि विस्तारक यन्त्र लाऊड स्पीकर के द्वारा ध्वनि विस्तारित करने में तथा चल-चित्र यन्त्र द्वारा चलते-फिरते, बोलते-डोलते, रोते-गाते और सब प्रकार की सम्भव असम्भव क्रियाएँ करते हुए प्राणी-वर्ग इत्यादि अनेक क्रियाएँ बिजली की शक्ति के अंश द्वारा होती हुई देखी जाती हैं। आण्वी शक्ति तो इससे भी बहुत दूर जा पहुँची है। उसका नियन्त्रिक (कण्ट्रोलर) पृथिवी पर बैठा ही इच्छानुसार आकाश में उड़ रहे राकेटों का मार्ग नियन्त्रित करता है और यन्त्रों को चन्द्रमण्डल पर उतार कर वहां की मिट्टी उखड़वा कर फिर उसे पृथिवी पर लिवा लाता है। यह विद्युत-शक्ति और आण्वी-शक्ति आदि सब शक्तियां भी भगवान् की शक्ति के केवल अंश-मात्र ही हैं ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

सर्वस्य च + अहम् + हृदि संनिविष्टः + मत्तः स्मृतिः + ज्ञानम् + अपोहनम् + च। वेदैः = च सर्वैः = अहम् + एव वेद्यः + वेदान्त-कृत् + वेद-वित् + एव च + अहम्।

सर्वस्य = (सर्व०) + (पुं०) षष्ठी० ए० व० = सब के। सब (प्राणियों) के [आत्मा होकर]।

च = (अव्यय) और।

अहम् = अस्मद् (सर्व०) + प्र० ए० व० = मैं।

हृदि = (नपुं०) हृत्, पृषो० तस्य दःवा हृदयस्य 'हृद्' आदेशः = हृद् + सप्त० ए० व० = हृदय में। अन्तःकरण में।

संनिविष्टः = (पुं०) सम्-नि √विश् + क्त + प्र० ए० व० = (अन्तर्यामी रूप में) प्रविष्ट हूँ। स्थित हूँ। अधिष्ठित हूँ।

मत्तः=(अव्यय) मत्+तस्=मत्त=मुझ से।

स्मृतिः=(स्त्री०)√स्मृ+क्तिन्=स्मृति+प्र० ए० व०=स्मरण शक्ति। स्मृति।

ज्ञानम्=(नपुं०) √ज्ञा+ल्युट्=जानकारी। ज्ञान शक्ति। (प्र० ए० व०)।

अपोहनम्=(नपुं०) अप √ऊह्+भावे ल्युट्=अपोहन+प्र० ए० व०=लोप। निराकरण। अपोहन। प्रभाव॥ विचार के द्वारा बुद्धि में रहने वाले संशय, विपर्यय आदि दोषों को हटाने का नाम अपोहन है।

च=(अव्यय) और।

वेदैः=(पुं०) √विद्+घञ् या अच्=वेद+तृती० ब० व०=वेदों द्वारा। वेदों से। ऋक्, यजु, साम और अथर्व वेदों से।

च=(अव्यय) और।

सर्वैः=सर्व (सर्व०)+(पुं०) तृती० ब० व०=सब से। सब के द्वारा।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ब० व०=मैं।

एव=(अव्यय) ही।

वेद्यः=(वि० पुं०) √विद्+ण्यत्=वेद्य+प्र० ए० व०=ज्ञातव्य। जानने योग्य। (हूँ) वेदितव्य हूँ।

वेदान्त-कृत्=(वि०, पुं०, प्र०, ए० व०) वेदान्तं कृत् (कृ+त्)=वेदान्त का कर्त्ता।

वेद-वित्=(वि० पुं० प्र० ए० व०) वेदान् वित्त्=वेदों को जानने वाला।

एव=(अव्यय) ही।

च=(अव्यय) और।

अहम्=अस्मद् (सर्व)+ प्र० ए०=मैं (हूँ)।

अर्थ—और मैं सब (प्राणियों) के हृदय में अधिष्ठित हूँ। मुझ से ही स्मृति ज्ञान और अपोहन (संशयों का निराकरण) होता है और ऋग् आदि सब वेदों के द्वारा मैं ही जानने-योग्य हूँ और मैं ही वेदान्त-कर्त्ता और वेद-वेत्ता हूँ॥ १५॥

व्याख्या—यद्यपि कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ परमात्मा व्यापक और स्थित नहीं है। परन्तु उस का साक्षात्कार प्रायः शुद्ध और स्वच्छ हृदय अर्थात् अन्तः करण में होता है। योगीजन ध्यान मग्न हो कर उसे अपने अन्तः करण में देखते हैं श्रुति कहती है—

"स एव इह प्रविष्टः। अनेन जीवेनात्मनानु-प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।"

अर्थ—वह परमात्मा ही जीवात्मा रूप से इस समस्त देह समूह में प्रविष्ट हुआ है और जीवात्मा रूप करके इन शरीरों में प्रवेश करके मैं परमात्मा नाम रूप को स्पष्ट करता हूँ ॥]।

इसी से भगवान् ने यहाँ कहा है कि मैं समस्त प्राणिमात्र का आत्मा होकर उनके अन्तःकरण में स्थित हूँ। इस प्रकार भगवान् ने जीव और ब्रह्म का अभेद कथन किया है। जिस को "तत्त्वमसि" और "अहं ब्रह्मास्मि" आदि अनेक श्रुतियां भी दर्शाती हैं।

भगवान् कहते हैं—कि प्राणियों में मेरे कारण से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है क्योंकि मैं सब की बुद्धि में प्रविष्ट हुआ इन तीनों कार्यों का कारण हूँ। पहले देखी-सुनी या अनुभव की हुई वस्तुओं या घटनाओं के स्मरण का नाम स्मृति है। इसी स्मरण शक्ति के द्वारा अनेक प्रकार की शास्त्र विद्या कण्ठस्थ या मुखाग्र रहती हैं और यह स्मृति दो प्रकार की होती है १—अयोगी पुरुषों को तो इस जन्म सम्बन्धि स्मृति ही होती है। जिस का सम्बन्ध वर्तमान शरीर की ज्ञानेन्द्रियों से ही होता है परन्तु योगी पुरुषों को तो जन्म जन्मान्तरों में देखी, सुनी और अनुभव की हुई बातों और घटनाओं का भी स्मरण हो जाता है।

किसी भी वस्तु को यथार्थ जान लेने की शक्ति का नाम 'ज्ञान' है और यह प्रत्यक्ष ज्ञान भी अयोगी पुरुषों को तो विषय-इन्द्रियों का संयोगजन्य ही होता है और योगी पुरुषों को परमात्मा के स्वरूप का भी ज्ञान होता है तथा देश-काल करके व्यवहित वस्तुओं को भी वह प्रत्यक्ष की भान्ति जानते और देखते हैं।

संशय, विपर्यय आदि तर्क—जाल का नाम 'ऊहन' है उसके दूर करने या अभाव का नाम 'अपोहन' है। यह अपोहन भी पुरुष की बुद्धि में मेरे कारण से ही होता है। इसमें बुद्धि संशयों और तर्कों से रहित होकर निर्मल, शुद्ध और स्थित हो जाती है श्री भगवान् सब प्राणियों के कर्मानुसार उपयुक्त स्मृति, ज्ञान और अपोहन आदि भावों को उनके अन्तःकरणों में उत्पन्न करते हैं। ऋक्, यजु, साम और अथर्व नाम वाले चार वेद हैं और व्याकरणदि छः उन के अंग माने जाते हैं चार ब्राह्मण और दो अरण्यक भी इनके भाग माने जाते हैं इन सब में इन्द्रादि देवताओं की पूजा, उपासना और स्तुति करने के अनेक मन्त्र हैं। वास्तव में ये सब देवता परमात्मा के भिन्न भिन्न स्वरूपों के नाम हैं। वेद मन्त्रों द्वारा जब इन देवताओं की पूजा, अर्चा, उपासना और स्तुति आदि की जाती है तो वह परमात्मा की ही पूजा, अर्चा, उपासना या स्तुति होती है। इस प्रकार वेदों में कर्म काण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड तीनों पाए जाते हैं और ये सब वेद ईश्वरी ज्ञान होने से श्रुति

कहलाते हैं। इसलिए श्रुति या वेदों से जो कुछ जानने योग्य है वह केवल एक परमात्मा ही है। क्यों कि श्रुति कहती है—

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" अर्थात् सम्पूर्ण वेद जिस परमात्मा रूप परमपद को कथन करते हैं वही जानने योग्य है। अनेक श्रुतियों में इन्द्रादि समस्त देवताओं को परमात्मा का रूप कहा गया है यथा तीन श्रुतियाँ--

१—"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान् ॥ २—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

३—एष उह्येव सर्वे देवाः ॥"

श्री भगवान् कहते हैं कि वेदान्त अर्थात् ब्रह्मज्ञान का रचयिता भी मैं ही हूँ। यह ज्ञान वेदों, उपनिषदों, वेदान्त सूत्रों और गीता द्वारा प्रसारित हुआ है। इन सब के रचयिता स्वयं भगवान् हैं। चाहे वे ब्रह्मा के रूप में हैं, चाहे याज्ञवल्क्य या व्यास आदि ऋषियों के रूप में हैं॥

और सम्पूर्ण वेदों के ज्ञान को जानने वाला भी वह परमात्मा ही है। वह परमात्मा इतना महान् है कि अपनी महानता को स्वयं भी नहीं जान पाता अन्य की तो बात ही क्या है। कहते हैं एक बार महर्षि नारद त्रिलोकी में घूम कर परमात्मा के पास आए और बोले—हे भगवन्! आप ने इस त्रिलोकी रचना किस लिए की हुई है जिस में चारों ओर दुःख ही दुःख हैं। भगवान् ने उत्तर में प्रश्न किया कि दुःख या सुख क्या होता है? मैं तो इसे जानता नहीं हूँ। यदि कोई सूर्य से पूछे कि हे सूर्यनारायण! अन्धकार और प्रकाश क्या होते हैं? तो वह सूर्य इस का उत्तर क्या देगा, जिस ने अन्धकार तो कभी देखा ही नहीं है और बिना प्रतिद्वन्द्वी अन्धकार के देखे प्रकाश का उसे भान ही नहीं हो सकता।

कहते हैं किसी गुफा में अनादि काल में अन्धकार का निवास था। एक दिन किसी ने उस में प्रवेश करके जलता हुआ एक दीर्घ काय गैस रख दिया। इस से अन्धकार को वहाँ से निकल कर भागना पड़ा परन्तु उसने न्यायाधीश के पास जाकर न्याय की याचना की और कहा कि जो कोई किसी स्थान में बारह वर्ष तक निरन्तर निवास करे वह स्थान उसी का हो जाता है और मैं तो अनादि काल से ही उस गुफा में रहता रहा हूँ। इसलिए वह गुफा मेरी थी और मुझे उस का कबजा प्रकाश से दिलाया जाए।

तब जलते हुए गैस को न्यायाधीश ने मौके पर जाकर पूछा कि तुम ने अन्धकार के साथ यह दुर्व्यवहार क्यों किया है? जो उसे उसके अपने घर से बाहर निकाल दिया है। प्रकाश बोला कि श्रीमान् जी! मैं ने तो आज तक न कभी अन्धकार को देखा है न उसे जानता या पहचानता हूँ।

यदि वह कुछ है तो मेरे सामने आकर यह बात कहे कि मैं झूठ बोलता हूँ । सो कहने का भाव यह है कि परमात्मा सम्पूर्ण वेदों का ज्ञाता भी है और वेदान्त का व्याख्याता या कर्ता भी है तथा स्वयं प्रकाश और सर्वशक्तिमान् भी है और उस की महानता का भी कोई अन्त या सीमा नहीं है परन्तु हो सकता है कि वह अपनी अपार महिमा को स्वयं भी न जानता हो ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

द्वौ+इमौ पुरुषौ लोके क्षरः+च+अक्षरः+एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थः+अक्षरः+उच्यते ॥

द्वौ=(वि०) द्वि+प्र० द्वि० व०=दो ।

इमौ=(वि० सर्व०) इदम्+प्र० द्वि० व०=ये ।

पुरुषौ=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति, √पुर+कषण्=पुरुष+प्र० द्वि० व०= आगे जाने वाले । पुरुष ।

पुरि=देहे+√शी (शेते) पृषो०=देह में सोने वाला=पुरुष ।

लोके=(पुं०)√लोक्+घञ्=लोक+सप्त० ए० व०=लोक में । जगत् में । संसार में ।

क्षरः=(वि०)√क्षर्+अच्=क्षर+(पुं०) प्र० ए० व०=नाशवान् । क्षर ।

च=(अव्यय) और ।

अक्षरः=(वि०)√क्षर्+अच्, (नञ् तत्पु०)=अक्षर+प्र० ए० व०= अविनाशी । अक्षर ।

एव=(अव्यय) ही ।

क्षरः=(वि० पुं०, प्र० ए० व०) नाशवान् । क्षर ।

सर्वाणि=(सर्व०) सर्व+(नपुं०) प्र० ब० व०=सारे । समस्त । सम्पूर्ण । सब ।

भूतानि=(नपुं०)√भू+क्त=भूत+प्र० ब० व०=भूत । प्राणी । प्राणियों के शरीर ।

कूटस्थः=(वि० पुं०) कूटे स्थः (सप्त० तत्पु०, प्र० ए० व०)=कपट (माया) में स्थित । प्रकृति में स्थित । शिखर या शिखा पर स्थित । चोटी पर अवस्थित । लोहे की कूट (अहरण या घन) की तरह दृढ़ता से टिका हुआ । (जीवात्मा) । माया आदि में अनेक प्रकार से स्थित । कूट (राशि या ढेर) की भान्ति स्थित (प्रकृति या माया) । संसार का बीज ।

अक्षरः=(पुं०) अविनाशी । अक्षर । प्र० ए० व० ।

उच्यते=(अदा० पर० सक०=कहना)+कर्म०, लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है । कहलाता है ।

पहला अर्थ—इस संसार में दो (प्रकार के) पुरुष हैं। क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)। क्षर सब भूत (प्राणियों के शरीर) हैं और अक्षर कूटस्थ (ढेर की भान्ति स्थित-प्राणी-शरीरों की बीज रूप—प्रकृति या माया) कहलाता है॥ १६ ॥

दूसरा अर्थ—इस जगत् में क्षर (नाशवान्) और अविनाशी ये दो प्रकार के ही पुरुष (समुदाय रूप से पृथक किए हुए भाव) । (उनमें) समस्त भूत प्राणियों के शरीर तो क्षर (नाशवान्) और कूटस्थ (जीवात्मा) अक्षर (अविनाशी) कहा जाता है ॥ १६ ॥

टिप्पणी—यहाँ दो अर्थ इस लिए किए गए हैं, कि श्री शंकर आदि अनेक टीकाकारों द्वारा कूटस्थ-प्राणियों के शरीरों की कारण भूत ढेर रूप में स्थित प्रकृति या माया को कहा गया है और आधुनिक कुछ टीकाओं द्वारा कूटस्थ-जीवात्मा को माना गया है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दोनों अर्थ ठीक मालूम होते हैं। इसलिए हमने यहाँ दोनों अर्थ दे दिये हैं।

पहले अर्थ की व्याख्या—समुदाय रूप से पृथक किए हुए क्षर और अक्षर ये दो भाव लोक में पुरुष नाम से कहे जाते हैं। रात दिन की तरह इन का जोड़ा है। इन दोनों में से अक्षर या प्रकृति अनादि है क्योंकि वह अव्यक्त होकर प्रलय काल में अव्यक्त परमात्मा में समा जाती है। और जगत् के प्रारम्भ होने के समय परमात्मा के स्वरूप से प्रकट हो कर क्षर जगत् की रचना करने लगती है। जो भी भूत प्राणियों के शरीर इस प्रकृति द्वारा रचे जाते हैं वे सब क्षर या नाशवान् होते हैं ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सब की यही गति होती है। इस तरह यह क्षीण होने वाला—नाशवान् क्षर पुरुष (—भाव) है और दूसरा उस से विपरीत अक्षर प्रकृति रूप पुरुष या भाव है। यही भगवान् की माया शक्ति है और यह माया या प्रकृति ही क्षर पुरुष की उत्पत्ति का बीज है तथा अनेक संसारी जीवों की कामना और कर्म आदि के संस्कारों का आश्रय है। यह प्रकृति ही संसार में अक्षर पुरुष कही जाती है और असत् रूप अथवा नाश होने वाली व्यक्त सृष्टि क्षर-पुरुष कहलाती है तथा सत् रूप अथवा ज्ञान के बिना न नाश होने वाली अव्यक्त माया क्षर-पुरुष कहलाती है।

समस्त भूत अर्थात् प्रकृति का सारा विकार तो क्षर पुरुष है और कूटस्थ अर्थात् जो कूट (राशि या ढेर) की भान्ति स्थित है अथवा कूट नाम माया का है जिसके वञ्चना, छल, कुटिलता आदि पर्याय है, उपर्युक्त माया आदि अनेक प्रकार से जो स्थित है वह कूटस्थ है। संसार का बीज अन्त रहित होने के कारण वह कूटस्थ नाश नहीं होता, अत: अक्षर कहा जाता है तथा जो क्षर और अक्षर इन दोनों से विलक्षण है और क्षर अक्षर दोनों उपाधियों

के दोष से रहित है उस नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाले परमात्मा का वर्णन इस से अगले श्लोक में किया गया है। यह जीवात्मा भी उसी का अंश या प्रतिबिम्ब है। इस लिए वह क्षर और अक्षर दोनों से भिन्न है।

दूसरे अर्थ की व्याख्या—जिन दोनों तत्त्वों का वर्णन सातवें अध्याय में अपरा और परा प्रकृति के नाम से किया गया है और आठवें अध्याय में जिन को अधिभूत और अध्यात्म कहा गया है तथा तेरहवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहा गया है। एवं इस पन्द्रहवें अध्याय में अश्वत्थ और जीव माना गया है। उन्हीं दोनों तत्त्वों को यहाँ क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष कहा गया है। साथ ही भगवान् ने यह भी कह दिया है कि क्षर पुरुष तो सर्व भूत हैं और अक्षर पुरुष उन में रहने वाला कूटस्थ (जीवात्मा) है।

यहाँ सम्पूर्ण जीवों के स्थूल सूक्ष्म और कारण तीनों प्रकार के शरीरों का नाम भूत समूह है। यह भूत समुदाय या क्षर पुरुष रूप सब शरीर नाशवान् कहे जाते हैं। दूसरे अध्याय के श्लोक १८ में भी "अन्त-वन्त इमे देहा" कहा जा चुका है। और आठवें अध्याय श्लोक ४ में "अधिभूतं क्षरो भावः" कहा गया है।

"कूटस्थ" शब्द का अर्थ सम्पूर्ण शरीरों में रहने वाला जीवात्मा है। पहले छठे अध्याय के श्लोक ८ और बारहवें अध्याय के श्लोक ३ में भी 'कूटस्थ' शब्द चेतन तत्त्व के अर्थ में आया है। यह सदा एकसा रहता है। इस में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता और न कभी इस का नाश होता है। इस लिए यह अक्षर भी है।

यद्यपि हमें पहला अर्थ और पहली व्याख्या अधिक युक्ति-युक्त मालूम होती है परन्तु अपनी बुद्धि को तुच्छ और अल्प समझ कर हमने दोनों अर्थ और व्याख्यायें दे दी हैं। क्योंकि ठीक अर्थ तो भगवान् श्री कृष्ण ही जानते हैं ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

उत्तमः पुरुषः+तु+अन्यः परमात्मा+इति+उदाहृतः। यः लोक-त्रयम्+आविश्य विभर्ति+अव्ययः+ईश्वरः।

उत्तमः=(वि०; उद्+तमप्+उत्तम+(पुं०) प्र० ए० व०=उत्तमः =उत्कृश्टतमः। सर्वोत्कृष्टः। अतिशय उत्कृष्ट। सब से श्रेष्ठ। उत्तम।

पुरुषः=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति, √पुर+कुषण्=पुरुष+प्र० ए० व० =भाव। सत्ता। पुरुष। जो वस्तुतः पूर्ण है वह। संसार रूपी पुर में सर्वत्र सोया हुआ (आनन्द स्वरूप हो कर व्यापक)।

तु=(अव्यय) तो। परन्तु।

अन्य:=(सर्व० वि०)√अन्+य: (पुं० प्र० ए० व०) अन्य:=अन्य (ही है) और (है)। दोनों से विलक्षण है।

परमात्मा=(पुं०) परम+आत्मन्+प्र० ए० व०—परम: च असौ च (देहाद्यविद्याकृतात्मभ्य:) आत्मा च [सर्वभूतानां प्रत्यक् चेतन इत्यत:] =परमात्मा। वह ईश्वर अविद्या जनित शरीरादि आत्माओं की अपेक्षा पर है। और सब प्राणियों का आत्मा (अन्तरात्मा) है। इस से परमात्मा है।=परमात्मा। (अत्+मनिन्=आत्मन्)।

इति=(अव्यय) ऐसा। ऐसे। इस प्रकार।

उदाहृत:=इद् आ√हृ+कर्मणि क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है।

य:=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

लोक-त्रयम्=(पुं०) लोकं त्रयम् (द्विती० ए० व०) तीनों लोकों को। तीनों लोकों में। तीनों प्रकार के लोक समूहों में। [लोक=(पुं०) लोक्+घञ्। त्रयम्=(वि०), त्रि+अच्=त्रय=(पुं०) द्विती ए० व० =तीनों प्रकार के।]

तीन प्रकार के लोक ये हैं—

१—हमारी पृथिवी जैसे लोक।

२—पृथिवी से अधिकतम सुख वाले लोक।

३—पृथिवी से कम सुख वाले लोक।

अथवा

१—पृथिवी २—स्वर्ग लोक—रात्रि को तारों के रूप में चमक कर आकाश पर दिखाई देने वाले लोक।

३—पाताल लोक—पृथिवी के दूसरी ओर आकाश में विद्यमान परन्तु हमें दिखाई न देने वाले लोक।

आविश्य—आ√विश्+ल्यप्=प्रवेश करके। (प्रविश्य)।

बिभर्ति=√भृ (जुहो० उभ० सक०=भरना)+लट्० (पर०) प्र० पु०, ए० व० —धारण करता है। पोषण करता है।

अव्यय:=(वि० पुं०) न अस्य व्ययो विद्यते (नञ्०)=अविनाशी। अव्यय। (प्र० ए० व०)।

ईश्वर:=(वि० पुं०) √ईश्+वरच्+प्र० ए० व०=ईश्वर्य युक्त। सर्वशक्तिमान्। परमेश्वर।

अर्थ—परन्तु उत्तम-पुरुष (पुरुषोत्तम) तो (क्षर और इन दोनों पुरुषों

से भिन्न) और है। जो "परमात्मा" ऐसे कहा गया है और जो अविनाशी परमेश्वर तीनों प्रकार के लोक-समूहों में प्रवेश करके सब का धारण और पोषण करता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—उत्तम पुरुष तो न क्षर है और न अक्षर है वह तो क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष इन दोनों से उसी प्रकार भिन्न और विलक्षण है। जिस प्रकार स्वप्न और सुषुप्ति से जाग्रत अवस्था सर्वथा भिन्न होती है और किरण और मृग-जल से सूर्य-मण्डल पृथक् होता है। जिस प्रकार काठ में व्यापक अग्नि नितान्त काठ से अलग होती है इसी प्रकार पुरुषोत्तम भी क्षर और अक्षर से नितान्त अलग है यद्यपि काठ में अग्नि की भान्ति सदैव सर्वत्र व्यापक है। इसी पुरुषोत्तम का नाम परमात्मा है क्योंकि वह पुरुषोत्तम अविद्या और अज्ञान से उत्पन्न होने वाली शरीर आदि आत्माओं की अपेक्षा पर है और सब प्राणियों का आत्मा अर्थात् अन्तर आत्मा है। इस कारण से श्रुति में उसे परमात्मा कहा गया है।

जब हम रात्रि-काल में मेघ रहित घने काले आकाश पर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें अनेक प्रकार की ज्योतियों से युक्त तारामण्डल दृष्टि गोचर होता है यह तारा मण्डल पृथिवी के आधे गोले पर ही दिखाई देता हे क्योंकि आधे गोले के आकाश में सूर्य के चमकने से दिन होता है और वह तारा-मण्डल सूर्य की प्रचण्ड ज्योति में लोप हो जाता है ऊपर के आकाश का तारा मण्डल स्वः लोक है। पृथिवी के नीचे के आकाश का तारा मण्डल भवः लोक है और स्वयं पृथिवी भूः लोक है और इन के मिलने से लोकत्रय बनता है। जिस में सम्पूर्ण माया कृत रचना का समावेश हो जाता है। यह लोक-त्रय भी पुरुषोत्तम परमात्मा की तरह असीम और अनन्त है जिस की अन्तिम सीमा की न कल्पना की जा सकती है न अनुमान किया जा सकता है। यह माया जनित सम्पूर्ण प्रसार पुरुषोत्तम परमात्मा से बाहर निकल कर फैला है और अन्त में उसी में लीन हो जाता है। परन्तु जब यह लोक-त्रय व्यक्त होता है तो पुरुषोत्तम-परमात्मा इस में प्रविष्ट हुआ इसे धारण और पालन करता है परन्तु जिस प्रकार हम लोग बच्चों को धारण और पालन करते हैं परमात्मा का प्रवेश और धारण पालन करना उस से सर्वथा भिन्न और विलक्षण है क्योंकि वह तो उस में अपने चेतन्य-बल की शक्ति से ही प्रविष्ट होकर केवल स्वरूप सत्ता मात्र से उस को धारण करता है वह अल्प-समर्थ जीवों की भान्ति नहीं है वह तो सर्व शक्तिमान् अविनाशी परमेश्वर है ॥ वह सदा निर्विकार और एक रस रहता है, इस से अव्यय और ईश्वर कहलाता है ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

यस्मात्+क्षरम्+अतीतः+अहम्+अक्षरात्=अपि च+उत्तमः ।
अतः+अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

यस्मात्=यद् (सर्व०)+(पुं०)+पंच० ए० व०=जिस से । क्योंकि ।

क्षरम्=(वि० पुं०) √क्षर (भ्वा० पर० अक०=बहना । खरना । थोड़ा थोड़ा करके नष्ट होना)+द्विती० ए० व०=क्षर को । क्षर भाव को । जन्मने मरने वाले (जीवों के) शरीरों को ।

अतीतः =(वि०) अति √इण् (अदा० पर० सक०=जाना । लांघना)+क्त +(पुं०) प्र० ए० व०=गया हुआ । लांघा हुआ । टपा हुआ । अत्यन्त दूर गया हुआ ।

अहम् =अस्मद् (सर्व०)+उ० पु०, ए० व०=मैं (पुरुषोत्तम—परमात्मा)

अक्षरात्=(वि० पुं०, नञ् बहुव्री०) अक्षर+पंच० ए० व०=अक्षर से । संसार के बीज स्वरूप अक्षर से (मूल प्रकृति से)

[पक्ष में—(माया में स्थित) अविनाशी जीवात्मा से ।]

अपि=(अव्यय) भी ।

च=(अव्यय) और ।

उत्तमः=(वि०) उद्+तमप् =उत्तम+(पुं०) प्र०, ए० व०=उत्तमः । उत्कृष्टतमः । अतिशय उत्कृष्ट । अतिशय उच्च । उत्तम (हूँ) ।

अतः=(अव्यय) इदम्+तसिल् =अतः =इसलिए ।

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्०, उ० पु०, ए० व०= (मैं) हूँ ।

लोके=(पुं०)√लोक्+घञ् +सप्त० ए० व० =लोके=लोक में ।

वेदे=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+घञ् या अच्=वेद+सप्त० ए० व०=वेद में । [वेद के छः अङ्ग—शिक्षा, छन्दस्, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, कल्प ।]

च=(अव्यय) और ।

प्रथितः=(वि०)√प्रथ् (भ्वा० आत्म०, चुरा० पर० सक० अक०=प्रसिद्ध होना । विख्यात होना)+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=प्रसिद्ध किया हुआ । विख्यात । प्रसिद्ध ।

पुरुषोत्तमः=(वि०, पुं०, प्र० ए० व०) पुरुषेषु उत्तमः यः सः (बहुव्री०) । पुरुषोत्तम-परमात्मा ॥

अर्थ - क्योंकि मैं क्षर को लाँघा हुआ और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

व्याख्या—प्राणियों के सब प्रकार के शरीर क्षर नाम वाले हैं क्योंकि वे सब क्षर या क्षीण होते रहते हैं और अन्त में नष्ट हो जाते हैं। मैं सर्व व्यापक हूँ परन्तु शरीरधारी नहीं होता हूँ यदि आप कहो कि मैं राम, कृष्ण, विष्णु आदि रूप धारण करता हूँ और कौशल्या, देवकी आदि माताओं के गर्भ से जन्म लेता हूँ तो यह बात थोड़ी सी ठीक नहीं है कारण यह है कि आज्ञानी लोग ही मुझे मनुष्य की भान्ति शरीरधारी और गर्भ में आया हुआ देखते और समझते है। परन्तु ज्ञानी पुरुष तो मेरी इस वास्तविकता को जानते हैं कि मैं तो उसी प्रकार प्रकट होता हूँ जिस प्रकार सर्वव्यापक अग्नि दियासिलाई घिसने से प्रकट हो जाती है तात्पर्य यह कि मेरा जो भक्त जिस भावना से मेरी भक्ति करता है मैं उस को उसी प्रकार और उसी रूप में सुलभ हो जाता हूँ। दशरथ और कौशल्या ने पूर्व जन्म में तप करके मुझे पुत्र रूप में पाना चाहा था, इसलिए उन को मेरा गर्भ में आना भासमान हुआ था और पुत्र रूप में जन्म धारण करना प्रतीत हुआ था। ये दोनों बातें ठीक इसी प्रकार घटित हुईं। जिस प्रकार ऐन्द्रजालक के किए हुए मिथ्या कार्य सत्य से प्रतीत हुआ करते हैं। विष्णु-भक्तों के लिए मैं विष्णु रूप में प्रकट होता हूँ। कृष्ण-भक्तों के लिए कृष्ण रूप में। वास्तव में मेरे ऐसे सारे स्वरूप केवल दृश्य मात्र ही होते हैं। उन का अन्य प्राणियों की भान्ति क्षर शरीरों से किसी प्रकार का भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। क्योंकि मैं इन सब क्षर शरीरों से अतीत हूँ। ये सब तो मेरी त्रिगुणात्मक माया की तुच्छ खेलें हैं जो बालकों की भान्ति मिट्टी के खिलौने बनाती और ढाती रहती हैं। भला मैं अपनी माया के बनाए हुए इन तुच्छ शरीर रूपी खिलौने में कैसे सीमित हो सकता हूँ ?

अक्षर तो मेरी अपनी माया प्रकृति ही है जो जगत् की रचना के समय मुझ से प्रकट होती है और मेरा इंगित पाकर यह जड़ प्रकृति सम्पूर्ण जगत् की रचना महाप्रलय काल तक करती रहती है और संसार का अन्त होने पर फिर मुझ में ही समा जाती है। इसलिए वह मेरे तुल्य भला कैसे हो सकती है ? माया और मेरे सम्बन्ध में तो यह लोकोक्ति भी भद्दी बन कर रह जाती है कि "कहाँ राजा भोज और कहाँ लंगड़ा तेली।' हो सकता है लंगड़ा तेली भाग्यवश राजा भोज तुल्य राजा बन जाए जैसे नादरशाह बकरियाँ चराते चराते राजा बन गया था तथा कुतबुद्दीन ऐबक दास (रंक) से राजा हो गया था। परन्तु मेरी माया तो कदापि मेरे तुल्य नहीं हो सकती। माया जड़ है। मैं चेतन और माया-पति हूँ। इसलिए मैं इस प्रकृति या अक्षर से अत्यन्त उत्कृष्ट हूँ।

यदि तुम कहो कि इस श्लोक में अक्षर नाम जीवात्मा का है तो भी मैं जीवात्मा से अत्युत्तम हूँ कारण यह कि बिम्ब की अपेक्षा प्रतिबिम्ब निकृष्ट होता है क्योंकि प्रतिबिम्ब की सत्ता बिम्ब के कारण ही होती है और फिर जीवात्मा तो माया में स्थित हुआ जन्म जन्मान्तर में धक्के खाता फिरता है और अशान्त

वश अपने मूल रूप को भूला रहता है। ज्ञान प्राप्त होने पर ही मेरे साथ आकर फिर मिलता है। नहीं तो माया रचित शरीरों में प्रविष्ट हो होकर उन दुःखों और सुखों को जो इन्द्रियों से सम्बन्ध रखते हैं तथा मन और बुद्धि के बन्धन हैं। अपने समझ कर दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होता रहता है। इसलिए क्षर-शरीर से तो मैं सर्वथा अतीत ही हूँ और उन शरीरों को बनाने या बिगाड़ने वाली प्रकृति अथवा उन शरीरों में रहने वाले जीवात्मा से भी मैं अत्यन्त उत्कृष्ट हूँ।

इसलिए क्षर और अक्षर से उत्तम होने के कारण लोक और वेद में, मैं पुरुषोत्तम नाम से विख्यात हूँ। भक्त लोग मुझे इसी प्रकार जानते हैं और कवि लोग भी काव्य आदि में इसी नाम का प्रयोग करते हैं। श्रुति और स्मृति में भी मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ॥

अब श्री ज्ञानेश्वर जी द्वारा भी उस पुरुषोत्तम का थोड़ा यशो-गान सुनिए आप कहते हैं कि —

"क्षर और अक्षर दोनों पुरुष इसी पार हैं और उत्तम पुरुष पर-तीर-स्थ है। यह पर-तीर-स्थ परमात्मा ही पुरुषोत्तम है। मौन ही उसका शब्द है। कोई ज्ञान न होना ही उस का ज्ञान है। किसी वस्तु के स्वरूप का न होना ही उसका स्वरूप है। सोऽहं भाव भी उस में जाकर अस्त हो जाता है। वक्ता ही वहाँ वक्तव्य रूप धारण कर लेता है जहाँ दृश्य-द्रष्टा सहित विलीन हो जाता है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब के बीच स्थित प्रभा हाथ से पकड़ी नहीं जा सकती। दृश्य और द्रष्टा के विलीन हो जाने पर शेष कुछ नहीं रह जाता। परन्तु ऐसी जो स्थिति है उसकी प्रतीति ही उस पुरुषोत्तम का रूप है। वह प्रकाश्य वस्तु के बिना ही प्रकाशता है। शासितव्य वस्तु के बिना ही शासन करता है जो निज से ही सारे ब्रह्माण्ड को बसाता है। उस महाशून्य में शून्य भी विलीन है जो वास्तव में विश्व न होता हुआ भी विश्व को धारण किए हुए जो विश्व के प्रकट होने से न कुछ होता है और विश्व के लय होने से न कहीं जाता है। उसकी तुलना स्वयं उसी से हो सकती है॥ १८॥

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

यः+माम्+एवम्+असम्मूढः+जानाति पुरुषोत्तमम्। सः+सर्व-विद्+भजति माम्+सर्व-भावेन भारत!॥

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्वि० ए० व०=मुझ को।

एवम्=(अव्यय)√इ+वमु (बा०)=इस प्रकार।

असम्मूढः=(वि०, पुं०) सम्√मुह् (नञ् तत्पु०)=असम्मूढः+प्र० ए० व० =असम्मुढः। सम्मोह-वर्जितः सन्=सम्मोह से रहित हुआ (पुरुष)। अज्ञान से रहित हुआ (पुरुष)। ज्ञानी (पुरुष)।

जानाति=√ज्ञा (क्र्या० उभ० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= जानता है।

पुरुषोत्तमम्=(वि० पुं०, द्विती०, ए० व०) पुरुषेषु उत्तमः यः तम्=पुरुषों में उत्तम को।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

सर्व-विद्=(वि० पुं०) सर्वं वेत्ति यः (बहुव्री०) इति, सर्व+√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+क्विप्=सर्वविद्-त् (प्र० ए० व०)। सब का जानने वाला। सर्वात्म-भाव से सब को जानने वाला। सर्वज्ञ (पुरुष)।

भजति=भज् (भ्वा० उभ० सक०=भजना, स्मरण करना, नाम जपना, पूजा करना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=भजता है।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

सर्व-भावेन=(पुं०) सर्वेण भावेन। सर्वात्मचित्ततया। (तृती० ए० व०) सब भाव से। सब का आत्मा समझकर। सब प्रकार से।

[भाव=(पुं०)√भू+घञ्=चित्त वृत्ति। भावना। अनुराग।]

भारत !=(पुं० सम्बो० ए० व०) भरतस्य गोत्रापत्यम्, भरत+अण्=भारत। हे भरतवंशज (अर्जुन)!।

अर्थ—हे भरत वंशज (अर्जुन)! जो मोह रहित हुआ (पुरुष) इस प्रकार मुझ पुरुषोत्तम को जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष मुझ को सब भाव से भजता है ॥ १९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तू श्रेष्ठ कुल भरतवंश में उत्पन्न हुआ है, इस से मेरे इस पवित्र उपदेश को समझने और उस के अनुसार आचरण करने में समर्थ है। ऊपर के दोनों श्लोकों में मैं ने अपने जिस रूप का वर्णन किया है, जो कोई अज्ञान से रहित हुआ पुरुष उस उपर्युक्त विशेषणों से युक्त मुझ पुरुषोत्तम परमात्मा को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, एकमात्र नियन्ता आदि ऊपर कहे हुए प्रकार से जानता है। वही चतुर, विद्वान् और विचारवान् पुरुष है। वह असंमूढ पुरुष ही मुझ को उस ज्ञान के बल से क्षर-अक्षर से पर, पुरुषोत्तम रूप में देखता है वह जब अपने को देखता है तो उसे अपना आप भी मैं पुरुषोत्तम ही दिखाई देता हूँ। बार बार वह कभी मुझ को देखता है कभी अपने आप को देखता है परन्तु उसे यह पता नहीं लगता कि मैं और हूँ और पुरुषोत्तम कोई और है इस प्रकार वह मुझ में सदा अभेद भाव से डूबा रहता है। उसको अपने इस

पार्थिव शरीर में मैं इसी प्रकार नजर आता हूँ। जिस प्रकार बिजली के बल्ब में प्रकाश दृष्टि गोचर होता है। इसी प्रकार जीव मात्र के शरीर भी बिजली के भिन्न भिन्न बल्वों की भान्ति मुझ पुरुषोत्तम परमात्मा के प्रकाश से जगमगाते हुए दिखाई देते हैं उसे उन के प्रकाश और अपने भीतर के प्रकाश में कोई भिन्न भाव दिखाई नहीं देता है। ऐसा पुरुष ज्ञानी होकर भी भक्त होता है क्योंकि परमेश्वर का ज्ञान और परमेश्वर का प्रेम, ये दोनों भिन्न भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। जिस में ज्ञान है उस में ही प्रेम होता है।

सारी सृष्टि इसी प्रकार एक ही ब्रह्म का रूप है, जिस प्रकार देव-मन्दिर, उस में स्थापित की हुई भगवान् की प्रतिमा, उस में बनी हुई अन्य देवी देवताओं की मूर्तियाँ तथा उस की दीवारों पर बने हुए फल फूल आदि सब एक ही पत्थर के बने हुए होते हैं। कर्म, भक्ति और ज्ञान ये तीनों मिल कर इस पुरुषोत्तम योग को पूर्ण करते हैं। जो इस पुरुषोत्तम योग को जान कर उस में युक्त हो जाता है वह सर्वात्म-भाव से सब को जानता है। अतः सर्वज्ञ है। उसका ज्ञान—संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित हो चुका होता है और उस में मोह-माया का किंचित् मात्र भी अंश शेष नही होता। यद्यपि उस का प्रेम सब से होता है। परन्तु जीव रूप से नहीं अपितु पुरुषोत्तम रूप से ही होता है। वह ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश से सब में मुझ को ही पहचानता है। ज्ञान की जाग्रति हो जाने पर यह दृश्य जगत् स्वप्न के समान उसे मिथ्या जान पड़ता है। जैसे सर्प प्रतीत होने वाली माला को उठा लेने पर उस में आरोपित सर्प-भय दूर हो जाता है। वैसे ही जगत् की वास्तविकता को जान लेता है। ऐसा सर्वविद् असंमूढ़ पुरुष, पुरुषोत्तम परमात्मा को जानता है और सर्वभाव से—सब का आत्मा समझ कर भजता है ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति गुह्यतमम् + शास्त्रम् + इदम् + उक्तम् + मया + अनघ !। एतत् + बुद्ध्वा बुद्धिमान् + स्यात् + कृत-कृत्यः + च भारत ! ॥

इति = (अव्यय) √इ + क्तिन् = समाप्ति। ऐसा। ऐसे। इस प्रकार का।

गुह्यतमम् = (वि०) √गुह् (भ्वा० उभ० सक० = छिपाना) + क्यप् = गुह्य + तम = गुह्यतम + (नपुं०) प्र० ए० व० = गुह्यतम। अति रहस्यमय गोपनीय। सब से अधिक गोपनीय। अत्यन्त गूढ रहस्य वाला।

शास्त्रम् = (नपुं०) शिष्यतेऽनेन, √शास् (अदा० पर० सक० = शिक्षा देना) + ष्ट्रन् = शास्त्र + प्र० ए० व० = शास्त्र।

[यद्यपि सारी गीता का नाम ही शास्त्र कहा जाता है, परन्तु यहाँ स्तुति

के लिये प्रकरण से यह (पन्द्रहवाँ) अध्याया ही "शास्त्र" नाम से कहा गया है क्योंकि इस अध्याय में केवल सारे गीता शास्त्र का अर्थ ही संक्षेप से नहीं कहा गया है, किन्तु इस में सारे वेदों का अर्थ भी समाप्त हो गया है। यह कहा भी है—"यस्तं वेद स वेद विद्" अर्थात् जो उसे जानता है, वही वेद को जानने वाला है और "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" अर्थात् समस्त वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। (श्री स्वामी शंकराचार्य जी)]।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं० वि०) प्र० ए० व०=यह (पन्द्रहवाँ अध्याय)।

उक्तम्=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+क्त=उक्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है।

मया=अस्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा। मुझ से।

अनघ !=(वि०, पु०, सम्बो० ए० व०) नास्ति अघं, पापं, दुःखं, व्यसनं, कालुष्यं वा यस्य। (नञ् बहुव्री०)=हे अनघ ! हे निष्पाप ! (अर्जुन का विशेषण)।

एतत्=एतद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इस को (गुह्यतम शास्त्र रूप पन्द्रहवें अध्याय को)।

बुद्ध्वा=√बुध् (भ्वा० दिवा०=जानना)+क्त्वा=(ठीक ठीक—तत्त्व से) जान कर। (पुरुष)।

बुद्धिमान्=(वि०)√बुध्+क्तिन्=बुद्धि+मतुप्+बुद्धिमत्+(पुं०) प्र० ए० व०=समझदार। चतुर। ज्ञानवान्। बुद्धिमान्।

स्यात्=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+विधिलिङ् प्र० पु०, ए० व० =हो सकता है। होना चाहिए। होता है।

कृत-कृत्य=(वि०) कृतं कृत्यं (कर्तव्यं-करणीयं) येन सः (बहुव्री० पुं०, प्र० ए० व०)=करने योग्य काम को, किया हुआ। कामयाब। सफल। कर्तव्य या करने योग्य कर्म को कर चुका। जिस ने करने योग्य सब कुछ कर लिया हो। कृतार्थ। कृतकृत्य।

[√कृ+क्त=कृत। √कृ+क्यप्, तुगागम=वह जो किया जाना चाहिए।]

भारत !=(पुं० सम्बोधन ए० व०) भरतस्य गोत्रापत्यम्, भरत+अण् =भारत !। हे भरत वंशज (अर्जुन) !

अर्थ—हे निष्पाप ! हे भरत वंशज (अर्जुन) ! यह (अध्याय पंचदश रूप) गुह्यतम शास्त्र इस प्रकार मेरे द्वारा कहा गया है इस को जान कर (पुरुष) बुद्धिमान् और कृत-कृत्य (मोक्ष पाने में सफल) होता है ॥ २० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू एक तो शुद्ध और पवित्र भरत वंश में उत्पन्न हुआ है। दूसरे निष्पाप, दुःख रहित, व्यसन शून्य और कालुष्य हीन है, इसी से तेरा नाम अर्जुन अर्थात् देदीप्यमान या शुभ्र है यही कारण है कि तू इस गुह्यतम शास्त्र का उपदेश मेरे द्वारा किए जाने योग्य था जिसे जान कर तू बुद्धिमान् और कृत-कृत्य हो गया है। क्योंकि श्रेष्ठ कुल में जन्म लेने वाले द्वारा जो कुछ किया जाने योग्य है वह सब मुझ पुरुषोत्तम परमात्मा के तत्त्व को जान लेने पर किया हुआ हो जाता है। अन्य प्रकार से किसी के भी कर्त्तव्य की समाप्ति नहीं होती। कहा भी है—

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते"

अर्थात् हे पार्थ ! सम्पूर्ण कर्म समुदाय ज्ञान में सर्वथा समाप्त हो जाता है। सम्पूर्ण गीता में जो ज्ञान भरा हुआ है वह इस अकेले पन्द्रहवें अध्याय में छिपा हुआ है। और यह अध्याय वेदों का सार है। जो पुरुष इस को जान लेता है वह वेदों का ज्ञाता हो जाता है। सर्व वेदों द्वारा जानने योग्य केवल पुरुषोत्तम परमात्मा ही है। इस अत्यन्त रहस्यमय गोपनीय शास्त्र को जानने वाला भगवान् को जान कर बुद्धिमान् और कृत-कृत्य हो जाता है जो पुरुष भगवान् को सर्वोत्तम समझ लेता है। उसका अन्तःकरण एक क्षण भी भगवान् के चिन्तन का त्याग नहीं करता है क्योंकि उत्तम समझी जाने वाली वस्तु से मनुष्य का प्रेम स्वभाविक होता है और किसी का जिस में पूर्ण प्रेम होता है। उसका ध्यान और चिन्तन ही वह निरन्तर करता है। और ऐसा करते करते वह अन्त में वही बन जाता है क्योंकि उस का अलग स्वरूप सदा के लिए लुप्त हो जाता है जैसे जलती हुई आग जब बुझ जाती है तब उसकी ज्वाला और तेज सर्वव्यापक अग्नि के मूल रूप में मिल जाते हैं। और पीछे केवल राख रह जाती है। इसी प्रकार जीवात्मा के ब्रह्म-लीन हो जाने के अनन्तर पंचभूत शरीर शेष रह जाता है।

पुरुषोत्तम को जान लेने वाला पुरुष परमात्मा का पहले साक्षात्कार करता है फिर उसी का रूप हो जाता है और वह इस आत्मज्ञान से युक्त हो जाता है कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ' फिर उस के करने योग्य कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता क्योंकि वह कृत-कृत्य हो जाता है। जीव यात्रा का अन्तिम छोर ही ब्रह्म-प्राप्ति है जिस के बाद फिर जीव का अपना कोई रूप अलग नहीं रहता जैसे गंगा-जल हिन्द महासागर में मिलकर अपना अलग रूप खो देता है। कहा भी है—

"ज्यों जल में जल आए खटाना।
त्यों ज्योति संग ज्योति समाना॥"

ज्ञान की केवल बातें करने वाले पुरुष ही ज्ञानी या बुद्धिमान् नहीं होते। विशेषता तो इस बात में है कि ज्ञान के सारे सिद्धान्त बुद्धि में प्रतिबिम्बत हो रहे

हों और ये सब हृदय में जमे हुए और नस नस में समाये हुए हों और परमात्मा के स्वरूप की पूरी झलक ज्ञानी के नेत्र प्राणि-मात्र में देखते हों। किसी संकट या प्रलोभन के समय मन तनिक सा भी डगमगा न सके। इस के लिये शुद्ध संस्कार, इन्द्रिय-निग्रह, निरन्तर योग, सतत ध्यान और उपासना परमावश्यक होते हैं जब किसी मनुष्य में उसकी दु:ख सुख आदि प्रत्येक अवस्था में समभाव दृष्टिगोचर होता हो। तभी समझना चाहिए कि उस का ब्रह्म ज्ञान परिपक्व हो गया है। और ऐसे ही मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है। यही इस शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त है। ऐसा सिद्धान्त जिस पुरुष के आचरण में न हो वह कच्चा है और रोटियों के कारण ताल पर नाचने वाला होता है। बाह्य सृष्टि के मूल तत्त्व को केवल बुद्धि से जान लेना ही सच्चा ज्ञान नहीं है। सच्चा ज्ञान तो वही है, जो अदंभित्व, अमानित्व, क्षान्ति, आत्म निग्रह तथा समबुद्धि आदि मनोवृत्तियों के जाग्रत होने से प्राप्त होता है जिस से चित्त की पूरी शुद्धता आचरण में व्यक्त होती है। इसलिये जो पुरुष अन्तर्बाह्य शुद्ध होता है, वही सच्चा आत्म-निष्ठ है। उसी को मुक्ति मिलती है। श्रुति में कहा है—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

[मुण्ड० ३।२।३॥ कठ० १।२।२३॥]

अर्थात् वह परमात्मा न तो उस को मिलता है जो शास्त्रों को पढ़, सुन कर लच्छेदार भाषण में परमात्म-तत्त्व का नाना प्रकार से वर्णन करता है, न उस तर्कशील बुद्धिमान् पुरुष को ही मिलता है जो बुद्धि के अभिमान से प्रमत्त हुआ रहता है और न उस को मिलता है जो सुनता तो बहुत हैं परन्तु उसे अपने जीवन में ढालता नहीं है। जो बापू के एक गुरु की तरह एक कान सुनता है और दूसरे से बाहर निकाल देता है। समझने की चेष्टा नहीं करता। वह पुरुषोत्तम परमात्मा तो उसी को प्राप्त होता है, जिस को वह स्वयं स्वीकार कर लेता है और वह स्वीकार उसी को करता है जिस की उस के लिये उत्कट इच्छा होती है तथा जो उस के बिना एक पल भी रह नहीं सकता और जो सब आश्रयों को त्याग कर केवल उस की कृपा की प्रतीक्षा करता है। परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ रूप को प्रकट कर देता है॥ २०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्याय:।

इस प्रकार श्री कृष्ण भगवान् से गाये हुए उपनिषदों में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-सम्बन्धि, श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद में "पुरुषोत्तम योग" नाम वाला पन्द्रहवां अध्याय कथित हुआ॥

शुभमस्तु। मंगलमस्तु

॥ ॐ तत्सत्॥

|| ॐ श्री परमात्मने नमः ||

॥ अथ षोडशोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

अभयम् + सत्त्व-संशुद्धिः + ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः । दानम् + दमः + च यज्ञः + च स्वाध्यायः + तपः + आर्जवम् ॥

अहिंसा सत्यम् + अक्रोधः + त्यागः शान्तिः + अपैशुनम् । दया भूतेषु + अलोलुप्त्वम् + मार्दवम् + ह्रीः + अचापलम् ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचम् + अद्रोहः + न + अति-मानिता । भवन्ति सम्पदम् + दैवीम् + अभिजातस्य भारत ! ॥

अभयम्=(नपुं०) न भयम् (नञ् तत्पु०) (प्र० ए० व०)=भय का अभाव । निर्भयता । स्वभाव से ही भय का न होना । इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से मन में जो विकार उत्पन्न होता है, उसका अभाव । [भय अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे—प्रतिष्ठा के नाश का भय । अपमान का भय । शत्रु का भय । सिंह, साँप आदि का भय । रोग का भय और मृत्यु का भय इत्यादि । ऐसे किसी भी भय से न डरना—'अभय' गुण है ।]

सत्त्व-संशुद्धिः=(स्त्री०) सत्त्वस्य संशुद्धिः (षष्ठी० तत्पु०)=अन्तःकरण की अच्छी तरह शुद्धि ।

[सत्त्व=(नपुं०) सतो भावः, सत् + त्व=होने का भाव (अस्तित्व) । चित्त । अन्तःकरण ।

संशुद्धिः=(स्त्री०) सम् √शुद्ध + क्तिन् संशुद्धि + प्र० ए० व०=पूर्णरूप से शुद्धि । व्यवहार में दूसरों के साथ ठगी, कष्ट और झूठ आदि दुर्गुणों को छोड़ कर शुद्ध भाव से आचरण करना । अन्तःकरण की शुद्धि ।

अन्त:करण का राग-द्वेष, हर्ष-शोक, मोह-मत्सर, अहंकार-गर्व आदि द्वन्द्वों से रहित होना। शुद्ध स्वभाव।

ज्ञान-योग-व्यवस्थिति:=(स्त्री०) ज्ञानं च योगं च तयो: व्यवस्थिति: (द्वन्द्व०, सप्त० तत्पु०)=ज्ञान योग में निरन्तर स्थिति।

[ज्ञान=शास्त्र और सद्गुरु से आत्मा आदि पदार्थों का जानना। योग= उन जाने हुए पदार्थों का इन्द्रिय-आदि के निग्रह से प्राप्त एकाग्रता द्वारा अपने आत्मा में प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना। व्यवस्थिति:=(स्त्री०) वि-अव√स्था+क्तिन्+प्र० ए० व०=पूरी स्थिति। अच्छी तरह स्थिरता। तन्मय हो जाना।] परमात्मा के स्वरूप को तत्त्व से जानने के लिये उसमें एकीभाव से ध्यान की निरन्तर गाढ स्थिति।

दानम्=(नपुं०)√दा+ल्युट्=दान+प्र० ए० व०=दानम्=यथाशक्ति संविभाग: अन्नादिनाम्=अपनी शक्ति के अनुसार अन्नादि वस्तुओं का विभाग या वितरण करना। सुपात्र को अन्नादि पदार्थों का देना। सात्त्विक दान।

दम:=(पुं०)√दम्+घञ्=दम+प्र० ए० व०=दम:=बाह्य-करणानाम् उपशम:=बाह्य इन्द्रियों का संयम। बाहर की वृत्तियों को रोकना। बाहर की इन्द्रियों को वशवर्ती करना। इन्द्रियों का दमन।

च=(अव्यय) और।

यज्ञ:=(पुं०) इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा√यज्+नङ्= यज्ञ=प्र० ए० व०=अग्निहोत्रादि श्रौत यज्ञ और देवपूजादि स्मार्तयज्ञ। आत्मज्ञान रूपी अग्नि में नित्य अपनी चित्तवृत्तियों का अर्पण या स्वाहा करना। भक्ति, पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों का आचरण।

च=(अव्यय) और।

स्वाध्याय:=(पुं०) स्व+अध्याय+प्र० ए० व०=ऋग्वेदाद्यध्ययनम्=ऋक् आदि वेदों का अध्ययन, वेदाध्ययन। वेद शास्त्रों का पढ़ना। धर्म या वेदान्त की पुस्तकों का अध्ययन करना।

तप:=(पुं०)√तप् (भ्वा० पर० अक०=तपना)+अच्=तप+प्र० ए० व०। तपस्या। स्व-धर्म-पालन करने के लिए कष्ट सहन करना। ब्रह्मचर्यादि व्रतों से शरीर आदि को वश में करना।

आर्जवम्=(नपुं०)√ऋज् (भ्वा० आत्म० सक० अक०=खड़ा होना, दृढ़ होना) +कु=ऋजु (सीधा, सरल, सच्चा)। ऋजु+अण्=आर्जव+प्र० ए० व०=आर्जवम्=सदा सरलता। सदा सीधापन। शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्त:करण की सरलता। सदा कोमल और सरल स्वभाव रहना। निष्कपटता। सीधा-सादा-पन। (१)

अहिंसा=(स्त्री०) न हिंसा (नञ् तत्पु०)। [हिंसा=(स्त्री०)√हिंस् (रुधा०, चुरा०, पर० सक०=पीड़ित करना। वध करना)+अ+टाप्=पीड़ा। हत्या] अहिंसा+प्र० ए० व०=अहिंसा (अहिंसनं=प्राणिनां पीडावर्जनम्)=किसी भी प्राणी को कष्ट न देना। मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना। हिंसा न करना।

सत्यम्=(नपुं०) सते हितम्, सत्+यत्=सत्य+प्र० ए० व० सत्यम्=यथार्थता। ठीक। सचाई। अप्रियता और असत्य से रहित वचन। अन्तःकरण और इन्द्रियों के द्वारा जैसा निश्चय किया हो, वैसे का वैसा ही प्रिय, शब्दों में कहना। अनर्थ न हो यह सोच कर ही सत्य वचन कहना।

अक्रोधः=(पुं०) न क्रोधः (नञ् तत्पु०)। [क्रोध=(पुं०)√क्रुध् (दिवा० पर० अक०=कुपित होना)+घञ्=क्रोध। रोष] (प्र० ए० व०)। क्रोध न करना। दूसरों के द्वारा गाली दी जाने या ताड़ना की जाने पर उत्पन्न हो जाने वाले क्रोध को शान्त कर लेना। अक्रोध। अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध न करना।

त्यागः=(पुं०)√त्यज् (भ्वा० पर० सक० अक०=त्यागना)+घञ्=त्याग+प्र० ए० व०। कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग। चित्त की चंचलता का त्याग। सर्व पदार्थों में ममत्व का त्याग। सम्पूर्ण विषय वासनाओं का त्याग। संन्यास।

[यहाँ त्याग का अर्थ 'दान' नहीं है, क्योंकि 'दान' शब्द पहले श्लोक में कहा जा चुका है।]

शान्तिः=(स्त्री०)√शम्+क्तिन्=शान्ति+प्र० ए० व०। अन्तःकरण का संकल्प रहित होना। सहनशील स्वभाव।

अपैशुनम्=(नपुं०) न पैशुनम् (नञ् तत्पु०) [पैशुनम्=पिशुनस्य भावः, पिशुन+अण्=पैशुन+प्र० ए० व०। पिशुन=(वि०)√पिश् (तुदा० पर० सक०=प्रकाश में लाना। नंगा करना)+उनन्=इधर-उधर की लगाने वाला]। किसी दूसरे के सामने पराये छिद्रों को न प्रकट करना। चुगली न खाना।

दया=(स्त्री०)√दय्+अङ्+टाप्=दया+प्र० ए० व०=दया। कृपा। हेतु रहित दया। सब जीवों को अपना आत्मा समझ कर उनके कष्टों से उन्हें छुड़ाने का भरसक प्रयत्न करना। दूसरों के दुःखों को देख कर हृदय का द्रवीभूत होना।

भूतेषु=(नपुं०)√भू+क्त=भूत+सप्त० ब० व०=भूतों पर। सब प्राणियों पर। सब दुःखी प्राणियों पर।

अलोलुप्त्वम्=(नपुं) न लोलुप्त्वम् (नञ् तत्पु०) [लोलुप्त्व=(गर्हितं लुम्पति, √लुभ्, √लुप्+यङ्=लोलुप्+त्व=लोलुप्त्व+प्र० ए० व०]। निर्लोभता। विषयों के साथ संयोग होने पर भी इन्द्रियों में विकार न होना।

मार्दवम्=(नपुं०) मृदु+अण्=मार्दव+प्र० ए० व०। कोमलता। अक्रूरता। नर्म दिली।

ह्रीः=(स्त्री०)√ह्री (जुहो० पर० अक०=लजाना)+क्विप्=ह्री+प्र० ए० व०=लज्जा। लोक और शास्त्र से विरुद्ध कार्य करने से अपयश के भय से डरना।

अचापलम्=(नपुं०) न चापलम् (नञ् तत्पु०) चपल+अण्=चापल+प्र० ए० व०। अचंचलता। बिना प्रयोजन वाणी, हाथ, पैर आदि की व्यर्थ क्रियाओं का न करना। चपलता का अभाव। व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव॥ (२)।

तेजः=(नपुं०)√तिज्+असुन्=तेजस्+प्र० ए० व०=तेजः=चरित्रबल। सर्वोत्कृष्ट आभा। आध्यात्मिक शक्ति। तेजस्विता (केवल चमड़ी की चमक नहीं)। श्रेष्ठ पुरुषों की उस शक्ति का नाम तेज है, कि जिस के प्रभाव से नीच-प्रकृति पुरुष भी नत हो जाते हैं। अपने गुण-गौरव से तेजस्वी और प्रभावशाली बने रहना।

क्षमा=(स्त्री०)√क्षम्+अङ्-टाप्=क्षमा+प्र० ए० व०=सहनशीलता। क्षमा। शक्ति रहते भी सब के अपराधों को सह लेना (उत्पन्न हुए विकार को सह लेना अक्रोध होता है।)

धृतिः=(स्त्री०)√धृ+भावे क्तिन्=धृति+प्र० ए० व०। धैर्य। धीरता। व्याकुलता और विपत्ति पड़ने पर भी निर्विकार और शान्तचित्त बने रहना। भय, व्याकुलता और शोक से रहितता। अनथकन से कार्य किये जाना।

शौचम्=(नपुं०) शुचि+अण्=शौच+प्र० ए० व०। शुद्धता। शरीर और वस्त्रों की बाहर से शुद्धि। कपट और रागादि मलों से रहितता रूप भीतर की शुद्धि। काया, वचन, मन की पवित्रता।

अद्रोहः=(पुं०) न द्रोहः (नञ् तत्पु०)। [द्रोहः=√द्रुह्+घञ्=द्रोह=प्र० ए० व०]=सब के सम्बन्ध में शत्रुभाव का अभाव। दूसरे को मारने की इच्छा का अभाव।

न+अति-मानिता=(स्त्री०) अत्यर्थं मानः=अतिमानः, स यस्य विद्यते सः=अतिमानी, तद्भावः=अतिमानिता, तदभावो=नातिमानिता=अतिमानता

का अभाव [अत्यन्त मान का नाम—'अतिमान' है। यह जिस में हो वह—अतिमानी। उसका भाव अतिमानता। उसका अभाव—"नातिमानता"। अपने में अतिशय पूज्य भाव का न होना। पूज्यता के अभिमान का अभाव।

भवन्ति=√भू+लट्० प्र० पु०, ब० व०=होते हैं।

संपदम्=(स्त्री०) सम्√पद्+क्विप्=सम्पद्+द्विती० ए० व०=सम्पद को। सम्पदा को। सम्पत्ति को। लक्षणों को। स्वभाव को। गुणों को। सम्पद् में।

दैवीम्=(वि० स्त्री०) देवस्य इयं, देव+अण्+ई=दैवी=देवता सम्बन्धिनी। देवताओं की। सात्विकी। [दैवी सम्पद् विमोक्षाय]। स्वर्गीय। देवताओं की सम्बन्धिनी। परम देव भाव को प्राप्त कराने वाली।

अभिजातस्य=(वि०, पुं०) अभि√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना) +कर्तरि क्त+अभिजात+षष्ठी० ए० व०=उत्पन्न हुए के।

भारत!=(पुं० सम्बो० ए० व०) भरतस्य गोत्रापत्वम् भरत+अण्=हे भारत!। हे भरत के वंश में उत्पन्न अर्जुन!।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

अभय (सर्वथा निर्भयता), अन्तःकरण की अच्छी तरह से स्वच्छता, ज्ञान और योग में दृढ़ स्थिति, सुपात्रों को अन्नादि पदार्थों का दान करना, बाह्य इन्द्रियों का दमन, यज्ञ (भगवद्भक्ति, पूजा-अर्चा और अग्नि होत्रादि श्रेष्ठ कर्मों का आचरण), स्वाध्याय (ऋक् आदि वेद-शास्त्रों का अध्ययन), तप (तपस्या—ब्रह्मचर्यादि व्रतों से शरीरादि को वश में करना), आर्जव (सदा कोमल और सरल स्वभाव होना) ॥ १ ॥

अहिंसा (मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना), सत्य (सचाई—अनर्थ न हो, यह सोच कर सदा सत्य बोलना, अक्रोध (अपकार करने वाले के प्रति भी क्रोध व करना), त्याग (कर्मों में कर्तापन का त्याग, अभिमान का त्याग, सम्पूर्ण संसार में ममत्व का त्याग अथवा संन्यास वृत्ति या भावना), शान्ति (दुःख-सुख, हानि-लाभ आदि प्रत्येक अवस्था में मन का शान्त और स्थिर रहना), किसी की चुगली न करना, सर्व-प्राणियों पर दया भाव, निर्लोभता (विषयों के साथ संयोग होने पर भी तथा भोग योग्य भरपूर शक्ति रहते हुए भी इन्द्रियों का विकार रहित होना), कोमलता (अक्रूरता—नर्म दिली), लज्जा (अयोग कर्म के करने में शर्माना), अचपलता (बिना प्रयोजन वाणी, हाथ, पैर आदि शरीर अवयवों की व्यर्थ क्रियाओं का न करना) ॥ २ ॥

तेज (चरित्रबल, गुण-गौरव और सर्वोत्कृष्ट आभा से उत्पन्न महा-प्रभाव—जिस से प्रभावित होकर सब प्राणी निस्तेज और नत हो जाते हैं), क्षमा (अत्यन्त सहनशीलता, धीरता (व्याकुलता और विपत्ति आने पर न डगमगाना), शरीर, वचन और मन की पवित्रता, अद्रोह (सबके सम्बन्ध में शत्रु-भाव का अभाव और निज सम्बन्धि पूज्यता के अभिमान का अभाव, हे भारत ! ये छब्बीस गुण (या लक्षण) दैवी (सात्विकी) सम्पदा में जन्मे हुए (पुरुष) में होते हैं ।। ३ ।।

व्याख्या—श्री भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! तू शुद्ध वंश में उत्पन्न होने से अत्यन्त पवित्र है । इसलिए तू इन तीनों श्लोकों में कही गई छब्बीस दैवी-सम्पदाओं से युक्त है । इसलिए तेरे लिए मोक्ष प्राप्त करना कठिन नहीं है ।

पूर्व अध्याय में मैंने अपना अत्यन्त गुप्त रहस्य पुरुषोत्तम योग विस्तार-पूर्वक कहा है । परन्तु उसका समझना साधारण लोगों के लिए अत्यन्त कठिन है । परन्तु जिस जन पर मेरी अपार कृपा होती है । उसके अन्तर्चक्षु खुल जाते हैं जिससे वह मेरे इस रहस्यमय वचनामृत से अच्छी तरह तृप्त हो जाता है और तटस्थ पुरुष की भान्ति अलग होकर सारे संसार को देखने लग जाता है सम्पूर्ण ऋद्धि-सिद्धियाँ उसके इशारे की प्रतीक्षा करने लगती हैं । दुनियाँ के कुत्ते दुम उठाए हुए उसके आगे पीछे फिरने लगते हैं । कहते हैं कि एक बार सम्राट् औरंगजेब लाहौर को देखने के लिए वहाँ गया । उसने सुना कि इस शहर के समीप ही एक वेदान्ती दरवेश मियां मीर रहता है । सम्राट् को उसे देखने की लालसा हुई । इस बात की सूचना उस दरवेश को भी मिल गई । वह उस समय एक भूगर्भ कुटिया में समाधि लगाए स्थित था तब उसने एक सेवक साधु को भूगर्भ कुटिया के द्वार पर बिठा दिया । जब सम्राट् औरंगज़ेब वहाँ पहुँचा तो उसने उसे भीतर जाने से रोक दिया और कहा कि किसी को भीतर घुसने की आज्ञा नहीं है यह सुन कर सम्राट् ने काग़ज़ का एक टुकड़ा दरवेश सेवक को देकर कहा कि इसे भीतर पहुँचा दो । सेवक ने यह बात स्वीकार कर ली और उसे लेकर भीतर चला गया परन्तु जल्दी लौट कर वह काग़ज़ का टुकड़ा औरंगज़ेब के हाथ में दे दिया ।

सम्राट् ने लिखा था कि—

"दरे दरवेश दरबाँ न बायद" अर्थात् साधु-महात्मा के द्वार पर पहरेदार नहीं होते ।

परन्तु महात्मा मियां मीर ने पद्य का दूसरा चरण लिख कर इस प्रकार उत्तर दिया –

'बबायद ता सगे दुनिया नयायद" अर्थात् दरबान होना चाहिए ताकि दुनिया के कुत्ते अन्दर न आ सकें ।

अब इस अध्याय में भगवान् बताते हैं कि किन सात्विक गुणों से युक्त पुरुष इस उच्च पद को प्राप्त कर सकते हैं। जिससे वे जीवन काल में ही ब्रह्म रूप हो जाते हैं और फिर मर कर पुनरावृत्ति को प्राप्त नहीं होते। इससे पहले नवम अध्याय में भी तीनों सम्पदाओं का वर्णन किया जा चुका है। वहाँ यह वर्णन केवल सूत्र रूप से था परन्तु इस षोडश अध्याय में उनको दैवी और आसुरी दो सम्पदाओं के रूप में विस्तारपूर्वक कहा गया है। तीनों श्लोकों में दैवी सम्पदा में जन्म धारण करने वाले पुरुषों में होने वाले छब्बीस गुणों का वर्णन किया गया है। जिनका संग्रह जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास का फल होता है क्योंकि जीव में सत्त्व गुण वाली थैली (झोली) उसके प्रत्येक जन्म में थोड़ी बहुत भरती रहती है और जब वह पूरी तरह से मुँह तक भर जाती है तो वह जीव मोक्ष का अधिकारी हो जाता है॥ १, २, ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दम्भः+दर्पः+अभिमानः=च क्रोधः पारुष्यम्+एव च। अज्ञानम्+च +अभिजातस्य पार्थ ! सम्पदम्+आसुरीम् ॥

दम्भः=(पुं०)√दम्भ् (भ्वा० पर० अक०=पाखण्ड करना)=दम्भ+प्र० ए० व०=पाखण्ड। आडंबर। दम्भ दिखाने मात्र का कर्म जिसे सत्य समझ कर दूसरे धोखा खायें। ढोंग (मिथ्या) धर्म ध्वजी पन। जो अपने में नहीं वह दिखाना। अपने अभिप्राय को साधने के लिए रचा गया ढोंग।

दर्पः=(पुं०) √दृप् (दिवा० पर० अक०=गर्व करना। घमण्ड करना)+ घञ् वा अच्=दर्प+प्र० ए० व०=घमण्ड। अहंकार। गर्व। धन परिवार विद्या आदि के निमित्त से होने वाला गर्व।

अभिमानः=अभि√मन्+घञ्=अभिमान+प्र० ए० व०। अपने को बड़ा भारी प्रतिष्ठित मानना। नासिका फुला कर आत्मश्लाघा करना। अतिमानता। अपने आपको दूसरों से उत्तम समझने की बुद्धि।

[स्वामी शंकराचार्य जी के भाष्य की प्रति में 'अभिमानः' के स्थान पर "अतिमानः" पाठ है। अर्थ=अपने में अतिशय पूज्य-भावना। अति मान करने का स्वभाव]

च=(अव्यय) और।

क्रोधः =(पुं०) √क्रुध् (दिवा० पर० अक०=कुपित होना)+घञ्=क्रोध+ प्र० ए० व०। रौद्र रस का भाव। द्वेषाग्नि से अन्तः करण में दाह रूपी वृद्धि का उत्पन्न होना क्रोध। गुस्सा। मनमुटाव।

पारुष्यम्=(नपुं०) परुष=ष्यञ्=पारुष्य+प्र० ए० व० । कठोरता । रूखापन । कड़ुआपन । (वचन या कर्म में उग्रता । नृशंसता। कठोर वाणी । किसी के लिये कड़वे वचन बोलना ।

एव=(अव्यय) (ऐसे) ही । (ये सब) भी ।

च=(अव्यय) और ।

अज्ञानम्=(नपुं०) न ज्ञानम् (नञ् तत्पु०) प्र० ए० व० । विवेक का अभाव । यथार्थ ज्ञान की हीनता । कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में उलटा निश्चय करना ।

च=(अव्यय) और ।

अभिजातस्य=(वि० पुं०) अभि √जन्+कर्तरि क्त=अभिजात+षष्ठी० ए० व०=उत्पन्न हुए के । (ग्रहण करके) जन्मे के ।

पार्थ ! =(पुं० सम्बो० ए० व०) पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण् । ('पृथा' कुन्ती का दूसरा नाम था) । हे कुन्ती पुत्र (अर्जुन) ! ।

सम्पदम्=(स्त्री०) सम् √पद्+क्विप्=सम्पद्+द्विती० ए० व०=सम्पदम्= सम्पदा को । सम्पत्ति को । लक्षणों को । स्वभाव को । गुणों को (ग्रहण करके) ।

आसुरीम्=(वि० स्त्री०) असुर+अण्=आसुर+ङीप्=आसुरी+द्विती० ए० व० । असुर सम्बन्धिनी को । असरों और राक्षसों वाली को ।

अर्थ—हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य (कठोरता—वचन और कर्म में), और अज्ञान (अनजान पन), (ये छः स्वभाव) आसुरी सम्पदा में उत्पन्न हुए के ही होते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—भगवान् ने अर्जुन को पार्थ कह कर ऐसे सूचित किया है—कि हे अर्जुन ! तुम पवित्र और विशुद्ध माता पृथा से उत्पन्न हुए हो जो मुझ कृष्ण परमेशवर की भूआ हो कर उत्पन्न हुई है और जिसने तुझे नाक-पति इन्द्र से प्राप्त किया है । जिससे तुम किसी मनुष्य के पुत्र नहीं हो देव पुत्र हो अर्थात् दैवी सम्पत्ति से युक्त हो क्योंकि दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न हुए हो । इसलिए इस दम्भ दर्पादिक आसुरी सम्पदा के योग्य नहीं हो। जिस से शरीर छोड़ कर पुनरावृत्ति को प्राप्त नहीं होगे क्योंकि केवल आसुरी सम्पदा वाले ही मरकर पुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं । पूर्व नवें अध्याय के श्लोक १२ में कहा है—

"व्यर्थ आशाओं वाले, व्यर्थ कर्मों वाले, व्यर्थ ज्ञान वाले, विचार हीन पुरुष मोहने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति को ही आश्रय किये हुए होते हैं ।" परन्तु इस चौथे श्लोक में केवल आसुरी सम्पद् ही कहा है । अर्थात्

आसुरी सम्पद् में ही राक्षसी सम्पद् का भी समावेश कर दिया है वास्तव में असुर और राक्षस दोनों ही तमोगुणी होते हैं और उन में होने वाले दुर्गुणों में कोई विशेष या अधिक अन्तर नहीं होता 'देव' शब्द भगवान् की सत्ता का वाचक है । इस को न मानने वाले असुर कहलाते हैं । जो देव विरोधी होते हैं, दैत्य, राक्षस, दानव और निशाचर आदि लोग भी इन्हीं के अन्तर्गत माने जाते हैं । ये सब लोग दुर्गुणों और दुराचारों का समुदाय होते हैं । इन के इन दुर्गुणों और दुराचारों को ही आसुरी सम्पद् कहते हैं और उस आसुरी सम्पद् के दम्भ, दर्प, अतिमान (अभिमान), क्रोध, पारुष्य और अज्ञान ये छः अवगुण इस श्लोक में कहे गये हैं । झूठ बोलना, निन्दा करना, चुगली खाना, मांस-मदिरा का सेवन, ईर्ष्या-द्वेष में जलना आदि और भी अनेक दुर्गुण इसी आसुरी सम्पद् के अंग समझने चाहिएं । ये सब या इन में से कोई लक्षण जिस में विद्यमान हो उसे आसुरी सम्पदा से युक्त समझना चाहिए । श्री ज्ञानेश्वर जी की रोचक व्याख्या का सार इस प्रकार है—

दम्भ का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं यद्यपि माता तीर्थ स्वरूपिणी और अत्यन्त पवित्र और पूज्य होती है । परन्तु यदि हम उसे नग्न अवस्था में लोगों के सामने लावें तो वह हमारे अधःपतन का ही कारण होती है । सब प्रकार की विद्याएं यद्यपि इष्ट फल देने वाली होती हैं परन्तु यदि किसी चौराहे पर खड़े होकर उनका घोष किया जाए तो वे भी अनिष्ट कारक ही होती हैं । जो नाव हमें डूबने से बचाती है यदि उस के नीचे सिर दे दिया जाए तो वह हमें डिबो भी देती है । जीवन का आधार अन्न है । यदि वह अधिक खा लिया जाये तो विष रूप भी हो सकता है । इस प्रकार जो धर्म इस लोक और परलोक में साथी बनता है । यदि वह दिखलावे मात्र के लिये या लोगों को लूटने, ठगने और धोखा देने के लिये सब के सामने लाऊड स्पीकर बजा कर किया जाता है तो वह दम्भ या पाखण्ड कहलाता है । यह दम्भ या पाखण्ड केवल आसुरी सम्पद् से युक्त लोग ही करते हैं । सात्त्विक या देव वृत्ति से युक्त लोग नहीं करते । यदि हम अपने धार्मिक कृत्यों का आडम्बर चारों ओर फैलाने लग जाएं । तो वह धर्म भी अधर्म बन कर दम्भ का रूप धारण कर लेता है, अब दर्प के लक्षण सुनो—

मूर्ख थोड़ा सा पढ़ लेने पर भी अपने आपको चारों वेदों का वक्ता मानने लगता है तथा विद्वानों और पण्डितों को तुछ समझने लगता है भरी सभा में वाचालता से उन की निन्दा करता है अपनी बुद्धि को महान् समझ कर चाँद पर जाने वालों के कृत्य को झूठ मानता है । बात बात में महाविज्ञानियों और राजनीतिज्ञों की निन्दा करता है और उन्हें झूठे, गप्पी और मूर्ख मानता है । वह तो उस गिरगिट के तुल्य होता है जो किसी

कंटीली झाड़ी के शिखिर पर बैठा हुआ अपने आप को स्वर्ग में स्थित समझता है। ऐसा दर्पयुक्त व्यक्ति स्त्री, धन, विद्या, स्तुति और मान आदि को पाकर मद से अन्धा हो जाता है। इसी प्रकार अन्धेपन का नाम दर्प है जो आसुरी सम्पद् में उत्पन्न हुओं का दूसरा बड़ा चिन्ह है। अब अतिमान की बात भी सुनो—अपने को महापूज्य समझना अभिमान है। जिस प्रकार हिरण्यकशिपु के बुद्धि हुई कि मैं सब से बड़ा हूँ। इसलिए सब से अपना नाम जपवाऊँ। रावण को भी कुछ इसी प्रकार का अभिमान हुआ था और भी अनेक राजा-लोग और सेनापति इसी अभियान या अतिमान के कारण डूबे थे और भी सुनो—वेदों पर जगत् की श्रद्धा है और इस श्रद्धा में ईश्वर परम पूज्य माना गया है। धार्मिक लोग कल्याण की इच्छा से ईश्वर की भक्ति और स्तुति में लीन रहते हैं। परन्तु ईश्वर की स्तुति और वेदों की महिमा सुनते ही आसुरी-सम्पद् से युक्त मनुष्य अभिमान में डूब कर कहता है—मैं तुम्हारे ईश्वर को खा जाऊँगा। तुम्हारे वेदों को फाड़ कर जला दूँगा और तुम सब का नाश कर दूँगा। इस प्रकार जो मनुष्य अहंमन्यता से फूला हुआ, उन्मत्त और अभि-मानी होता है। उसे नरक कुण्ड में गिरा हुआ ही समझना चाहिये अब हम क्रोध की व्याख्या करते हैं—

दूसरे मनुष्य का सुख आसुरी क्रोधी मनुष्यों के मन में विष तुल्य मारक अनुभव होता है। जिस प्रकार पापी उल्लू प्रातः कालीन सूर्य को देख कर क्रुद्ध होता और गाली देता हुआ किसी अन्धेरी जगह में छुप जाता है। इसी प्रकार असुर समूह भगवान् के तेज को न सह कर क्रुद्ध होता हुआ छुपने का प्रयास करता है। ठीक इसी प्रकार दूसरे की विद्या, सुख और ऐश्वर्य आदि को देख सुन कर आसुरी सम्पद् से युक्त पुरुष के मन में क्रोध रूपी ज्वाला भड़क उठती है। अथवा अपने प्रति दूसरे के द्वारा किए गये अपराध को देख कर वह भड़क उठता है और मुँह और नेत्र रक्त करके नासिका फुलाता हुआ बुद्धि को अज्ञानान्धकार में धकेल कर भाग्य हीन हुआ मरने मारने पर उतारू हो जाता है। उस की इसी मनोवृत्ति को क्रोध कहते हैं।

अब आप पारुष्य के सम्बन्ध में भी कुछ सुनिए—

जिस का मन साँप के बिल के समान है, आँखें अंगारों के तुल्य हैं और विष बुझे तीर बरसाती रहती हैं। बातें बिच्छुओं की वर्षा के तुल्य हैं दूसरी क्रियाएँ भी फौलाद के आरे के समान हैं अथवा भेड़िए के सदृश हैं। जो बाहर और भीतर कठोरता से युक्त है। रूखे बचन बोलता है। सब के साथ कठोर व्यवहार करता है। उस पुरुष को मानव जाति अधम और असुरों जैसी अर्थात् आसुरी सम्पद से युक्त समझना चाहिए।

अब आसुरी सम्पद् के छठे अवगुण अज्ञान का वर्णन किया जाता है—

यथार्थ ज्ञान के अभाव का नाम अज्ञान है। पत्थर को जैसे शीत-स्पर्श और उष्ण-स्पर्श का भेद नहीं जान पड़ता है। इसी प्रकार अज्ञानी को आत्मा और अनात्मा के भेद का पता नहीं लगता है। तथा जिस प्रकार भिन्न-भिन्न खाद्य-व्यंजनों और मीठे पदार्थों में संचार करने वाली कड़छी उन में से किसी का भी स्वाद नहीं जान सकती इसी प्रकार मूढ़ अज्ञानी पुरुष संसार में सदा रहता हुआ भी ईश्वरी और अनीश्वरी ज्ञान को नहीं जानता है। और वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में अन्धा बना रहता है। स्वच्छ और घृणित का भेद नहीं जानता है। पाप और पुण्य उस के लिए एक तुल्य हैं। उसको हित और अहित का पता नहीं लगता। उस की इसी अवस्था का नाम "अज्ञान" है।

ये छः दोष मनुष्य को बिच्छू की भान्ति डसते हैं। जिस प्रकार कोई बहुत थका हुआ पुरुष बहुत बड़ी बाढ़ में ढकेल दिया जाता है। ठीक उसी प्रकार ये छः दोष घोर कृत्य करते हैं और ये सब दोष आसुरी सम्पद् में उत्पन्न पुरुषों में होते हैं ॥ ४ ॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी सम्पद्+विमोक्षाय निबन्धाय+आसुरी मता। मा शुचः सम्पदम् +दैवीम्+अभिजातः+असि पाण्डव ॥

दैवी=(वि० स्त्री०) देवस्य इयं देव+अण्+ई=दैवी+प्र० ए० व०=दैवी, देवता सम्बन्धिनी। सात्विकी परम-देव भाव को प्राप्त कराने वाली।

सम्पद्=(स्त्री०) सम्√पद्+क्विप्=सम्पद्+प्र० ए० व०=सम्पद्।

विमोक्षाय=(पुं०) वि√मोक्ष्+घञ्=विमोक्ष+चतु० ए० व०=(संसार बन्धन से) मोक्ष के। लिए। मुक्ति के लिये।

निबन्धाय=(पुं०) नि√बन्ध्+घञ्=निबन्ध+चतु० ए० व०=[नियतो बन्धो=निबन्धः, तदर्थम्]। निःसन्देह बन्धन के लिए।

आसुरी=(वि०, स्त्री०) असुर+अण्+ङीप्=आसुरी+प्र०, ए० व०=असुर सम्बन्धिनी। आसुरी और राक्षसी।

मता=(स्त्री०)√मन्+क्त+आ=मता+प्र० ए० व०=मानी गई है।

मा=(अव्यय)√मा+क्विप्=मा=मत ।

शुचः=शोकं कार्षीः (स्त्री०)√शुच् (भ्वा० पर० अक०=शोक करना) +क्विप्=शुच् (शोक)+द्विती० ब० व०=शोकों को। अथवा शुच +पंच० ए० व०=शोक से।

सम्पदम् =(स्त्री०) सम्√पद्+क्विप्=सम्पद्+द्विती० ए० व०=सम्पद् को। सम्पद में।

दैवीम् =(वि० स्त्री०) दैव+ङीष=दैवी+द्विती० ए० व०=दैवी को। दैवी में।

अभिजात: =(वि० पुं०) अभि√जन्+क्त+प्र० ए० व० =उत्पन्न हुआ।

असि= √अस्+लट्० म० पु०, ए० व०=(तू) है।

पाण्डव !=(पुं० सम्बो० ए० व०) पाण्डोः अपत्यम्, पाण्डु+अण्। हे पाण्डु के पुत्र (अर्जुन)!

अर्थ दैवी सम्पद् (संसार बन्धन से) मोक्ष के लिए और आसुरी सम्पद् निःसन्देह संसार बन्धन के लिए मानी गई है। हे पाण्डु-सुत अर्जुन! मत शोक करो। [क्योंकि तुम तो] दैवी सम्पद् में उत्पन्न हुए हो॥ ५॥

व्याख्या—जिस मानव का स्वभाव और आचरण देवताओं जैसा होता है। अर्थात् जो दैवी गुणों से युक्त होता है वह निर्भय होता है, उस का अन्तःकरण अच्छी तरह स्वच्छ और निर्मल होता है, वह सदा ज्ञान-योग में स्थित रहता है, वह देश, काल और स्थिति आदि को विचार कर सदा सुपात्र को दान देता है बाह्य इन्द्रियों का दमन करता है। यज्ञ और हवनादि वेद-विहित कर्म केवल ईश्वर निमित्त किया करता है सरल और भोले भाले स्वभाव से युक्त होता है "अहिंसा परमो धर्मः" समझ कर कभी किसी को किसी प्रकार से पीड़ित नहीं करता है, सदा सत्य और मीठा बोलता है, क्रोध का लेश मात्र भी उसमें नहीं होता है, वह त्याग और शान्ति का पुञ्ज होता है, कभी किसी की चुगली या पीठ पीछे निन्दा नहीं करता है, प्राणि-मात्र पर दया करता है, अलोलुप अर्थात् विषय वासनाओं से रहित रहता है, कोमल चित्त और लज्जावान् या शर्मखोर है, चंचलता रहित है, तेजस्वी और क्षमाशील है, धैर्यवान् है, मन कर्म वचन जिस के पवित्र है किसी से द्रोह नहीं करता और न कभी अभिमान करता है ऐसा पुरुष दैवी सम्पद् में जन्मा कहा गया है। और यह दैवी सम्पद् उस को संसार बन्धन से छुड़ा कर मोक्ष दिलाने वाली होती है अर्थात् वह इस दैवी सम्पद के बल से परमात्मा के स्वरूप में मिल कर तद् रूप हो जाता है। और जिस पुरुष में दम्भ, दर्प अभिमान, क्रोध, पारुष्य और क्रोधादि दुर्गुण होते हैं वह पुरुष आसुरी या राक्षसी सम्पद् में जन्मा हुआ वेद-शास्त्रों और सत्पुरुषों द्वारा कहा गया है, उस के लिए यह आसुरी सम्पद् निःसन्देह बांधने वाली मानी गई है अर्थात् वह आसुरी सम्पद्-जात पुरुष उक्त दुर्गुणों के कारण सदा घोर पाप कर्मों में रत रहता है जिस से बार बार संसार में जन्म लेता और मरता है तथा जन्म-मरण, जरा-व्याधि आदि दुःखों को अनुभव करता है।

इतना कहने के उपरान्त अर्जुन के अन्तःकरण में यह संशय युक्त विचार उत्पन्न हुआ देख कर, कि "क्या मैं आसुरी सम्पद् से युक्त हूँ अथवा दैवी सम्पद् से" भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! तुम पाण्डु के पुत्र हो अर्थात् अपने पति पाण्डु की आज्ञा और अनुमति से माता कुन्ती ने देवराज इन्द्र से तुम्हें प्राप्त किया है जिस से तुम्हारा जन्म ही दैवी सम्पद् में हुआ है और इस समय तुम दैवी सम्पद् के उपर्युक्त छब्बीस लक्षणों से युक्त हो, इस लिए व्यर्थ चिन्ता और शोक मत करो, क्योंकि तेरे इस दैवी सम्पद् में उत्पन्न होने के कारण भविष्य में शीघ्र ही तेरा कल्याण होने वाला है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

द्वौ भूत-सर्गौ लोके+अस्मिन्+दैवः+आसुरः+एव च । दैवः +विस्तरशः प्रोक्तः+आसुरम्+पार्थ ! मे शृणु ॥

द्वौ=(वि०, पुं०)√द्रु (भ्वा० पर० सक०=संवरण करना)+डि=द्वि+प्र० द्वि० व०=(द्वि-संख्याकौ) दो नामों वाली । दो ।

भूत-सर्गौ=(पुं०, प्र० द्वि० व०) भूतानां (मनुष्याणां) सर्गौ (सृष्टि) [षष्ठी० तत्पु०]=(१) मनुष्यों की सृष्टियां । (२) भूतों के स्वभाव । [सर्ग=√सृज् (दिवा० आत्म० सक०=सृष्टि करना)+घञ् =सर्ग=सृष्टि । स्वभाव प्रकृति । सृज्येते इति सर्गः=जिस की रचना की जाए, वह सर्ग (सृष्टि) है ।] । भूतों के (दो) सर्ग ।

लोके=(पुं०)√लोक्+घञ्=लोक+सप्त० ए० व०=संसार में । लोक में ।

अस्मिन्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) सप्त० ए० व०=इस में ।

दैवः=(वि० पुं०) देव+(तस्येदम्) अण्=दैव+प्र० ए० व०=दैवः =देव सम्बन्धी । स्वर्गीय । देवों जैसी । दैवी । देवों जैसे ।

आसुरः=(वि० पुं०) असुर+(तस्येदम्) अण्=आसुर+प्र० ए० व० =आसुरः=असुर सम्बन्धी । असुरों जैसा । असुरों जैसी । आसुरी (सृष्टि) ।

एव=(अव्यय)√इ+वन्=एव+ही ।

च=(अव्यय) और ।

दैवः=(पुं०) प्र० ए० व०=दैव-भूतसर्ग । दैवी सृष्टि । देवों का स्वभाव । दैवी स्वभाव ।

विस्तरशः=(पुं०) वि√स्तृ (क्र्या० उभ० सक०=ढकना)+अप्=विस्तर +(मत्वर्थ) श=विस्तरश+प्र० ए० व०=विस्तार वाला। विस्तार से। विस्तार पूर्वक।

प्रोक्तः=(वि० पुं०, भूतकालक क्रिया के अर्थ में) प्र√वच्+क्त+प्र० ए० व०=कहा गया है। कही गई है।

आसुरम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=असुरों जैसे को। आसुरी प्रकृति को।

पार्थ !=(पुं०, सम्बो० ए० व०) पृथायाः अपत्यम् पृथा+अण्। हे कुन्ती पुत्र (अर्जुन) !

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे (वचनात्)=मेरे (वचन से)। मुझ से।

शृणु=√श्रु (स्वा० पर० अक० सक०=सुनना)+लोट्० म० ए० व०=(तू) सुन।

अर्थ—(पहला) हे अर्जुन ! इस लोक में भूतों के सर्ग (स्वभाव) दो प्रकार के हैं। दैवी और आसुरी। दैवी (स्वभाव) ही विस्तार पूर्वक कहा गया है। (अब) आसुरी मेरे से सुन ॥ ९ ॥

अर्थ—(दूसरा) हे पार्थ ! इस लोक में मनुष्यों की दो सृष्टियाँ हैं। दैवी और आसुरी। दैवी ही विस्तार से कही गई है। (अब) आसुरी (विस्तार पूर्वक) मुझ से सुन ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे दैवी सम्पद् से युक्त पृथा पुत्र अर्जुन ! जिस प्रकार रात और दिन का जोड़ा है। इसी प्रकार दैवी आसुरी सम्पदों का भी जोड़ा है। इसलिये इस संसार में दो प्रकार के ही मनुष्य उत्पन्न होते हैं (१) जिन के स्वभाव सौम्य और देवताओं जैसे हैं और जो सदा धर्म, कर्म में लगे रहते हैं, जिन के स्वभाव और कृत्यों का वर्णन इस अध्याय के पहले तीन श्लोकों द्वारा किया गया है। (२) वे लोग हैं जिन के स्वभाव क्रूर, नृशंस, दम्भी, दर्पी, अभिमानी और क्रोधी आदि होते हैं और जो सदा अज्ञानान्धकार में भटकते रहते हैं। वे आसुरी और राक्षसी सम्पद् से युक्त होते हैं।

अब इस अध्याय की समाप्ति पर्यन्त प्राणियों के विशेषणों द्वारा आसुरी सम्पद् का वर्णन किया जायेगा क्योंकि प्रत्यक्ष कर लेने से ही उस का त्याग किया जा सकता है। हे पार्थ ! अब फिर तू मेरे उपदेश को ध्यान-पूर्वक सुन। बृहदारण्यकोपनिषद् के अ० १। ब्रा० ३। मन्त्र १॥ में भी इस दो प्रकार की सृष्टि का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च।" अर्थात् प्रजापति की दो सन्तानें हैं, देव और असुर। इस श्रुति से भी यही बात सिद्ध होती है, क्योंकि सभी प्राणियों के ये दो प्रकार ही हो सकते हैं॥ ६॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिन्+च निवृत्तिम्+च जनाः+न विदुः+आसुराः । न शौचम्+न+अपि च+आचारः+न सत्यम्+तेषु विद्यते ॥

प्रवृत्तिम्=(स्त्री०) प्र√वृत्+क्तिन्=प्रवृत्ति+द्विती० ए० व०=प्रवृत्ति को । कर्त्तव्य कार्यों में लगने को । किसी पुरुषार्थ के साधन रूप कर्त्तव्य कार्य में प्रवृत्त होने को ।

च=और ।

निवृत्तिम्=(स्त्री०) नि√वृत्+क्तिन्=निवृत्ति+द्विती० ए० व०=निवृत्ति को । अकर्तव्य कार्यों से निवृत्त होने को । सांसारिक झंझटों से उपरामता को । अनर्थकारक कर्मों से निवृत्त होने को ।

च=और ।

जनाः=(पुं०)√जन्+अच्=जन+प्र० ब० व०=मनुष्य । लोग ।

न=नहीं । न ।

विदुः=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=जानते हैं ।

आसुराः=(पुं०) असुर+(तस्येदम्) अण्=आसुर+प्र० ब० व०=आसुरी स्वभाव वाले ।

न=नहीं । न ।

शौचम्=(नपुं०) शुचि+अण्=शौच+प्र०, ए० व०=शुचिता । शुद्धता । पवित्रता । बाहर भीतर की सफ़ाई ।

न=नहीं । न ।

अपि=भी । ही ।

च=और ।

आचारः=(पुं०) आ√चर्+घञ्=आचार=प्र० ए० व०=सदाचार । श्रेष्ठ आचरण । आचार । नेक चलनी । सच्चरित्र ।

न=नहीं । न ।

सत्यम्=(नपुं०) सते हितम्, सत्+यत्=सत्य+प्र० ए० व०=सचाई । सत्य ।

तेषु=तद् (सर्व०)+(पुं०) सप्त० ब० व०=उनमें ।

विद्यते=(क्रिया० आत्म० अक०=होना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=होता है ।

अर्थ—आसुरी स्वभाव वाले लोग प्रवृत्ति (किसी पुरुषार्थ के साधन रूप कर्तव्य कार्य में लगने) को और निवृत्ति (अनर्थ कारक कर्मों से निवृत्त होने) को नहीं जानते हैं। न उन में (भीतर-बाहर की) शुद्धि (होती है), न सदाचार (होता है) और न सत्य ही होता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—आसुरी स्वभाव वाले लोग वे हैं जो धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझते हैं। यह उनके वश की बात नहीं होती, क्योंकि वे उन मादक पदार्थों-शराब, भांग, पोस्त, चरस, अफ़ीम और तम्बाकू आदि निषिद् वस्तुओं का सेवन करते हैं, जो बुद्धि को बिगाड़ कर विपरीत सोचने वाली बना देती हैं जीवों को मार मार कर खाते हैं जिससे उनके हृदय कठोर (और अपवित्र) हो जाते हैं। दूसरों को सदा लूटने, मारने और दु:खित करने वाला अपना मन बना लेते हैं सहोदर भ्राताओं, पूज्य माताओं, स्नेही पिताओं, निरीह बालिकाओं और मासूम बालकों के गले काटने में भी वे देर नहीं लगाते हैं। शराब पी कर दंगे करते हैं। खरमस्ती सहित भंगड़े डालते हैं। जो मुँह में आता है बोलते हैं, न माता की शर्म होती है, न पिता की लाज होती है। न बहिन भाई और सम्बन्धी से लज्जा करते हैं न किसी बांधव की परवाह करते हैं बेहोश हो कर गन्दी नालियों में गिरते हैं और कभी कभी इसी अवस्था में जान से भी हाथ धो बैठते हैं। धर्म, लोकाचार और पूज्य ग्रन्थों के विरुद्ध आचरण करते हैं। केवल माथा टेक देना ही उन में धर्म का चिन्ह समझा जाता है उस में लिखी हुई कोई भी बात उन के लिए मान्य नहीं होती यदि उन में से कोई एक थोड़ी बहुत विद्या भी प्राप्त कर लेता है तो वह वेद शास्त्रों के उलटे सीधे ऐसे अर्थ करता है जिन्हें असल अर्थों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता उनका सारा धर्म मनमाने और कच्चे विचारों पर ही निर्भर होता है, जिस प्रकार बकरी चारों ओर मनमाना चरती रहती है। जैसे वायु मनभाने वन में इधर उधर दौड़ती रहती है तथा सब प्रकार की सुगन्धि और दुर्गन्धि को खाती जाती है। जैसे अग्नि जो कुछ पाती है वह सब जला डालती है उसी प्रकार ये आसुरी प्रकृति के लोग भी कुमार्ग में आगे ही बढ़ते चले जाते हैं। यदि सच पूछो तो इन शुतरों बेमुहारों का कोई अवयव भी सीधा नहीं होता है। जैसे धूआं निकलने वाली चिमनी के मुँह से बराबर धूएँ के भभके निकलते रहते हैं उसी प्रकार इन आसुर लोगों के मुँह से पाप रूप कालुष्य से पूर्ण बातें निकलती रहती हैं क्योंकि आसुरी स्वभाव वाले लोगों के हृदय उस जलती हुई भट्टी के तुल्य होते हैं जिस में सारे नगर का कूड़ा करकट और गन्दा जलाया जाता है। जिस कर्म के करने से मनुष्य का इस लोक और परलोक में कल्याण होता है उसी में उस की प्रवृत्ति होनी चाहिए और जिस कर्म के करने से इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ते हों उससे निवृत्ति होनी चाहिए। परन्तु

आसुरी वृत्ति के लोग इस बात को जानते ही नहीं हैं, कि कौन सी बात करनी चाहिए और कौन सी न करनी चाहिए। इसी कारण से प्रायः वे सारे कार्य विपरीत ही करते हैं। एक बार एक असुर ने किसी दूसरे असुर से पूछा कि भोजन करने से पहले मुँह-हाथ धोने चाहिएँ अथवा नहीं। उसने उल्ट कर पूछा कि विद्वान् मनुष्य कैसा करते हैं। वह बोला कि वे तो धो लेते हैं। तब उस असुर ने कहा कि तब तो हमें ऐसा नहीं करना चाहिए इस विषय में एक और उदाहरण उपस्थित किया जाता है—

जब किसी लड़के का वैदिक रीति से विवाह होता है तो कन्या का पिता और उस के पक्ष के लोग वर को कृष्ण रूप समझ कर लड़की देते हैं क्योंकि भगवान् के बिना और किसी को अपनी लड़की देना गाली खाने के तुल्य होता है और वर भी जब कन्या के घर आता है तो मुकुट और सेहरा लगाकर कृष्ण का रूप धारण करके आता है। कन्या के घर में उस समय स्त्रियाँ भी गाती हुई "कान्ह घर आए" आदि गीत गाती हैं परन्तु विपरीत मति वाले या तो मुकुट और सेहरा लगाते ही नहीं यदि कोई कोई वर ऐसा करके आता भी है तो फेरे देने वाला फेरे देने से पहले ही सेहरा छीनकर वर को आभाहीन और अपमानित कर देता है। वह तो यह कर्म केवल इसलिये ही करता है कि वैदिक धर्मावलम्बी जो कुछ भी करते हैं हम ने तो उस से उलट करना है।

इन आसुरी स्वभाव युक्त लोगों में बाहर और भीतर की शुद्धि भी नहीं होती उनका आचार भी अच्छा नहीं होता है। आसुरी-वृत्ति युक्त लोग सदा बच्चों और अबलाओं का अपहरण करते रहते हैं, डाके डालते हैं बटमारी करते हैं, बात बात में झूठ बोलते हैं और भोले भाले लोगों को धोखा देते हैं॥ ७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

असत्यम्+अप्रतिष्ठम्+ते जगत्+आहुः+अनीश्वरम्। अपरस्पर-सम्भूतम्+किम्+अन्यत्+काम-हैतुकम्॥

असत्यम्=(नपुं० वि०) न सत्यम् (नञ् तत्पु०) सते हितम्, सत्+यत्=सत्य +द्वि० ए० व०=झूठ। झूठा। कल्पित। मिथ्या।

अप्रतिष्ठम्=(नपुं० वि०) नास्ति प्रतिष्ठा (ईश्वर रूपं-मूलाधारः) यस्य (नञ् बहुव्री० [द्विती० ए० व०]=परमात्मा अथवा धर्माधर्म रूप आधार के बिना होने वाला। इसी प्रकार सदा से बिना किसी आधार के चला आ रहा। जिस की प्राण-प्रतिष्ठा कभी किसी के द्वारा नहीं हुई है। अनादि। किसी के द्वारा बिना रक्खी गई नींव वाला। किसी से बिना स्थापना वाला।

[प्रतिष्ठा=(स्त्री०) प्रति√स्था+अङ्‌टाप्=स्थापना। नींव। प्राण-प्रतिष्ठा] किसी के द्वारा बिना की हुई स्थापना वाला।

ते=तद् (सर्व०)+प्र० ब० व०=वे (आसुरी प्रकृति वाले पुरुष)।

जगत्=(नपुं०)√गम्+क्विप्, निपा० द्वित्व, तुगागम:=जगत्+द्वितीo ए० व०=जगत्। जगत्। संसार को।

आहु:=√ब्रू+लट्+प्र० पु०, ब० व०=ब्रुवन्ति, पक्षे प्राहु:=कहते हैं।

अनीश्वरम्=(वि० द्विती० ए० व०) नास्ति ईश्वर: यस्य तं (नञ् बहुव्री०)=जिस का कोई स्वामी नहीं है। [न धर्माधर्मसव्यपेक्षक: अस्य शासिता ईश्वरो विद्यते, इति अनीश्वरम्=पुण्य-पाप की अपेक्षा से इस का शासन करने वाला कोई स्वामी नहीं है।] ईश्वर रहित को। ईश्वर (मालक) रहित।

अपरस्पर-सम्भूतम्=(वि०) (१) न-परस्परं-सम्भूतम् (नञ् समास द्विती० ए० व०=एक दूसरे के मेल के बिना ही उत्पन्न हुए का। एक दूसरे के मेल के बिना ही उत्पन्न हुआ।

[परस्पर=पर: पर: इति विग्रहे-समास-वद्भावे पूर्वपदस्य सु:=अन्योन्य से, एक दूसरे के मेल से। परस्पर मेल से। आपसी मेल के।

सम्भूतम्=(वि०) सम्√भू+क्त+द्विती० ए० व०=उत्पन्न हुए को। उत्पन्न हुआ।]

(२) "अपरस्पर-सम्भूतम्=काम प्रयुक्तयो: स्त्रीपुरुषयो: अन्योन्य-संयोगाद् जगत् सर्वं सम्भूतम्=काम से प्रेरित हुए स्त्री-पुरुषों (नर-मादाओं) का आपस में संयोग हो जाने से सारा जगत् उत्पन्न हुआ है" (श्री स्वामी शंकराचार्य जी)।

(३) अपरस्पर=(वि० नपुं०) अपरं च परं च इति विग्रहे द्वन्द्वसमास: पूर्व पदे सुश्च=एक के बाद दूसरा (उत्पन्न होने वाला)।

(४) अपरस्पर=[न पर:=अपर: (नञ् तत्पु०)=जो पर या दूसरा न हो, घर का। पति। पुरुष। नर।

पर:=(वि०)√पॄ+अप्। दूसरा (साथी) स्त्री। मादा।] पुरुष और स्त्री के मेल से। नरों और मादाओं के मिलने से।

["कुछ लोग—'अपरश्च परश्च'=अपरस्परौ, ऐसा अद्‌भुत विग्रह करके इन पदों का यह अर्थ लगाया करते हैं कि "अपरस्पर" ही स्त्री-पुरुष हैं, इन्हीं से यह जगत् उत्पन्न हुआ है, इसलिए स्त्री-पुरुषों का 'काम' ही इस का हेतु है और कोई कारण नहीं है।

परन्तु यह अन्वय सरल नहीं है और 'अपरश्च परश्च' का समास 'अपर-

पर' होगा। बीच में सकार न आने पावेगा। इसलिए 'अ-परस्परसम्भूत' नञ् समास ही होना चाहिए।

और फिर कहना पड़ता है कि सांख्यशास्त्र में "परस्परसम्भूत" शब्द से जो 'गुणों से गुणों का अन्योन्य जनन' वर्णित है। वही यहाँ विवक्षित है।" (श्री तिलक जी महाराज)]

किम्=किम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=क्या (हो सकता है)?

अन्यत्=(नपुं०) अन्यत्+प्र० ए० व०=दूसरा। अन्य। (इस के अतिरिक्त) और।

काम-हैतुकम्=[काम=(पुं०)√कम्+णिङ्+घञ्=काम।

हैतुकम्=(नपुं०) हेतौ प्रसृतः, हेतु+ठण्=हैतुक+प्र०, द्विती०, ए० व० =हैतुकम्=कारण के झगड़े में फँसा हुआ।] कामदेव के ही कारण वाला। काम देव रूप ही कारण वाला। विषय वासनाओं के कारण से युक्त॥

अर्थ—(१) वे (आसुरी प्रकृति वाले पुरुष) जगत् को असत्य (अपने आप जैसा झूठा), अप्रतिष्ठ (बे बुनियाद—किसी के द्वारा न की हुई स्थापना वाला), अनीश्वर (किसी ईश्वर या कण्ट्रोलर से रहित) और एक दूसरे के मेल से उत्पन्न हुआ तथा बिना काम-हैतुक (विषय-वासनाओं के हेतु से युक्त) दूसरा (और) क्या हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं, कहते हैं॥ ८॥

अर्थ—(२) वे (आसुर लोग) कहते हैं, कि सारा जगत् असत्य है। अप्रतिष्ठ अर्थात् निराधार है, अनीश्वर यानी बिना परमेश्वर का है। अ-परस्पर-सम्भूत अर्थात् एक दूसरे के बिना ही हुआ है (अतएव) 'काम' को छोड़ अर्थात् मनुष्य की विषयवासना के अतिरिक्त इसका और क्या हेतु हो सकता है?॥८॥

(लोकमान्य श्री तिलक महाराज)

अर्थ—(३) वे कहते हैं, जगत् असत्य, निराधार और ईश्वर रहित है। केवल नर-मादा के सम्बन्ध से हुआ है। उस में विषय भोग के सिवा और क्या हेतु हो सकता है?॥ ८॥ [देश-पिता महात्मा गाँधी जी]

अर्थ—(४) वे आसुरी सम्पद् में उत्पन्न हुए (पुरुष) कहते हैं—(कि यह) जगत् असत्य (सदा एक जैसा न रहने वाला—परिवर्तनशील, झूठा) किसी का भी न बनाया हुआ, बिना परमेश्वर का, अनादि काल से इसी प्रकार अपने आप निरन्तर एक से दूसरा उत्पन्न होने वाले के रूप में है। केवल भोगों को भोगने के लिए है। इसके अतिरिक्त और क्या है? [अर्थात् कुछ भी नहीं—इस सम्बन्ध में दूसरी इस से विपरीत बातें कह कर सब वेद शास्त्र और महा पुरुष झूठ बोलते हैं]॥ ८॥

व्याख्या— यह विश्व अनादि है अर्थात् प्रलय काल में अव्यक्त पर-ब्रह्म में लीन हो जाता है और रचना काल में परमेश्वर की माया या प्रकृति के सत्त्व, रज, तम नाम के तीनों गुणों द्वारा इस की रचना हो जाती है। सदा, बार बार ऐसा ही होता रहता है इसलिये जगत् को अनादि कहा जाता है। ईश्वर इसका आधार, नियन्ता और स्वामी है, वेद उसकी वाणी हैं, इस संसार में सम्पूर्ण सत्ता केवल एक ही परमेश्वर की है। जो जीवमात्र में आत्मा रूप से प्रतिबिम्बित हो रहा है और प्रत्येक वस्तु में अपनी झलक दें रहा है क्योंकि सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है। वह सबका नियमन करने वाला और सत्ताधीश होने से इस जगत् का एक पत्ता भी उसकी आज्ञा या उसके इङ्गित के विना हिल नहीं सकता है सब जीव उसकी विन्द से उत्पन्न होते हैं जिसे वह महद्ब्रह्म रूप योनि में डालता है। वेद जिन्हें दोषी ठहराते हैं, उन्हें नरक भोगने का दण्ड मिलता है और जिन्हें न्यायी ठहराते हैं वे स्वर्ग में जा कर सुख-पूर्वक रहते हैं तथा ब्रह्म-ज्ञानी लोग मोक्ष प्राप्त करके ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार की इस विश्व की जो अनादि-सिद्ध व्यवस्था है उसे ये आसुरी लोग बिलकुल नहीं मानते। वे कहते हैं कि ये सब बातें बिलकुल झूठ हैं। अपितु यह सारा संसार ही झूठ बोलने वाला और मिथ्या है क्योंकि हम लोग भी सदा झूठ बोल कर ही अपने काम की सिद्धि और वासना-पूर्ति करते हैं। इस जगत् में कोई परमात्मा या ईश्वर नहीं है जिसे लोग परमेश्वर कहते हैं वह उन की केवल कल्पित वस्तु है। न इस जगत् का कोई धर्माधर्म आधार है और न ही इस की कोई नित्य सत्ता है किसी जीव का न कोई पहला जन्म होता है न ही मरने के बाद कोई जीव जन्म लेता है न किसी को पुण्य लगता है न ही पाप लगता है यह जीव परमपरागत चली आ रही रीति नर-मादा के मेल से उत्पन्न होता और फिर मर कर यहीं समाप्त हो जाता है। उनकी मति के अनुसार यह जगत् निराधार है और किसी के आश्रय पर भी स्थित नहीं है। इस चन्द्र सूर्य तारामण्डल और ब्रह्माण्ड को कोई भी नियन्त्रण करने वाला नहीं है यह सब जगत्-प्रसार अनादि काल से अपने आप इसी प्रकार से वर्तमान चला आ रहा है और स्वयं इसी प्रकार बना रहेगा क्योंकि यह जगत् अनीश्वर है, जिस से इसका नियन्ता, नियामक और शासक कोई भी नहीं है यह सब सहज स्वभाव ही अचानक अपने आप हो रहा है। अन्त में ये आसुरी-वृत्ति लोग ऐसा कहते हैं चूँकि यह सम्पूर्ण जगत् नर मादा के मेल से ही उत्पन्न होता है और इस मेल में शान्ति और सुख का स्वाद प्राप्त होता है, इस लिये यह जगत् केवल भोगों को भोगने के लिये ही बना है और इस काम देवता के प्रसाद के अतिरिक्त इसका और कोई कारण ही नहीं हो सकता है। काम वासना से जब नर और मादा का मेल होता है तब सब जीवों का जन्म होता है जब यह

कामवासना समाप्त हो जाती है तो जीवों का मरण होता है। इस प्रकार इन आसुरी-प्रकृति वालों के विचार में यह सम्पूर्ण जगत् कामवासना का ही खेल है ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

एताम्+दृष्टिम्+अवष्टभ्य नष्ट-आत्मानः+अल्प-बद्धयः। प्रभवन्ति+उग्र-कर्माणः क्षयाय जगतः+अहिताः ॥

एताम्=एतद् (सर्व०)+(स्त्री०) द्विती० ए० व०=इसको।

दृष्टिम्=(स्त्री०)√दृश्+क्तिन्=दृष्टि+द्विती० ए० व०=दृष्टि का। मिथ्या ज्ञान को। उल्टे विचार को। निश्चय को।

अवष्टभ्य=अव√स्तम्भ् (भ्वा० आत्म० सक०, क्र्या० पर० सक०=पकड़ना। अवलम्बन करना। आश्रय करना)+ल्यप्=अवष्टभ्य (आश्रित्य)। (अवलम्बनं कृत्वा)=अवलम्बन करके। आश्रय करके। अवष्टम्भ करके। सहारा करके। स्वीकार करके।

नष्ट-आत्मानः=(पुं०) (प्र० ब० व०) नष्टाः आत्मानः (स्वभावः) येषां ते (बहुव्री०)=नष्ट हुए आत्मा या स्वभाव वाले। मलीन चित्त वाले। आसुरी प्रकृति वाले।

अल्प-बुद्धयः=(पुं०) (प्र० ब० व०) अल्पा एव बुद्धयः येषां ते (बहुव्री०)। अल्प बुद्धियों वाले। अल्प-बुद्धि आसुर लोग। मन्द बुद्धि वाले पुरुष। भोगों की वासनाओं में लीन बुद्धि वाले। तुच्छ मति या क्षुद्र समझ वाले नास्तिक लोग।

प्रभवन्ति=प्र√भू+लट्० प्र० पु०, ब० व०=उत्पन्न होते हैं।

उग्र-कर्माणः=(पुं०, प्र०, ब० व०) उग्राणि कर्माणि येषां ते (बहुव्री०)=हिंसात्मकाः)। क्रूर कर्म करने वाले। उग्र कर्म करने वाले। हिंसात्मक लोग।

क्षयाय=(पुं०)√क्षि (क्षय करना)+चतु० ए० व०=क्षय करने के लिए। नाश करने के लिए।

जगतः=(नपुं०)√गम्+क्विप्, निपा० द्वित्व, तुगागमः+जगत्+षष्ठी० ए० व०=जगत् के।

अहिताः=(पुं०) (प्र०, ब० व०) न हिताः (नञ्० तत्पु०, बहुव्री०)=भलाई न चाहने वाले। शत्रु।

अर्थ—इस दृष्टि (मिथ्या ज्ञान, उल्टे विचार, भ्रष्ट निश्चय) को अवष्टम्भ (अवलम्बन, आश्रय, सहारा) करके, नष्टात्मा (नष्ट हुए स्वभाव

वाले, मलीनचित्त), अल्पबुद्धियों वाले और क्रूर कर्मों वाले ये लोग जगत् के शत्रु (होते हैं) और (उसे) नाश करने के लिए उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—आठवें श्लोक में कहे हुए विपरीत विचारों अर्थात् मिथ्या दृष्टि वाले नास्तिक लोग नष्टात्मा होते हैं अर्थात् वे आत्मा या परमात्मा की सत्ता को नहीं मानते हैं। जिससे उनका स्वभाव भी अत्यन्त रद्दी और निकृष्ट होता है। वे तो केवल स्व-देह पालक ही होते हैं और शरीर तथा इन्द्रियों द्वारा विषयों का भोगना ही उनका महा लक्ष्य होता है। इससे उन्हें नष्टात्मा कहा जाता है। ये ऐसे मलीन मन वाले अल्प-बुद्धि या मन्दगति भी होते हैं क्योंकि अपनी संकुचित भावनाओं और अल्पदृष्टि के कारण सदा जन्म-मरण के चक्र में ही फँसे रहते हैं। यहाँ से छूटने का कभी उपाय ही नहीं करते। इसी मन्द बुद्धि से ये क्रूर-कर्म बने रहते हैं। पक्षियों, पशुओं को निर्दयता से मारते हैं उनका मांस और चर्बी भक्षण करते हैं साथ ही यह भी कहते हैं कि यदि हम इन मुर्ग, बकरे आदियों को मार कर न खाएँ तो ये संसार में अत्यन्त अधिक हो जायेंगे। जब हम पूछते हैं कि चीलों, गिद्धों, श्येनों और कौओं आदियों को तो आप मार कर खाते नहीं हो तो फिर ये सब क्यों अधिक नहीं बढ़ जाते ? तो फिर उनको कोई उत्तर नहीं सूझता है। ये दुष्ट लोग दूसरों के बच्चों और स्त्रियों का अपहरण करके उन्हें कुकर्मों में प्रवृत्त कर देते हैं कुछ को भोग्य वस्तु समझ कर उनसे दुर्व्यवहार करते हैं और अन्त में जान से भी मार देते हैं ताकि पर्दा फट जाने से हम नंगे होकर राज्य के दण्ड चक्र में न फँस जाएँ। ये लोग चोरी, ठगी और डकैती आदि नृशंस कर्म भी करते रहते हैं। अन्यों पर सब प्रकार का अत्याचार करना तो इन का सहज-स्वभाव ही होता है। इसलिए इन सब कुकर्मों के कारण जगत् के शत्रु और नाश करने वाले होते हैं इसी प्रयोजन से इन क्रूर कर्म पापी पुरुषों का जन्म होता है ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भ मानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

कामम्+आश्रित्य दुष्पूरम्+दम्भ-मान-मद+अन्विताः । मोहात्+गृहीत्वा+असद्+ग्राहान्+प्रवर्तन्ते+अशुचि-व्रताः ॥

कामम्=(पुं०)√कम् (भ्वा० आत्म० सक०=चाहना)+णिङ्+घञ् =काम+द्विती० ए० व०=कामम् (इच्छा विशेषम्)=कामना या इच्छा विशेष को। काम को।

आश्रित्य=आ√श्रि (भ्वा० उभ० सक०=प्राप्त होना। आश्रय लेना)+ल्यप् =आश्रय करके। सहारा बना कर। (अवष्टभ्य)।

दुष्पूरम्=(वि०, पुं० द्विती० ए० व०) दुस्+पूरम् [अशक्य-पूरणम्]=कठिन

पूर्यते यः तम्=कठिनता से पूर्ण होने वाले को। किसी प्रकार भी न पूर्ण होने वाले को।

दम्भ-मान-मद-अन्विताः=(पु०, प्र० ब० व०) दम्भः च मानः च मदः च =दम्भमानमदाः (इतरेतर द्वन्द्व समास) तैः अन्विताः (=युक्ताः) [तृती० तत्पु]=दम्भ (पाखण्ड), मान और मद युक्त हुए।

[अन्विताः=अनु√इण् (अदा० पर० सक०=जाना, प्राप्त होना) +क्त=अन्वित+(पुं०)+प्र० ब० व०=प्राप्त हुए।]

मोहात्=(पुं०)√मुह्+घञ्=मोह+पंच० ब० व०=मोह से। अविवेक से। अज्ञान से।

गृहीत्वा=√ग्रह् (क्र्या० उभ० सक०=ग्रहण करना)+क्त्वा=ग्रहण करके। स्वीकार करके। उपादाय। प्राप्त करके।

असत्+ग्राहान्=(पुं०) [√अस्+शतृ, नञ् तत्पु०=अनुचित, मिथ्या, झूठ अशुभ। भ्रष्ट।

ग्राहात्=(पुं०)√ग्रह्+घञ्=ग्राह+द्वितीo ब० व०=निश्चयों को। सिद्धान्तों को।]

असतः ग्राहान्=अशुभ निश्चयों को। झूठे सिद्धान्तों को।

प्रवर्तन्ते=प्र√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=प्रवृत्त होना। वर्तना)+लट्०, प्र० पु० ब० व०=वर्तते हैं। प्रवृत्त होते हैं।

अशुचि-व्रताः=(पुं०) अशुचीनि व्रतानि येषां ते (बहुव्री०)=बुरे आचरणों वाले। भ्रष्ट आचरणों से युक्त हुए। अपवित्र व्रतों वाले।

अर्थ—किसी प्रकार भी न पूर्ण होने वाले काम को आश्रय बनाकर, दम्भ, मान और मद से युक्त हुए, अज्ञान से झूठे सिद्धान्तों को ग्रहण करके (वे आसुरी भाव वाले लोग) अपवित्र आचरणों वाले हुए (जगत्) में वर्तते या प्रवृत्त होते हैं॥ १०॥

व्याख्या—जिस प्रकार सारे संसार की नदियां सागर में निरन्तर अचिन्त काल से प्रवेश करती चली जा रही हैं परन्तु सागर का उदर पूरी तरह से भरता ही नहीं है। तथा जिस प्रकार जलती हुई अग्नि में चाहे कितना भी ईंधन क्यों न डाला जाये परन्तु अग्नि की तृप्ति किसी तरह भी पूर्ण नहीं होती है। जिस प्रकार सूर्य का गोला आदि काल से निरन्तर जल रहा है तो भी उसकी जलने की कामना किसी प्रकार भी पूरी नहीं होती है। इसी प्रकार काम-वासना का भी पेट नहीं भरता है, न दूसरी इच्छाओं की पूर्ति होती है। ये आसुरी वृत्ति वाले लोग इसी काम को और उस से उत्पन्न होने वाली इच्छाओं को सदा अपने गले से लगाए रखते हैं और इन की पूर्ति को अपने

जीवन का लक्ष्य और सहारा बना लेते हैं। फिर उन इच्छाओं और काम वासनाओं को पूरा करने का सदा प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु ये कभी किसी प्रकार भी पूरी नहीं हो सकती हैं जैसे जैसे मानव अपनी छाया को पकड़ने के लिए आगे बढ़ता है तैसे तैसे छाया आगे ही बढ़ती चली जाती है इसी प्रकार इच्छाएँ और काम वासनाएँ भी तृप्ति के लिए अशक्य होती हैं। फिर भी ये आसुरी प्रकृति वाले पुरुष सदा इस दुष्पूर काम का आश्रय लिए रहते हैं। केवल यही नहीं, अपितु इन में दम्भ या पाखण्ड कूट कूट कर भरा हुआ होता है ये अभिमान के तो पुतले ही होते हैं और सदैव मद से भरे रहते हैं। जिन सिद्धान्तों को ये अङ्गीकार किये रहते हैं वे मोह या अज्ञान से परिपूर्ण और नितान्त झूठे होते हैं। इन के सब आवरण अपवित्र, अश्लील और निन्दनीय होते हैं। ये लोग अपनी काम वासनाओं को पूर्ण करने के लिए, प्रलोभन, दम्भ, उच्चाटन तथा मारण के उपाओं और सीनाजोरी आदि सब प्रकार के छल बलों से काम लेते हैं। और गन्दे निश्चयों और भद्दे संकल्पों वाले हो कर निन्दित मार्गों पर चलते रहते हैं। इसी से नरक के अन्धकूप में गिरते हैं तथा नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

चिन्ताम्+अपरिमेयाम्+च प्रलय-अन्ताम्+उपाश्रिताः । काम+उपभोग-परमाः+एतावत्+इति निश्चिताः ॥

आशा-पाश-शतैः+बद्धाः काम-क्रोध-परायणाः ईहन्ते काम-भोग अर्थम्+अन्यायेन+अर्थ-सञ्चयान् ॥

चिन्ताम्=(स्त्री०)√चिन्त् (चुरा० पर० सक०=सोचना)+णिच्+अङ्-टाप्=चिन्ता+द्विती० ए० व०=चिन्ता को। दुःखदायी विचार को। सोच को।

अपरिमेयाम्=(वि० स्त्री०) न परिमातुं शक्यते यस्याः इयत्ता (परिमाण, माप तोल, संख्या, सीमा) सा=अपरिमेया [न+परि√मा (मापना) +यत्+टाप्] ताम्=अपरिमेयाम्=जिस की इयत्ता न जानी जा सके, उसको। अपार को। अनन्त को। अपरिमित को [नञ् बहुव्री०] द्विती० ए० व०

च=और।

प्रलय-अन्ताम्=[(वि० स्त्री०) प्रलीयते अस्मिन्, प्र√ली+अच्=प्रलय। नाश। मरण।

√अम् + तन् = अन्त + टाप् + द्वितो० ए० व० = अन्ताम् = सीमा वाली तक। छोर वाली को। सीमा वाली को]

मरणान्ताम् = प्रलय (मरण) पर्यन्त रहने वाली को।

उपाश्रिताः = (वि० पुं०) उप आ√श्रि + क्त = उपाश्रित + प्र० ब० व० = आश्रय किए हुए।

काम-उपभोग-परमाः = (वि० पुं०) काम्यन्ते इति कामाः (शब्दादयः) तद् उपभोग परमाः। (जिन की कामना की जाए वे शब्दादि विषय "काम" हैं उन के उपभोग में तत्पर हुए)। विषय-भोगों के भोग में लगे हुए। विषयों का भोग ही परम (जीवन में सब से बढ़ कर) है, इस धारणा वाले।

एतावत् = एतद् + (परिमाणे) वतुप् [यद् तद् एतेभ्यः परिमाणे वतुप्। पा० ५।२।३९॥] = एतावत् = इतना (ही)। इतना ही।

इति = (अव्यय) = बस। केवल। ऐसे। एवं।

निश्चिताः = (पुं०) निस्√चि + क्त + प्र० ब० व० = निश्चय किए हुए। निश्चय रखने वाले॥ (११)

आशा-पाश-शतैः + बद्धाः = (पुं०) आशा एव पाशाः, तच्छतैः = आशापाश-शतैः, बद्धाः (नियन्त्रिताः सन्तः)।

[आशा = (स्त्री०) आ समन्तात् अश्नुते, इति — आ√अश् + अच्-टाप् + आशा। किसी अप्राप्त वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा, और उसकी प्राप्ति का कुछ कुछ निश्चय। इच्छा। अभिलाषा।

पाश = (पुं०) पश्यते बध्यते अनेन, √पश् (चुरा० पर० सक० = बाँधना) + घञ् = पाश = रस्सा। जंजीर। जाल।

शतैः = (नपुं०) दश दशतः परिमाणम् अस्य, दशन् = त, श आदेश, निपा० साधुः = शत + तृती० ब० व० = सैंकड़ों द्वारा। सैंकड़ों से।

बद्धाः = (वि०) √बन्ध + क्त = बद्ध + (पुं०) प्र० ब० व० = बद्धाः = बँधे हुए।] सैंकड़ों आशाओं के पाशों से बँधे हुए। आशा रूपी सैंकड़ों जालों से जकड़े हुए।

काम-क्रोध-परायणाः = (पुं०) कामः च क्रोधः च = कामक्रोधौ (द्वन्द्व०) परम् अयनं (आश्रयः) येषां ते = कामक्रोधपरायणाः (प्र० ब० व० = काम और क्रोध दोनों को परम-अयन (बड़ा आश्रय) बनाए हुए। काम-क्रोध के परायण (आश्रित) हुए।

ईहन्ते = ईह् (भ्वा० आत्मा० सक० अक० = इच्छा करना) + लट्० प्र० पु०, ब० व० = इच्छा करते हैं। चाहते हैं।

काम-भोग+अर्थम्=(नपुं०, प्र० ए० व०) काम-भोगों के लिए। विषय भोगों की पूर्त्ति के लिए! ["काम भोग प्रयोजनाय, न धर्मार्थम्=धर्म के लिए नहीं, बल्कि भोग्य वस्तुओं का भोग करने के लिये।" (श्री शंकर०)]

अन्यायेन=(पुं०, नञ् तत्पु०) [नियमेन ईयते, नि√इ+घञ्=न्याय +तृती० ए० व०]=अन्याय से। धक्के से। सीना जोरी से बे इन्साफ़ी से। जुल्म से। अनेक पापमय युक्तियों द्वारा। ब्लैक या काले धन्धों से।

अर्थ-सञ्चयान्=(पुं०) अर्थानां (पदार्थानां) संचयान्=धनादिक पदार्थों के संग्रहों को।

[संचयान्=(पुं०) सम्√चि+अच्=संचय+द्विती० ब० व० =सञ्चयान्=संचयों को। ढेरों को। राशियों को।

अर्थ—और प्रलय-पर्यन्त (मरण काल तक) रहने वाली अपरिमित (अपार) चिन्ताओं को आश्रय किए हुए, "विषयों का भोग ही परम (सुख) है" केवल इतना ही निश्चय किए हुए॥ ११॥

सैंकड़ों आशाओं रूप जालों से जकड़े हुए और काम-क्रोध को परम-अयन (बड़ा आश्रय) किए हुए, (ये आसुरी स्वभाव वाले पुरुष) काम-भोग के लिये [अर्थात् धर्म के लिये नहीं, बल्कि केवल भोगवस्तुओं को भोग करने के लिये—विषय—भोगोंकी पूर्त्ति के लिये] अन्याय से [ब्लैक आदि काले धन्धों या अनेक पापमय युक्तियों से] धनादिक पदार्थों के संचयों (संग्रहों) को (करना) चाहते हैं॥ १२॥

व्याख्या—ज्ञानी पुरुष तो कभी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं किया करते जैसा कि स्वयं भगवान् ने अर्जुन से कहा था—"गतासून-गतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ (गी० २।११) अर्थात् ज्ञानी लोग तो मृत और जीवितों में से किसी की भी चिन्ता और शोक नहीं किया करते।" परन्तु अज्ञानियों या आसुरी स्वभाव से युक्त पुरुषों की गति इन से नितान्त विपरीत और निराली होती है क्योंकि वे लोग तो बृहस्पति के कथनानुसार (सूत्र—"चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः। काम एवैकः पुरुषार्थः।") "चैतन्य-रूप धर्म से विशिष्ट जो यह स्थूल शरीर है, वही आत्म-पुरुष (अर्थात् "आत्मा") है और इस लोक के (माँस, शराब इतर-फलेल और वनितादि) विषयों का भोग ही परम-पुरुषार्थ है।" सदा ऐसा समझते हैं। इसी से ये लोग शरीर को हर हालत में बचाने और हृष्ट-पुष्ट करने के लिये चिन्ता-ग्रस्त रहते हैं। इन की चिन्ताएँ केवल एक-आध या दो चार ही नहीं होतीं वे तो असंख्य और अनन्त होती हैं और इन की इन चिन्ताओं का मरण पर्यन्त कभी अन्त नहीं होता। बल्कि सच्ची बात तो यह है कि उनका प्रलय काल आने तक अन्त

नहीं होता क्योंकि जन्म जन्मान्तर में इन आसुरी प्रकृति वालों को अपरिमित चिन्ताओं के आश्रित होकर ही रहना पड़ता है। इन लोगों की बुद्धि सदा इसी विश्वास पर लगी रहती है कि विषयों का भोग ही परम-सुख है इस के अतिरिक्त भक्ति, ज्ञान, त्याग, धर्म, कर्म, यज्ञ, जप, दान और मोक्ष आदि कोई भी न तो परम-सुख का साधन है और न ही स्वयं परम सुख है। इसी से वे लोग सदा स्त्रियों के गीत सुनना चाहते हैं। उन्हें गाढ़ आलिङ्गन करना चाहते हैं। धन दौलत तथा बलात्कार आदि प्रत्येक ढंग से उन्हें वशीभूत करने की इच्छा करते हैं। शराब पीने से उन को प्रसन्नता और मस्ती होती है, माँस उनका मन-भाता भोज्य पदार्थ है। गन्दी और काम-वर्द्धक फिल्में उन के नयनाभिराम दृश्य हैं। अश्लील गीतों की रचना और उनका गायन उनके शरीर में जान-डालने या नवीन प्राणों का संचार करने वाले होते हैं। मद्य की मस्ती से अन्धे होकर खरों और शुतरों की तरह उछलते और कूदते हैं और कभी कभी दुलत्तियाँ भी चलाते हैं। इस का नाम उन्होंने "कलचरल प्रोग्राम" या "भंगड़ा नाच" रक्खा हुआ है। पश्चिमी सभ्यता के मारे हुए लोग भी इसी प्रकार का एक नाच रात को नाचते हैं। जिस में मर्द और स्त्रियाँ जोड़ा जोड़ा होकर नाचते हैं। इस समय उन में अपने पराए का कोई अन्तर नहीं होता। लक्ष्य केवल काम वासना की पूर्ति ही होता है। दीवान जर्मनी दास ने अपनी पुस्तक में वाममार्गियों के कुचक्रों का अत्यन्त विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है जिस में भारत के रजवाड़ों की भड़की हुई काम वासनाओं और सामूहिक रूप में उन की पूर्त्ति के आँखों देखे दृश्य वर्णित हैं। यूरोप की काम-वासना-भूखी स्त्री केलर और पाकिस्तान के भूतपूर्व प्रधान अयूब खाँ के इस विषय के चरचे सब समाचार पत्रों में आ चुके हैं। जिस का उद्घाटन मिस केलर ने स्वयं चटखारे दार भाषा में किया था। ये आसुरी वृत्ति के लोग अपने मन में यह सिद्धान्त स्थिर कर लेते हैं कि स्त्री-भोग ही सच्चा आनन्द है। मौज उड़ाना और खाना पीना ही सच्चा सुख है मनुष्य खाने पीने और मौज उड़ाने के किये ही उत्पन्न हुआ है। न कि तपों द्वारा शरीर को सुखाने, इन्द्रियों को विषयों से रोक कर मन को कष्ट देने अथवा संसार का मोह त्याग कर उदास रहने के लिये। यह जग मीठा अगला किसने डीठा। ईश्वर कोई है ही नहीं जो किसी को दण्ड दे सके। पाप-पुण्य सब ढकौंसले हैं जो केवल डराने के लिये कल्पित किए गये हैं। ये आसुरी वृत्ति लोग सदा आशा पाशों से बँधे और जकड़े रहते हैं। पहले उन्हें कमाने की चिन्ता होती है। फिर कमाए हुए को जमा करने या जोड़ने की फ़िक्र होती है। फिर जमा किए धन की रक्षा का ग़म खाए जाता है। फिर उनके मन में सैंकड़ों प्रकार की आशाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। कभी उन को धन प्राप्ति की आशा होती है। कभी स्त्री प्राप्ति की आशा हो जाती है तो फिर कभी पुत्र-प्राप्ति की आशा हो

जाती है। इस प्रकार अनेक प्रकार की आशाएँ पूरी भी होती रहती हैं और अधूरी भी रह जाती हैं परन्तु ये अपार आशाएँ मरण-पर्यन्त पीछा नहीं छोड़तीं बल्कि जन्म-जन्मान्तर में प्रलय काल तक बनी रहती हैं और जन्म-मरण का कारण बार बार बनती रहती हैं। जिस प्रकार पक्षियों को जाल, बन्दियों को लोह श्रृखलाएँ, पशुओं को रस्से, मक्खियों को मकड़ियों के जाले तथा सिंहों को पिंजरे जकड़े रखते हैं इसी प्रकार ये लोग सैंकड़ों आशा रूपी पाशों से जकड़े रहते हैं। जिस से फिर ये लोग काम-क्रोध के परायण (वशीभूत) हो जाते हैं अर्थात् स्त्रियों की अभिलाषा से दूसरों का बुरा करने पर भी तत्पर हो जाते हैं। कामना पूरी हो गई तो गद्‌गद दिखाई देते हैं अन्यथा क्रोध-युक्त होकर यम रूप धारण कर लेते हैं। ऐसी अवस्था में इन के क्रोध का पारा सदा सौ अंश तक चढ़ा रहता है। भुवें कमान की तरह तनी हुई, नेत्र रक्त से रंजित, नथुने फूले हुए ओष्ठ फड़फड़ाते हुए, शरीर काँपता हुआ, मुँह से आग की लपटों जैसे गाली गलोच युक्त और अभिमान युक्त शब्द निकलते हुए और हाथ से दण्डे, मुक्के या उठे हुए शस्त्र का प्रदर्शन करते हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार ये आसुरी प्रकृति वाले लोग सदा काम क्रोध के वश हुए नाना प्रकार के अनर्थ करते हैं और चोरी, ठगी, डाका, झूठ छल, कपट, दम्भ, मार-पीट, कूट-नीति, जूआ, धोखे बाजी, विष-प्रयोग, जेब-काटना, झूठे मुकद्दमें बनाना, भय प्रदर्शन, धौंस, चोर बाजारी, कोटे, सकँण्डल और काले धन्धों आदि अनेक अन्याय पूर्ण उपायों से धन उपार्जन करते हैं। अच्छे-अच्छे पदों पर आरूढ़ होकर भी घूस खाते हैं। दूसरों देशों से चोरी छिपे माल लाते हैं। शराब बनाते और बेचते हैं। कानून द्वारा बन्द की हुई अफीम, पोस्त, चरस और हतीश आदि मादक वस्तुओं के बेचने का धन्धा करते हैं। नकली चीजें और दवाएँ बना कर लोगों के स्वास्थ्य का नाश करते हैं कहाँ तक कहा जाये इन की कमाई के सब साधन बड़े विचित्र, घृणा-पूर्ण, पाप-युक्त, न्याय-विपरीत और क्रूरता-मय होते हैं। जिस प्रकार वन में शिकार करने के लिये जाने के समय शिकारी लोग अपने साथ, जाल, रस्से, कुत्ते, बाज, डण्डे, बाँस, बन्दूक, भाले आदि नाना प्रकार के सामान ले जाते हैं। इसी प्रकार ये आसुरी स्वभाव के लोग भी दूसरों को अपने जाल में फँसाने के लिये ऊपर कहे हुए सब प्रकार के उपायों से काम लेते हैं। उस समय घोर, अघोर, पाप, पुण्य, न्याय अन्याय, दया-भय आदि कोई बात भी इन के काम में बाधक नहीं होती क्योंकि इन का लक्ष्य तो दूसरों का द्रव्य हरण करना होता है। इनके पास अपार धन होने पर भी इन की और अधिक धन उपार्जन करने की तृष्णा किसी प्रकार भी शान्त नहीं होती। बल्कि प्रतिदिन और अधिक बढ़ती जाती है जिस प्रकार खारा पानी पान करने से प्यास अधिक बढ़ जाती है ॥ ११, १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

इदम्+अद्य मया लब्धम्+इमम्+प्राप्स्ये मनोरथम् । इदम्+अस्ति+इदम्+अपि मे भविष्यति पुनः+धनम् ॥

इदम्=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) प्र० ए० व०=इदम् (द्रव्यम्)=यह (द्रव्य) ।

अद्य=(अव्यय) अस्मिन् अहनि, इत्यर्थे इदम् शब्दस्य निपातः सप्तम्मर्थे । अद्य । इदानीम् । आज ।

मया=(सर्व०) अस्मद्+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा ।

लब्धम्=√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना)+क्त=लब्ध+(नपुं०) प्र० ए० व०=लब्धम् [कर्मवाच्य—क्रिया के रूप में]=प्राप्त किया है । पा लिया है ।

इमम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्विती० ए० व०=इसको ।

प्राप्स्ये=प्र√आप्+(लृट्) आत्म० उ० पु०, ए० व०=(मैं) प्राप्त कर लूंगा ।

मनोरथम्=(पुं०) मन एव रथः अत्र । मनसो रथ इव वा । मन ही है रथ यहाँ । मन का मानों रथ है । मनस्+रथम् (द्विती० ए० व०)=मनोरथम् =मनोरथ को । इच्छा को । स्वार्थ को । अभिलाषा को । मन को सन्तुष्ट करने वाले पदार्थ को ।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह ।

अस्ति=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= है ।

इदम्+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह ।

अपि=(अव्यय) भी ।

मे=अस्मद् (सर्व०)+चतु०, षष्ठी० ए० व०=मेरे पास । मेरा ।

भविष्यति=√भू+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=होगा ।

पुनः=(अव्यय)√पन्+अर्, उत्व=पुनर्=पुनः=फिर ।

धनम्=(नपुं०)√धन्+अच्=धन+प्र० ए० व०=द्रव्य, दौलत, धन ॥

अर्थ—यह (धन) आज मेरे द्वारा प्राप्त कर लिया गया है । इस मनोरथ (मन को सन्तुष्ट करने वाले पदार्थ) को (मैं कल) प्राप्त कर लूंगा । यह धन मेरा है और फिर यह (दूसरा) भी (मेरा) हो जायेगा । [इस से मैं धनवान् विख्यात हो जाऊँगा] ॥ १३ ॥

व्याख्या - हे अर्जुन ! वे आसुरी प्रकृति वाले पुरुष निरन्तर धन की तृष्णा से युक्त रहते हैं, इस लिये उनके अन्तःकरणों में सदा धन-प्राप्ति के विचार

उत्पन्न होते रहते हैं, वे सदा यही सोचते रहते हैं कि हमने आज इतना अधिक धन अपनी चतुराई, चालाकी और हुशियारी से प्राप्त कर लिया है। अमुक स्त्री को भोग लिया है। अमुक व्यक्ति की भूमि हथिया ली है। अमुक पुरुष को बुद्धू बना कर लूट लिया है। कल हमारा यह दूसरा मनोरथ भी नि;सन्देह सिद्ध हो जायेगा, जिससे मन की तृप्ति और सन्तुष्टि हो जायेगी। अब यह सारी वस्तु हमारी हो गई है, इसमें किसी का साझा या भाग शेष नहीं रहा है। अब मैं इस धन और पदार्थ को तो किसी भान्ति भी हाथ से जाने न दूंगा। चाहे कोई कुछ भी उपाय कर ले। जहाँ तक हो सकेगा, फिर और भी बहुत सा धन मेरे पास एकत्रित हो जायेगा। इससे मैं धनवान् सेठ विख्यात हो जाऊँगा ।। १३ ।।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।। १४ ।।

असौ मया हत: शत्रु:+हनिष्ये च+अपरान्+अपि। ईश्वर:+अहम्+अहम्+भोगी सिद्ध:+अहम्+बलवान्+सुखी ।।

असौ=(सर्व०) अदस्+(पुं०) प्र० ए० व०=असौ=यह। वह।

मया=(सर्व०) अस्मद्+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा।

हत:=√हन् (अदा० पर० सक०=वध करना)+क्त=हत+(पुं०) प्र० ए० व०=मारा गया है।

शत्रु:=(पुं०)√शद् (भ्वा० पर० अक०=नाश होना)+त्रुन्=शत्रु+प्र० ए० व०=दुश्मन। अरि। वैरी। विपक्षी। शत्रु।

हनिष्ये=√हन्+लृट्० उ० पु०, ए० व०=हनिष्यामि, हनिष्ये। मार डालूंगा। मार दूंगा।

च=और।

अपरान्=(पुं०) न पृणाति (सन्तोशयति), √पृ+अच् (नञ् तत्पु०)=अपर+द्विती० ब० व०=अपरान्=दूसरों को। शत्रुओं को। दूसरे शत्रुओं को।

अपि=(अव्यय) भी।

ईश्वर:=(पुं०)√ईश् (अदा० आत्म० अक०=ऐश्वर्यवान् होना)+वरच्=ईश्वर+प्र० ए० व०=ईश्वर:=ऐश्वर्ययुक्त। शक्तिशाली। सब का स्वामी। सब से बड़ा आदमी। ईश्वर।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

अहम्= में।

भोगी=(पुं०)√भुज्+घञ्=भोग+इनि=भोगिन्+प्र० ए० व०=भोगी। सुख-सम्पत्ति और ऐश्वर्य आदि को भोगने वाला।

सिद्धः=(पुं०)√सिध्+क्त=सिद्ध+प्र० ए० व०+सफल हो चुका। सिद्धियों से युक्त। अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न। जादूगर।

अहम्=मैं।

बलवान्=(पुं०) बल+मतुप्, वत्व=बलवत्+प्र० ए० व०=बलवान्। शक्तिशाली। ताकतवर।

सुखी=(पुं०)√सुख् (चुरा० पर० सक०=सुख देना। सुखी होना)+अच्=सुख+इनि=सुखिन्+प्र० ए० व०=सुखी।

अर्थ—वह (दुर्जय) शत्रु मेरे द्वारा मारा गया। (अब) दूसरे (पामर, निर्बल) शत्रुओं को भी (मैं) मार डालूंगा। मैं ईश्वर (सर्वशक्ति सम्पन्न, सब का स्वामी) हूँ। मैं भोगी (सुख-सम्पत्ति और ऐश्वर्य आदि को भोगने वाला) हूँ। मैं सिद्ध (अलौकिक शक्तियों से युक्त) हूँ। मैं (सब से) बलवान् हूँ। मैं (ही सब से अधिक) सुखी हूँ ॥ १४ ॥

व्याख्या—इस संसार को ही सब कुछ समझने वाले हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, चंगेज़खाँ, जुहाक, महमूद, अयूब, याहिया खाँ सरीखे आसुरी वृत्ति के लोग सदा यह विचार किया करते हैं कि आज मैंने सब से अधिक भयानक और दुर्जय शत्रु को मार डाला है। कल दूसरे पामर निर्बल शत्रुओं का भी नाश कर डालूंगा। ये ग़रीब बेचारे मेरा क्या विगाड़ सकते हैं। इस प्रकार मैं किसी भी शत्रु को पृथिवी पर जीवित न छोड़ूंगा। "हनिष्ये" के आगे 'च' का प्रयोग करके भगवान् ने यह दर्शाया है कि मैं केवल उन शत्रुओं का नाश ही नहीं करूंगा, बल्कि उनके धन-दारादि पदार्थों को भी हरण कर लूंगा। हिरण्यकशिपु, माओ-त्से-तुंग सरीखे आसुर-वृत्ति लोग यह भी कहते हैं कि हम मनुष्य नहीं हैं हम तो स्वयं ईश्वर और संसार के भाग्यविधाता हैं। इस संसार में हमारे बिना और कोई ईश्वर या जगन्नियन्ता नहीं है। हमारी ही पूजा करो। हमारा ही नाम जपो। हमारे कथनों को पत्थर की लकीर समझो। हमारा नाम लेने से सब रोग, शोक दूर हो जाते हैं और मनुष्य विपत्ति-सागर से पार हो जाता है। इस प्रकार वे आसुर-वृत्ति लोग सदा अहंकार और मान से भरे रहते हैं और अपनी आने वाली मृत्यु को भी भूले रहते हैं। ये लोग संसार के सब भोग केवल अपने लिये बने हुए ही समझते हैं तथा निज को सब से बड़ा भोगी सब से बड़ा जवाँमर्द (स्त्री भोगी) और अत्यन्त दुर्लभ पदार्थों को खाने वाला समझते हैं और कहते हैं कि विषय भोगों के सर्व साधनों के लिए केवल हम ही युक्त हैं।

ये आसुरी-वृत्ति लोग कहते हैं कि हम ही सब प्रकार से सिद्ध हैं अर्थात् नाना प्रकार की सिद्धियों से युक्त हैं। अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न हैं। असली जादूगर है तथा पुत्र, पौत्र और नातियों से सम्पन्न हैं तथा हम स्वतः

ही बलवान् हैं, अत्यन्त तेजस्वी हैं। हिटलर, मसोलिनी, स्टालिन, तैमूर, नादर और याहिया खां आदि सब हमारे छोटे भाई थे और हमारी अपेक्षा अत्यन्त हीन और क्षीण थे। हम ही सुखी और स्वस्थ हैं। अन्य सब लोग तो भूमि पर भार रूप ही उत्पन्न हुए हैं॥ १४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

आढ्यः+अभिजनवान्+अस्मि कः+अन्यः+अस्ति सदृशः+मया। यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये+इति+अज्ञान-विमोहिताः॥ १५॥

अनेक-चित्त-विभ्रान्ताः+मोह-जाल-समावृताः। प्रसक्ताः काम-भोगेषु पतन्ति करके+अशुचौ॥ १६॥

आढ्यः=आ√ध्यै (भ्वा० पर० सक०=सोचना)+क, पृषो०=आढ्य+(पुं०) प्र० ए० व०=आढ्यः=धनवान्।

अभिजनवान्=अभि√जन्+घञ् = अभिजन+मतुप्-वत्व= अभिजनवत्+(पुं०) प्र०ए०व०=अभिजनवान्। उच्चकुलोत्पन्न। कुलीन। सात पीढ़ियों से शुद्ध गुणों से सम्पन्न [बड़े कुटुम्ब वाला।]

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ।

कः=कम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=कौन।

अन्यः=√अन्+य=अन्यं+(पुं०) प्र० ए० व०=दूसरा।

अस्ति=√अस्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=है।

सदृशः=समानं दर्शनन् अस्य, समान√दृश्+क्विन्, समानस्य सादेशः=सदृश+(पुं०) प्र० ए० व०=समान।

मया=(सर्व०) अस्मद्+तृती० ए० ए०=मेरे।

यक्ष्ये=√यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना)+लृट्० (आत्मा०) उ० पु०, ए० व०=(मैं) यज्ञ करूँगा। [यज्ञ द्वारा भी दूसरों का अपमान करूँगा।]

दास्यामि=√दा (जुहो० उभ० सक०=देना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैंदान) दूंगा। [वैश्याओं और नट आदियों को धन दूंगा]।

मोदिष्ये=मुद् (भ्वा० आत्म० अक०)=प्रसन्न होना)+लृट० उ० पु० ए० व०=(मैं) खुश हूँगा। (मैं) मौज करूँगा। (मैं) अतिशय हर्ष को प्राप्त हूँगा।

इति=(अव्यय) इस प्रकार।

अज्ञान-विमोहिता:=(पुं०) अज्ञानेन विमोहिता: (तृती० तत्पु०)=अज्ञान से विमोहित हुए।

[विमोहिता:=(पुं०) वि√मुह् (दिवा० पर० अक०=मोहित होना)+क्त+प्र० ब० व०=विमोहित हुए। वशीभूत हुए। अच्छी तरह से मुग्ध हुए] ॥१५॥

अनेक-चित्त-विभ्रान्ता:=(पुं०) (उक्तप्रकारै:) अनेकै: (विचारै:) चित्त: विभ्रान्ता: विविधं भ्रान्ता:)=उपर्युक्त अनेक प्रकार के विचारों से भ्रान्त-चित्त हुए। अनेक-चित्ती से घबराए हुए। अनेक प्रकार से भ्रमित हुए चित्त वाले।

[विभ्रान्ता:=(पुं०) वि√भ्रम्+क्त+प्र० ब० व०=घूमे हुए। चक्र खाते हुए। व्याकुल हुए। भ्रम में पड़े हुए। विभ्रम युक्त हुए।]

मोह-जाल-समावृत:=(पुं०) मोह: (अविवेक:, अज्ञानं) तद् एव जालम् इव (आवरणात्मकत्वात्) तेन समावृता:=मोह रूप जाल में फँसे हुए [अविवेक ही मोह है, वह जाल की भान्ति फँसाने वाला होने से—'जाल' है, उस में फँसे हुए]। मोह-जाल से घिरे हुए।

[मोह=(पुं०)√मुह्+घञ्=मोह। भ्रम। भ्रान्ति। झूठा प्यार।

जाल=(नपुं०)√जल्+ण=जाल। धागों का जालीदार बुना मछलियों और पक्षियों के पकड़ने का साधन। फन्दा।

समावृता:=(पुं०, वि०) सम्-आ√वृ+क्त=समावृत+प्र० ब० व०= घिरे हुए। ढके हुए। फँसे हुए।]

प्रसक्ता:=(वि० पुं०) प्र√सञ्ज् (भ्वा० पर० सक०)+क्त+प्र० ब० व०= अत्यन्त आसक्त हुए। गहरे डूबे हुए। अच्छी तरह चिपके हुए।

काम-भोगेषु= (पुं०) कामानां भोगेषु=विषयों के भोगों में। विषय-भोगों में॥

[भोग=(पुं०)√भुज्+घञ्=भोग। उपभोग।]

पतन्ति=पत् (भ्वा० पर० अक०=गिरना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= गिरते हैं।

नरके=(नपुं०, पुं०) नृणाति क्लेशं प्रापयति,√नृ+वुन्=नरक+सप्त० ए० व०=नरक में। [वह स्थान, जहाँ मरने के बाद जीवों को, जीवित अवस्था में किए हुए पापों का दण्ड दिया जाता है। नरक २१ हैं। इनकी यातानाओं में तारतम्य है।] वैतरणी आदि नरक में।

अशुचौ=(वि०, नञ् तत्पु०) न-√शुच्+इन्=अशुचि+(पुं०) सप्त० ए० व०=अशुचौ=अपवित्र में। गन्दगी से भरे में। मल मूत्र से भरे हुए में। अशुद्ध में॥

अर्थ—"(मैं) धनवान् (और) अभिजनवान् [=कुलीन व बड़े कुटुम्ब वाला] हूँ। मेरे समान दूसरा (और) कौन है ? (मैं बज-बजा कर) यज्ञ करूँगा। (सब की पीठ लगाने और शरीकों का नाक काटने के लिए) दान दूँगा। (रेडियो सिंगर, भाण्ड तथा ढाढी आदि बुला कर) खुशी मनाऊँगा।"

इस प्रकार अज्ञान से विमोहित हुए [अर्थात् भूलों और घुम्मन घेरियों में पड़े हुए], अनेक प्रकार से भ्रमित हुए चित वाले [आसुर-स्वभाव वाले लोग] मोह-माया रूपी जाल में जकड़े हुए, [मदिरा मांस भक्षण, वैश्या गमनादि] विषय भोगों में (अत्यन्त बुरी तरह) फँसे हुए (मरने के बाद कुम्भी पाकादि घोर) अपवित्र नरक में गिरते हैं ॥ १५, १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वे आसुर वृत्ति वाले लोग सदा ये विचार करते हैं कि मैं सब से बड़ा धनवान् हूँ। सारे देश में मेरे सैंकड़ों ट्रक चलते हैं, बहुत से शहरों में मेरी बड़ी बड़ी मिलें हैं। मैं बहुत से कारखानों का स्वामी हूँ। सैंकड़ों हैक्टर भूमि में मेरी खेती उपजती है मेरे खेतों में बहुत से ट्यूबवैल लगे हुए हैं और ट्रैक्टर चलाए जाते हैं। पहले, पहली सरकार का मैं पिट्ठू था और अब वर्तमान शासन में भी देश-भक्ति का लबादा (चोगा) पहन कर सम्मिलित हो गया हूँ। मैं ने कोट्टों से करोड़ों कमाए हैं। पाँच पाँच पैसे के लोहे के गज़ पाँच पाँच रुपये को बेचे हैं। खाण्ड की बोरियों पर मैला पानी छिड़क कर लाखों बनाए हैं। पीपल की छाल की दारचीनी बनाई है। लीद हल्दी में मिलवाई है। नकली चाय बनाकर बेची है। किसी को कोई पता नहीं कि व्यापार में मैं ने क्या क्या ठगी और धोखाधड़ी की है ? इस प्रकार मैं ने ब्लैक या काले धन्धे से इतना रुपया कमा लिया है कि अब मुझे स्वयं भी पता नहीं है कि उस धन राशि की संख्या कितनी है। हमारी संख्या-प्रणाली का उच्च अन्तिम छोर भी उस का अनुमान करने में असमर्थ हो गया है। इसलिए उसका अनुमान करने के लिये किसी ऐसी संख्या-प्रणाली का आविष्कार किया जाना चाहिये जैसा कि तारों का अन्तर नापने के लिये प्रकाश-मिलों की खोज कर ली गई है।

मैं अभिजनवान भी हूँ। अनेक पीढ़ियों से मेरे पुरुष मेरी तरह सदा दूध में ही धोए हुए थे। उन की मूँछ कभी नीची नहीं हुई थी। वे कभी किसी तुच्छ कुल वाले के साथ रिश्ता नाता नहीं करते थे। सब के द्वारा पूजे जाते थे। मैं रावण जैसा अधिक जनवान् भी हूँ। मेरे पुत्र, पोते पड़पोते, नाती, पड़नाती इतने अधिक हैं कि उनकी संख्या स्वयं मुझे भी मालूम नहीं है और न मैं सहसा उन सब की पहिचान ही कर सकता हूँ। इस समय मेरे सामन संसार में न कोई धनवान् है न जनवान् है तथा न कुलीन है न बलवान् है। इस प्रकार मुझ से बढ़कर तो क्या ? मेरे समान भी और कौन हो सकता

है ? मैं शीघ्र ही एक महा यज्ञ करूँगा । अखण्ड पाठ कराऊँगा । निरन्तर कई दिन लाऊड स्पीकरों और शंखों की ध्वनि होती रहेगी, बाजे बजेंगे। जिनसे लोगों के कानों के पर्दे फट जायेंगे और रोगियों की नींद हराम हो जाएगी और देखेंगे कि बड़े बड़े वैद्य, हकीम और डाक्टर भी उन्हें किस तरह से बचा सकेंगे। यदि कोई अवैध कह कर इस शुभकर्म (!) से मुझे रोकेगा तो हम उस का सिर डण्डों से फोड़ देंगे या बन्दूक की गोलियों से उड़ा देंगे क्योंकि इस संसार में किस की मजाल है ? जो हमें पकड़ सके या हम पर मुकद्दमा चला सके क्योंकि सब थाने वाले और उच्च पोलीस पदाधिकारी तो सदैव हमारी जेब में रहते हैं।

मैं गाने वाले और गाने वालियाँ मंगवाऊँगा और उन पर पानी की वर्षा की भान्ति धन निछावर करूँगा। मेरे इस दान को देख कर अन्य सब के होश ठिकाने आ जाएँगे और सब शरीकों की नाक जड़ से कट जाएगी। इस दशा में उन सब को देख कर खुशी से मैं फूला न समाऊँगा क्योंकि स्तुति करने वाले नट, भाट, नर्तक-नर्तकियों को देख कर मेरी एड़ी धरती पर न टिकेगी, क्योंकि अन्य सब यज्ञ करने वालों का जमा हुआ रंग मेरे इस यज्ञ, दान और प्रमोद से फीका पड़ जायेगा और दानी लज्जा से मुँह छिपा लेंगे। मेरी प्रसन्नता और खुशी देख कर आकाश मण्डल की सब विभूतियाँ चकित हो कर कुछ काल के लिए स्थिर होकर घूमना स्थगत कर देंगी।

इस प्रकार अज्ञान से, विशेष कर मूढ बने हुए अथवा बेसमझी के कारण अपने आप को भूले हुए ये आसुर-वृत्ति लोग अनेक प्रकार से उद्भ्रान्त हुए चित्त वाले, भूलों और चित्त की घुम्मन-घेरियों में फँसे हुए होते हैं। इसलिए सदा भान्ति-भान्ति के मोह-माया के जालों में फँसे रहते हैं। जिसके वशीभूत हुए दिन रात मदिरा पीते हैं। पशु-पक्षियों का माँस खाते हैं। पोस्त, अफीम, चरस, भाँग और हतीश आदि नाना प्रकार के मादक पदार्थों का सेवन करते हैं, प्रत्येक समय मुँह में बीड़ी या सिग्रेट लिये रहते हैं, अपनी, पराई, सुन्दर, असुन्दर सब प्रकार की स्त्रियों के साथ रमण करते हैं, चाहे लोभ से हो, चाहे धोखे से हो। चाहे बलात्कार और अत्याचार से हो क्योंकि काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार ये पाँच ही उनके मुख्य लक्ष्य होते हैं उन्हीं के वशीभूत होकर वे अपना सारा जीवन व्यतीत करते हैं। जिससे वे मरने के बाद उन अपवित्र नरकों में गिरते हैं, जिनके चारों ओर विष्ठे के ढेर लगे होते हैं। मूत्र की सड़ांद चारों ओर फैली रहती है। रुधिर से सारी धरती लाल होती है, पीब की नदियाँ बहती हैं जिनमें कीड़े ही कीड़े भरे रहते हैं। थूक और श्लेष्मा के अंबार लगे रहते हैं। जहाँ एक पल भर भी ठहरना कठिन होता है ॥

॥ १५ ॥ १६ ॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

आत्म-सम्भाविताः स्तब्धाः+धन-मानमद+अन्विताः । यजन्ते नाव-यज्ञैः +ते दम्भेन+अविधि-पूर्वकम् ॥

आत्म-सम्भाविताः=आत्मना एव सम्भाविताः+अपने द्वारा ही बड़े बने हुए। अपने ही आप बड़े बने हुए। अपने आपको ही श्रेष्ठ मानने वाले। (अपने आप को सर्वगुण-सम्पन्न समझ कर) आप ही अपने को बड़ा मानने वाले [श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा श्रेष्ठ न माने हुए।]

[सम्भाविताः=वि० पुं०) सम् √भू+णिच्+क्त+प्र० ब० व०= सम्मानित किए हुए।]

स्तब्धाः=(वि० पुं०)√स्तम्भ् (भ्वा० आत्म० सक०। क्र्या० पर० अक०= कड़ा होना। अकड़ना। अभिमान दिखाना)+क्त+प्र० ब० व=अकड़े हुए। अकड़ वाले। विनयहीन हुए। कड़े स्वभाव हुए। घमण्डी। अभिमान का प्रदर्शन करते हुए (या करने वाले)। ऐंठ या हैंकड़ी वाले।

धन-मान-मद+अन्विताः=[स्तम्भते पुरुषः प्रायो यौवनेन धनेन च] (वि० पुं०) धनं च मानः च मदः च तैः अन्विताः=धन, मान और मद से युक्त।

अथवा

धन-निमित्तः—मानो मदः च, ताभ्यां धनमानमदाभ्याम् अन्विताः= धन-हेतुक मान और मद से युक्त लोग। धन और मान के मद से युक्त हुए।

[धन=(नपुं०)√धन्+अच्=धन दौलत। मान=(पुं०)√मान्+ अच्=सम्मान। प्रतिष्ठा।

मद=(पुं०)√मद्+अप्=नशा। मस्ती। कामुकता।

अन्विताः=(वि० पुं०) अनु√इण्+क्त+प्र० ब० व०=युक्त हुए लोग। सम्बन्ध प्राप्त हुए पुरुष।]।

यजन्ते=√यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना)+लट्० प्र० पु० ब० व० यजन करते हैं। यज करते हैं। पूजन (किया) करते हैं।

नाम-यज्ञैः=(पुं०) नाममात्रैः यज्ञैः (तृती० तत्पु०, कर्मधारय) नाम मात्र के यज्ञों द्वारा।

[यज्ञैः=(पुं०) इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा, √यज+ नङ्=यज्ञ+तृती० ब० व०=यज्ञों द्वारा।

ते=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे (लोग)।

दम्भेन=(पुं०) √दम्भ्+घञ्+तृती० ए० व०=दम्भ से। आडम्बर से। पाखण्ड से। धर्म-ध्वजता से।

अविधि-पूर्वकम्=(वि०) विहिताङ्गेति-कर्तव्यता-रहितैः=विहित अङ्ग की कर्तव्यता के ज्ञान से रहित। शास्त्र विधि से रहित। अविधिपूर्वक अविधि के साथ। बिना ठीक ढंग से। [अविधि=न विधि (नञ् तत्पु०)।

विधि=(पुं०) वि √धा+कि वा √विध्+इन्=विधि प्रणाली। =कार्य करने की रीति। पूर्वकम्=(वि०) पूर्व+कन्=पूर्वक+(नपुं०) प्र० ए० व०=सहित।]

अर्थ—वे (श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा श्रेष्ठ न माने हुए होने पर भी) अपने आप बड़े बने हुए, कड़े स्वभाव वाले (विनय हीन), धन और मान के मद से युक्त हुए (लोग) नाम-मात्र के यज्ञों द्वारा शास्त्र-विधि से रहित तथा दम्भ से यजन (देव पूजन और हवनादि) करते हैं॥ १७॥

व्याख्या—वे आसुरी वृत्ति वाले लोग स्वयं अपने आप को अत्यन्त सम्भावित या दूसरों द्वारा सम्मानित मानते हैं और अपने आपको ख़ूबी खान समझते हैं। इस बात की कोई परवाह नहीं करते कि उत्तम पुरुष हमें कितना नीच और पतित समझते हैं। ये आसुर लोग अपने आप को उस वेश्या के समान सौभाग्यवान् और सम्मानित मानते हैं, जो कुछ दिन अपने प्रेमी के घर में रह कर निज को सम्मानित और सौभाग्यवती समझती है। ये लोग स्तब्ध हैंकड़ बाज, अकड़ खान, भीग जाने पर सूखे हुए चमड़े के जूते की भान्ति ऐंठे हुए, घमण्डी, कड़े स्वभाव वाले और नम्रता हीन होते हैं अपनी मूछों को सदा अकड़ाये रखते हैं जिस प्रकार बावले कुत्ते की पूँछ अकड़ी रहती है। दूसरों को सम्बोधन करते समय गाली निकालते हैं। "श्याला" शब्द तो उन की वाणी का शृंगार ही होता है। अपनी आकृति को सदा रौद्र रूप किए रखते हैं जब हँसते हैं तो विष की फुहारें फूट पड़ती हैं। पर्याप्त समय तक घिड़-घिड़ की ध्वनि गूँजती रहती है। ग़रीब और साधारण व्यक्ति उन के सामने जाने से घबराते हैं। इन को अपने धन का अत्यन्त मद होता है नीचे लिखा दोहा इन को देख कर कहा गया है—

"कनक कनक से सौ गुनी मादकता अधिकाय।
यह पाए बौरात है वह खाए बौराय॥"

अर्थात् सोने (धन) में धतूरे से सौ गुणी अधिक मादकता या नशीलापन होता है, क्योंकि धतूरे को तो खाने से मनुष्य पागल होता है परन्तु सोना प्राप्त होने पर ही वह पागल हो जाता है। इन को अपने पशुओं का मान होता है, ट्रकों का गर्व होता है अधिक भूमि को देख कर फूले नहीं समाते, अपने सुन्दर भवनों को देखकर सदा गर्वीले बने रहते हैं। इसी प्रकार नित्य ही दान और

मान के मद से उन्मत्त रहते हैं और अपनी प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा के लिये ये लोग कभी कभी यज्ञ भी किया करते हैं ये यज्ञ नाम मात्र के या केवल औरों को दिखलाने के लिये ही होते हैं अथवा इन के ये यज्ञ, केवल यज्ञों का स्वांग मात्र ही होते हैं। ऐसे ही आंखों देखे एक यज्ञ का ब्योरा इस प्रकार है—यज्ञ करने वालों ने उपलों का एक बहुत बड़ा ढेर लगा कर उसे अग्नि लगा दी अग्नि के पूरी तरह जल उठने पर पंद्रह बीस आदमी जूते पहने हुए मुँह हाथ धोए बिना ही, बिना घी लगी रोटियाँ लेकर उसके चारों-ओर खड़े हो गए और रोटियाँ निरन्तर आग में डालने लगे और यज्ञ करने वाला बिना सोचे समझे जो मुँह में आता कहता जाता था, "डाढ़ी वाले बाबे की जय।" "बोदी वाले बाबे की जय।" "जटा धारी परदादे की जय।" इत्यादि कहते हुए ही कई मन अनाज फूंक दिया गया। फिर इस यज्ञ के अन्त में लाउड-स्पीकर द्वारा अश्लील भद्दे गाने गाये जाने आरम्भकर दिये गये और ये सब लोग मिल कर मांस खाने और मद्यपान करने लगे। अन्त में दंगा हो जाने पर यज्ञ की पूर्ण आहुति समाप्त हुई। इस प्रकार के इन के ये नाममात्र के यज्ञ वेद-विधान विधि से विहीन और सात्विक श्रद्धा ये रहित होते हैं। इन के कान साधु सन्तों, ऋषि मुनियों, ब्राह्मणों तथा महात्माओं का नाम सुनते ही फटने लगते हैं। यज्ञ सम्बन्धि वेद शास्त्रों की वाणी को ये लोग लचर और पोच समझते हैं। मान्य ग्रन्थों में लिखे हुए उपदेश का अपमान और अवहेलना करते हैं। उनकी मान्यता केवल माथा टेकने तक हीसीमित होती है। मान्य ग्रन्थ में भरे हुए उपदेश के अनुसार चलने की कोई परवाहन हीं होती। इसी से इन के द्वारा सब यज्ञ पाखण्ड-पूर्वक किए जाते हैं। ताकि सब लोग उन्हें धर्मी और यज्ञ करने वाले समझ लें। इन के ये सब यज्ञ आसुरी संज्ञक और घोर नरक में पतन कराने वाले होते हैं। स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति का कारण नहीं होते। जब किसी दूध देने वाली गौ का बछड़ा मर जाता है तो कई आसुरी वृत्ति-लोग उस मृतक बछड़े की खाल में भूसा भर लेते हैं और गौ दुहने के समय उसे गौ के सामने खड़ा करके गौ को दोह लेते हैं। इसी प्रकार ये आसुरी यज्ञ करने वाले यज्ञ का ढोंग रच कर सैंकड़ों लोगों को यज्ञ में बुला लेते हैं और चन्दे, पूजा या किसी और वहाने से उन से धन इकट्ठा कर लेते हैं और नरक पंथ-गामी बन जाते हैं॥ १८॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहङ्कारम्+बलम्+दर्पम्+कामम्+क्रोधम्+च संश्रिताः । माम्+आत्म-पर-देहेषु प्रद्विषन्तः+अभ्यसूयकाः॥

अहङ्कारम्=(पुं०) अहं √कृ+घञ् (अहम् इति क्रियतेऽनेन)=अहङ्कार+

द्वितीं० ए० व०=अहंकार को। गरूर को। [अहम्=(अव्यय) √अह् +अमु=मैं। आत्मा सम्बन्धी अभिमान, घमण्ड]

[अहंकारम्=[अहंकारः=विद्यमानैः अविद्यमानैः च गुणैः आत्मनि अध्यारोपितैः विशिष्टम् आत्मानम् अहम् इति मन्यते=सोऽहंकारः (श्री स्वामी शंक०) अर्थात् जिस के द्वारा अपने में आरोपित किए हुए विद्यमान और अविद्यमान गुणों से अपने को युक्त मान कर मनुष्य "हम हैं" ऐसा मानता है; उसे अहंकार कहते हैं।]

बलम्=(नपुं०)√बल्+अच्+द्विती० ए० व०=बल को। शरीर की शक्ति को। (दूसरों के पराभव करने के निमित्त रूप) बल को।

दर्पम्+(पुं०)√दृप्+घञ् वा अच्=दर्प+द्विती० ए० व०=दर्प को। [जिस के उत्पन्न होने पर मनुष्य धर्म को अतिक्रमण कर जाता है, अन्तःकरण के आश्रित उस दोष विशेष का नाम "दर्प" है।]

कामम्=(पुं०)√कम्+णिङ्+घञ्+द्विती० ए० व०=काम को। स्त्री आदि के विषय में होने वाली कामना को।

क्रोधम्=(पुं०)√क्रुध्+घञ्+द्विती० ए० व०=क्रोध को। रोष को। रौद्र रस भाव को।

च=और।

संश्रिताः=(वि० पुं०) सम्√श्रि+क्त+प्र० ब० व०=आश्रय किए हुए।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को। मुझ से।

आत्म-पर-देहेषु=(नपुं० पुं०) स्व-देहे, पर-देहेषु च (द्वन्द्व०, सप्त० ब० व०)= अपने और दूसरों के शरीरों में।

प्रद्विषन्तः=(वि०) प्र√द्विष् (अदा० उभ० सक०=द्वेष करना, वैर करना)+ शतृ+(पुं०) प्र० ब० व०=द्वेष करते हुए (हैं)। वैर करते वाले (हैं)।

अभ्यसूयकाः=(पुं०, वि०) अभि√असुञ् (कण्ड्वादि गणीय उभ० सक०= ईर्ष्या करना, डाह करना)+ण्वुल=अभ्यसूयक+प्र० ब० व०= अभ्यसूयकाः=डाह करने वाले ईर्ष्या करने वाले। निन्दक लोग। (सन्मार्ग में स्थित पुरुषों के गुणों को सहन न करके उनकी) निन्दा करने वाले॥

अर्थ—अहंकार, बल, दर्प, काम (स्त्री आदि के विषय में होने वाली कामना) और क्रोध को आश्रय किए हुए तथा (सन्मार्ग में स्थित पुरुषों के गुणों को सहन न करके उनकी) निन्दा करने वाले (आसुरी स्वभाव के लोग) अपने और दूसरों के शरीरों में स्थित मुझ (अन्तर्यामी) से द्वेष करने वाले हैं॥ १८॥

व्याख्या—प्रायः साधारण अहंकार तो थोड़ी बहुत मात्रा में सब में होता है। परन्तु आसुरी स्वभाव के पुरुषों में यह अहंकार असीम मात्रा में होता है। चाहे कोई गुण इन में विद्यमान हो चाहे उसका लेशमात्र भाग भी विद्यमान न हो, परन्तु ये लोग उस से अपने को युक्त मान कर हैंकड़ से यह कहते सुने जाते हैं, कि जो भी कुछ हैं वह सब कुछ हम हैं। किस की मजाल है, जो हमारा मुकाबला कर सके। इसी प्रकार शरीरों में काम करने का जो सामर्थ्य है उस का नाम बल है यों तो यह बल सर्व साधारण में होता है। जिस के कारण वे चलते फिरते और सब प्रकार के कार्य करते हैं। यहाँ उस साधारण बल का वर्णन नहीं है। किन्तु अन्य प्राणियों को पराभव करने के लिये शरीर में विद्यमान जो शक्ति विशेष है। यहाँ उसी का नाम बल कहा गया है। ये आसुरी स्वभाव के लोग इसी बल के वशीभूत हुए दूसरे प्राणियों के लिये दुःख देने वाले बन जाते हैं।

इन आसुरी स्वभाव वालों के मन में जो अन्य प्राणियों की अवज्ञा करने के लिये तथा गुरु, द्विज, देवता, राजा और माननीय पुरुषों के प्रति निरादर भावना भरी हुई होती है उसी का नाम दर्प है। यह दर्प एक विशेष प्रकार का अभिमान या घमण्ड ही होता है परन्तु घमण्ड इस का पूरा पर्यायवाचक नहीं है क्योंकि दोनों में पर्याप्त अन्तर होता है। स्त्री आदि के विषय में होने वाली कामना का नाम काम है। इन तमोगुणी पुरुषों में यह कामना हद से अधिक बढ़ी हुई होती है। इस से उन लोगों में विषय-भोग से सुख पाने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाती है, कामाग्नि भड़क उठती है। जब इस विषय वासना की पूर्ति में किसी प्रकार का विघ्न आ उपस्थित होता है तो यह कामाग्नि क्रोधाग्नि में परिवर्तित हो जाती है जिससे उसका सुगन्धमय धुआं दुर्गन्ध-मय हो जाता है। भगवान् ने पहले स्वयं कहा है—

"कामात्क्रोधोऽभिजायते" (गी० २।६२) अर्थात् कामेच्छा पूरी न होने से क्रोध की उत्पत्ति होती है। न केवल क्रोध ही पैदा होता है, बल्कि, मात्सर्य, ईर्ष्या, असूया, स्पर्धा आदि दुर्गुण भी उत्पन्न हो जाते हैं जिन की ओर वह चकार इंगित करता है जो श्लोक में 'क्रोधम्' पद के बाद आया है।

ये आसुरी स्वभाव वाले लोग सदा बल, दर्प, काम, क्रोध, मोह, लोभ अहंकार, मात्सर्य और ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से भरे रहते हैं। ऐसे ही दूसरे के गुणों में ये लोग केवल दोष ही देखते हैं। उन के सद्गुणों का अपनी युक्तियों द्वारा खण्डन करते हैं और नमक मिर्च लगा कर उनकी भरपूर निन्दा करते हैं। उनके इसी दुर्गुण का नाम असूया है उन में यह अवगुण अत्यन्त निन्दनीय मात्रा में बढ़ा हुआ होता है इस लिये ये लोग "अभ्यसूयक" कहे जाते हैं। वे दुष्ट लोग—"मां आत्म-देहे तथा पर-देहेषु स्थितम्" अर्थात् सर्वान्तिर्यामी तथा

सर्व-व्यापक होने से मैं उन आसुरी स्वभाव वालों तथा अन्य प्राणियों में सदा सम्भाव से स्थित हूँ को न जान कर ये लोग अन्य प्राणियों से वैर-विरोध करते हैं और उन के गले काट कर उन का मांस खाते हैं तथा उन से बलात्कार और ठगी करते हैं तो वास्तव में ये लोग मुझ परमेश्वर से ही वैर करते हैं क्योंकि दूसरों को मारने, ताड़ने या दु:ख देने से उन को भी नरक गामीकर देते हैं और स्वयं भी इस पापकर्म से नरकगामी हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मदेह और परदेहों में स्थित मेरा अंश जीवात्मा मुक्त न होकर सदा आवागमन में फँसा रहता है इस प्रकार दोनों स्थानों में स्थित जीवात्मा से उनका वैर करना ही मेरे साथ विद्रोह और द्वेष करना है। ये लोग अपने उक्त दोषों वाले स्वभावों के कारण अन्य सब प्राणियों से द्वेष करते हैं। जिस से वास्तव में वे मेरे ही द्वेषी होते हैं और मर कर घोर नरक में गिरते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

तान्+अहम्+द्विषतः क्रूरान्+संसारेषु नर+अधमान् । क्षिपामि+अजस्रम्+अशुभान्+आसुरीषु+एव योनिषु ॥

तान्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ब० व०=उनको।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०+मैं (परमेश्वर)।

द्विषतः=(वि०)√द्विष्+शतृ+(पुं०) द्विती० ब० व०=द्वेष करते हुओं को।
[(सन्मार्ग के प्रतिपक्षी और मेरे तथा साधु-पुरुषों के साथ) द्वेष करने वालों को]।

क्रूरान्=(वि० पुं०) √कृत्+रक्, क्रू आदेश=क्रूर+(द्विती० ब० व० =क्रूरों को। निष्ठुरों को। निर्दयों को। नृशंसों को। दया हीनों को।

संसारेषु=(पुं०) सम्√ सृ [भ्वा०, चुरा०, जुहो० उभ०, सक० अक० =रमन करना। भागना। जाना। ठहरना। सरकना]+घञ्= संसार+सप्त० ब० व०=संसारों में। [भगवान् के 'संसार' को बहु-वचन कहने से यह बात भली भान्ति ज्ञात होती है, कि आकाश पर जो असंख्य तारा-मण्डल दृष्टिगोचर होते हैं इन में अनेक पृथिवीयां ऐसी हैं जिन में हमारी पृथिवी की भान्ति उत्तम, मध्यम, नीच या दैवी और आसुरी प्रकृति वाले देह-धारी जीव रहते हैं।] लोकों में।

नर-अधमान्=(विशेष्य-विशेषण पुं०, कर्मधारय०) नरान् अधमान्=नीच नरों को। (अशुभ कर्म-कारी) दुष्ट पुरुषों को।

क्षिपामि=√क्षिप् (तुदा० उभ० सक०=भेजना) गिराना। फैंकना)+लट्०

उ० पु०, ए० व०=(मैं) फेंकता हूँ। गिराता हूँ। भेजता हूँ।

अजस्रम्=(अव्यय) निरन्तर। बार बार।

अशुभान्=(वि० पुं०) [नञ् बहुव्री०] द्वितीo ब० व०=अशुभों को। अमंगल कारियों को। अभागों को। अशुभ कर्म करने वालों को। पापाचारियों को।

आसुरीषु=(वि० स्त्री०) असुर+अण्=आसुर+ई=आसुरी+सप्त० ब० व०=आसुरियों में। असुरों की।

एव=(अव्यय) ही।

योनिषु=(स्त्री०) यौति=संयोजयति, √यु (अदा० पर० सक०=मिलाना, जोड़ना। क्र्या० उभ० सक०=बांधना)+नि=योनि+सप्त० ब०व०= योनिषु=योनियों में। मादा या स्त्रियों की जनेन्द्रियों में। गर्भाशयों में। उपादान कारणों में। भिन्न भिन्न पशु-पक्षी, कीट, पतंग, नर आदि प्राणधारी श्रेणियों में।

अर्थ—उन (सन्मार्ग के प्रतिपक्षी तथा मेरे और जीवों के साथ) द्वेष करने वाले, अशुभ (पापाचारी), क्रूर-कर्मी, नराधमों को मैं (कर्मानुसार भिन्न भिन्न) लोकों में बार बार आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ॥ १९॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! श्रुति-स्मृति और पुराणोक्त सन्मार्ग विरोधी जो आसुरी स्वभाव वाले लोग हैं, वे न केवल अन्य प्राणधारियों तथा सारे साधु-सन्तों से ही द्वेष करते हैं बल्कि वे मेरे साथ भी द्वेष करते हैं। वे तो अत्यन्त क्रूर स्वाभाव वाले होते हैं अर्थात् सदा जीवों की हिंसा ही करना चाहते हैं। इसलिये वे सम्पूर्ण नरों में अधम माने जाते हैं अर्थात् अत्यन्त निन्दित समझे जाते हैं। वे लोग निरन्तर अशुभ कर्मों और पापाचरणों में निरत रहते हैं, जिस से उन का दर्शन करना भी अमंगलकारी और नाना प्रकार की विपत्तियों का कारण होता है। चूंकि मैं सब के कर्मों का फल देने वाला हूँ अर्थात् मैं ने ही ऐसी मर्यादा स्थिर कर रक्खी है जिस से ज्ञानी, तत्त्व वेत्ता लोग मोक्ष को पा लेते हैं। धर्मी लोग सुख भोगने के लिये स्वर्ग-लोकों में निवास करते हैं और फिर पुण्यों के क्षीण हो जाने पर भू-लोकों में उतर कर उत्तम और श्रेष्ठ घरानों में जन्म लेते हैं। परन्तु जैसे शहरों का गन्दा और दुर्गन्ध-युक्त जल गन्दे जोहड़ों में ही जाता है और कूड़ा करकट तथा मलमूत्र आदि गन्दगी के ढोलों में ही डाले जाते हैं इसी प्रकार मैं भी इन द्वेषी, क्रूर, नराधम आसुर-स्वभाव वाले और पापाचारी अशुभ पुरुषों को उन के नीच कर्मों की श्रेणियों के अनुसार बार बार भिन्न भू-लोकों में, आसुरी योनियों में जन्म लेने के लिए फेंक देता हूँ। कहने का भाव यह है कि उन उक्तदुर्गुणों मे युक्त आसुर-प्रकृति लोगों की दुर्गति के मूल कारण उनके

दुर्गुण, दुराचार और पाप ही होते हैं और इसी प्रकार ये पापी पुरुष अनन्त काल पर्यन्त इन अधम योनियों में भ्रमण करते और महा कष्ट भोगते रहते हैं। ऐसा इस श्रुति में भी कहा गया है—

"अथ कपूय चरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्व-योनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डाल-योनिं वा-इति ॥"

अर्थात् कपूय (नीच-हेय, शास्त्र-निषिद्ध पाप कर्मों को) करने वाले पुरुष शीघ्र ही कुत्ते, सूअर, चण्डाल आदि अधम योनियों को प्राप्त होते हैं ॥

इस संसार में कोई प्राणी सुखी है, कोई दुःखी है, कोई प्राणी धनी है, कोई दरिद्री है, कोई प्राणी पण्डित है तो कोई मूर्ख है इस में परमात्मा का तो कोई दोष नहीं है यह सब कुछ अपने अपने कर्मों का फल है यह मनुष्य अपना स्वयं भाग्य-विधाता होता है परन्तु यह सब कुछ ईश्वर की सहायता से होता है। यद्यपि वह परम कृपालु है परन्तु इससे भी अधिक न्यायकारी है जो पुरुष परमेश्वर की चलाई हुई मर्यादा के अनुसार चलता है और उसकी आज्ञाओं का पालन करता है उसे वह शुभ कर्मों में प्रेरित करता है परन्तु उसकी मर्यादा भंग करने वाले लोग पापाचारी बन जाते हैं और अधमाधम योनियों में बार बार जन्म लेकर मरते रहते हैं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

आसुरीम्+योनिम्+आपन्नाः+मूढाः+जन्मनि जन्मनि । माम्+अप्राप्य+एव कौन्तेय ! ततः+यान्ति+अधमाम्+गतिम् ॥

आसुरीम्=(वि० स्त्री०) असुर+अण्=आसुर+ङीप्=आसुरी+द्विती० ए० व०=असुरों वाली को। आसुरी को।

योनिम्=(स्त्री०) योनि+द्वितीय ए० व०=योनि को।

आपन्नाः=(वि०) आ√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=जाना)+कर्तरि क्त=आपन्न+(पुं०) प्र० ब० व०=प्राप्त हुए। जन्मे हुए।

मूढाः=(वि०) √मुह्+क्त=मूढ+प्र० ए०=मूढ लोग। अविवेकी जन।

जन्मनि-जन्मनि=(नपुं०) √जन्+मनिन्=जन्मन्+सप्त० ए० व०=जन्म-जन्म में। प्रत्येक जन्म में।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ (परमेश्वर) को।

अप्राप्य=(नञ् तत्पु०) न प्राप्य=न प्र√आप्+ल्यप्=न प्राप्त होकर। न पाकर।

एव=(अव्यय) ही

कौन्तेय !=(सम्बो० ए० व०) हे कुन्ती-पुत्र (अर्जुन) !

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्=फिर।

यान्ति=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ब० व० =जाते हैं। प्राप्त होते हैं।

अधमाम्=(वि० स्त्री०) √अव्+अम, धादेशः, अधो भवः अधस्+मः अन्त्य लोपो, वा=अधम+टाप्=अधमा+द्विती० ए० व०=अधमाम्। अधमा को। अति नीच को।

गतिम्=(स्त्री०) √गम्+क्तिन्=गति+द्विती० ए० व०=गति को।

अर्थ—हे (भूआ कुन्ती के पुत्र—मेरे सगे सम्बन्धी) अर्जुन! आसुरी योनि को प्राप्त हुए (वे) मूढ (अविवेकी) लोग मुझ को न प्राप्त होकर फिर जन्म-जन्म में (अधम से) अधम-गति को ही प्राप्त होते हैं॥ २०॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तुम्हें डरना नहीं चाहिए क्योंकि तुम आसुरी योनि में उत्पन्न नहीं हुए हो। तुम तो दैवी-स्वभाव से सम्पन्न हो और मेरे प्रिय सम्बन्धी हो, अर्थात् प्रिय भूआ कुन्ती के पुत्र हो। तुम्हारे जैसे ब्रह्म-ज्ञानियों को तो सब से उत्तम पदवी अर्थात् मोक्ष प्राप्त होती है क्योंकि ब्रह्म ज्ञानी लोग तो तेरी तरह जीवन काल में ही मेरा साक्षात्कार प्राप्त कर लेते हैं और दूसरे शुभ कर्म करने वाले उत्तम गति स्वर्गादि को चिर काल तक भोग कर पुनः पृथिवी लोकों में आकर उत्तम कुलों में जन्म ग्रहण करते हैं परन्तु वे आसुरी स्वभाव के लोग सिंह, सर्प, श्वान, श्वपाक आदि योनियों को ही प्राप्त होते हैं। कभी निहंग (घड़ियाल, मगरमच्छ) और ग्राह आदि योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं। जब वे लोग इस प्रकार एक बार किसी भी आसुरी योनि को प्राप्त हो जाते हैं। तो वे मूढ़ जीव प्रत्येक नवीन जन्म पाकर उत्तरोत्तर अधम से अधमतर योनियों में गिरते जाते हैं क्योंकि उन में तमो-गुण की बाहुलता बढ़ती जाती है। फिर वे अधम-योनियों में उत्पन्न हुए जीव निरन्तर मुझ से दूर से दूरतर होते चले जाते हैं जिस से कभी वे मुझे न पहचान पाते हैं। न मुझे प्राप्त होते हैं। क्योंकि उन को प्राप्त हुई तिर्यक्-स्थावर आदि योनियों में मेरे कहे हुए वेद-मार्ग पर चलने की योग्यता या सामर्थ्य नहीं होती। इस कारण से वे निकृष्टतर और निकृष्टतम योनियों को ही प्राप्त होते रहते हैं। फिर इन में कभी इन निकृष्ट योनियों के निवृत्त करने का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता। जिस से फिर कल्प-पर्यन्त, स्वर्ग-प्राप्ति का द्वार या साधन मनुष्य-शरीर उनको प्राप्त नहीं होता।

केवल मनुष्य योनि में ही जीव भगवत्प्राप्ति कर सकता है। परन्तु जो पुरुष मनुष्य शरीर को पाकर भी इस स्वर्ण-अक्षरों में लिखित रूप नियम को भूल कर दैवी स्वभाव रूप भगवत्प्राप्ति के मार्ग को छोड़ कर आसुर-स्वभाव का अवलम्बन किए रहते हैं। वे लोग मनुष्य-जन्म रूप सुन्दर और शुभ

अवसर को पाकर भी भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकते। किसी बुद्धिमान् ने यह ठीक ही कहा है—

"इहैव नरक-व्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं स्थानं रूजः किं करिष्यति ॥"

(अर्थ—आसुरी सम्पद् रूप निमित्त के द्वारा उत्पन्न होने वाली जो नरक रूप व्याधि या बीमारी है। उस को दूर करने वाली दैवी सम्पद् रूप चिकित्सा को जो पुरुष इस मनुष्य-देह में अङ्गीकार नहीं करता। वह आसुरी सम्पद् रूप बीमारी से युक्त पुरुष फिर नरक रूप उस स्थान में जाकर इस रोग का क्या उपाय करेगा? जिस में यह दैवी सम्पद् रूप औषधि का नितान्त अभाव है।) ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

त्रि-विधम्+नरकस्य+इदम्+द्वारम् नाशनम्+आत्मनः। कामः क्रोधः +तथा लोभः+तस्मात्+एतत्+त्रयम्+त्यजेत् ॥

त्रि-विधम्=[त्रि=(वि०)√तॄ+ड्रि=त्रि । विधम्=(पुं०)√विध+क्त =विध+(नपुं०) प्र० ए० व०=विधम्]। त्रयो विधा अस्य (बहुव्री०) =त्रिविधम्। त्रि प्रकारम्। (वि०)=तीन प्रकार का।

नरकस्य=(नपुं०, पुं०) नृणाति=क्लेशं प्रापयति,√नॄ+वुन्=नरक+षष्ठी० ए० व०=नरक का। पापियों के दुःख भोगने के स्थान का। (रौरव आदि इक्कीस प्रकार के) नरक का। नरक (की प्राप्ति) का।

इदम्=इदम् (सर्वं०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह।

द्वारम्=(नपुं०)√द्वृ+णिच्+अच्=द्वार+प्र० ए० व०=दरवाजा। फाटक। प्रविष्ट स्थान।

नाशनम्=(वि०)√नश् (दिवा० पर० अक०=नष्ट होना)+णिङ्+ल्यु =नाशन+(नपुं०) प्र० ए० व०=नाश करने वाला।

आत्मनः=(पुं०)√अत्+मनिण्=आत्मन्+षष्ठी० ए० व०=आत्मा का। अपने आप का।

कामः=(पुं०)√कम्+णिङ्+घञ्=काम+प्र० ए० व०=कामः=(स्त्री सम्भोग की) कामना। स्त्री सम्भोग का अनुराग। मैथुनेच्छा। अत्यन्त बढ़ी हुई कामना। [मोह का समावेश भी इसी में है।]।

क्रोधः=(पुं०)√क्रुध् (दिवा० पर० अक०=कुपित होना)+घञ्=क्रोध +प्र० ए० व०=रोष। रौद्र रस भाव। क्रोध। गुस्सा। अहंकार भी इसी में है।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्=थाल्=तथा। और।

लोभः=(पुं०)√लुभ् (दिवा० पर० सक०=लोभ करना)+घञ्=लोभ +प्र० ए० व०=लोभः। लालच। लोभ। तमा।

तस्मात्=तद्+(पुं० नपुं०) पंच० ए० व०=उस से। इस से। इसलिये।

एतत्=एतद् (सर्वं०)+(नपुं०) द्वितीय० ए० व०=इस को (इनको)।

त्रयम्=(वि०) त्रि+अयच्। (नपुं०) त्रय+द्विती० ए० व०=तीन भागों में विभाजित (दोष) को। तीनों को।

त्यजेत्=√त्यज् (भ्वा० पर० सक० अक०=त्यागना+विधि०, प्र० पु०, ए० व०=त्याग देना चाहिए।

अर्थ—आत्मा का नाश करने वाला काम, क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकार का नरक का द्वार है। इस लिए इस तीन भागों में विभाजित (नरक-द्वार) को त्याग देना चाहिए॥ २१॥

व्याख्या—हे अर्जुन! नरक पुरी में रौरव आदि इक्कीस प्रकार के नरक हैं। इस नरक पुरी में प्रविष्ट होने के लिए एक बहुत बड़ा द्वार है जिस का नाम महा-पाप है। इस बड़े द्वार के तीन मुख्य भाग हैं अथवा यह गिरगट की तरह तीन रंग बदलता है जिस से तीन भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता है। इस का पहला रूप कामना है जिस में स्त्री से प्रेम, उस का आलिंगन चुम्बन, उस की बातों में रस लेना, उस के रूप को देखते रहना, उस के सौन्दर्यादि गुणों को चिन्तन करना, उसके अवगुणों को न देखना, मांस, चर्म, रुधिर, मज्जा और अस्थियों से निर्मित शरीर को सोने, फूलों, केलों, सुवर्ण के वृक्ष और अमृत से बना हुआ समझ कर सदैव उसके साथ रमन करने की उत्कट इच्छा करना। लोभ द्वारा, रोभ द्वारा, बलात्कार से, चमत्कार से, धोखा देकर, प्यार दिखा कर, इस प्रकार सब सम्भव असम्भव उपायों से स्त्रियों को वशीभूत करके काम शास्त्रानुसार उलटे सीधे सर्व उपायों से उनके साथ संभोग करना इस काम का मुख कार्य समझा जाता है। जिस के कारण इस जीवात्मा का विशेषतया अधःपतन होता है और घोर नरक की प्राप्ति होती है क्योंकि यह काम नरक में ले जाने वाला पहला कारण है जिस से इसे नरक-प्रवेश-द्वार का पहला रूप कहा गया है। इस में पहले स्त्री की कामना होती है साथ ही सुन्दर वस्त्रों को धारण और प्रयोग करने की कामना होती है और अन्न, दुग्ध, मद्य, मांसादि नाना प्रकार के भोज्य, पेय, चोष्य और लेह्य पदार्थों के प्रयोग करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है जिस से जीभ षट्-रस आस्वादन की वासना करती है। इस काम के कारण पुत्र, धन, धाम आदि अनेक सुख-साधनों के प्राप्त करने के लिए मूढ़ पुरुष सदैव प्रयत्न करता रहता है। मोह के जाल में अच्छी तरह से उलझ जाता है कर्तव्य अकर्तव्य का अन्तर भूल

जाता है। उसे फिर पाप-पुण्य की कोई परख नहीं रहती। जब ये काम-वासनाएँ पूरी नहीं होतीं या उन में कोई विघ्न-बाधा उपस्थित हो जाती है तो काम द्वार का दूसरा रूप बदल जाता है जिस का नाम क्रोध है। इस क्रोध के वशीभूत हुआ पुरुष पागल सा हो जाता है। उस में कभी महाअभिमान उत्पन्न होता है कभी दर्प बढ़ जाता है। कभी पारुष्य की मात्रा अधिक हो जाती है। कभी निज जीवन से ला-परवाह होता है। इसी प्रकार रौद्र रस के वेग के वशीभूत हुआ यह पुरुष, बालकों, बालिकाओं, स्त्रियों, पुरुषों की हत्याएँ करता है। अग्नि द्वारा, माने हुए शत्रु का, सर्वस्व दग्ध कर देता है। संसार के उपकार करने वाले साधनों की तोड़ फोड़ करता है। ब्रह्माण्ड का विध्वंस कर देना चाहता है। जब कोई बस चलता नहीं देखता तो पैट्रोल या मिट्टी का तेल अपने ऊपर उण्डेल कर आग लगा लेता है। विष खा लेता है, तेजाब पी जाता है। रेलगाड़ी के पहियों से गर्दन कटवा लेता है और कुएँ में गिर पड़ता है तथा पर्वत या कुतुबमीनार पर चढ़ कर कूद पड़ता है।

इस नरक प्रवेश द्वार का तीसरा रूप लोभ है। जिस के वशीभूत हुआ मनुष्य भला चंगा होते हुए भी कोढ़ी बन कर भीख माँगता है। माँगने के लिए जान बूझ कर अंगहीन बन जाता है। धनियों के आगे अपनी दीनता का प्रदर्शन करता है। घर में सब कुछ होने पर भी रोटी दूसरे के घर खाना चाहता है। ठग बन कर साधु सन्तों को भी लूट लेता है (भूषण के लोभ से) निरीह बच्चों और अबलाओं के गले घोंट देता है। पशु-पक्षियों का वध करता है। बूचड़खाने खोलता है। मद्य या मांस का व्यापार करता है। स्त्रियों और बच्चों को उठाकर ले आता है और देश विदेश में बेच कर धन कमाता है। प्रजा भूखी मरती है परन्तु उसने अनाज की प्रचुर राशि एकत्रित कर रक्खी है। बच्चे और रोगी दुःखी हो रहे हैं परन्तु वह लोभी खाण्ड के भण्डारों को हवा भी लगने नहीं देता। जनता अर्धनग्न शरीरी सरदी से ठिठुर कर यम-सदन को जा रही है, परन्तु पापी लोभी ने कपड़ों के मीलों लम्बे भण्डार जमा कर रक्खे हैं। ये काले धन्धे और ब्लैक आदि व्यापार सब लोभ के ही चमत्कार हैं। लोभी पुरुष तो, वह कौन सा ऐसा पपा है जो नहीं करता है। लड़की तक बेच देता है। पुत्र तक का गला काट देता है। माता पिता को भी जीवित ही नदी में बहा देता है। बहन को भी लूट लेता है। भाई को भी उठाकर कुएँ में फैंक देता है।

इस प्रकार काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक-प्रवेश-द्वार के तीन रूप या मुख्य कारण हैं जो जीवात्मा का नाश कर देते हैं अर्थात् उसे नरक गामी बना देते हैं। इस लिये इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए। कई लोग काम को मारने के लिये अपनी जनेन्द्रिय काट डालते हैं। शरीर से

वीर्य का नाश करने के लिये चरस पीते हैं परन्तु यह सब ढंग काम को मारने में असफल हो जाते हैं क्योंकि काम की उत्पत्ति का मूल स्थान तो 'मन' है। इस से उसे "मनसज" कहते हैं केवल मन को वशीभूत करने से ही काम पर कण्ट्रोल होता है। इसी का नाम काम का त्यागना है। इन्द्रियाँ तो इस मन रूप सारथी के घोड़े हैं यदि मन इन को न चलाए तो ये कदापि विषय वासनाओं के जंगल में भटक नहीं सकतीं। मन पर काबू पाने के लिये स्वाध्याय, सत्संगति, प्रभु चिन्तन, सात्विक भोजन और ज्ञान प्राप्ति आदि साधन जुटाना परमावश्यक होते हैं। इन्हीं से क्रोध का अभाव होता है और इन्हीं से लोभ की समाप्ति होती है ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम ॥ २२ ॥

ऐतैः+विमुक्तः कौन्तेय ! तमस्+द्वारैः+त्रिभिः+नरः। आचरति+आत्मनः श्रेयः+ततः+याति पराम्+गतिम् ॥

ऐतैः=एतद्+(नपुं०) तृती० ब० व०=इन से।

विमुक्तः=(वि०) वि√मुच्+क्त=विमुक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=छूटा हुआ। विमुक्त हुआ। [काम-क्रोध-लोभ आदि विकारों से] छूटा हुआ।

कौन्तेय ! =(सम्बो० ए० व० 'पुं०') हे कुन्ती पुत्र अर्जुन !

तमस्+द्वारैः=(नपुं०)√तम्+असच्=तमस्+द्वारैः=तमसः द्वारैः (षष्ठी० तत्पु०)=तम (अन्धकार, नरक) के द्वारों से (नपुं०, तृती० ब० व०)=नरक के द्वारों से। [ये काम आदि दुःख और मोह तथा काम, क्रोध व लोभ--रूप अन्धकारमय नरक के द्वार हैं।]

त्रिभिः=(नपुं०) त्रि (संख्या०)+तृती० ब० व०=तीनों से।

नरः=(पुं०)√नॄ+अच्=नर+प्र० ए० व०=नरः=मनुष्य। पुरुष।

आचरति=आ√चर्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=आचरण करता है। [अनुतिष्ठति=साधन करता है]।

(अपने उद्धार के लिये भगवत्—आज्ञानुसार बर्तता है।)

आत्मनः=(पुं०)√अत्+मनिन्+आत्मन्+षष्ठी० ए० व०=अपने।

श्रेयः=(वि०) अतिशयेन प्रशस्यः, प्रशस्य+ईयसुन्, श्र आदेश=श्रेयस् (नपुं०) द्विती० ए० व०=श्रेय को। कल्याण को। हित को।

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्=ततः=इस से। उस से। इसलिये। तब। फिर।

याति=√या (अदा० पर०, सक०, अक०=जाना। प्राप्त होना)+लट्० प्र० पुं०, ए० व०=जाता है। प्राप्त होता है।

पराम्=(वि० स्त्री०)√पृ=अप्=पर+टाप्=परा+द्वितीο ए० व०=
परम्=परम को। उच्चतर को। सर्वोत्तम को।
गतिम्=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्+द्विती० ए० व०=गति को॥

अर्थ—हे कुन्ती पुत्र (अर्जुन)! नरक के इन तीनों द्वारों से विमुक्त (अच्छी तरह से छूटा) हुआ पुरुष अपने कल्याण को (पाने के लिये) आचरण करता है (अनुष्ठान करता है), इस से फिर (वह) परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है॥ २२॥

व्याख्या—हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! तुम तो धर्म परायण कुन्ती माता से जन्म लेने के कारण पहले ही काम, क्रोध और लोभ रूपी तीनों नरक-द्वारों से अच्छी तरह से मुक्त हो। अब इस विषय में तुम्हें तो कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

हे कौन्तेय! नरक-प्राप्ति के साधनभूत और अत्यन्त अधम योनियों को प्राप्त कराने वाले काम, क्रोध और लोभ ये तीन महा पापी हैं। जब कोई पुरुष इन तीनों से अच्छी तरह से छुटकारा पा लेता है तब वह अपने कल्याण की सिद्धि के लिये प्रयत्न-शील होता है अर्थात् वह वेद-विहित विधि से भगवान् की चरण-सेवा, पूजा-अर्चा, कीर्तन-चिन्तन आदि सत्कर्मों का अनुष्ठान करता है। सदा सर्वत्र, दशों दिशाओं में पृथिवी आकाश पर, सोते-जागते, खाते पीते, चलते-फिरते और अपने भीतर बाहर अपने प्यारे इष्ट देव के दर्शन करता है और तद्रूप हो जाता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने उस दशा का वर्णन कुछ इस प्रकार किया है—

पहिले ही जाय मिले गुन में स्रवन, फेरि—
रूप-सुधा-मधि कीनो नैनहूँ पयान है।
हँसनि, नटनि, चितवनि, मुसुकानि,
सुघराई, रसिकाई मिली मति पय-पान है।
मोहि-मोहि मोहनमयी री! मन मेरो भयो,
'हरीचन्द' भेद न परत कुछ जान है।
कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हिय में न जानि परै कान्ह है कि प्रान है॥

और भी—

जग में आकर इधर-उधर देखा।
तू ही आया नजर, जिधर देखा॥

फिर वह भक्त या ज्ञानी इस प्रकार जगद्गुरु परमात्मा की स्तुति करता और उस के चरणों में झुकता है—

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्त्तिम् ।
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम् ।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ।।

जिस प्रकार कफ़, पित्त और वात इन तीनों दोषों से मुक्त शरीर, चोरी, यारी और चुगली आदि गन्दगी के गड्ढों से रहित स्वच्छ नगर तथा आध्यात्मक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन तापों से मुक्त अन्तःकरण, सुखी होता है उसी प्रकार काम, क्रोध और लोभ से विमुक्त हुआ पुरुष भी संसार में सुखी होता है और मरने के बाद नरक मे गिरने से बच जाता है तथा शुभ संगति पाकर मोक्ष-मार्ग-गामी हो जाता है और अन्त में अन्तः-करण की शुद्धि और आत्म-ज्ञान की प्राप्ति द्वारा मोक्ष रूप परम गति को प्राप्त हो जाता है ।। २२ ।।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। २३ ।।

यः शास्त्र-विधिम् + उत्सृज्य वर्त्तते काम-कारतः । न सः + सिद्धिम् + अवाप्नोति न सुखम् + न पराम् + गतिम् ।।

यः = यद् (सर्व०) + (पुं०) प्र० ए० व० = जो ।

शास्त्र-विधिम् = (पुं०) शास्त्राणां विधिम् (षष्ठी० तत्पु०) । कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञानकारणं । कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के ज्ञान के कारण को (विधि-प्रतिषेधाख्यम् = विधि-निषेध-बोधक आदेश को) । शास्त्र की विधि को । शास्त्र के (द्वारा कहे गये) विधान को । (विधिम् = (पुं०) वि √धा + कि, वा √ विध् + इन् = विधि + द्विती० ए० व०) ।

उत्सृज्य = उत् √ सृज् + ल्यप् = छोड़ कर । त्याग कर ।

वर्त्तते = √ वृत् (भ्वा० आत्म० अक० = बरतना) + लट्० प्र० पु०, ए० व० = बर्तता है ।

काम-कारतः = (पुं०) कामेन कारसः । (काम = 'पुं०' √ कम् + णिङ् + घञ् = काम = इच्छा । कारतः = √ कृ + णिच् + तस् = कराने से । इच्छा द्वारा कराने से) अपनी इच्छा से । कामतः = स्वेच्छा से । काम प्रयुक्तः सन् = कामना से प्रयुक्त हुआ ।

न = नहीं । न ।

सः = तद् (सर्व०) + (पुं०) प्र० ए० व० = वह ।

सिद्धिम् = (स्त्री०) √ सिध् + क्तिन् = सिद्धि + द्विती० ए० व० = सिद्धि को । पुरुषार्थ की योग्यता को । सफलता को ।

अवाप्नोति=अव√आप् (स्वा० प्र० सक०=प्राप्त करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।

न=न। नहीं।

सुखम्=(नपुं०)√सुख्+अच्+द्विती० ए० व०=सुख को।

न=न। नहीं।

पराम्+गतिम्=(स्त्री०) द्विती० ए० व०=परम गति को। स्वर्ग या मोक्ष को।

अर्थ—जो पुरुष शास्त्र की विधि को छोड़ कर स्वेच्छा से बर्तता है। वह न सिद्धि को प्राप्त होता है। न (इस लोक में) सुख को और न (परलोक में) परम-गति (स्वर्ग या मोक्ष) को (ही प्राप्त होता है।) ॥ २३ ॥

व्याख्या—श्रुति, स्मृति और पुराणादि धर्म ग्रन्थों को यहाँ शास्त्र कहा गया है। उन में मनुष्य-जीवन व्यतीत करने तथा स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति के जो ढंग या सोलह संस्कार बतलाए गये हैं उनका नाम शास्त्र विधि है। शास्त्र विधि में कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का विधि-निषेध आदेश द्वारा विधान किया गया है। जैसे—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष प्रतिदिन प्रातः सायं दोनों काल 'सन्ध्या' करे। यह विधि है और 'परदारान्नगच्छेत्' अर्थात् पुरुष कभी पर-स्त्रियों के संग मैथुन न करे। यह निषेध वचन है।

इस प्रकार पुरुष अपने कल्याण के लिये शास्त्र-विधि को जान कर उस पर आचरण करे अपनी मनमानी शास्त्र विरुद्ध बात कभी न करे तथा अपनी उस कुल-मर्यादा को बनाए रक्खे जो कल्याणकारी और प्रभु से मेल मिलाने वाली हो। उस अपनी कुल-मर्यादा को भी त्याग दे जो नरकों में ले जाने वाली हो जैसे यदि किसी स्थान का पानी पीने के अयोग्य हो और रोग उत्पन्न करने वाला हो तो उसे उसी अवस्था में पीते चले जाना बुद्धिमत्ता नहीं है। उसको तो स्थिर रखने, छानने, अर्क निकालने या किसी औषध के मिलाने से निर्दोष किया जा सकता है सो यथा-सम्भव उसे किसी बुद्धिमान् द्वारा बतलाई हुई विधि से शुद्ध करके ही प्रयोग में लाना चाहिए और हानिकारक एवं नरक-पथ गामिनी कुल-मर्यादाओं में भी महात्माओं के अनुभव और शास्त्र वचनों के अनुसार सुधार कर लेना चाहिए जैसे यज्ञों और देव-मन्दिरों में पशुओं की बलि देना छोड़ देना चाहिए। छूत-छात या दूसरों से घृणा करने का भी परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि इस से दर्प, मान, अभिमान, अहंकार आदि की वृद्धि होती है जिसका फल नरक-प्राप्ति होता है। इसका अर्थ यह कभी नहीं है कि स्वच्छता और शुद्धि का विचार भी छोड़ दिया जाए। छूत के रोगों से बचने का उपाय तो अवश्य ही किया जाना चाहिए। स्वच्छ

और सात्विक भोजन खाने से स्वास्थ्य की वृद्धि होती है और बुद्धि प्रगल्भ होती है तथा मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है जिस से शुभ कर्मों के करने की प्रेरणा होती है। इस संसार-समुद्र के तीर पर स्थित हो कर ही आनन्द लेना चाहिए और संसाररचयिता की महानता की कल्पना करनी चाहिए क्योंकि जो इस समुद्र में डूब रहा है उस की आँखें, नाक और पेट खारी पानी से भर जाते हैं उसे इस संसार समुद्र से कैसे आनन्द प्राप्त हो सकता है क्योंकि उसकी तो जान पर बनी हुई होती है और सगे सम्बन्धि रूपी जोंकें उसका खून चूसती रहती हैं। उसे अन्य पाप रूपी जल-जीव भी निगलने और भक्षण करने की ताक में लगे रहते हैं। सन्त इस संसार-समुद्र के तट पर खड़े होकर आनन्द लूटते हैं अर्थात् इस सन्त-वृत्ति का जीवन में संचार हुए बिना परमानन्द या मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए यहाँ कमल-पत्र की तरह अलिप्त रहना चाहिए। जब महापुरुष अनासक्ति रूप महान् उच्च पर्वत के शिखिर पर स्थित होकर नीचे संसार की ओर देखते हैं तब उन्हें यह सारा संसार क्षुद्र रूप में दिखाई देता है।

शास्त्र-विधि के कथनानुसार दैवी संपद को ग्रहण करना चाहिए और आसुरी संपद् को त्याग देना चाहिए। परन्तु हमारे यहाँ आज कल सब कार्य शास्त्र-विधि-विरुद्ध किए जा रहे हैं और शास्त्र-प्रणाली प्रतिदिन उत्तरोत्तर अधिक बिगड़ती जा रही है और सत्त्व गुण का त्याग तथा तमो गुण का ग्रहण अधिकाधिक किया जा रहा है विवाहों में जहाँ शान्ति पाठ किए जाते थे। संयम और नियमों का अनुष्ठान किया जाता था। अब उसके स्थान पर लाऊड स्पीकरों से गन्दे और वियोग भरे गीत गाये जाते हैं। बकरों, कुक्कुड़ों मत्स्यों और सूअरों के गले काटे जाते हैं और ये सब काम धर्म-पुस्तकों और देवताओं के सम्मुख और समीपता में ही किए जाते हैं। साथ ही शराब के दौर चलते हैं। शकुन के रूप में बन्दूकें चलाई जाती हैं। भंगड़े डाले जाते हैं। जिन में भद्दे और अश्लील गीत गाये जाते हैं। स्त्री और पुरुष मिल कर ऐसे नंगे नाच और दृश दिखाते हैं कि जिन को देख कर दैवी सम्पद् वाली सभ्यता लज्जा से मुख ढाँप लेती है।

विवाह-संस्कार भी शास्त्र-विधि विरुद्ध किए जाते हैं। किसी मानवी मनुष्य को लड़की देना गाली समझा जाता था। इस लिए इस दोष से बचने के लिए वर को विष्णु या कृष्ण रूप मान लिया जाता था और उस की पूजा-अर्चा इसी प्रकार की जाती थी जिस प्रकार कृष्ण बने हुए लड़के की, रास-लीला या नाटक में की जाती है अथवा रामलीला या दशहरा में राम-रूपधारी बालक की, की जाती है। भगवान् के मन्दिरों में स्थापित की हुई प्रतिमा पत्थर की बनी हुई होती है परन्तु भक्त की भावना उस में भगवान् तुल्य ही होती है। वेद, शास्त्र, गीता, गुरुग्रन्थ साहिब, कुरान, अंजील आदि सब धर्म

पुस्तकें कागजों से मनुष्यों द्वारा बनाई जाती हैं परन्तु उन की ईश्वर-सत्ता भाव से पूजा की जाती है । इसी प्रकार वर को ईश्वर का स्वरूप मान लेने में भी कोई दोष नहीं है और उस को कन्या देने में कोई दोष और आक्रोश शेष नहीं रहता । ब्रह्म विवाह के अनुकूल जब वर विवाह-मण्डप में पहुँचता है तो उस के सिर पर मुकुट धारण किया हुआ होता है, उस के ऊपर स्वर्ण मयी चमकीली तारों का सेहरा सुशोभित होता है उस समय व्रह भगवान् कृष्ण के स्वरूप को धारण किए हुए होता है तब उस समय कन्या पक्ष की स्त्रियाँ मंगल-गीत गाती हुई कहती हैं—

"कृष्ण घर आए, मोहन घर आए ।
सब ओर मंगल मोद विधाए ॥"
कान्ह जी आए । मंगल छाए ॥ इत्यादि

उस समय वेदी फूलों, केलों, आम के पत्तों बन्दर-वारों सुन्दर वस्त्रों और विद्युत् बल्वों आदि से सजाई हुई होती हैं, क्योंकि उसके द्वारा किसी मनुष्य का स्वागत नहीं किया जाता बल्कि वर-रूप भगवान् कृष्ण का स्वागत किया जाता है और कन्या का पिता घुटनों को हाथों से छू कर कहता है कि—

ॐ साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम् ॥

[अर्थात् —हे भगवन् (कृष्ण भगवान् जी)! आप शान्ति और सुख से बैठिए, हम (सब) आप की पूजा करेंगे ।]

वर उत्तर देता है—कीजिए ।

फिर कन्या का पिता कहता है—भगवन् !

यह विष्टर लीजिए ।

वर, आदर-पूर्वक विष्टर को लेकर अपने आसन पर रख कर ऊपर बैठ जाता है और इस वेद मन्त्र को पढ़ता है—

"ॐ वर्ष्मोस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्य इमं तमभितिष्ठामि यो मां कश्चाभिधासति ॥"

[अर्थ—मैं अपने बराबर वालों में सर्व श्रेष्ठ हूँ । जैसे सूर्य उदय होने वालों (ग्रहों, उपग्रहों और तारों) में सर्व श्रेष्ठ दिखाई देता है । जो कोई मेरा अपमान करेगा (तेरी इस कृपा से) मैं इस विष्टर की भान्ति बांध कर उसे नीचे दबा लूँगा ।]

इस के बाद कन्या का पिता वर के हाथ में जल-पात्र देता है और बारी-बारी कृष्ण रूप धारी वर के दोनों पांव धोता है और वर पांवों पर पानी डालने से पहले प्रत्येक बार नीचे लिखा हुआ मन्त्र पढ़ता है और अपने हाथों में पकड़े हुए पात्र से पांवों पर पानी डालता है ।

ॐ विराजो दोहोसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥

[अर्थ—हे जल ! आप जगत् के सार हैं मैं उस संसार-सागर के सार आप को ग्रहण करता हूँ। हे जगत् के सार ! आप मेरे चरणों को धोने योग्य बन जायें।]

तब फिर एक और विष्टर कन्या का पिता वर को देता है और वर उसे सादर लेकर धोए हुए दोनों चरणों के नीचे दबा लेता है। और वही पहले वाला मन्त्र पुनः पढ़ता है।

फिर कन्या का पिता वर को अर्घ देता है वर अर्घा लेकर जल से भीगे चावलादि अपने सिर पर डालता है और यह मन्त्र पढ़ता है—

"ॐ आपः स्थ युष्माभिः, सर्वान् कामानवाप्नुवानि।"

[अर्थ—हे जल-स्थित अक्षतादियो ! मैं आप (को सिर पर धरने) के द्वारा सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करूँ।]

फिर अर्घ में बाक़ी बचे हुए जल को नीचे लिखा मन्त्र पढ़ कर वर ईशान कोण में छोड़ देता है—

"ॐ समुद्रं वः प्रहिणोमि, स्वां योनिमभिगच्छत। अरिष्टास्माकं वीरा, मा परासेचि मत्पयः ॥"

[अर्थ—हे जल ! मैं आप को समुद्र की ओर भेजता हूँ, आप अपने जन्म स्थान समुद्र में जाओ। (आप की कृपा से) हमारे वीर योधा लोग उपद्रवों से रहित हों। हमारे हां सदा शुभ कार्य होते रहें और मंगल जल मुझ से कभी पृथक् न हों।]

इस के बाद कन्या का पिता वर को आचमनीय (जल) देता है और वर नीचे लिखे मन्त्र को पढ़ कर तीन बार आचमन करता है—

"ॐ आमागन्यशसा सꣳसृज वर्चसा। तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशुनामरिष्टं तनूनाम् ॥"

[अर्थ—हे जल देवता ! मुझ को यश और तेज से युक्त बनाओ। अपनी सन्तति और अन्य सब लोगों का प्रिय बनाओ। पशुओं का स्वामी और सब जीवों को सुख देने वाला बनाओ।]

फिर वर कन्या के पिता द्वारा हाथ में पकड़े हुए मधुपर्क के कटोरे का ढकना उठा कर देखता है और यह मन्त्र पढ़ता है—

"ॐ मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे।"

[अर्थ—हे मधुपर्क ! मैं तुझे मित्र (सूर्य) की आँख से देखता हूँ।]

फिर वर अपने वाम हाथ पर मधुपर्क का कटोरा रखता हुआ यह मन्त्र पढ़ता है—

ॐ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि ॥"

[अर्थ—हे मधुपर्क ! मैं आप को सूर्य देवता की आज्ञा से और अश्विनी कुमारों की भुजाओं से तथा पूषा के हाथों से ग्रहण करता हूँ ।]

वर तदनन्तर नीचे लिखे मन्त्र को तीन बार पढ़ कर दाहिने हाथ की अनामिका और अंगूठे से मधुपर्क को मिलाकर तीन बार पृथिवी पर छींटा देता है—

"ॐ नमः श्यावास्याय अन्नशने यत्ते आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि ।"

[हे कपिशमुख (अर्थात् भूरे रंग के मधुपर्क) ! मैं आप को नमस्कार करता हूँ । तुझ भक्षण करने योग्य मधुपर्क में जो आविद्ध द्रव्य (रोम, तिनका, च्यूंटी आदि) मिले हुए हैं । उनको मैं पात्र से बाहर फेंकता हूँ ।]

फिर यह मधुपर्क कन्या के निरीक्षण के लिए भीतर कौतुकागार में भेजा जाता है और वापस लाकर तीन पात्रों में डाला जाता है ।

फिर वर नीचे लिखे मन्त्र को तीन बार पढ़ता हुआ क्रमशः तीनों पात्रों के मधुपर्क को पी जाता है ।

"ॐ यन्मधुनो मधव्यं परमꣳरूपमन्नाद्यं, तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानीति ॥

[अर्थ—हे देवो ! मधु का परम उत्कृष्ट रूप अन्नादि की तरह प्राणधारक है अर्थात् उत्तम-मधु, मकरन्द या पुष्प रस सार भूत है । यह उस मधु की-श्रेष्ठता और परम उत्कृष्टता का रूप है । उन्हों से मैं सर्व गुणों में श्रेष्ठ मधुपर्क के योग्य अन्नादि के भोगने वाला होऊँ ।]

फिर वर तीन वार आचमन करता है । तदनन्तर वर नीचे लिखे मन्त्रों द्वारा परमात्मा से प्रार्थना करता हुआ अपने अंगों को स्पर्श करता है !

ॐ वाङ् मे आस्येऽस्तु । (हे भगवान् ! मेरे मुख में सौ साल से अधिक समय तक वाणी स्वस्थ रहे) ।

ॐ नसोर्मे प्राणोऽस्तु । नासिका में प्राण सौ साल तक स्थिर रहें ।

ॐ अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु । आंखों में ज्योति सौ वर्ष तक ठीक रहे ।

ॐ कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु । सौ साल कान सुनते रहें ।

ॐ बाह्वोर्मे बलमस्तु । शत वर्ष तक भुजाओं में बल स्थिर रहे ।

ॐ ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु । आजीवन उरुओं में शक्ति भरी रहे ।

ॐ अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा में सह सन्तु । [हे भगवन् ! मेरे शरीर में सारे अङ्ग शरीर सहित सौ से अधिक वर्षों तक नीरोग रहें ।]

इस प्रकार कन्या के पिता की प्रतिज्ञा के अनुसार वर रूप भगवान् कृष्ण का पूजन अर्चन समाप्त हो जाता है।

तब फिर कन्या का पिता कहता है—

"ॐ गौर्गौर्गौ:—इति" अर्थात् गौ अब लाई जाएगी। गौ लाई जाएगी। गौ लाई जाएगी। भाव यह कि मेरी कन्या जो गौ रूप (उत्तम स्वभाव वाली) है उसे यहाँ वेदी में लाने के लिए वस्त्र भूषणादि पहना कर तैयार करो।

तब पण्डित दो तिनके कुशा के लेकर शृंखला सी बनाता है और उसका एक छोर कन्या का पिता और दूसरा छोर वर पकड़ता है तथा वर नीचे लिखे दो मन्त्रों को पढ़ता है :—

'ॐ माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां, स्वसा ऽऽदित्यानाममृतस्य नाभि:। प्रणुवोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदिर्ति वधिष्ट। मम चामुष्य यजमानस्य च उभयो: पाप्मा हत: ॥

ॐ उत्सृसत तृणाणि अत्तु ॥"

[यह तेरी गौ (कन्या) एकादश रुद्रों की माता है अर्थात् रुद्र देवताओं तुल्य वीर पुत्रों को उत्पन्न करने वाली है। आठ वसु देवताओं की पुत्री है अर्थात् इस का सुन्दर और गौर शरीर, आप, ध्रुव, सोम, धर, अनिल, अमल, प्रत्यूष और प्रभाव के तेज से बना है। धन-दौलत, जवाहर, सुवर्ण और रत्नों की यह पुत्री है अर्थात् प्यारी है अदिति पुत्र-धाता, मित्र, अर्यमा, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, वैवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु सरीखे तेजवानों की भगिनी है तथा अमृत रस का केन्द्र या उद्भव स्थान है अर्थात् इस से पुरुषों को अमरता प्राप्त होती है। हे बुद्धिमान्! मैं तुझ अति धीमान् पुरुष प्रति प्रार्थना करता हूँ कि यह तेरी गौ (पुत्री) निरपराध और निष्कलंक है। पहले तू इसे मारता और झिड़कता भी रहा है परन्तु अब इस को न कभी मारना न झिड़कना, सदा इसके साथ केवल प्यार ही करना। अब मेरे और आप यजमान दोनों के इस वेदी-कर्म के कारण सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गए हैं क्योंकि पुत्री सम्बन्धी तेरी चिन्ता भी नष्ट हो गई है और विवाह सम्बन्धी मेरी चिन्ता भी समाप्त हो गई है। अब आप इस अपनी कन्या रूप गौ को मुझे दे दीजिए। जिस से सदा यह रूखे-सूखे अन्न से बना हुआ सात्विक भोजन मेरे घर में खाए।]

अपनी पुत्री की ऐसी प्रशंसा, गुणगान और वर की सद्भावना तथा प्रतिज्ञा को सुन कर कन्या का पिता स्वीकारोक्ति के रूप में पकड़ी हुई कुशा के छोर को छोड़ देता है जो वर के हाथ में ही रह जाता है।

इस प्रकार विवाह का पूर्व भाग समाप्त हो जाता है और उत्तर इस प्रकार प्रारम्भ होता है—सब से पहले वेदी में अग्नि लाकर स्थापित की जाती है। फिर कन्या लाई जाती है। वर उठकर उस का स्वागत करता है और वर

के दाहिने आसन पर बैठ जाती है और गणपति, गौरी, ॐकार, लक्ष्मी और कुबेर का पूजन अर्चन करती है ।

तदनन्तर कन्या का पिता वस्त्र स्थानीय मौली के चार सूत्र वर को अर्पण करता है । जिन में से वह दो तो स्वयं रख लेता है और दो कन्या को दे देता है उस समय "ॐ जराङ्गच्छ०" और "ॐ या अकृन्तन्नवयन्०" ये दो मन्त्र वर पढ़ता है ।

और "ॐ परिधास्य०" तथा "ॐ यशसा०" दो मन्त्र वर स्वयं वस्त्र धारण करता हुआ बोलता है ।

फिर आचमन करके वर-कन्या परस्पर एक दूसरे को प्रेमपूर्वक देखते हैं क्योंकि पिता आज्ञा देता है "परस्परं समञ्जेथाम्" अर्थात् तुम दोनों एक दूसरे को वर-वधू के रूप में प्रेम-पूर्वक देखो ।

वर मन्त्र पढ़ता है—"ॐ समजन्तु०"

उस समय लड़के और लड़की दोनों के हाथों में दो जलपूर्ण अर्घ दे दिये जाते हैं और फिर इन दोनों के जलों को परस्पर मिलाया जाता है अथवा उन दोनों के हाथों के मध्य में आटे का पेड़ा दे दिया जाता है ।

फिर वर कन्या का ग्रन्थि-बन्धन और कङ्कण बन्धन किया जाता है ।

तदनन्तर दोनों कुलों का शाखोच्चारण होता है और उन के मंगलों की कामना की जाती है । तदनन्तर कन्या का पिता शंखी में जल, दूर्वा, अक्षत, पुष्प, कुशा और रुपया आदि डाल कर तथा कन्या का अंगूठा हाथ में लेकर कन्या-दान करता है और संकल्प करके वर के हाथ में दे देता है ।

वर "ॐ स्वस्ति" कह कर ले लेता है और "ॐ द्यौस्त्वाददातु" मन्त्र पढ़ कर आशीर्वाद देता है ।

फिर वर को सोने की अंगूठी दी जाती है । फिर लड़की का नाम बदला जाता है और वर-वधू दोनों एक दूसरे को परस्पर देखते हैं और वर इस बीच चार वेद-मन्त्र पढ़ता है ।

तदनन्तर कन्या आगे वर पीछे रह कर बिना किसी मन्त्र को पढ़े अग्नि की तीन प्रदक्षिणाएँ की जाती हैं । फिर अग्नि की पश्चिम दिशा में नवीन शुद्ध पवित्र वस्त्र में लिपटे हुए बगड़ आदि के पुलक अथवा तृण निर्मित किसी सुन्दर चटाई पर वर पहले स्वयं दक्षिण चरण रखे । फिर वधू को दक्षिण में बिठा कर आप वाम भाग में बैठे । कटोरे में डाले हुए गर्म घी की स्रुवे द्वारा बासठ आहुतियाँ दे । इनके लिए साठ मन्त्र पढ़े जाते हैं । आज्य-भाग संज्ञक दो मन्त्रों से चार आहुतियाँ दी जाती हैं । इसके बाद अग्नि की चार प्रदक्षिणाएँ की जाती हैं, पहली तीन प्रदक्षिणाओं में वधू आगे वर पीछे होता है जिनमें वर

द्वारा नौ बार लाजा होम किया जाता है तथा तीन-तीन बार हस्त ग्रहण, अश्मारोहन और अग्नि प्रदक्षिण किए जाते हैं। चौथी प्रदक्षिण में वर आगे वधू पीछे होती है। इसमें बिना मन्त्र पढ़े वधू एक बार ही लाजा अग्नि में डाल देती है। अश्मारोहन आदि और कुछ भी नहीं होता॥

फिर सप्त पदी होती है और लड़की वाम आसन पर बैठ जाती है और वर वधू पर आम्र-पत्र और कुशा से छींटा देता हुआ यह मन्त्र पढ़ता है—

"ॐ आप: शिव: शिवतमा शान्ता: शान्त-तमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥"

[अर्थ—जो जल अत्यन्त सुख के देने वाला है तथा अत्यन्त शान्ति के देने वाला है वह सदा तेरे दु:खों को दूर कर असीम सुखों को प्रदान करे।]

इसी प्रकार फिर लड़का अपने ऊपर और वधू पर तीन बार जल छिड़कता है और ये मन्त्र पढ़ता है —

१—ॐ आपो०। २—ॐ यो व:०। ३—ॐ तस्मा०॥

फिर सूर्य या ध्रुव को देखते और नमस्कार करते हैं। फिर आम्र के पत्ते में सोने की अंगूठी परो कर वर वधू की माँग में सिन्दूर सुहागवती लड़कियों से डलवाता है और यह मन्त्र पढ़ता है—

"ॐ सुमङ्गलीरियं वधूरिमा ᳪ समेत पश्यत सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्ते विपरतेन॥"

[हे सौभाग्यवती देवियो और उपस्थित सज्जनो! आप सब इस वधू को समङ्गली देखिये और आप सब इसको सदा रहने वाला सुहाग देकर पधारिये।]

फिर हवन के घी को वर चखता है और आचमन करता है।

फिर वर-वधू पर आशीर्वादात्मक सूक्तियों से पुष्प वर्षा की जाती है।

तदनन्तर दोनों के सिर जोड़ कर पुष्प मालाएँ पहना दी जाती हैं॥

इस प्रकार शास्त्र-विधि द्वारा किया हुआ विवाह समाप्त हो जाता है जो सदैव मंगल प्रदाता होता है। परन्तु जो लोग इस शास्त्र-विधि को छोड़ कर अपनी मनमानी रीति से यह संस्कार करते हैं वे भगवान् कृष्ण को छोड़ कर एक साधारण प्राकृत नर को अपनी कन्या अविधिपूर्वक देते हैं। वह प्राकृत वर न मुकुट धारण करता है न सत्त्वगुण में स्थित होता है। यदि वह कहीं भूल कर सेहरा बाँध कर आ भी जाता है तो बहुत बुरा मनाया जाता है और विवाह से पूर्व ही उसका सेहरा उतार लिया जाता है और उसे हतप्रभ कर दिया जाता है।

इस प्रकार शास्त्र-विधि के विरुद्ध काम करने से न सुख मिलता है न परमगति प्राप्त होती है।

इसी प्रकार लिखा है—

केशी गोपाल पण्डित सदयो पढ़े हर हर कथा पुराण जीओ इत्यादि। अर्थात् मरने के अनन्तर भगवान् कृष्ण तुल्य सात्विक विद्वान् पुरुष को बुला लेना जो हरि हर यशयुक्त उस पुराण को पढ़े जिससे मरने वाले को शुभ गति प्राप्त हो और जली हुई अस्थियाँ हरिसर (कंखल) के स्थान पर गंगा जल में डाल देना। तदनन्तर शास्त्र-विधि अनुसार सब प्रकार का क्रिया-कर्म करवा देना।

परन्तु आजकल ऐसा कौन करता या करवाता है सब मनमाने ढंग से शास्त्र-विधि के विरुद्ध ही आचरण करते हैं।

येब्याह और मरण के दो उदाहरण तो बानगी के रूप में दर्शाये गए हैं वास्तव में तो आजकल सारी तानी ही टूट कर रह गई है और सब कार्यों में मनमाना व्यवहार किया जा रहा है। आज कल की दशा का वर्णन तुलसी दास के शब्दों में सुनिए—

निराचार जो स्रुति पथ त्यागी। कलियुग सोई ज्ञानी वैरागी॥
सब लोग काम-लोभ-रत क्रोधी। देव विप्र स्रुति संत विरोधी॥
गुरु-सिष अंध बधिर कर लेखा। एक न सुनहि एक नहिं देखा॥
आप गये अरु औरनि घालहिं। जो कहुँ सत-मारग पालहिं॥

ब्रह्म ज्ञान बिनु नारि-नर, करहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ वस, करहिं विप्र-गुरु घात॥
कलिमल ग्रसे धर्म सब, गुप्त भये सदग्रन्थ।
दंभिन निज मति कल्पि कर, प्रगट किए बहु पंथ॥

इस प्रकार जो शास्त्र-विधि विरुद्ध मनमाने कार्य करते हैं वे न तो सिद्धि (तत्त्वज्ञान) को ही पाते हैं न इस लोक के सुख और न परलोक में परम-गति (स्वर्ग अथवा मोक्ष) को ही पाते हैं॥ २३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

तस्मात्+शास्त्रम्+प्रमाणम्+ते कार्य+अकार्य-व्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्र-विधान+उक्तम्+कर्म.कर्तुम्+इह+अर्हसि॥

तस्मात्=तद् (सर्व०)+(पुं० नपुं०)+पंच० ए० व०=इस से। इस लिये।

शास्त्रम्=(नपुं०) शिष्यतेऽनेन, √शास्+ष्ट्रन्=शास्त्र+प्र० ए० व०= शास्त्र (ही)।

प्रमाणम्=(नपुं०) प्रमीयते अनेन, प्र√मा+ल्युट=प्रमाण+प्र० ए० व०= यथार्थ ज्ञान। शुद्ध-बोध। सबूत। प्रमाण। अन्तिम निर्णय। वह साधन

जिस के द्वारा कोई बात सिद्ध हो जाए। मन की तुष्टि (तसल्ली) का पक्का साधन।

ते+(सर्व०) युष्मद्+षष्ठी० ए० व०=तव, ते=तेरे। तेरे लिये।

कार्य+अकार्य-व्यवस्थितौ=(स्त्री०)√कृ+ण्यत्=कार्य=करने योग्य। कार्य, करणीय, कर्त्तव्य।

न कार्यं=अकार्यं (नञ् तत्पु०)। न करने योग्य। अकरणीय। अकर्त्तव्य॥

वि-अव√स्था+क्तिन्=व्यवस्थिति+सप्त० ए० व०=व्यवस्थिति में। कार्यस्य चाकार्यस्य च व्यवस्थितौ। कर्तव्याकर्तव्यव्यवस्थायाम्।

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में। कार्य और अकार्य की व्यवस्थिति में।

ज्ञात्वा=√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+क्त्वा=जान कर।

शास्त्र-विधान+उक्तम्=(वि०) [विधि: विधानम्] शास्त्रेण विधानम्=शास्त्र विधानम् [कुर्याद न कुर्याद् इति एवं लक्षणम्] तेन उक्तम्। आज्ञा का नाम विधान है। शास्त्र द्वारा जो ऐसी आज्ञा दी जाये कि "यह कार्य कर यह मत कर। वह शास्त्र विधान है।" उस में (√वच्+क्त+द्विती० ए० व०=उक्तम्) कहे हुएं को।

शास्त्र विधान में कही हुई बात को शास्त्र की विधि से कहे हुए को।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को।

कर्तुम्=√कृ+तुमुन्=करने के लिए।

इह=(अव्यय) इदम्+ह, इ आदेश। यहाँ। इस लोक में।

अर्हसि=√अर्ह् (भ्वा० पर० सक० अक०=योग्य होना)+लट्० म० पु०, ए० व०=(तू) योग्य है।

अर्थ—इसलिये तेरे लिये कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण (है)। शास्त्र विधान में कहे हुए निर्णय का जान कर तू कर्म को करने के लिये इस लोक मे योग्य है। (अर्थात् शास्त्र-विधान-विरुद्ध कार्य तुझे कभी नहीं करना चाहिए)॥ २४॥

व्याख्या—संसार के सब कार्य तीन श्रेणियों में विभक्त हैं—कुछ कार्य तो सत्व गुण से युक्त होते हैं और शुभ फल देते हैं। कुछ कार्य रजोगुण वाले होते हैं, जो समय की परिस्थिति के अनुकूल शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के फल देते हैं तीसरी प्रकार के तमोगुण मिश्रित कर्म नरकों में ले जाते हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि मनुष्य इस द्विविधा में पड़ जाता है कि यह

कर्म मेरे द्वारा किया जाना चाहिए अथवा न किया जाना चाहिए। उस समय मतिहीन पुरुष अपनी मनमानी करने लगता है, जिस से लोक में निन्दा होती है और परलोक बिगड़ जाता है। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष शास्त्रानुकूल आचरण करता है।

इस लिये मनुष्य को कोई ऐसा कर्म न करना चाहिए जो लोक और शास्त्र के विरुद्ध हो और जिस के करने पर बुद्धिमान् और महापुरुष निन्दा करें। सब कार्य श्रुति तथा वेद मूलक स्मृति और पुराणों या धर्म ग्रन्थों के अनुकूल किए जाने चाहिएँ। यदि उन में कहीं मत-भेद या विपरीतता जान पड़े। तो उस का निर्णय अनुभवी महापुरुषों से करवा लेना चाहिए। शास्त्रविधान का अर्थ मनमाना या पक्षपात पूर्ण कदापि न किया जाना चाहिए केवल उस का वही अर्थ लिया जाना चाहिए जो ईश्वरी सृष्टि के नियमों के विरुद्ध न हो जिसे बुद्धिमान् महापुरुषों की बुद्धि भी ठीक मान ले। परमात्मा के सब नियम अटल हैं। वह सर्वव्यापक और सृष्टि का स्वामी है सारी सृष्टि एक ही नियमित ढंग से उत्पन्न होती है शरीर छोटे-छोटे अणुओं से मिलकर बनते हैं प्रत्येक अणु में जीवन होता है तथा मिट्टी, पानी, हवा तेज और आकाश का प्रवेश होता है। जब शरीर से प्राण निकल जाते है। अर्थात् प्रत्येक अणु के भीतर का जीवन समाप्त हो जाता है तो शरीर में प्रयुक्त हुए सब तत्त्व अपने अपने मूल रूपों में मिल जाते हैं। महापुरुषों के मन में जब ईश्वर का प्रकाश हज़ारों कैण्डल बिजली के बल्वों के तुल्य प्रकाशित हो उठता है तो वे प्रभु को देखते, अनुभव करते और उसकी वाणी को सुनते हैं और फिर गणेश बन कर अथवा ब्रह्मा का रूप धर कर लिखने लग जाते हैं। उस श्रवण की हुई वाणी का लिखित रूप ही श्रुति कहलाता है उस की व्याख्या जो वैसे ही महापुरुषों द्वारा की जाती है वह स्मृति या धर्मशास्त्र कहलाती है तथा उस का कथा रूप में किया हुआ व्यास, पुराण हैं। यद्यपि उन में बहुत सी बातें ऐसी भी हैं जिन को बुद्धि नहीं मानती और एक दूसरे से विपरीत जान पड़ती हैं ऐसी अवस्था में उन को बुद्धि विवेक रूपी हँस द्वारा नीर क्षीर के विश्लेषण से ठीक ठीक जान लेना चाहिए परन्तु कार्य और अकार्य में प्रमाण शास्त्र को ही जानना चाहिए अपनी मनमानी कल्पना से सदैव बचना चाहिए और उन शास्त्र विहित शुभ कर्मों का आचरण भी निष्काम भाव से ही करना चाहिए क्योंकि शास्त्रों में निष्काम भाव से किए हुए शुभ कर्मों को ही भगवत्प्राप्ति में कारण कहा है। इस रीति से तू भव सागर से पार हो जायेगा अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो कर जन्म-मरणादि दुःखों से छूट जाएगा ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु, ब्रह्मविद्यायां, योगशास्त्रे, श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशो अध्याय: ।

इस प्रकार श्री भगवान् से गाये हुए (कविता बद्ध कहे हुए), उपनिषदों में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत, योगशास्त्र विषयक, श्रीकृष्णअर्जुन-योग नाम वाला सोहलवां अध्याय कथित हुआ ।।

।। शुभम् ।।

।। हरि : ॐ तत्सत् ।।

शुभमस्तु । मंगलमस्तु ।।

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

॥ अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

ये शास्त्र-विधिम्+उत्सृज्य यजन्ते श्रद्धया+अन्विताः । तेषाम्+निष्ठा तु का कृष्ण ! सत्त्वम्+आहो रजः+तमः ॥

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=ये ।=जो (लोग)

शास्त्र-विधिम्=(पुं०) शास्त्राणां विधिम् (=वि √धा+कि, वा—√विध्+इन्=विधि+द्वितीं० ए० व०=कार्य प्रणाली को । षष्ठी० तत्पु०)= शास्त्र-विधि को । शास्त्रों में कहे हुए ढंग को ।

उत्सृज्य=उत् √सृज् (दिवा० आत्म० सक० । तुदा० पर० सक०=छोड़ना) +ल्यप्=छोड़ कर । परित्यज्य । त्याग कर ।

यजन्ते=√यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना, पूजन करना)+लट्० आत्म० प्र० पु०, ब० व०=यज्ञ करते हैं । (देव, पितर, यक्ष-राक्षस, भूत-पिशाच आदिकों की) पूजा करते हैं ।

श्रद्धया=(स्त्री०) श्रत् √धा=अङ्—टाप=श्रद्धा+तृती० ए० व०=श्रद्धया =श्रद्धा से । भक्तिपूर्वक विश्वास से । पूज्य भाव से । हार्दिक सम्मान से । आस्तिक्य बुद्धि से ।

अन्विताः=(वि०) अनु √इण्+क्त+(पु०) प्र० ब० व०=युक्त हुए । संयुक्ताः सन्तः ।

तेषाम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=उनकी ।

निष्ठा+(स्त्री०) नि √स्था+अङ्+टाप्+प्र० ए० व०=निष्ठा । स्थिति । भक्ति । प्रयोग-विधि ।

तु=(अव्यय) तो । फिर । परन्तु । (√तुद्+डु) ।

का=(स्त्री०) कम् (सर्व०)+प्र० ए० व०=कौन सी (है) ? । कैसी (है) ? ।

कृष्ण !=(पुं० सम्बो० ए० व०) हे कृष्ण ! [√कृष् (तुदा० उभ०, भ्वा० पर०,

सक० =खींचना। आकर्षण करना। वशवर्ती करना। दबाना। मोह लेना)+नक्+अच्=कृष्ण]।

हे भगवान् कृष्ण ! हे मोहित करने वाले ! हे सब को दबा लेने वाले ! हे मोहन ! हे मधुर मनोहर ! हे मदनमोहन !

सत्त्वम्=(नपुं०) सतो भाव:, सत्+त्व+प्र० ए० व०=सत्त्वम्=सत्त्व गुण (वाली)

आहो=(अव्यय) आ √हन्+उंण्=आहो। या। अथवा। वा। [यह अव्यय सन्देह के समय निर्णय लेने में प्रश्न-कर्त्ता प्रयुक्त करता है।]

रज:=(नपुं०) √रन्ज्+असुन्=रजस्+प्र० ए० व०=रज:=रजो गुण (वाली)।

तम:=(नपुं०) √तम्+असच्+प्र० ए० व०=तमो गुण (वाली)।

अर्थ—अर्जुन बोला—

हे कृष्ण ! परन्तु जो लोग शास्त्र विधि को छोड़ कर (केवल) श्रद्धा से युक्त हुए (देव-पितर, यक्ष-राक्षस और भूत-पिशाच आदियों का) पूजन करते हैं [अथवा यज्ञ करते हैं] । उन की निष्ठा (=स्थिति) कौन सी है ? सत्त्व गुण वाली है ? रजोगुण वाली है ? अथवा तमोगुण वाली है ? ॥ १ ॥

व्याख्या -हे कृष्ण ! हे मदन-मोहन प्रभो ! हे आकर्षण करने वाले महा प्रभावशाली-स्वामिन् ! आप ने पूर्व अध्याय में कहा है— कि "जो पुरुष शास्त्र-विधि को छोड़ कर अपनी मन-मानी करता है वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को और न परम-गति को।" इस से मेरे मन में एक बड़ा सन्देह उत्पन्न हो गया है कि संसार में लाखों करोड़ों ऐसे लोग बसते हैं जिन में से बहुतों ने न तो शास्त्र का नाम सुना है और वे न ही शास्त्र विधि को जानते हैं और कुछ लोगों के पास ऐसी धर्म पुस्तकें हैं जिन में लिखे हुए बहुत से वचन हमारे धर्म शास्त्रों के उल्ट और भ्रान्ति में डालने वाले हैं और वे लोग परमपरा से उन्हीं के अनुकूल आचरण करते चले आ रहे हैं । कुछ ग्रामीण लोग ऐसे हैं जो मन्द-बुद्धि होने से स्वयं तो कुछ सोच नहीं सकते परन्तु लोभी, लालची और स्वार्थी पुरुषों के जाल में फँसे हुए हैं आंखे बन्द करके उन धूर्तों के पीछे चलते रहते हैं । चाहे वे उन को अन्ध कूप में गिरा दें चाहे उन के द्वारा किसी और को मरवा दें, जब ये स्वार्थी नेता लोग ऊँचे खड़े होकर टेर लगाते हैं कि हमारा धर्म इस समय संकट में है तुम लोग शस्त्र उठा लो और सारे संसार को जला कर राख बना दो और जो लोग हमारे विचारों के विरुद्ध हैं, उनको मार मार कर तत्काल समाप्त कर दो । वास्तव में उस समय उन धूर्त नेताओं की अपनी आजीविका संकट में होती है । ये भड़काये और उत्तेजित किए हुए उन के अनुयायी लोग अत्यन्त श्रद्धा और प्रेम से उन की आज्ञा का पालन

करते हुए ऐसे कर्म करने लगते हैं जो शास्त्र विधि, लोक कल्याण और देश-हित के विपरीत होते हैं। परन्तु बुद्धि की हीनता और कुनेताओं पर श्रद्धा होने के कारण उन के द्वारा वे सब कार्य किये जाते हैं जिन में अग्नि दाह और प्राणियों की हत्याएं भी होती हैं। कुछ लोग शास्त्र-विधि को जानते भी हैं परन्तु उनकी श्रद्धा उस के स्थान पर उस से विरुद्ध विधि पर होती है। इस से वे लोग अपनी मनमानी विधि पर स्वयं भी चलते हैं और उस पर दूसरों को भी चलाने का प्रयास करते हैं। कुछ लोग अपने पिता-पितामह के निर्धारित किये हुए मार्ग पर ही श्रद्धापूर्वक चलते हैं चाहे वह मार्ग शास्त्र विधान प्रतिकूल ही क्यों न हो। कोई अपने मन-माने ढंग से श्रद्धा पूर्वक देवताओं, सिद्धों, काली, हनुमान आदि का पूजन करता है तो कोई गन्धर्वों, यक्षों, राक्षसों, सुलतान आदि को श्रद्धापूर्वक पूजता है और कोई भूत, पिशाच, मढी, मसान, आदि की पूरे विश्वास से सेवा करता है। संसार में अनेक देश हैं और उन में असंख्य प्राणी निवास करते हैं उन के धर्म, उन की वेष-भूषा, उनके खान पान, उन के रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज तथा उन के धर्म कर्म सब भिन्न भिन्न और नाना प्रकार के हैं। हमारे देश भारत में भी अनेक जातियों, अनेक वंशों और नाना प्रकार की श्रद्धा वाले लोग निवास करते हैं जिनके पहनावे, खान पान और रीति रिवाज भी पृथक-पृथक हैं और अनेक लोग मन्त्रों का अर्थ बिना जाने, अशुद्ध मन्त्र पढ़ते हुए, शास्त्र विधि से विपरीत, परन्तु श्रद्धापूर्वक यज्ञ हवनादि करते हैं इन सब की निष्ठा सात्विकी होती है ? अथवा राजसी होती है ? किं वा तामसी होती है ? कृपया इस सम्पूर्ण ज्ञान को विस्तार पूर्वक मेरे प्रति कहकर अनुग्रह कीजिए ॥ १॥

श्री भगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

त्रि-विधा भवति श्रद्धा देहिनाम्+सा स्वभाव-जा। सात्त्विकी राजसी च+एव तामसी च+इति ताम्+शृणु ॥

त्रि-विधा=(वि० स्त्री०) त्रि=√तृ+डि। विधा=(स्त्री०) वि√धा+क्विप् =प्रकार वाली। तीन तरह की। (त्रि-प्रकारा) प्र० ए० व०।

भवति=√भू+लट्० प्र० पु०, ए० व०=होती है।

श्रद्धा=(स्त्री०) श्रत्√धा+अङ्-टाप्+प्र० ए० व०=श्रद्धा। भक्ति पूर्वक विश्वास। पूज्य भाव। आस्तिक्य बुद्धि।

देहिनाम्=(पुं० वि०)√दिह+घञ्=देह+इनि=देहिन्+षष्ठी० ब० व० =देहधारियों के। [यों तो सब जीव देहधारी ही होते हैं। परन्तु जिस देह के द्वारा परम गति प्राप्त होती है। वह केवल मनुष्य की ही देह है।

इसलिए वास्तव में मनुष्य ही देहधारी होते हैं अन्य सभी जीव तो नाम-मात्र के ही देहधारी हैं ।] मनुष्यों की ।

सा=तद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=वह ।

स्वभाव-जा=(स्त्री०) जन्मान्तर-कृतो धर्मादि संस्कारो मरण-काले अभिव्यक्तः स्वभाव उच्यते, ततो जाता="स्वभावजा" अर्थात् जन्मान्तर में किए हुए धर्म-अधर्म आदि के जो संस्कार मृत्यु के समय प्रकट हुआ करते हैं, उन के समुदाय का नाम स्वभाव है, उस से उत्पन्न हुई ।

[स्वभाव=(पु ं०) स्वस्य भावः=सहज प्रकृति । आदत ।

जा=√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+अच्+टाप्=प्र० ए० व०=उत्पन्न हुई ।]

सात्त्विकी=(स्त्री०) सत्त्वात् भवति, सत्त्व+ठण् (इक्)+सात्त्विक+ई=सात्त्विकी सत्त्वगुण सम्बन्धिनी । सात्त्विकी । प्र० ए० व० ।

राजसी=(स्त्री०) रजस्+अण्+ई=रजोगुण सम्बन्धिनी=रासजी । (प्र० व०) ।

च=और ।

एव=ही ।

तामसी=(स्त्री०) तामस+ङीप्=तामसी तमोगुण सम्बन्धिनी । तमोगुण से उत्पन्न होने वाली ।

च=और ।

इति=ऐसे । इस प्रकार ।

ताम्=तद् (सर्व०)+(स्त्री०) द्विती० ए० व०=उसकी ।

शृणु=√श्रु (स्वा० पर० सक० अक०)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) सुन ।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

(शास्त्र विधि को छोड़ कर यज्ञ करने वाले) पुरुषों की (जन्मान्तर में किए हुए धर्म-अधर्म आदि जो संस्कार मृत्यु काल में प्रकट होते हैं, उन के समुदाय रूप) स्वभाव से उत्पन्न हुई वह श्रद्धा, सात्त्विककी, राजसी और तामसी—इस प्रकार तीन तरह की होती है । उसको (तू) सुन ॥ २ ॥

व्याख्या—भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! जो लोग शास्त्र विधि को छोड़ कर श्रद्धा पूर्वक किसी प्रकार का यज्ञ तथा पूजन-अर्चन करते हैं । उस यज्ञ या पूजन-अर्चन में धारण की हुई उन की वह श्रद्धा तीन प्रकार की होती है । कोई भी मनुष्य जन्म-जन्मान्तरों

के प्रत्येक जीवन-काल में जो धर्म-अधर्म या पुण्य-पाप रूप कर्म करता है, उस में मरण काल में उन शुभाशुभ कर्मों के संस्कार संचित होते हैं। फिर उन संस्कारों के फलस्वरूप उसके नवीन जन्म में उस का स्वभाव बनता है अर्थात् अन्य जन्मान्तर में किए हुए पाप-पुण्य या धर्म-अधर्म आदि के जो संस्कार मृत्यु के काल में प्रकट हुआ करते हैं उनके समुदाय का नाम ही स्वभाव है। जिस निष्ठा से ये लोग शास्त्र-विधि का आचरण न करते हुए यजन करते हैं वह स्वभाव जन्य, निष्ठा या श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सत्वगुण से उत्पन्न हुई देव पूजादि विषयक श्रद्धा सात्त्विकी होती है। रजोगुण से उत्पन्न हुई श्रद्धा यक्ष-राक्षसादि पूजा विषयक राजसी होती है, इसी प्रकार तमोगुण से उत्पन्न हुई प्रेत-पिशाच आदि की पूजा विषयक श्रद्धा तामसी होती है। संसार में जो जो कार्य होते हैं, वे सब अपने कारण के सदृश ही होते हैं। इसलिए सात्त्विक स्वभाव वालों की श्रद्धा सात्त्विकी कही जाती है। राजस स्वभाव वालों की श्रद्धा राजसी होती है और तामसी स्वभाव वाले पुरुषों की श्रद्धा तामसी कहलाती है। इस प्रकार लोगों का स्वभाव तीन प्रकार का होने से यह श्रद्धा भी तीन प्रकार की हो गई है। सत्त्वगुण सम्पन्न सन्त-महात्मा लोग फल-फूल, अन्न-जल आदि ही खाते पीते हैं और गाय भैंस, आदि घास-पात और तृणादि ही भक्षण करते हैं परन्तु रजोगुणी सिंह, भेड़िया आदि कच्चा मांस खाना पसन्द करते हैं तथा शूकर, कूकर और अन्य तमो गुणी जीव गली सड़ी बदबूदार या दुर्गन्ध-पूर्ण विष्ठा आदि ही खाना चाहते हैं। इसी प्रकार सब जीवों के स्वभावों में ये तीनों प्रकार के गुण लक्षित होते रहते हैं। ये स्वभाव कुछ तो पूर्वले जन्मों के शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप बनते हैं। कुछ वर्तमान जन्म के अभ्यास के फलस्वरूप होते हैं, इस स्थान पर एक प्रश्न स्वतः ही उत्पन्न होता है कि यह पुरुष सब कर्म परमेश्वर के कराने से ही करता है ? अथवा मनुष्य से प्रकृति के ये तीनों गुण ही पाप-पुण्य करवाते हैं और यह मनुष्य पशु की भान्ति बँधा या परवश हुआ ही ये सारे कर्म करता है ?

इस के सम्बन्ध से केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि पुरुष का शरीर जो पाँच तत्त्वों तथा मन और बुद्धि आदि से बना हुआ है वह तो प्रकृति के तीनों गुणों से निर्मित हुआ है। और उस के भीतर जो आत्मा है वह शुद्ध ब्रह्म का अंश है। जब आत्मा अपने मूल स्वरूप से गाफल होकर अपने आप को केवल प्रकृति-विकार-शरीर ही मान लेता है तो प्रकृति के गुणों के वशीभूत हुआ शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म करता है और पाप या पुण्य का भागी बन जाता है उस समय उस के सब यज्ञ और पूजन अर्चन तीनों प्रकार की निष्ठा या श्रद्धा से किए हुए माने जाते हैं जो पुनर्जन्म का कारण होते हैं। परन्तु जब यह जीवात्मा आत्म-साक्षात्कार कर लेता है तो इस की यह श्रद्धा तीनों गुणों से रहित होती है और इस के सब कर्म स्वतः ही वेद-विहित

या शास्त्रविधि अनुकूल होते हैं क्योंकि उस समय इसका स्वरूप शुद्ध सुवर्ण की भान्ति निखर कर शुद्ध श्रद्धा हो जाता है और सब वेद शास्त्र तो परब्रह्म से उत्पन्न होते ही हैं इस लिए उस ब्रह्म रूप पुरुष से कोई कर्म अपनी नैसर्गिक मर्यादा के विरुद्ध सम्पन्न नहीं होता।

यहां "राजसीचैव" में जो "च" और "एव" ये दो शब्द हैं, इस "च" से भगवान ने यह अर्थ बोधन किया है कि जो श्रद्धा इस आरम्भ किए हुए अर्थात् वर्तमान जन्म में केवल शास्त्र के संस्कार मात्र से उत्पन्न हुई है, वह विद्वान् पुरुषों की श्रद्धा, कारण की एक रूपता के कारण सात्त्विकी ही होती है। राजसी और तामसी नहीं दूसरे शब्द "एव" से भगवान् ने यह दर्शाया है कि जो श्रद्धा शास्त्र की अपेक्षा से रहित है तथा प्राणी मात्र में साधारण रूप से ही है तथा ऊपर कहे हुए जन्म जन्मान्तर में किए हुए शुभाशुभ कर्मों के संस्कार से उत्पन्न हुए, मृत्यु काल में प्रकट हुए स्वभाव से युक्त है, वह श्रद्धा ही सात्विकी, राजसी तथा तामसी करके तीन प्रकार की होती है।

और "तामसी च" का "च" तो तीनों प्रकारों के समुच्चय कराने के ही है।

हे अर्जुन ! अब तुम उस आगे कही जाने वाली तीन प्रकार की श्रद्धा को सुनो॥ २॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

सत्त्व+अनुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत !। श्रद्धा-मयः+अयम् +पुरुषः+यः+यत्+श्रद्धः सः+एव सः॥

सत्त्व+अनुरूपा=(वि०, स्त्री०) विशिष्ट-संस्कारोपेतान्तः करणानुरूपा (प्र० ए० व०)=भिन्न भिन्न संस्कारों से युक्त अन्तःकरण के अनुसार।

[सत्त्व=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व=स्वभाव। पैदाइशी गुण। प्रकृति। अन्तःकरण।

अनुरूपा=(स्त्री० वि०) रूपस्य सादृश्ये योग्यत्वे वा—(अव्ययी भाव स०)।

अनु+रूप+टाप्+प्र० ए० व०=अनुसार।]

सर्वस्य=(पुं०) सर्व+षष्ठी० ए० व०=सब की। (प्राणि जातस्य=प्राणियों की)। सब पुरुषों की।

श्रद्धा=(स्त्री०) श्रत्√धा+अङ्-टाप्+प्र० ए० व०=श्रद्धा।

भवति=√भू+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=होती है।

भारत=हे भरत वंशी (अर्जुन) !

श्रद्धा-मय:=(वि० पुं०) प्रचुर श्रद्धा यस्मिन् स:. श्रद्धा+मय+प्र०, ए० व० =श्रद्धा वाला। श्रद्धाप्राय: । श्रद्धामय।

अयम्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह।

पुरुष:=(पुं०) पुरुष+प्र० ए० व०=मनुष्य। पुरुष।

य:=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र०, ए० व०=जो (पुरुष) (संसारी जीव)।

यत्+श्रद्ध:=(वि०) या श्रद्धा यस्य जीवस्य=स: "यच्छ्रद्ध"। जो श्रद्धा जिस जीव की "वह "यच्छ्रद्ध" होता है। (पुं०, प्र० ए० व०) । जिस श्रद्धा वाला।

स:=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह। वह (स्वयं भी) [तच्छ्रद्धानुरूप =उस श्रद्धा के अनुरूप]।

एव=(अव्यय) ही।

स:=तद् (सर्व०)+पुं०) प्र० ए० व०।

अर्थ—हे (श्रेष्ठ भरत वंश में उत्पन्न हुए) अर्जुन ! अन्त:करण के अनुरूप (ही) सब की श्रद्धा होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। जो जिस श्रद्धा वाला है। वह (स्वयं भी) वह ही है (अर्थात् उस श्रद्धा के ही अनुरूप होता है) ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम महान् भरत-वंश में उत्पन्न हुए हो। इसलिए उत्तम श्रद्धा वाले हो। अथवा शास्त्र-जन्य ज्ञान का नाम "भा" है। आप उस में रत हो, अर्थात् प्रीति वाले हो इस से यह 'भारत' नाम तुम्हारे लिए युक्ति युक्त ही है। अर्थात् तुम्हारे अन्त:करण में शुद्ध सात्त्विक भाव विद्यमान है। इस श्लोक में गुणातीत पुरुषों का वर्णन नहीं है क्योंकि वे लोग तो तीनों गुणों से रहित होकर अपने असली स्वरूप में स्थित होकर जीवन काल में ही ब्रह्म रूप हो जाते हैं और इस शरीर को त्याग करने पर पुन: उन का जन्म नहीं होता। यहाँ तो केवल उन पुरुषों का वर्णन है जो प्रकृति में स्थित हैं और प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों से सम्बद्ध हैं। वैसे तो प्रत्येक प्राणी में तीन गुण थोड़ी बहुत मात्रा में विद्यमान होते हैं। तो भी प्रत्येक पुरुष में इन तीनों गुणों में से किसी एक की बहुलता या अधिकता होती है इस लिए छतरी न्याय से उस को केवल उस गुण वाला ही कहा जाता है। जैसे बहुत लोग मार्ग पर चल रहे हों और उन में अधिक संख्या छतरी धारियों की हो तो यही कहा जाता है कि छतरी वाले जा रहे हैं। छतरी रहित लोगों का कोई नाम ही नहीं लेता। इसी प्रकार वोट (मतदान) वाले राज्य में अधिक वोटों वाले विजयी माने जाते हैं। इस लिए जिस में जो गुण प्रधान होता है उस को उस गुण से युक्त ही कहा जाता है जैसे दो चार गले सड़े दानों वाला भी अनार पूरे मूल्य को ही बिक जाता है। चाँद और सूर्य में जो थोड़े से काले धब्बे

दिखाई देते हैं उन का विचार छोड़ कर इन दोनों को सब चमकीला और प्रकाशमान ही कहते हैं।

"श्रद्धा" शब्द "श्रत्" अव्यय और '√धा' धातु से मिल कर बना है। 'श्रत्' का अर्थ—"निश्चय", "विश्वास" और "प्रतिज्ञा" होता है और "√धा" धातु का अर्थ "धारण करना" होता है। इसलिये श्रद्धा उस धारणा या अवस्था का नाम है जो अपने सत्त्व के अनुरूप अन्त:करण में धारण की जाती है अथवा जिस में विशेष काल तक स्थित हुआ मन रमण करता है और पुरुष के अन्त:करण में संकल्प, विकल्प निश्चय और विचार आदि उस के स्वभाव के अनुरूप ही उत्पन्न होते हैं। यदि वह शुद्ध हैं और सत्त्व गुण से परिपूर्ण है तो उसका आचार और विचार भी शुद्ध और सत्त्व गुणी होंगे और वह सदा परमात्मा और उस के मूर्त्ति रूप देवताओं का पूजन-अर्चन करता है। जिस के अन्त:करण में रजोगुण भरा हुआ है। वह रजोगुणी आचार और विचार वाला होता है और वह यक्ष राक्षसों में श्रद्धा रखता है सदा मार काट के वर्णन पढ़ सुन कर खुश होता है। वह बेला और परिस्थिति का विचार छोड़ कर भी अपने उस रजोगुणी स्वभाव का ही प्रदर्शन करता है, वह झौंपड़ियों में सोता हुआ भी राज्य करने के स्वप्न देखता रहता है। उधर ब्याह के बाजे बजते हैं इधर इस का रेडियो गाता है—"घर बार लुटा के टुर चलिया" और "हाय एह की हो गया ?" "हाय ऐह की हो गया ?" यदि कोई विद्वान् उस का ध्यान इस असमय की रागिनी ओर आकर्षित करता है तो वह उसे धार्मिक गीत कह कर उसे बजाना जारी रखता है।

इसी प्रकार जिन लोगों का अन्त:करण तमोगुण से भरपूर होता है उनका आचार और विचार भी तमोगुणी होते हैं। वे सदा भूतों और पिशाचों आदियों में श्रद्धा रखते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य सात्त्विक, राजस और तामस जैसे भी कर्म करता है, वैसा ही उस का स्वभाव बन जाता है। वैसा ही उस का अन्त:करण हो जाता है। इसलिये उसे स्वभाव से उत्पन्न भी कहा जा सकता है और अन्त:करण के अनुरूप भी कहा जाता है। 'सत्त्व' शब्द का अर्थ अन्त:करण या उस में स्थित रहने वाला स्वभाव होता है और यह अन्त:करण सत्त्वगुण की प्रधानता वाले पाँच महा भूतों के सार से बना हुआ होता है जो इस कारण से 'सत्त्व' कहलाता है। जिस में सात्त्विकी और तामसी में से किसी एक प्रकार की श्रद्धा अवश्य भरी हुई होती है। क्योंकि यह श्रद्धा कुछ तो पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण किसी एक गुण से युक्त होती है और कुछ इस जन्म की अच्छी बुरी संगति से उस में परिवर्तन या पूर्व स्थित गुण में वृद्धि हो जाने से बढ़ जाती है। फिर उसी स्वभाव के अनुसार उसकी श्रद्धा भी प्रकट

होती रहती है जो जल जीवन तत्व होता है वही विष घुला मारक होता है। मिर्च में तीक्ष्ण और चरपरापन बन जाता है, परन्तु गन्ने, अंगूर और आम आदि में मीठापन होता है, इसी प्रकार यह श्रद्धा भी तीनों के मेल से तामसी, राजसी या सात्त्विकी होकर अन्तःकरण में संचार करने लगती है। जिस प्रकार दाल का एक दाना देख कर उसके कच्चे पक्के पन का अनुमान किया जाता है इसी प्रकार किसी पुरुष का बोलना-चालना और चाल-ढाल आदि देख कर उसके तामसी, राजसी या सात्त्विकी स्वभाव का अनुमान कर लिया जाता है और उसके आचरण से उसकी श्रद्धा के प्रकार का पता चल जाता है। साधारण पुरुष किसी न किसी प्रकार की श्रद्धा से अवश्य युक्त होता है और श्रद्धा उसके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। इस लिये इस पुरुष को भगवान् ने श्रद्धा-मय कहा है और जो पुरुष जिस प्रकार की श्रद्धा वाला दिखाई देता है। वह भीतर से भी वैसे ही स्वभाव वाला होता है। पगड़ी के रंग और पहनावे को देख कर ही उसके तामसी, राजसी और सात्त्विकी स्वभाव का अनुमान कर लिया जाता है। लोभी-लंपट, चोर-उचक्के, गुण्डे-लफंगे, खूनी-कातल सब प्रकार के लोग चाल-ढाल और रंग-ढंग से ही पहचान लिये जाते हैं यद्यपि वे कुछ काल के लिये धोखा दे सकते हैं। परन्तु सदा के लिये नहीं। महात्मा तुलसी दास के शब्दों में—

"उघरें अन्त न होहिं निबाहू।
कालनेमि जिमि रावण राहू।"

इसलिये जैसी जिस की श्रद्धा होती है वह आप भी वैसा ही हो जाता है अर्थात् उसका स्वभाव और आकृति भी श्रद्धा के अनुसार ही सत्त्विकी, राजसी या तामसी हो जाती है। तात्पर्य यह है कि पुरुष की श्रद्धा उसके चरित्र को प्रकट करती है। उसकी श्रद्धा जिस किसी भी पूज्य में होती है वह स्वयं भी उसी का स्वरूप बन जाता है अर्थात् अपनी श्रद्धा के बल से पूज्य के गुणों वाला ही पूजक बन जाता है। अपनी श्रद्धा और भावना के अनुरूप ही सब लोग संसार और ईश्वर को देखते हैं जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

जिन्ह कै रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति तिन्ह देखी तैसी।
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ वीररस धरे सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी।
रहे असुर छल छोनिप-वेखा। तिन्ह प्रभु प्रकट काल-सम देखा।
नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि-अनुरूप।
जनु सोहत शृंगार धरि मूरति परम अनूप।
विदूषन प्रभु विराट मय दीसा। बहु मुख-कर-पग-लोचन-सीसा।
जिहि विधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥ ३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

यजन्ते सात्त्विकाः+देवान्+यक्ष-रक्षांसि राजसाः । प्रेतान्+भूप-गणान्+च+अन्ये यजन्ते तामसाः+जनाः ॥

यजन्ते=√यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना)+आत्म० लट्० प्र० पु० ए० व०=यज्ञ करते हैं । पूजयन्ति । पूजन करते हैं । पूजते हैं ।

सात्त्विकाः=(वि० पुं०) सत्त्व+ठञ्=सात्त्विक+प्र० ब० व०=सात्त्विकी निष्ठा वाले । सात्त्विक लोग ।

देवान्=(पुं०)√दिव्+अच्=देव+द्विती० ब० व०=देवों को । सुरों को । देवताओं को । (गणेश, महेश, रमेश, दिनेश, सुरेश, शेष और ब्रह्मा आदि) ईश्वरी शक्तियों को ।

यक्ष-रक्षांसि=(नपुं० इतरेतर द्वन्द्व स०) यक्षांसि च रक्षांसि च तानि=यक्ष और राक्षसों को (द्विती० ब० व०) ।

[यक्ष=यक्ष्यते पूज्यते, √यक्ष् (चुरा० पर० सक०=पूजा करना)+घञ् । स्वर्णादि धातुओ के अधिष्ठाता लोग कुबेर आदि । अलका पुरी के निवासी । एक निकृष्ट देव योनि ।

रक्षांसि=(नपुं०) रक्षति अस्मात्√रक्ष् (भ्वा० पर० सक०=रक्षा करना)+असुन्=रक्षस्+द्विती० ब० व०=राक्षसों को । रावणादि लोगों को (ये लोग ऐश्वर्य और शक्ति से युक्त होते हैं । प्राचीन काल में लंका इन का निवास-स्थान था । ये लोग अत्यन्त विज्ञान (साइंस) वेत्ता थे । बहुत से उन अस्त्रों के जानकार थे जो अत्यन्त विनाशकारी थे । किसी की दृष्टि में आना या न आना यह उनके बश में था । यक्ष और राक्षस दोनों प्रकार के लोग विमानों द्वारा आकाश में भ्रमण करते थे । कुबेर का इतिहास-प्रसिद्ध पुष्पक विमान राक्षस-राज रावण ने छीन लिया था । रावण के मारे जाने के अनन्तर इस विमान पर चढ़ कर अपने वानरें साथियों सहित भगवान् राम अयोध्या को लौटे थे और अन्त में यह विमान कुबेर को लौटा दिया गया था । वेष परिवर्तन (भेस बदलने) में राक्षस लोग बड़ कुशल थे जिस से मारीच सोने का हरिण बन गया था और दशानन कहलाने वाला रावण, एक सिर वाला साधु बन कर सीता को धोखे से उठा लाया था । राक्षस लोग प्लास्टिक सर्जरी में अपना सानी नहीं रखते थे । रावण ने अपने कृत्रिम दश शीश बनाए हुए थे जो असली मालूम होते थे और उनको कोई पहचान भी नहीं सकता था । उनको देख कर अनेक गुणी ज्ञानी धोखा खा गये थे क्योंकि उसके सारे मुँह बोलते और खाते हुए दिखाई देते थे । इसी

प्रकार उसने अपनी बीस भुजाएँ बना रखी थीं जो असली भुजाओं के समान दिखाई देतीं और काम करती थीं। उसने ऐसे अपने अनेक सिर फालतू भी बना रखे थे जिन में से कुछ तो शिव जी के अर्पण कर दिये थे, कुछ हवन-कुण्ड में डाल कर हवन कर दिये थे और युद्ध में जब भगवान् रामचन्द्र जी उसके सिर काट-काट कर धरती पर गिरा रहे थे तो वह उस समम और सिर लगा लेता था। अन्त में जब उसके पास सारे कृत्रिम सिरों का स्टाक समाप्त हो गया तो भगवान् ने उसके असली सिर को काट दिया। जिससे फिर उसकी मृत्यु हो गई। ये राक्षस बड़े मायावी और ऐन्द्र जालक लोग थे। आधुनिक काल की तरह त्रेता युग में भी विज्ञान की पर्याप्त उन्नति हुई थी। जो लंका में अनेक विज्ञानियों के मारे जाने के कारण बाद में लुप्त प्रायः सी हो गई थी। वानर जाति के लोग सुग्रीव हनुमानादि भी विमान विद्या से परिचित थे। श्री हनुमान् जी का किष्किन्धा से उड़ कर सीता के पास लंका में जाना और फिर वापस लौट कर आना तथा चन्द घण्टों में ही हिमालय पर जा कर पुनः संजीविना बूटी लेकर लंका में लौट आना आदि इस सत्य के दृढ़ प्रमाण हैं।]

राजसाः=(पुं०) रजस्+अण्=राजस+प्र० ब० व०=राजस लोग (पूजते हैं)।

प्रेतान्=(वि० पुं०)=प्र√इ+क्त=प्रेत+द्विती० ब० व०=प्रेतों को। मृतकों को। उन मृतकों को, जिन की क्रिया-कर्म आदि न होने से शुभ गति नहीं हुई है। वायु शरीरधारी धर्म-भ्रष्ट मृतकों को। उल्का मुखादिकों को।

भूत-गणान्=(पुं०) [सप्तमातृकादीन्] भूतानां गणान्=सप्त मातृकादि भूतों के समूहों को। पिशाचों को। दुर्गति हुई गन्दी और ग़लीज अवस्था में इधर-उधर भटकती हुई आत्माओं के समूहों को।

च=और।

अन्ये=अन्य (सर्व०)+(पुं०) प्र०, ब० व०=दूसरे।

यजन्ते=√यज्+लट्०, प्र०, ब० व०=पूजते हैं।

तामसाः=(पुं०) तमस्+अण्+प्र०, ब० व०=तामसी। तामस।

जनाः=√जन्+अच्=जन+प्र० ब० व०=लोग।

अर्थ—सात्त्विक लोग देवों को पूजते हैं। राजस पुरुष यक्षों और राक्षसों को (पूजते हैं) और दूसरे तामस-जन प्रेतों और भूतों के गणों को पूजते हैं॥ ४॥

व्याख्या—जो लोग शास्त्र-विधि अनुसार हवन, यज्ञ और पूजन-अर्चन

किया करते हैं। उनकी श्रद्धा और निष्ठा का सात्त्विक होना तो स्वाभाविक ही है। परन्तु जो लोग शास्त्र विधि को त्याग कर इस प्रकार के कर्म करते हैं। उनसे सात्त्विक, स्वाभाविक, श्रद्धा या निष्ठा वाले पुरुष तो हजारों में से कोई एक ही होते हैं। इनमें अधिकांश लोग तो राजसी या तामसी निष्ठा वाले ही होते हैं क्योंकि शास्त्रों में जिन कर्मों के करने का विधान नहीं है वे अवश्य मनमाने और राजसी या तामसी ही हो सकते हैं। सात्त्विकी कर्म तो किसी-किसी के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, जिनके पूज्य ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, रमेश, देवेश, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि सात्त्विक हैं। उनकी श्रद्धा भी सात्त्विकी होती है क्योंकि कारण के अनुसार ही कार्य होता है। सात्त्विक पुरुषों का अन्त:करण प्राय: सात्त्विक कार्यों में ही प्रवृत्त होता है। भ्रमर फूल ही सूंघता है और भूण्ड सदैव विष्ठा में ही घुसता है। इसलिए सात्त्विक पुरुष अपने जीवन काल में देव पूजा ही करते हैं जिससे वे मरने के अनन्तर अपने-सपने इष्टदेव के स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु राजस् लोग राजसी स्वभाव वाले यक्ष और राक्षसों को ही पूजते हैं। इनके मुख्य पूज्य कुबेरादि यक्ष और नैर्ऋत आदि राक्षस होते हैं। ये लोग मर कर यक्ष-राक्षस देहों को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो तामस लोग हैं। वे श्मशानों या मढ़ियों में जाकर नीच, गन्दी और भयानक दैनीय वायु-देह को प्राप्त हुए उल्कामुख, कट, पूतना, डाकिनी, शाकिनी, भूत-प्रेत, पिशाच और चुड़ैल आदियों की आराधना और पूजा करते हैं और उनको मद्य आदि भ्रष्ट भोजन अर्पण करते हैं। ये सब तामस पूज्यों को पूजने वाले मर कर अपने तन मन तामसी इष्टों के साथ मिला देते हैं। लोक में यह प्रसिद्ध है कि जैसी रूह वैसे फरिश्ते प्राप्त होते हैं अर्थात् जैसा इष्ट, वैसी ही गति प्राप्त होती है। जब पानी आकाश से बरसता है तो उसकी तीन गतियाँ होती हैं ऊर्ध्व मध्य और नीच या (निम्न)। ऊर्ध्व गति-प्राप्त जल वाष्प बनकर आकाश में उड़ जाता है। मध्य-गति-जल बह कर नदी, नालों और सरोवरों में चला जाता है और निम्न गति जल पृथिवी में नीचे ही नीचे घुसता चला जाता है इसी प्रकार सात्त्विक देव पूजक लोग ऊर्ध्व गति को प्राप्त होते हैं और राजस यक्ष-राक्षस पूजक लोग मध्य गति को प्राप्त हो जाते हैं तथा तामस भूत-प्रेत पूजक लोग निम्न गति को प्राप्त होते हैं। भगवान् ने स्वयं ही पहले कहा हैं—

"यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रता:।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥" (गी० ९।२५)

अर्थात् जो जिस का पूजन करता है वह उसी के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है॥ ४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जना:।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ता: कामरागबलान्विता:॥ ५॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

अशास्त्र-विहितम् + घोरम् + तप्यन्ते ये तपः + जनाः । दम्भ + अहङ्कार-संयुक्ता काम-राग-बल + अन्विताः ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीर-स्थम् + भूत-ग्रामम् + अचेतसः । माम् + च + एव + अन्तः शरीरस्थम् तान् + विद्धि आसुर-निश्चयान् ॥ ६ ॥

अशास्त्र-विहितम् = (वि०) न शास्त्रेषु विहितम् (नञ्, सप्त तत्पु०) = शास्त्रों में न विधान किए हुए को ।

[विहितम् = (वि०) वि० √धा + क्त = विहित + नपुं०) + द्विती० ए० व० = विधान किए को । निश्चित किए हुए को । करने योग्य कहे हुए को ।] शास्त्र विधि से रहित को । शास्त्र विधान से विरुद्ध को । केवल मनोकल्पित को ।

घोरम् (वि०) √हन् + अच्, घुरादेशः अथवा √घुर् (तुदा० पर० अक० = भयंकर होना) + अच् = घोर + (नपुं०) द्विती० ए० व० = घोर को । उग्र को । भयानक को । प्रचण्ड को । [पीडा-करं प्राणिनाम् आत्मनः च] अन्य प्राणियों और अपने शरीर को भी पीड़ा पहुँचाने वाले को ।

तप्यन्ते = √तप् (दिवा० आत्म० अक० = तप करना । तपना) + लट् प्र० पु०, ब० व० = तपते हैं । तप को करते हैं ।

[कर्मवत् कर्मणा तुल्य क्रिया ॥ पा० ३ । १ । ८७ ॥ अर्थात् कर्मस्थ क्रिया के समान क्रिया वाला कर्ता कर्मवत् होता है ।]

ये = यद् (सर्व०) + (पुं०) प्र० ए० व० = जो ।

तपः = (नपुं०) √तप् + असुन् = तपस् + द्विती० ए० व० = तप को ।

जनाः = √जन् + अच् + प्र० ए० व० = लोग । पुरुष । मनुष्य । जन ।

दम्भ-अहङ्कार-संयुक्ताः = (वि० पुं०, प्र० ब० व०) दम्भः च अहङ्कारः च = दम्भाहङ्कारौ, ताभ्यां संयुक्ताः [द्वन्द्व०, तृती० तत्पु०] = दम्भ और अहङ्कार से संयुक्त हुए ।

[दम्भ = (पुं०) √दम्भ् + घञ् + दम्भ । पाखण्ड । भीतर से धार्मिक न होते हुए भी अपने आप को धार्मिक दर्शाना ।

अहङ्कार = (पुं०) अहम् (अव्यय—मैं) + कार = अहङ्कार । "मैं ही सब से श्रेष्ठ हूँ" ऐसा दृढ़ दुष्ट विचार । देह में अहं बुद्धि । अभिमान ।

संयुक्ताः = सम् + √युज् + क्त + (पुं०) प्र० ब० व० = संयुक्त हुए । अच्छी तरह जुड़े हुए] ।

काम-राग-बल + अन्विताः = (वि०, पुं०, प्र० ब० व०) कामः च रागः च =

कामरागौ, तत्कृतं बलं=कामरागबलं, तेन अन्विता: (इतरेतर द्वन्द्व)= काम (कामना) और राग (आसक्ति) जनित बल से युक्त होकर।

अथवा

कामः च रागः च बलः च=कामरागबलाः, तैः अन्विताः कामना, आसक्ति और बल से युक्त हुए। कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से युक्त हुए। [काम=विषय वासना और इन्द्रियों के भोगों की उत्कट इच्छा। राग=विषय भोगों में प्रीति।

बल=हठ शक्ति। भोगों की प्राप्ति से औषध आदि के सेवन से बढ़ा हुआ बल।

अन्विताः=(वि०) अनु√इ+क्त+(पुं०) प्र० ब० व=युक्त हुए।] कामना, आसक्ति और हठ-शक्ति के पीछे लगे हुए ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः=वि०) √कृष् (तुदा० उभ०, भ्वा० पर० सक०=खींचना, घसीटना) णिच्+शतृ=कर्षयत्=(पुं०) प्र० ब० व०=कर्षयन्तः=घसीटते हुए। खींचते हुए।

[यद्यपि बहुत सी पुस्तकों में "कर्षयन्तः" पाठ ही लिखा हुआ मिलता है परन्तु स्वामी श्रीशङ्कराचार्य जी की पुस्तक में इसके स्थान पर 'कर्शयन्तः' पाठ लिखा हुआ है और अर्थ "कृशी कुर्वन्तः (कृश तंग करते हुए)" किया है। मुझे भी यही पाठ ठीक जंचता है। इसलिए—

कर्शयन्तः=(वि०) √कृश् (दिवा० परस्मै० अक०=दुबला होना, क्षीण होना) +णिच्+शतृ=कर्शयत्+(पुं०) प्र० ब० व०=कर्शयन्तः=क्षीण करते हुए। दुबला बनाते हुए। तंग करते हुए। कृश करते हुए।

अर्थ करते समय तो सब ने "कृष्" को "कृश्" समझ कर ही अर्थ किया है।]

शरीर-स्थम्=(वि०) शरीर+√स्था+क=शरीरस्थ+(पुं०) द्वितीं० ए० व० =शरीर में स्थित को।

भूत-ग्रामम्=(पुं०) भूतानां ग्रामम्=भूतों के ग्राम को। भूतों के समुदाय को। इन्द्रियादि रूप में परिणत भूत-समुदाय को। शरीर, बुद्धि, अन्तःकरण और इन्द्रियादिकों के रूप में परिणत हुए आकाशादि पाँच भूतों के समुदाय को।

[ग्रामम्=(पुं०)√ग्रस्+मन्, आदन्तादेशः=ग्राम+द्विती० ए० व०) =ग्राम को। समूह को।]

अचेतसः=(वि० पुं० द्विती० ए० व०) न चेतसः ये तान् (नञ् बहुव्री०)= विवेक हीनों को। विचार-शक्ति रहित हुओं को। अज्ञानियों को। मूर्खों

को [चित्+असुन्+क्विप्=चेतस्+(पुं०) द्विती० ए० व० ।]

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

च+एव=(अव्यय) और। ही। भी। ऐसे ही।

अन्तः-शरीर-स्थम्=(पुं० द्विती० ए० व०)=शरीर के भीतर (अन्तरात्मा रूप से) स्थित को। शरीर के भीतर अन्तर्यामी रूप से स्थित को।

तान्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ब० व०=उनको।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) जान।

आसुर-निश्चयान्=(पुं०) आसुरो निश्चयो येषां ते=आसुर-निश्चयाः, तान् (बहुव्री०, द्विती० ब० व०) असुरों जैसे निश्चय वालों को। आसुर स्वभाव वालों को। (आसुरी निश्चय वाले) ॥ ६ ॥

अर्थ—जो लोग दम्भ और अहङ्कार से संयुक्त हुए, एवं कामना, आसक्ति और हठ्-शक्ति के पीछे पड़े हुए, (शरीर, इन्द्रियों, अन्तःकरण और बुद्धि आदि के रूप में परिणत हुए आकाशादि पाँच) भूतों के समुदाय को और ऐसे ही शरीर के भीतर (अन्तरात्मा रूप से) स्थित मुझ (परमेश्वर) को, कृश (तंग) करते हुए शास्त्र-विधान के विरुद्ध घोर (उग्र) तप तपते या करते हैं। (तू) उन अचेतसों (मूर्ख-अविवेकियों) आसुर निश्चय वालों को (भली-भान्ति जान ले। (अर्थात् वे सब अविवेकी और आसुर स्वभाव वाले होते हैं) ॥५।६॥

व्याख्या—वेद-शास्त्रों के पढ़ने और श्रवण करने से बुद्धि निर्मल और सात्त्विकी होती है, अन्तःकरण में धर्म का संचार होता है। उन शास्त्रों पर दृढ़ श्रद्धा रख कर उन के अनुसार कर्म करने से मनुष्य का कल्याण होता है अर्थात् सकाम कर्म करने से स्वर्ग मिलता है और निष्काम कर्म करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है परन्तु जिन कर्मों के करने का अथवा जिन तपों के तपने का शास्त्रों में विधान नहीं है और जिन को करते समय शास्त्र विधि का पालन नहीं किया जाता, बल्कि नाना प्रकार के दम्भ, पाखण्ड और आडम्बर करके—वृक्षों के स्कन्धों के साथ रस्सों से पाँव बाँध कर चमगादड़ों की भान्ति सारा सारा दिन उल्टे होकर लटका जाता है, कड़कती हुई धूप में जलती हुई धूनियों के मध्य में बैठा जाता है, खड़े रह कर ही खाया पिया और पेशाब टट्टी किया जाता है जिस में टाँगें सूज कर बहुत मोटी रुग्ण तथा घृणित हो जाती हैं, कभी बाहु को लगातार ऊँचा रख कर सुखा लिया जाता है। कभी शीत काल में ठण्डे जलों में खड़े रहने से शरीर को रुग्ण और सूजा हुआ कर लिया जाता है, नंगे शरीर काँटों पर बैठा जाता है, बन्द वायु भू-गर्भों में निवास किया जाता है। बकरे, भैसों के सिर काट कर हवन किया जाता है इत्यादि सब प्रकार के कर्म और तप घोर कहलाते हैं और शास्त्र-विधि विरुद्ध माने जाते हैं, जो लोग

इन को करते हैं वे हठी और दम्भी होते हैं अर्थात् वे भीतर से तपस्वी नहीं होते और न धार्मिक होते हैं केवल लोगों को लूटने, ठगने और उदर पूर्त्ति या बड़ाई की इच्छा से ही ऐसे घोर कर्म करते हैं। यदि इन में सत्यता होती तो ये इन कर्मों को वहाँ जाकर करते जहाँ पर इन को कोई देख न सकता हो, परन्तु इन के ये दम्भपूर्ण तप घनी जन जनसंख्या वाले नगरों या स्थानों अथवा मेलों, कुम्भों या उत्सवों में ही देखे जाते हैं।

ये इस प्रकार के घोर तप करने वाले लोग अहंकारी भी होते हैं अर्थात् इन में यह भाव भरा हुआ होता है—कि मैं सब से बड़ा हूँ, मेरे तुल्य दूसरा और कोई भी नहीं हैं क्योंकि यह घोर तप केवल एक मैं ही तप सकता हूँ।

भोले भाले लोग इन के निकट रुपयों पैसों आदि की ढेरियां लगाते जाते हैं जिन की रक्षा दम्भी, तपस्वी के एक दो साथी करते रहते हैं पर्याप्त धन एकत्रित हो जाने पर इस घोर तप का तमाशा वहाँ समाप्त हो जाता है और फिर ये लोग ऐसे ही किसी अन्य स्थान पर जाकर यही रचना रच देते हैं। इस प्रकार कमाए हुए धन से मद्य सेवन करते हैं। माँस खाते हैं और स्त्रियों से भोग करते हैं। इस प्रकार ये घोर तपस्वी लोग काम और राग से भी पूर्णतया ग्रस्त होते हैं, क्योंकि इन के ये सब घोर तप विषय भोगों की पूर्ति और देह तथा इन्द्रियों की तृप्ति के कारण ही होते है। इस लिए ये झूठे तपस्वी देह को ही अपना सब कुछ मानते हैं। इसी से भोगों को ही स्वर्ग सुख समझते हैं इन के विचार में मोक्ष तो कोई बात ही नहीं है केवल एक ढकोंसला मात्र है। इन लोगों को अपनी उस हठ-शक्ति या बल का भी अति अभिमान होता है जिस के बलबूते पर ये घोर तप करते हैं अथवा इन को स्त्रियों के साथ अपने भोग-सामर्थ्य का बड़ा गर्व होता है जिस को इन्होंने तामसी औषधों के सेवन द्वारा बढ़ाया हुआ होता है। इस प्रकार ये दम्भी लोग पूरे लच्चे और लफंगे अथवा महा मूर्ख, धूर्त्त या अविवेकी होते हैं। ये लोग ईश्वरी या सात्त्विकी श्रद्धा से सर्वथा हीन और रहित होते हैं।

जिस काल में ये तामसी लोग ऐसे घोर या उग्र तप करते हैं, उस काल में उन को देख कर अन्य लोगों के अन्तःकरणों में दया, दुःख और घृणा के भावों की उत्पत्ति होती है और स्वयं उन के अपने शरीर और इन्द्रियों को दुःख, सन्ताप और कष्ट होता है जिस से वे दुर्बल और कृश हो जाती हैं। यह शरीर और इन्द्रियाँ पृथिवी जल, वायु, तेज और आकाश इन पांच भूतों से निर्मित हुई हैं। इन घोर तपों से ये सब भूत भी कृश या क्षीण हो जाते हैं क्योंकि इन तपों से शरीर का भार और तेज घट जाता है आलस्य और रोग की वृद्धि हो जाती है। इन के इन घोर कर्मों से मैं भी क्षीण या कृश हो जाता हूँ जोकि जीवात्मा बना हुआ इन के शरीरों में व्यापक हूँ। क्योंकि इन के इन

घोर तपों के कारण से इस अन्तरात्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और इन के इन घोर कर्मों और शास्त्र विधान-विरुद्ध तपों से मैं प्रसन्न नहीं होता हूँ। तुम इस बात को भी मेरा कृश होना ही जानो तथा इस शरीर में भोक्ता रूप से भी मैं ही स्थित हूँ इससे भी मैं इन के इस घोर तप से कृश होता हूँ। इन की शास्त्र अवज्ञा भी मेरे लिये दु:खदायी होती है। ठीक तत्त्व को न जानने और न समझने के कारण ही ये लोग अचेतस्, अविवेकी या महा-मूर्ख होते हैं। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! ये घोर तपों को तपने वाले लोग असुर रूप ही होते हैं। इस लिये इन दम्भी, अहंकारी, कामी, रागी और हठ रूप बल अथवा कामभोग-बल से युक्त, भूत-ग्राम और शरीरान्त: स्थित मुझ को कृश करने वाले शास्त्र-विधान से विरुद्ध घोर तप तपने वाले अचेतस् अविवेकी, महा मूर्खों को तू आसुरी निश्चय वाले जाने ले ॥ ५,६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहार:+तु+अपि सर्वस्य त्रि-विध:+भवति प्रियः । यज्ञ:+तप:+तथा दानम्+तेषाम्+भेदम्+इमम्+शृणु ॥

आहार:=(पुं०) आ√हृ+घञ्+प्र० ए० व०=(आह्रियते—इति आहार:। जिन का आहरण किया जाए वह आहार होता है) भोजन।

तु=(अव्यय) और।

अपि=(अव्यय)=भी।

सर्वस्य=सर्व+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=सब का।

त्रि-विध:=(पुं०) त्रि-√विध्+क+प्र० ए० व०=तीन प्रकार का।

भवति=√भू+लट्० प्र० पु०, ए० व०=होता है।

प्रिय:=(वि०, पुं०, ए० व०)√प्री+क=प्रिय। प्यारा।

यज्ञ:=इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा√यज्+नङ्=यज्ञ+प्र० ए० व०=यज्ञ:। यज्ञ। याग। मख। पूजा की क्रिया। हवनादि। ब्रह्मभोज्यादि।

तप:=(पुं०)√तप्+अच्+प्र० ए० व०=तप:। तप। तपस्या।

तथा=(अव्यय)=और। वैसे ही।

दानम्=(नपुं०)√दा+ल्युट्+प्र० ए० व०=दानम्। दान। दीन, दु:खी, बालक बालिका और साधु-ब्राह्मण आदि को धर्मार्थ धन, धान्य, वस्त्र, भूमि आदि देना।

तेषाम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=उन के।

भेदम्=(पुं०)√भिद्+घञ्=भेद+द्विती० ए० व०=भेद को। अन्तर को। प्रकार को।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=इस को।

शृणु=√श्रु (स्वा०, पर० अक० सक०=सुनना)+लोट्० म० पु०, ए० व० =(तू) सुन।

अर्थ—और भोजन भी सब का प्यारा तीन प्रकार का होता है, वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी (तीन तीन प्रकार के होते हैं)। (तू) उन के इस भेद को (अब मुझ से पृथक् पृथक्) सुन ॥ ७ ॥

व्याख्या—श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन! श्लोक '२' में कही हुई केवल श्रद्धा ही सात्त्विकी, राजसी और तामसी इन तीनों भेदों वाली नहीं होती, बल्कि सब प्राणियों का प्यारा आहार भी इन ही तीन भेदों वाला होता है। मनुष्य जैसा आहार करता है उस का अन्तःकरण भी वैसा ही बनता है। कहा भी है—"जैसा अन्न वैसा मन" इस लिए मनुष्य के भोजन को देख कर भी यह अनुमान कर लिया जाता है, कि यह पुरुष सात्त्विकी स्वाभाव का है। या राजसी प्रकृति का है अथवा तामसी वृत्ति का है इस लिए तेरे ज्ञानार्थ अगले तीन श्लोकों में इन तीनों प्रकार के भोजनों का वर्गीकरण किया जायेगा जिस से तू उन के ज्ञान से सदा सात्त्विक भोजनों का ही प्रयोग कर सकेगा।

मनुष्य की श्रद्धा भी उस के अन्तःकरण के अनुरूप ही होती है। आहार शुद्ध होगा तो उस के परिणाम स्वरूप मन भी शुद्ध होगा। "छान्दोग्य० ७।२६।२॥" में कहा है—

"आहार शुद्धौ सत्त्व-शुद्धिः, सत्त्व-शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृति-लम्भे सर्व-ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥"

[**अर्थ**—आहार शुद्ध या सात्त्विक होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चल स्मरण शक्ति होती है, तथा स्मृति की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण ग्रन्थियों (अनेक जन्मों में अनुभव की हुई, भावनाओं से कठिन की हुई, अविद्या-कृत अनर्थ-पाश-रूप हृदय स्थित गांठों) का विनाश हो जाता है। "आह्रियते—इति आहारः" अर्थात् जिन का आहरण किया जाए उन्हें "आहार" कहा जाता है इस लिए इस का अर्थ 'भोजन' भी होता है और "शब्दादि विषय-विज्ञान का आहरण" भी है। यहाँ ये दोनों अर्थ विवक्षित हैं और ठीक रूप से घटित होते हैं।]

यह आहार भक्षण करने के ढंग की दृष्टि से चार प्रकार का होता है, भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य। इस चार प्रकार के आहार से क्षुधा की निवृत्ति तो होती ही है साथ ही तन और मन भी बनते हैं। इसी प्रकार यज्ञ, तप और दान भी इन ही तीन तीन भेदों सत्त्व, रजस् और तमस् में बँटे हुए हैं। इस अध्याय के अन्त तक इन सब का वर्णन विस्तार पूर्वक किया जाएगा। इस लिए तू उस को ध्यानपूर्वक सुन ॥ ७ ॥

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

आयुः-सत्त्व-बल-आरोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः+आहाराः सात्त्विक-प्रियाः ॥

आयुः-सत्त्व-बल-आरोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः=(वि०, पुं० प्र० ब० व० आयुः च सत्त्वं च बलं च आरोग्यं च सुखं च प्रीतिः च तासां विवर्धनाः (इतरेतर द्वन्द्व०—षष्ठी० तत्पु०)=आयु, सत्त्व (बुद्धि उत्साह), बल (शक्ति), आरोग्य (आरोग्यता-स्वास्थ्य), सुख और प्रीति के बढ़ाने वाले ।

[आयुः=(नपुं०) आ√इण्+उस्=आयुस् जीवन के बीते हुए वर्षादि । उम्र । वयस् । अवस्था ।

सत्त्व=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व=साहस । उत्साह । बुद्धि ।

बल=(नपुं०)√बल्+अच्=शरीर की शक्ति । बल । ताकत ।

आरोग्य=(नपुं०) आरोग+ष्यञ्=आरोग्य=रोग का अभाव । स्वास्थ्य । तन्दुरुस्ती ।

सुख=(नपुं०)√सुख+अच्=सुख । आनन्द । हर्ष । मन की वह उत्तम तथा प्रिय अनुभूति, जिस के द्वारा अनुभव-कर्त्ता का विशेष समाधान और सन्तोष होता है और जिस के बराबर बने रहने की उसे सदा अभिलाषा बनी रहती है ।

प्रीति=(स्त्री०)√प्री+क्तिन्=प्रीति । प्रेम । प्यार ।

विवर्धनाः=(वि० पुं०) वि√वृध्+क्त विवर्धन+प्र० ब० व०=बढ़ाने वाले ।]

रस्याः=(वि० पुं०)√रस् (चुरा० पर० सक०=रस लेना । स्वाद लेना) +यत्=रस्य+प्र० ब० व०=रसदार । रसीले । रसयुक्त । रस वाले ।

स्निग्धाः=(वि० पुं०)√स्निह्+क्त=स्निग्ध+प्र० ब० व०=(घी आदि से चिकने किए हुए । (पंजाबी थिन्दे) ।

स्थिराः=(वि० पुं०)√स्था+किरच्=स्थिर प्र० ब० व०=सदा शुद्ध और विकार रहित रहने वाले । जैसे बादाम, वासमती के चावल आदि । अथवा जिस भोजन का सार चिर काल तक स्थिर रहे वे भोजन । चिर-व्यापी ।

हृद्याः=(वि० पुं०)√हृद्+यत्+हृद्य+प्र० ब० व०=हृदय को रुचने वाले । मन पसन्द । स्वभाव से ही मन को प्रिय । लड्डू, पेड़े दुग्धादि । हृदय को अभीष्ट ।

आहारा:=(पुं०) आ√हृ+घञ्=आहार+प्र० ब० व०=भोजन करने योग्य पदार्थ। चार प्रकार से खाने योग्य भोजन।

सात्त्विक-प्रिया:=(पुं०) सात्त्विकस्य प्रिया: (इष्टा:) (षष्ठी० तत्पुरुष०) =सात्त्विक पुरुष के (को) प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

अर्थ—आयु, सत्त्व (बुद्धि, साहस), बल, आरोग्य (स्वास्थ्य), सुख और प्रीति (आनन्द, खुशी, प्रेम) बढ़ाने वाले रसीले, (घी से) चिकने किए हुए, चिरस्थायी मनभाते भोजन सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—रोटी, चावल, दाल, सब्जी, सेब, केला आदि जो भोजन दाढ़ों से चबा कर या पीस कर खाए जाते हैं उनको भक्ष्य पदार्थ कहते हैं। यह भक्षण-कार्य मुँह में लगे हुए चार प्रकार के दान्त करते हैं। युवा पुरुष के मुँह में सोलह दाँत ऊपर होते हैं और सोलह नीचे। अगले आठ दाँत भोजन को केवल काटते ही हैं। उसके बाद के दोनों ओर के आठ दाँत जो सुए कहलाते हैं फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। उन के अनन्तर आठ छोटी दाढ़े होती हैं जो भोजन को मोटा-मोटा पीसती हैं और अन्त में आठ बड़ी दाढ़ें होती हैं जो भोजन को आटे की भान्ति बारीक चूर्ण बना देती हैं और फिर यह भक्ष्य भोजन मुँह की ग्रन्थियों से निकली हुई लार में घुल कर अन्न नली के मार्ग से होता हुआ आमाशय में पचने के लिए पहुँच जाता है।

दूध, दही, चाय, शर्बत और पानी आदि जो पदार्थ ग्रसिनका द्वारा केवल निगले ही जाते हैं वे भोज्य पदार्थ कहलाते हैं और शहद, चटनी आदि जो केवल जीभ से चाटे जाते हैं उन्हें लेह्य भोजन कहते हैं। आम आदि रस भरे पदार्थ जो होठों से चूसे जाते हैं वे चोष्य पदार्थ होते हैं। इस प्रकार चार भान्ति के भोजन होते हैं।

ये सब प्रकार के भोजन सात्त्विक, राजस और तामस तीनों प्रकार के होते हैं और सात्त्विक भोजनों के गुण इस प्रकार हैं—

१—वे मनुष्य की आयु या जीवन को दीर्घ काल तक रहने वाला बनाते हैं।

२—वे बुद्धि को निर्मल, तीक्ष्ण और सूक्ष्म दर्शिनी कर देते हैं। अन्त:-करण में धैर्य, स्थिरता, गम्भीरता और उत्साह भर देते हैं।

३—शरीर में बल और शक्ति का संचार कर देते हैं तथा देह को दिव्य, दर्शनीय, हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर बना देते हैं। चेहरे पर तेज और लालिमा झलका देते हैं।

४—मानसिक और शारीरिक रोगों का नाश करके स्वास्थ्य में वृद्धि कर देता है अर्थात् उनके द्वारा शरीर में जीवन-तत्त्व अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं तथा रोगाणुओं का जन्मते ही तत्काल नाश हो जाता है।

५—इन सात्त्विक पदार्थों के भक्षण करने से हृदय में आह्लाद उत्पन्न होता है। क्रोध, चिन्ता, ईर्ष्या आदि सब मानसिक दोषों का अभाव हो जाता है। मन निर्मल, शुद्ध और कुवासनाओं से रहित हो कर स्थिर हो जाता है जिससे प्रभु के ध्यान में स्थिरता उत्पन्न होती है।

६—इन सात्त्विक पदार्थों को भक्षण करने से चित्त में प्रभु-प्रेम की तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं, सब प्राणी आत्मस्वरूप भासमान होने लगते हैं और शरीर के भीतर बाहर प्रेम-भाव झलकने लगता है।

इन सब बातों को लक्ष्य करके ही भगवान् ने कहा है कि सात्त्विक पुरुषों को जो भोजन प्रिय होते हैं वे मद्यमांस आदि से रहित सात्त्विक ही होते हैं तथा आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले होते हैं।

दूध, चीनी, शहद आम, अंगूर आदि रसदार पदार्थों से युक्त होते हैं, अत्यन्त मधुर और सुस्वादु होते हैं तथा स्निग्ध भी होते हैं, अर्थात् घी मक्खन आदि से संसिक्त होते हैं। खोपे, बादाम, मूंगफली, तिल और बीजों के गूदों की तरह स्नेह या तेल से भरे हुए होते हैं अथवा ताजा और गर्म फुलके के समान कोमल और चिकने होते हैं।

सात्त्विक भोजन दाख, काजू, लौंग, इलाइची, बादाम और बासमती के चावलों की भान्ति चिरकाल तक निर्विकार रह कर शुद्ध स्थिर बने रहते हैं। उन भोजनों को भी स्थिर भोजन कहा जाता है जिनका सार शरीर में चिरकाल तक स्थिर रहता है अर्थात् ओज और तेज हो कर शरीर में बने रहते हैं।

ये सात्त्विक भोजन हृदय को खुश करने वाले, मस्तिष्क को सुगन्धि से भरपूर करने वाले, आँखों को ठण्डक पहुँचाने वाले और भूख को बढ़ाने वाले होते हैं। इनमें दुर्गन्धि और अपवित्रता नाममात्र को भी नहीं होती। शुद्ध पवित्र और सात्त्विक स्त्री-पुरुषों द्वारा तैयार किए हुए होते हैं। उनको तैयार करने के स्थान और पात्र भी शुद्ध साफ-सुथरे तथा कसिया और रोगाणुओं से रहित किए हुए होते हैं।

इस प्रकार के सात्त्विक भोजन खाने वाले पुरुष ही सात्त्विक स्वभाव वाले होते हैं। इस प्रकार भोजनों के प्रयोग को देख कर भी सत्त्व गुण युक्त पुरुषों की पहिचान हो जाती है ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कटु+अमल-लवण+अति+उष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः । आहाराः+राजसस्य+इष्टाः+दुःख-शोक+आमय-प्रदाः ॥

कटु+अमल-लवण+अति+उष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः=(वि० पु० प्र० ब०

व०)=(अति) कटुः च (अति) अम्लः च (अति) लवणः च अत्युष्णः च (अति) तीक्ष्णः च (अति) रूक्षः च (अति) विदाही च (इतरेतर द्वन्द्व०)= अत्यन्त कड़वे (नीम, अफ़ीम, एलुआ, रसौंत, कोनीन आदि) अत्यन्त खट्टे (सिरका, आचार आदि), अत्यन्त नमकीन (अधिक नमक डाले हुए), अति गर्म (मुँह और जीभ जला देने वाले), अति तीक्ष्ण (लाल मिर्च, राई, अकरकरा, तेज फल की लकड़ी आदि चरपरे पदार्थ), रूक्ष (घी आदि से रहित, रूखे-सूखे, भाड़ में भूँजे हुए चने आदि) और विशेष कर दाह या जलन उत्पन्न करने वाले (सोंठ, तेजाब, सोडा. कास्टक, मिट्टी का तेल आदि)।

[१—कटु=(वि०)√कट्+उ=कड़वा।

२—अम्ल=(वि०)√अम्+क्ल+अच्=खट्टा।

३—लवण=(वि०) लवणः रसः अस्ति अस्मिन्।

४—लवन रस युक्त पदार्थ=नमकीन पदार्थ।

५—उष्ण=(वि०)√उष्+नक्=१—गर्म, २—तासीर में गर्म (लहसुन, करेला आदि)।

६—रूक्ष=√रुक्ष्+अच्=चिकनाई रहित। अस्निग्ध।

७—विदाहिनः=(वि० पुं०) वि√दह्+णिनि=विदाहिन्+प्र० ब० व०=विदाहिनः=जला देने वाले पदार्थ। उदर में अत्यन्त जलन उत्पन्न कर देने वाले द्रव्य॥]

अति शब्दः कट्वादिषु सर्वत्र योज्यः (श्री स्वामी शंकराचार्य जी) अर्थात् 'अति' शब्द 'कटु' आदि सब के पूर्व लगा हुआ समझना चाहिए।

आहाराः=(पुं०) भोजन के पदार्थ। आहार। (प्र० ब० व०)

राजसस्य=[(वि०) पुं०, षष्ठी० ए० व०=राजस पुरुष के। रजो गुणी पुरुष को।

इष्टाः=(वि०)√इष्+क्त+प्र० ब० व०=प्रिय हैं। प्यारे होते हैं।

दुःख-शोक-आमय-प्रदाः=(वि० पुं०)=दुःखं च शोकं च आमयं च प्रयच्छन्ति ते (बहुव्रीहि०)=दुःख, शोक और रोग को उत्पन्न करने वाले।

[आमय=आम√या+क **अथवा** आ√मी+अच्=रोग। बीमारी। अजीर्ण।]

अर्थ—दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाले अति कड़वे (तुम्मे आदि), अति खट्टे (सिरके, आचारादि), अत्यन्त नमकीन (चूर्णादि), अतिगर्म (जीभ और मुँह जला देने वाली चाय और गर्म स्वभाव-लहसुन आदि), अति तीक्ष्ण (लाल मिर्च आदि चरपरे पदार्थ), रूक्ष (चिकनाई रहित और मस्तिष्क में खुश्की

उत्पन्न करने के स्वभाव वाले भाँग आदि पदार्थ) और उदर में जाते ही दाह और जलन उत्पन्न कर देने वाले (सोंठ आदि पदार्थ) राजस पुरुष के प्रिय आहार होते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—जिन भोजनों के खाने से गले में ख़राश (जलन) उत्पन्न हो जाती है। मुँह और जीभ जल जाते हैं। पेट में कड़ी पीड़ा होने लगती है। दाँत दर्द करने लगते हैं। चबाने में कठिनाई होती है। मुँह और अँतड़ियों में घाव हो जाते हैं। हिचकी आने लगती है, नाक बहने लगती है, आँखें सूज जाती हैं, नज़ला और जुकाम हो जाता है और भान्ति-भान्ति के कष्ट उत्पन्न हो जाते हैं, उन भोजनों के द्वारा उत्पन्न हुई असह्य पीड़ाओं को न सहता हुआ पुरुष पछताता और शोक करता है। कभी अपने आप को दोषी ठहराता है, कभी उस भोजन के खिलाने वाले की बुद्धि को रोता है और महाशोक सागर में डूब जाता है। कभी ये आमय उत्पन्न करने वाले भोजन, तप, टाईफाइड, हैज़ा, दस्त, पेचस आदि मारक रोगों को भी उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार के भोजन अधिक कड़वे जैसा कि डोडे, अफ़ीम, तुम्मे आदि, अत्यन्त खट्टे सिरके तेज़ाबादि, अत्यन्त नमकीन चूर्ण, चट्टनियाँ आदि, अत्यन्त गर्म जैसे चूल्हे से उतरती हुई जलती-जलती चाय, दूध, गर्म रोटी, अत्यन्त गर्म दाल तथा गर्म स्वभाव वाले लहसुन, करेले आदि, अति तीक्ष्ण मिर्च, अक्ककरहा खाने का तम्बाकू आदि, चिकनाई रहित फक्कू और शुष्क स्वभाव वाली भाँग, चरसादि तथा पेट में जाते ही (आत्म हत्यारों द्वारा खाये हुए संखिया, फ़ास्फ़ोरस, तेज़ाब, सोडा, कास्टिक आदि) दाह उत्पन्न कर देने वाले सब पदार्थ, राजस पुरुष के प्रिय भोजन होते हैं जिन को खा कर वह दु:ख, शोक और रोगों में ग्रस्त होता रहता है। जो लोग इस प्रकार के उपरोक्त भोजनों को खाते पीते हुए दिखाई दें। उनको रजो गुणी समझना चाहिए ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

यात-यामम् + गत-रसम् + पूति पर्युषितम् + च यत् । उच्छिष्टम् = अपि च + अमेध्यम् + भोजनम् + तामम-प्रियम् ॥

यात्-यामम् = (वि०, नपुं०, प्र०, ए० व०) यातः (√या + क्त = यातः। गतः) यामः (उचित समयः)। जिसका उचित पकने का समय जाता रहा है। अध-पका या अध-कच्चा। ठीक रूप से अच्छी तरह न पका हुआ। अथवा सड़ा हुआ, खट्टा हो चुका। जिस के खाने का समय व्यतीत हो चुका है। खाने के अयोग्य। अधपका होने के कारण खाने के अयोग्य हो चुका।

गत्-रसम् = (वि० नपुं० प्र० ए० व०) = निर्गतं रसं यस्मात् (बहुव्री०) गये हुए रस वाला। नीरस। निस्स्वाद।

पूति=(वि० नपुं० प्र० ए० व०) √पूय् (भ्वा० आत्म० अक०=दुर्गन्ध फैलाना)+क्तिच्=दुर्गन्ध युक्त। बदबूदार।

पर्युषितम्=(वि० नपुं० प्र० ए० व०) परि√वस्+(कर्मणि) क्त=बासी।

च=और।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

उच्छिष्टम्=(वि० नपुं० प्र० ए० व०) उद् √शिष्+क्त=बचा हुआ। जूठा। भुक्त-शिष्ट=खाने से बचा हुआ।

अपि=भी।

च=और।

अमेध्यम्=(वि०, नपुं०, प्र० ए० व०) [मेध्य=(वि०) √मेध्+ण्यत्=मेध्य। यज्ञ के योग्य। पवित्र] न मेध्यम् (नञ् तत्पु०)=यज्ञ के या हवन में बर्तने के अयोग्य। अपवित्र। नापाक।

भोजनम्=(नपुं०) √भुज्+ल्युट्+प्र० ए० व०=खाने योग्य पदार्थ। भोजन।

तामस-प्रियम्=(वि० नपुं० प्र० ए० व०)=तामसस्य प्रियम्=तामस् पुरुष को प्यारा होता है॥

अर्थ—यातयाम (अध पका होने से उचित समय बीत जाने पर खाने के अयोग्य हो चुका), गत रस (रस रहित हो चुका-नीरस निःस्वादु), दुर्गन्धमय (बदबूदार) बासी, जूठा और जो भोजन अपवित्र भी हो (वह) तामस पुरुष को प्यारा होता है॥ १०॥

व्याख्या—यातयाम ऐसा भोजन होता है जो बीते हुए पहर में ही खाया जा सकता था। परन्तु बाद में अध पका, अध कच्चा या अध जला होने के कारण खराब हो चुका है। उस में लेस सा उत्पन्न हो गया है, खटास बन गई है अथवा फफूंदी या उल्ली उत्पन्न हो गई है। यदि वह शाक भाजी या किसी प्रकार का फल है तो खाने का समय बीत जाने पर खराब होकर खाने के अयोग्य हो चुका है। गत-रस ऐसी वस्तुएँ होती हैं कि जिन का रस किसी मशीन या किसी अन्य उपाय से निकाल लिया गया हो और पीछे केवल खली या फोक ही रह गया हो जैसे बादाम या मूंगफली की खली या रस निचोड़ी हुई सन्तरे आदि की फाँकें अथवा गत रस वे वस्तुएँ होती हैं जिन का रस फूटने आदि किसी कारण विशेष से चू गया हो, या बिगड़ गया हो और वे स्वाद रहित हो गई हों। अथवा नीरस और फीकी बन चुकी हों। इसी प्रकार पूति भोजन वे होते हैं जो बदबूदार हों, दुर्गन्धमय हों, कहते हैं कि भेड़िया जब किसी पशु को मारता है तो उसका थोड़ा सा भाग खा कर शेष को पड़ा रहने देता है और फिर अच्छी तरह गल सड़ जाने और दुर्गन्ध भर जाने पर उसे

खाता है गिद्ध चील कौवे आदि भी इसी तरह करते हैं क्योंकि यह दुर्गन्ध पुर्ण गला-सड़ा मांस उन का मन भाता खाजा है, तामस मनुष्य भी कई कई दिन की खराब हुई दुर्गन्ध मय दाल मिठाई और हलुवा आदि खा जाते हैं तथा बदबूदार खट्टी लस्सी पी लते हैं। उसे वे साड़ा कहते हैं। औरपाचक पदार्थ समझते हैं। पर्युषित भोजन वह भोजन होता हैं जिसको पके हुए चौबीस घण्टे से अधिक समय व्यतीत हो कुका हो। यद्यपि उस में प्रकट रूप में तो किसी प्रकार की दुर्गन्ध या विकार हुआ प्रतीत नहीं हुआ करता परन्तु उस में उन कीटाणुओं या रोगाणुओं के पड़े होने की सम्भावना, अवश्य होती हैं जो खुर्दबीन के विना नंगे नेत्रों से दिखाई नहीं देते हैं प्राय: देखा जाता कि कई तामसी लोग प्रात: उठ कर विना हाथ मुँह धोए रात की बासी रोटी खाना पसन्द करते हैं और फलस्वरूप कई प्रकार के रोगों का शिकार हो जाते हैं।

और भी प्राय: देखा जाता है व्याह शादियों में जो जूठा भोजन बच जाता है उस को दरिद्री लोग स्वादु समझ कर भक्षण करते हैं अब ऐसा भी देखने में आया है कि उसी जूठ को तामसी रसोइए पुन: पात्रों में एकत्रित कर लेते हैं और शुद्ध और पवित्र समझ कर घर पर आए हुए पाहुनों को परोस देते हैं। तामसी लोग एक ही थाली पर इकट्ठे बैठ कर एक दूसरे की जूठन खा जाते हैं जिससे कई प्रकार के संक्रामक रोग तपेदिक (क्षय रोग) आतशक आदि तथा रक्त-विकृति के रोग एक दूसरे को लग जाते हैं। इस एक थाली में खाने को वे प्यार का चिन्ह और भ्रातृपन समझ कर अनजाने में भयानक रोगों का शिकार हो जाते हैं।

अमेध्य भोजन उन पवित्र भोजनों को कहते हैं जो यज्ञों में प्रयुक्त नहीं किए जा सकते, सब प्रकार के मांस, सब प्रकार की शराबें, अण्डे, मछलियाँ और अन्य भ्रष्ट पदार्थ इन में सम्मिलित हैं। अफीम, चरस, तम्बाकू, पान, सिग्रेट, बीड़ी, भाँग और गाँजा आदि ये सब पदार्थ अमेध्य श्रेणी में ही गिने जाते हैं जो तामसी पुरुषों को अति प्रिय होते हैं। अत्यन्त तामसी बाहर रहने वाले जन जाति के लोग तो कछुवे, मेण्डक, सेही, गोधा, चूहे सब प्रकार के पक्षी, साँपों के मध्य भाग और गन्दगी धोकर निकाले हुए कीड़े भी खा जाते हैं तथा खाने पीने में उन को किसी प्रकार का विवेक ही नहीं होता। जिस से उनके कर्म अत्यन्त उग्र और भयानक होते हैं। इसी से भगवान् ने कहा है कि यातयाम, गतरस, पूति, पर्युषित, उच्छिष्ट और अमेध्य भोजन तामसी पुरुषों को प्रिय होते हैं जिन के भक्षण करने से वे उग्रकर्मा, क्रूर स्वभाव, चोर, उचक्के, कातल और डाकू आदि तामसी लोग भयानक कर्म किया करते हैं तथा परस्पर लड़ाई झगड़े और दंगे भी करते हैं। बुद्धिमानों की कोई बात नहीं सुनते। आग लगाना, दूसरों को विष देकर मारना। धौंस जमाना। व्यर्थ का शोर

मचाना। दूसरों को मार कर भी अपने को निर्दोष कहना। प्रत्येक के साथ अन्याय करना। अपनी मनमानी दूसरों पर लादना। चोर बाजारी करना, काला धन कमाना, जहाँ तक हो सके अकारण दूसरों को दु:खी करना, सदा खरमस्तियाँ करते रहना, चांगरें मारना, गधों और ऊँटों की तरह नाचना, सदा अभिमान से भरे रहना, राज्य-नियमों की अवहेलना करना, न आप जीना न औरों को जीने देना इत्यादि ये सब तामसी भोजन भक्षण करने वाले इन तामसी पुरुष के नित्य के कर्म हैं॥ १० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११ ॥

अफल+आकाङ्क्षिभि:+यज्ञ:+विधि-दृष्ट:+य:+इज्यते। यष्टव्यम्+एव+इति मन: समाधाय स:+सात्त्विक:॥

अफल+आकाङ्क्षिभि:=(वि०) न फलम् इच्छन्ति ये ते अफलाकाङ्क्षिन:, तै: (नञ् बहुव्री०)=फल की इच्छा न करने वालों द्वारा। फल को न चाहने वाले (पुरुषों) द्वारा।

यज्ञ:=(पुं० प्र० ए० व०) यज्ञ। शुभ कर्म।

विधि-दृष्ट:=(वि०) (शास्त्र) विधिना, विधानेन वा दृष्ट: (√दृश्+क्त+प्र० ए० व०=देखा हुआ)=शास्त्र की विधि या विधान के द्वारा नियत किया हुआ।

शास्त्र में देखे (पढ़े) हुए यज्ञ-विधान के अनुसार।

य:=यद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=जो।

इज्यते=√यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना)+कर्मवाच्य, लट्० प्र० पु०, ए० व०=यज्ञ किया जाता है।

यष्टव्यम्=(वि०)√यज=कर्मणि तव्यत्=(यज्ञ) करना ही कर्त्तव्य है। (यज्ञ) करना ही चाहिए।

इति=(अव्यय) ऐसे।

मन:=(नपुं०) मनस्+द्विती० ए० व०=मन को।

समाधाय=सम्-आ√धा (जुहो० उभ० सक०=रखना, स्थापित करना)+ल्यप्=समाधान करके। स्थापित करके। टिका कर।

स:=तद्=(सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

सात्त्विक:=(वि० पुं०, प्र० ए० व०) सात्त्विक (होता है)॥

अर्थ—फल की इच्छा न करने वालों द्वारा, शास्त्रों में देखे (पढ़े) हुए यज्ञ-विधान के अनुसार "यज्ञ करना ही चाहिए" इस प्रकार मन को टिका कर जो यज्ञ किया जाता है; वह यज्ञ सात्त्विक होता है॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अग्निहोत्रादि अनेक प्रकार के यज्ञों का वेद-शास्त्रों में विधान किया गया है। जो यज्ञ स्त्री, पुत्र, धन, धाम, धरती, मकान, मान प्रतिष्ठा, विजय, स्वर्ग-प्राप्ति, अपने अनिष्ठ की निवृत्ति, शत्रुओं की अनिष्ठ में प्रवृत्ति आदि अभिलाषाएँ मन में धारण करके किए जाते हैं, वे सब सकाम यज्ञ कहलाते हैं और उन के करने वाले फलाकाङ्क्षी होते हैं और इन फलाकाङ्क्षियों के किए हुए ये यज्ञ राक्षस या तामस श्रेणी के होते हैं। परन्तु जो यज्ञ उपरोक्त फलों की इच्छा न करने वालों द्वारा किए जाते हैं वे सात्त्विक होते हैं। किन्तु वे पूर्ण सात्त्विक तो तभी होते हैं। जब ये सब शास्त्र विधिपूर्वक किए जाते हैं क्योंकि मनमानी विधिपूर्वक किए हुए यज्ञ सात्त्विकी न होकर राजसी या तामसी ही होते हैं। यदि इन सात्त्विकी यज्ञों के करने को मनुष्य कर्त्तव्य समझ कर नहीं करता है तो ये यज्ञ निष्काम या फल की इच्छा से रहित होने के कारण मनुष्य इन को करने में वृथा श्रम समझेगा और इन के करने में प्रवृत्त ही नहीं होगा। इसलिए मनुष्य इन यज्ञों को तभी करता है जबकि वह इस बात का समाधान या दृढ़ निश्चय अपने मन में कर लेता है कि हमें फलेच्छा त्याग कर शास्त्र-विधि-अनुसार ही यज्ञ करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करना हमारा कर्त्तव्य है ऐसे यज्ञ को भगवान् ने सात्त्विक यज्ञ कहा है ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

अभिसंधाय तु फलम्+दम्भ+अर्थम्+अपि च+एव यत् । इज्यते भरत-श्रेष्ठ ! तम्+यज्ञम् विद्धि राजसम् ॥

अभिसन्धाय=अभि-सम्√धा (जुहो० उभ० सक०=स्थापित करना। थामना) +ल्यप्=उद्देश्य करके। मतलब रख कर।

तु=और। परन्तु।

फलम्=(नपुं०) द्विती० ए० व०+फल को।

दम्भ+अर्थम्=दम्भम् अर्थम् (द्विती० ए० व०)=दम्भ के लिये। पाखण्ड करने के लिये।

अपि=भी।

च=और।

एव=ही। भी।

यत्=यद् (सर्व०)+नपुं० प्र०, ए० व०=जो।

इज्यते=√यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना)+(कर्म०) लट्०, प्र० पु०, ए० व०=यज्ञ किया जाता है।

भरत-श्रेष्ठ !=(भरतानां श्रेष्ठः) सम्बो० ए० व०=हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन) ! ।

तम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उस को ।

यज्ञम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=यज्ञ को ।

विद्धि=विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) जान ।

राजसम्=(पुं०) रजस्+अण्+द्विती० ए० व०=राजस को । राजस । राजसी ।

अर्थ—परन्तु हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन) ! किसी फल को भी उद्देश्य करके और दम्भ (पाखण्ड) करने के लिये भी जो यज्ञ किया जाता है (तू) उस को राजसी यज्ञ जान ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम तो भरत वंश में सब से श्रेष्ठ पुरुष हो इसलिये तेरे द्वारा तो केवल सात्त्विक श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान ही किया जा सकता है। परन्तु मैं तो केवल तेरी जानकारी के हेतु और संसार की कल्याण के लिए राजसी यज्ञ के लक्षण वर्णन कर रहा हूं । राजसी यज्ञ करने वाले पुरुष की बुद्धि में निष्कर्मता का अभाव होता है और उसका यह उद्देश्य भी कभी नहीं होता कि यह यज्ञ मैं अपने कर्त्तव्य को करने के लिए कर रहा हूँ । वह तो इस यज्ञ को अपने किसी अनिष्ठ जैसे रोग या विपत्ति को दूर करने के लिये करता है । किसी विकट मुकद्दमे से छूटना चाहता है । अपनी आजीविका में सुधार चाहता है कृषि में अधिक उपज चाहता है । वाणिज व्यापार में अधिक लाभ की इच्छा करता है । धन का ढेर मांगता है । दूध देने वाले पशुओं की मांग करता है । सुन्दर और आलीशान कोठियों में रहने की कामना करता है । लोक-सभा का सदस्य बनने के लिये यज्ञ करता है । पुत्र की कामना करता है, प्रभुता की इच्छा करता है । मान-बड़ाई चाहता है । यश और कीर्त्ति की अभिलाषा करता है । सुन्दर और सुशील रमणी से रमण करने की वासना करता है । मरने के बाद स्वर्ग पाने की भी आशा करता है इस प्रकार अनेक सांसारिक सुखों और इन्द्रिय-भोगों की कामना और स्वर्ग-प्राप्ति की अभिलाषा ये राजसी लोग यज्ञ किया करते हैं तथा वे इन यज्ञों-दानों और अखण्ड पाठों आदियों द्वारा भगवान् को भी धोखा देने का यत्न करते हैं और संसार में दम्भ और पाखण्ड का प्रदर्शन भी करते हैं क्योंकि उन की इस यज्ञ कर्म के करने में श्रद्धा तो होती ही नहीं है और न ही वे इसे अपना कर्त्तव्य या धर्म समझ कर करते हैं । वे तो इस के द्वारा संसार के रहने वालों को धर्मात्मा-पन दिखाना चाहते हैं । गधे की तरह शेर की खाल पहन कर शेर बनने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु बुद्धिमान् लोग बाहर निकले हुए कान देख कर उन के इस दम्भ और

पाखण्ड को ताड़ जाते हैं और उन के इस राजसी यज्ञ की पहचान कर लेते हैं। कोई गीदड़ दैव-योग से किसी नीलारी के मटके में गिर कर रंगा गया था जिस मे उस ने उस नीली देह की सहायता से अपने आप को वन पशुओं का राजा प्रदर्शित और घोषित किया था। परन्तु ये राजसी लोग स्वेच्छा से अपनी देह को स्वयं रंग कर राजा बनने का दंभ या पाखण्ड करते हैं अर्थात् दम्भ और पाखंड के प्रदर्शन के निमित्त ही इन यज्ञों, दानों और पाठों का अनुष्ठान करते हैं। कहने का भाव यह है कि जो यज्ञ किसी विशेष कामना प्रदर्शन और दम्भ से किए जाते हैं वे राजस यज्ञ होते हैं और उनके करने वाले लोगों का स्वभाव राजसी होता है ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धा विरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

विधि-हीनम्+असृष्ट+अन्नम्+मन्त्र-हीनम्+अदक्षिणम् । श्रद्धा-विरहितम्+यज्ञम्+तामसम्+परिचक्षते ॥

विधि-हीनम्=(वि०) शास्त्रविधिना हीनम् (तृती० तत्पु०)=शास्त्र-विधि से हीन। (पुं० द्वि० ए० व०)

असृष्ट+अन्नम्=(पुं० द्विती०, ए० व०) साधु-ब्राह्मणेभ्यो न सृष्टं (न दत्तं) अन्नं यस्मिन् यज्ञे सः (बहुव्री०)=साधु-ब्राह्मणों को भोजन वितरण न किए हुए को।

[न-सृष्ट (√सृज्+क्त)=न छोड़े हुए। न दान किए हुए। न दिए हुए। न विसर्जन किए हुए। न अर्पण किए हुए।] अन्न-दान से रहित को।

अन्नम्=(नपुं०) अनिति अनेन इति √अन्+तन्। अथवा अद्यते √अद्+क्त=अन्न+द्विती० ए० व०=भोजन वाले को।] असृष्ट-अन्नः तम् (यज्ञम्)।

मन्त्र-हीनम्=(वि०) मन्त्रतः (स्वरतो वर्णतः च) हीनम् (वियुक्तम्)=मन्त्र, स्वर और वर्ण से रहित को। मन्त्र हीन को (द्विती० ए० व०)।

अदक्षिणम्=(वि०) न दक्षिणा दत्ता यस्मिन् तम् (बहुव्री०)। दक्षिणा रहित को।

[दक्षिणा=(स्त्री०) दक्षिण+आच्=यज्ञ, दानकर्म आदि के अन्त में ब्राह्मणों और पुरोहितों को दिया जाने वाला द्रव्य।] (द्विती० ए० व०)

श्रद्धा-विरहितम्=(वि०) श्रद्धा विरहित को। नास्ति श्रद्धा यस्मिन् तं (यज्ञम्) =श्रद्धा रहित को। (द्विती० ए० व०)। [वि√रह्+क्त=विरहित =विहीन।]

यज्ञम्=(पुं०) यज्ञ+द्वितीο एο वο=यज्ञ को।

तामसम्=(पुं०, नपुं०, द्वितीο एο वο, प्रο एο वο) तामस। तामसी। तमो गुण से युक्त।

परिचक्षते=परि√चक्ष् (अदाο आत्मο सकο=कहना)+लट्ο प्रο पुο, बο वο=कहते हैं। (कथयन्ति)।

अर्थ शास्त्र-विधि से हीन, (साधु ब्राह्मणों आदियों को) भोजन न वितरण किए हुए, वेद-मन्त्रों (के पढ़े जाने) से रहित, (देने योग्य) दक्षिणा से रहित, और श्रद्धा से शून्य यज्ञ को तामस (यज्ञ) कहते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार पशु-पक्षियों के विवाह के लिए कामवासना के अतिरिक्त न किसी यजमान की आवश्यकता होती है, न किसी विवाह करवाने वाले उपाध्याय या पुरोहित की, तथा न किसी वेदी की, न हवन-कुण्ड की और न किसी विवाह सम्बन्धी सामग्री की। न कोई मन्त्र पढ़ा जाता है। न किसी को भोजन खिलाया जाता है न किसी को दक्षिणा दी जाती है। न किसी प्रकार की श्रद्धा की ही आवष्यकता होती है। इसी प्रकार तामस पुरुषों द्वारा किये गये यज्ञों में भी प्रथम तो किसी शास्त्र विधि की परवाह ही नहीं की जाती। यदि किसी के कहने सुनने पर शास्त्र पर चलने का विचार भी किया जाता है तो वह सब पुरश्चंरण शास्त्र विधि के विरुद्ध हठ पूर्वक किया जाता है। कहते हैं कि कोई पुरुष बहुत धर्मात्मा और सात्त्विक स्वभाव वाला था परन्तु उसकी श्रीमती जी अति हठित और तामसी स्वभाव वाली थी पति जो कुछ कहता था पत्नी सदा उस से विपरीत कार्य किया करती थी। एक बार पति की इच्छा हुई कि घर में यज्ञ किया जाये परन्तु वह अपनी पत्नी के उल्टे काम करने के स्वभाव को जानता था। इसलिए उस ने श्रीमती जी से कहा—कि हमें कभी यज्ञ नहीं करना चाहिए क्योंकि यज्ञ करने से व्यर्थ धन व्यय होता है और घी आदि बहुत सी सामग्री व्यर्थ फूंक दी जाती है। यह सुन कर पत्नी बोली कि इस घर में कल ही यज्ञ होगा, फिर वह बोला तो यज्ञ में मन्त्र न पढ़े जायेंगे। वह बोली क्यों नहीं। सब कुछ होगा। इस प्रकार पति ने अपनी बुद्धिमत्ता से दूसरे दिन सारा यज्ञ करवा लिया। परन्तु तब उस से यह चूक हो गई वह कहने लगा कि अब ब्राह्मणों को बुला कर भोजन करवा दिया जाये। इस बात को सुन कर पत्नी भड़क उठी और बोली कि ब्राह्मण हमारे श्याले लगते हैं जिन को भोजन खिलाया जायेगा। यह सब भोजन तो कुत्ते कौए, गौएँ और हमारे अपने परिवार के लोग ही खाएँगे। तब उस समय उसकी पत्नी के हठानुसार वैसा ही करना पड़ा।

सब तामसी स्वभाव वाले लोग लगभग इसी प्रकार के हठ वाले और दुष्ट होते हैं क्योंकि वे लोग अपने व्यवहार में किसी प्रकार की बाधा देखना

पसन्द नहीं करते। कारण यह कि वे स्वेच्छाचारी होते हैं। उन्हें विधि निषेध की न कोई खबर होती है और न उन की कोई परवाह होती है और न वेद-मन्त्र ही उन को मान्य होते हैं। जिस प्रकार किसी निस्सन्तान और लावारिस के मर जाने पर आने जाने वाले धूर्त्त लोग उस के घर को लूट लेते हैं इसी प्रकार इन तामसी मूढ़ों को झूठे धर्मों, मतों और पन्थों का थोड़ा बहुत चमत्कार और आडम्बर दिखा कर लूट लेते हैं और इन से यज्ञों के नाम पर कई प्रकार के पूजा पाठ और भ्रम-मूलक कर्म करवाते हैं जिस से इन अक्ल के अन्धे और गाँठ के पूरे बुद्धुओं को जी भर कर लूटते हैं। इन विधि हीन, असृष्टान्न मन्त्र हीन, अदक्षिण और श्रद्धा विरहित तामस यज्ञों के करने से इन को न इस लोक में कोई लाभ होता है और न परलोक ही सुधरता है क्योंकि कोई यज्ञ शास्त्र विधि द्वारा न होने से मनमाने ढंग से किया हुआ करने वाले के लिए श्रेयस्कर नहीं हुआ करता और फिर जिस यज्ञ में सत्पुरुष भोजन ही न करें केवल पापी, अपराधी, बच्चों तथा अबलाओं के कातल, शराबी, कबाबी दम्भी, दर्पी, और अभिमानी और नाना प्रकार के पापों के सदा करने वाले ही खाने वाले हों यदि वे यज्ञ नाश के करने वाले और इहलोक तथा परलोक के बिगाड़ने वाले न हों, तो और क्या होंगे? जिन यज्ञों में विधि पूर्वक उदत्तादि-स्वरों, ककारादि-अक्षरों तथा शुद्ध उच्चारण सहित समयानुसार वेद मन्त्र न पढ़े गए हों वे यज्ञ भी तामस यज्ञ कहलाते हैं। जिन यज्ञों में कर्म कराने वाले तथा भोजन करने वाले सत्पुरुषों को द्रव्य रूप में दक्षिणा नहीं दी जाती वे यज्ञ भी तामस यज्ञ ही होते हैं। जो यज्ञ बिना श्रद्धा केवल दूसरों के कहने सुनने या मजबूर करने या नाक कट जाने के डर से किए जाते हैं। उन में न यज्ञ करने वालों की श्रद्धा होती है। न परलोक पर ही विश्वास होता है तथा न परमेश्वर पर ही भरोसा होता है। एवं न कराने वाले में ही निष्ठा होती है। वह तो इस यज्ञ को करके बाद में पछताया करते हैं और उस में व्यय किया हुआ धन व्यर्थ गया समझते हैं। इस तरह के श्रद्धा रहित यज्ञ को भी तामस यज्ञ ही कहा जाता है। इस प्रकार पाँच उपरोक्त विशेषणों से युक्त यज्ञ को भगवान् ने तामस यज्ञ कहा है इन पाँच में से एक दोष के होने पर भी यज्ञ तामस संज्ञक हो जाता है। जैसे मेघ नाद का यज्ञ रामायण में वर्णित है—

सुरत मयल गिरिवर कंदरा। करउ अजय मख अस मनधरा ॥
मेघनाद मख करई अपावन। खल मायानी देव-सतावन ॥
जाइ कपिन सो देखा वैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ॥
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम्+शौचम्+आर्जवम् । ब्रह्म-चर्यम्+अहिंसा च शारीरम्+तपः+उच्यते ॥

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम=(नपुं, प्र० ए० व०) देवाः च द्विजाः च गुरवः च प्राज्ञाः च=देवद्विगुरुप्राज्ञाः तेषां पूजनम् (इतरेतर द्वन्द्व०, षष्ठी० तत्पु०) =देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुओं (माता, पिता, आचार्य, वृद्धों और अपने बड़ों) का पूजन (सत्कार)।

[√दिव+अच्=देव=देवता।

द्विज्=(पुं०) द्वाभ्यां जन्म-संस्काराभ्यां जायते, √द्वि० √जन्+ड् =दो बार उत्पन्न हुआ, एक बार माता के उदर से दूसरी बार संस्कारों से (अर्थात् ब्रह्म रूप पिता से) ब्राह्मण (ब्रह्म का पुत्र)। अपने आप को ब्रह्म का ही पुत्र समझने वाला ब्रह्म ज्ञानी पुरुष (ब्राह्मण)।

गुरु=(पुं०) गृणाति (उपदिशति) धर्मं, गिरति अज्ञानं वा, यद्वा गीर्यते (स्तूयते) देवगन्धर्वादिभिः √गृ+कु-उत्व=गुरु (माता, पिता, आचार्य, वृद्ध और अपने से किसी प्रकार से भी बड़े)

प्राज्ञ=(पुं०) प्रकर्षेण जानाति, प्र√ज्ञा+क+स्वार्थे अण्। "प्रज्ञा अस्ति अस्य इति अण्"। बहुत जानने वाला। पण्डित। विद्वान्। बुद्धिमान। ज्ञानी।

पूजनम्=(नपुं०)√पूज्+ल्युट्+प्र० ए० व०=पूजने की क्रिया। पूजन। सम्मान।]

शौचम्=(नपुं०) शुचेर्भावः+अण्=शौच+प्र० ए० व०। पवित्रता। शुद्धि। शौच।

आर्जवम्=(नपुं०)√ऋज्+कु=ऋजु+अण्=आर्जव+प्र० ए० व० =सरलता।

ब्रह्म-चर्यम्=(नपुं०) ब्रह्मणे (वेद लाभाय) चर्यते, ब्रह्म-√चर्+यत् =ब्रह्मचर्य+प्र० ए० व०=ब्रह्मचर्यम्। ब्रह्मचारी पन। स्त्री संभोग से रहित होना।

अहिंसा=(स्त्री०) नञ् तत्पु० । किसी प्राणी को न मारना। मन, वचन, कर्म से किसी प्राणी को पीड़ा न देना। (प्र० ए० व०)।

च=और।

शारीरम्=(नपुं०) शरीर+अण्+प्र० ए० व०=शारीरिक । शरीर सम्बन्धी।

तपः=(पुं०)√तप्+अच्+प्र० ए० व०=तपस्या। तप।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+कर्म०, लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है। कहलाता है॥

अर्थ—देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुओं (पूज्यों), और बुद्धिमानों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा (यह सब गुण समूह) शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—इस से पूर्व छः श्लोकों में भगवान् ने तीन प्रकार के आहारों और तीन प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है, अब यहाँ से छः श्लोकों में कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के तपों का वर्णन करके फिर उन सब के सात्त्विक, राजस और तामस रूप दर्शाये गये हैं।

भगवान् बोले। हे अर्जुन ! अब तुम शरीर-सम्बन्धी तप का स्वरूप मुझ से ध्यानपूर्वक सुनो—

इस शारीरिक तप में सब से पूर्व पहला स्थान देव-पूजन का है—देव या देवता लोग अनेक हैं जो परब्रह्म परमेश्वर के मूर्तिमान् स्वरूप माने जाते हैं। इन में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, लक्ष्मी, भवानी, सरस्वती, इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि सब की पूजा अर्चा की जाती है सब शुभ कार्यों के प्रारम्भ काल में मण्डल रचकर इन सब देवताओं का आवाहन करके षोडश उपचारों से उन की पूजा करनी चाहिए और जहाँ कहीं भी इन देवताओं की प्रतिमा या स्वरूप दृष्टिगोचर हों। उन्हें परब्रह्म का स्वरूप जान कर पूरे सत्कार से झुककर नमस्कार करना चाहिए और सर्वत्र इन देवताओं का दर्शन करना चाहिए तथा उन को अपने सहायक जानना चाहिए इस प्रकार का देव पूजन कायिक तप का पहला अंग है।

इस कायिक तप का दूसरा अंग ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मस्वरूप, सदाचारी, पवित्र आत्मा द्विजों का पूजन है, द्विज उन लोगों का नाम है जो संस्कार होने, वेद पढ़ने, तप करने और पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति से परम-पूज्य और परम पवित्र हो चुके हों। यों तो सब पुरुष जन्म से शूद्र ही होते हैं क्योंकि वे दुनियादारों के पुत्र होते हैं परन्तु जब उन में से कुछ लोग पूर्वले शुभ कर्मों के अधिक संचय के कारण इस संसार में शुभ संस्कारों और ब्रह्म-ज्ञान को पाकर ब्रह्म-पुत्र या ब्रह्म-स्वरूप हो जाते हैं, तो वे ब्राह्मण कहलाते हैं इन ब्राह्मणों का पूजन करना इस कायिक तप का दूसरा अंग है। इस कायिक तप का तीसरा अंग गुरु-पूजन है, माता, पिता, शिक्षक, वृद्ध और किसी गुण में भी अपने से बढ़े हुए लोग गुरु कहलाते हैं, उनके चरणों का स्पर्श, उन को झुक कर प्रणाम करना तथा उन की सेवा और सत्कार आदि करना एवं उन का पालन करना यह सब कुछ गुरु-पूजन कहलाता है ॥

शारीरिक तप का चौथा अंग प्राज्ञ-पूजन है। इस में सब जातियों के उन स्त्री पुरुषों का पूजन और सत्कार करना कहा गया है जो नामा, रैदास, कबीर, धन्ना, मियाँ मीर, बुल्ले शाह और मीरा बाई आदि के रूप में ब्रह्मज्ञानी हो कर

ब्रह्मस्वरूप बन चुके हों। इन को ऐसी प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है—"मैं ही ब्रह्म हूँ", "ब्रह्म से भिन्न कहीं भी और कुछ नहीं है।" इसी से ये लोग प्राज्ञ कहलाते हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है – स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परांगतिम् ॥" अर्थात् "ब्रह्मज्ञानी या प्राज्ञ वन जाने पर—स्त्री, वैश्य और शूद्र आदि सभी लोग परम गति या मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं" इस लिए जन्म काल में भी उन का पूजन और सत्कार करना कायिक तप का चौथा अंग माना जाता है।

इस तप का पाँचवाँ अंग शरीर की भीतर बाहर से शुद्धि रखना है। शरीर भगवान् के निवास करने का सोने का एक मन्दिर है और इसे शुद्ध, साफ, सुथरा और नीरोग रखने का प्रयत्न करना भगवान् को प्रसन्न करना है। जिसके लिए नित्य, प्रात:काल सूर्य चढ़ने से बहुत पहले उठना, शौच जाकर दातुन और स्नान करना, सन्ध्या-वन्दन तथा प्रभु-ध्यान करके शुद्ध स्वचछ वस्त्र धारण करना, बाल और नाखुन कटवा कर रखना, समय पर भोजन करना, समय पर सो जाना तथा समय पर जाग उठना आदि ये सब शौच या शरीर की शुद्धि, स्वच्छता और स्वास्थ्य के उत्तम साधन हैं। इन से आयु दीर्घ होती है और फिर मोक्ष-प्राप्ति सहज और सुगम हो जाती है।

कायिक तप का छठा अंग आर्जव है अर्थात् शरीर की किसी भी क्रिया में कुटिलता या छल-बल का अभाव होना, आर्जव है। ये शरीर की उन सब क्रियाओं का नाम है जिन में अकड़ना, ऐंठ दिखाना, मूछों को साँढ के सीगों के आकार में बना कर रखना, डाड़ी को चीप लगा कर ठाठा बाँधना, मुख, नासिका और नेत्रों को टेढ़े-मेढ़े बना कर दूसरों का निरादर सूचक बनना, हँसी, वचन और भ्रूभंग से दूसरों में कामवासना जागृत करना, मुक्के दिखाना, दान्त पीसना, नेत्र चौड़े और लाल करके दूसरों को ताकना इत्यादि शारीरिक कुटिलता के लक्षण होते हैं। इन सब से रहित होने का नाम ही कायिक-आर्जव है और यह आर्जव ही शारीरिक-तप का छठा अंग है।

इस तप का सातवां अंग या लक्षण ब्रह्मचर्य है। शास्त्र-निषिद्ध सब प्रकार के मैथुनों से रहित रहना और शमदमादि साधनों से सम्पन्न हो कर वेदाध्यन करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। इससे मनुष्य के तन, मन पवित्र होते हैं। धन की रक्षा होती है और शरीर स्वस्थ रह कर कुन्दन की तरह दमकता रहता है।

इस कायिक तप का आठवाँ और अन्तिम साधन अहिंसा है अर्थात् किसी भी प्राणी को मन, वचन और शरीर से दु:ख न देना चाहिए। इस प्रकार ये आठ साधन शरीर के तप के कहे गये हैं॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५ ॥

अनुद्वेग-करम्+वाक्यम्+सत्यम्+प्रिय-हितम्+च यत् । स्वाध्याय+अभ्यसनम्+च+एव वाङ्मयम्+तपः+उच्यते ॥

अनुद्वेग करम्=(नपुं०. वि०) (प्राणिनां) न उद्वेगं (दुःखं) करम्=प्राणियों के अन्तःकरणों में उद्वेग (दुःख) उत्पन्न न करने वाला । अदुःख कर ।

[अनुद्वेग=(पुं०, नञ् तत्पु०) उद्√विज्+घञ्=घबराहट । दुःख, भय ।

करम्=(नपुं० प्र० ए०)√कृ+अप् वा अच्=करने वाला ।] उद्वेग को न करने वाला ।

वाक्यम्=(नपुं०)√वच्+ण्यत्+प्र० ए० व०=वचन । वाक्य । कथन । सार्थक शब्दों का वह समूह जिस को सुनने या पढ़ने से दूसरे का आशय भली भान्ति समझ में आ जाता है ॥

सत्यम्=(वि० नपुं०) सते हितम्, सत्+यत्+प्र० ए० व०=यथार्थ । ठीक । सत्य ।

[मन और इन्द्रियों द्वारा जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा ही कहना 'सत्य' या 'यथार्थ' कहलाता है ।]

प्रिय-हितम्=(नपुं०) प्रियं च हितं च (द्वन्द्व०)=प्रिय और हित कर ।

च=और ।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो ।

स्वाध्याय+अभ्यसनम्=(नपुं०) स्वाध्यायस्य अभ्यसनम् (षष्ठी० तत्पु०) स्वाध्याय का अभ्यास । वेद शास्त्रों को सदा पढ़ने का अभ्यसन होना ।

[स्वाध्याय=(पुं०) स्व+अधि√इङ्+घञ् ।

अभ्यसनम्=(नपुं०) अभि√अस्+ल्युट्+प्र० ए० व० ।]

च=(अव्यय) और ।

एव=ही । ऐसे ही । निःसन्देह ।

वाङ्मयम्=(वि०) नपुं० प्र० ए० व० । √वच्+क्विप्, दीर्घ, असम्प्रसारण =वाच् (स्त्री०) [उच्यतेऽसौ अनया वा]+मयट्=वाङ्मय=वाणी सम्बन्धी । वाचक ।

तपः=(पुं०)√तप्+अच्+प्र० ए० व०=तपस्या । तप ।

उच्यते=√वच्+कर्मवाच्य, लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है ॥

अर्थ—जो सत्य (यथार्थ), प्रिय, हितकर और (प्राणियों के अन्तःकरण में) उद्वेग (दुःख, घबराहट) को न उत्पन्न करने वाला वाक्य है तथा (सदा वेद-शास्त्रों को) पढ़ने का अभ्यसन है, वह ही वाणी सम्बन्धी तप कहा गया है ॥ १५ ॥

व्याख्या—भगवान् बोले ! हे अर्जुन ! जो पुरुष कभी कोई ऐसा वाक्य अपने मुख से उच्चारण नहीं करता, जिस के द्वारा सुनने वालों के मन में किसी प्रकार की घबराहट, दु:ख, क्रोध या शत्रु-भावना उत्पन्न होती है और स्वयं भी उसके बोलने पर उसे दु:खी होना हो या पछताना पड़ता हो। बल्कि इस के विपरीत सदा ऐसे वचन सोच समझ कर बोलता हो, जिस से दूसरों के अन्तरात्मा शान्त प्रसन्न और अमृतमय हो जाते हैं तथा सदा सत्य ही बोलता है अर्थात् जैसा देखा है, जैसा सुना है और जैसा अनुभव किया है, वैसा यथार्थ ही कहता है। परन्तु वह सत्य भी ऐसा नहीं कहता जो दूसरों को कड़वा लगने वाला हो तथा दूसरे का बुरा करने वाला हो। इसके विपरीत उसका वह कथन सब को प्रिय होता है और सब का हितकर होता है। वेद शास्त्रों के अनुकूल होता है। वाणी सम्बन्धी तप करने वाला पुरुष भगवान् मनु द्वारा कहे हुए इस वचन पर आचरण करता है—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥" (मनु० ४।१३८।)

अर्थात् सदा सत्य बोलना चाहिए। परन्तु अप्रिय सत्य न बोलना चाहिए। प्रिय वचन तो अवश्य कहा जाये परन्तु उसमें झूठ का अंशमात्र भी मेल न हो। अर्थात् कहा हुआ वचन सच्चा, प्रिय और दूसरों के लिये हितकर होना चाहिए। यही सनातन धर्म है। एक हिन्दी कवि ने कहा है—

वाणी तो अनमोल है, जे को जाने बोल।
हिये तरजू तोल कै, मुख से बाहर खोल॥

अर्थात् वाङ्मय तप द्वारा पवित्र की हुई वाणी तब अति अनमोल होती है, जब कोई पुरुष उसे सच्ची, प्यारी, हितकारी और दूसरों के अन्तःकरणों को शीतल करने वाली बना कर बोलना जानता हो। इस आर्ट या विशेष गुण की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक नियम है कि बोलने से पहले अपनी वाणी को सोना, जवाहरात और हीरे तोलने वाली हृदय रूपी तराजू में तोल लेना चाहिए। यह गुण तभी उत्पन्न होता है, जब पुरुष को वेद-वेदाङ्ग, उपनिषद्, स्मृति और पुराणादि के पढ़ने का अभ्यास हो और उनकी उक्तियाँ और सूक्तियाँ उसकी जिह्वा पर चढ़ी हुई और कण्ठस्थ हो चुकी हों। इस वाणी सम्बन्धी तप द्वारा पुरुष सबका प्रिय हो जाता है, कहा भी है—

कागा काको धन हरै, कोयल काको देय।
मीठे वचन सुनाइ कै, जग अपनो कर लेय॥

इस श्लोक में कहे हुए पाँचों गुणों से वाणी के सब दोष नष्ट हो जाते हैं और वह हरिनाम के जप द्वारा मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करवा देती है॥ १५॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वम्+मौनम्+आत्म-विनिग्रहः । भाव-संशुद्धिः+इति+एतत्+तपः+मानसम्+उच्यते ॥

मनः-प्रसादः=(पु०) मनसः प्रसादः (षष्ठी० तत्पु०)=मन की प्रसन्नता ।

[मनस्=(नपुं०) मन्यते बुध्यते अनेन √मन्+असुन्=मनस् ।

प्रसाद=(पुं०) प्र√सद्+घञ्+प्र० ए०व०=प्रसादः=प्रसन्नता । शान्ति । स्वच्छता ।] मन की स्वस्थावस्था ।

सौम्यत्वम्=(वि० नपुं०) सोम+ड्यण्, अथवा सोम+य+अण्=सौम्य+त्व+प्र० ए० व०=सौम्यत्वम्=सौम्य भाव । कोमल स्वभाव । शान्त भाव । सौम्यता । (मन की) कोमलता । सौम्यत्व । सुमनसता ।

मौनम्=(नपुं०) मुनेः भावः, मुनि+अण्+प्र० ए० व०=मन का संयम । मन की एकाग्रता । चुप रहना । वाक्-इन्द्रिय के संयम का हेतुभूत मन का संयम ।

आत्म-विनिग्रहः=(पुं०) आत्मनः विनिग्रहः । (षष्ठी० तत्पु०)=मन का निग्रह ।

[विनिग्रहः=(पुं०) वि-नि√ग्रह्+अप्+प्र० ए० व०=संयम । दमन ।]

भाव-संशुद्धिः=(पुं०) भावस्य संशुद्धिः (षष्ठी० तत्पु०)=अन्तर की पवित्रता । अन्तःकरण की निश्चलता । भाव की संशुद्धि (प्र० ए० व०) ।

इति=इस प्रकार ।

एतत्=एतद् (सर्वं०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह ।

तपः=(पुं०)√तप्+अच्=प्र० ए० व०=तपस्या । तप । साधना ।

मानसम्=(नपुं०) मनस+(तस्येदम्) अण्+प्र० ए० व०=मन सम्बन्धी । मानस । मन का ।

उच्यते=√वच्+कर्मं०, लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा गया है ॥

अर्थ—मन की प्रसन्नता, (मन की) सौम्यता, (वाणी विषयक) मन का संयम, (सामान्य भाव से) मन का संयम और मन की पवित्रता । इस प्रकार से से यह पाँच अंगों वाला) मन सम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १६ ॥

व्याख्या—मन में सदा प्रसन्नता का भरा रहना मन का प्रसाद कहलाता है । जिस पुरुष में यह गुण होता है वह संसार के सब दुःख-सुखों से अतीत हो जाता है । उस के मुख-मण्डल पर सदा शान्ति झलकती रहती है और चेहरा

सदा कमल के पुष्प की भान्ति विकसित रहता है। दूसरा गुण उसमें अन्तःकरण की सौम्यता अर्थात् मन की कोमलता होता है, वह निर्भय और मन का स्वस्थ होने से सब के हित की इच्छा करता है और सर्वोदय चाहता है, जैसा कि सन्त विनोवा भावे आदि बहुत से महात्माओं में यह गुण अत्युत्तम रूप में विद्यमान् हैं, जिन्हों ने सैंकड़ों भयंकर और हिंसक डाकुओं को शान्ति-प्रिय नागरिक बना देने का महान् पुण्यकर्म किया है। मानसिक तप का तीसरा अंग वाणी विषयक मन का संयम है, अर्थात् मन में निरन्तर ईश्वर की सत्ता-सम्पन्न मूर्ति का ध्यान करना परन्तु मुंह से कुछ न कहना, यह मन का मौन कहलाता है। जिस प्रकार तरंगों के न रहने पर सरोवर, मेघों के नष्ट हो जाने पर नभ-मण्डल, सर्पों के न रहने पर चन्दन-वन, चिन्ताओं के न रहने पर राजा और मथने वाले मन्दिर-पर्वत के दूर हट जाने पर सागर शान्त हो जाता है। इसी प्रकार भान्ति-भान्ति के संकल्पों के नष्ट हो जाने पर मन प्रशान्त और मौन-धारी बन कर आत्म-स्वरूप में स्थिर हो जाता है, जिस प्रकार मनुष्य का कोई अवयव सर्दी से सुन्न हो कर स्पर्श ज्ञान से रहित हो जाता है। इसी प्रकार मन भी प्रशान्त हो कर सम्पूर्ण भीतर बाहर के विषयों के ज्ञान से रहित हो कर उन से अनभिज्ञ हो जाता है। इस अवस्था में मन की चंचलता का अन्त हो जाता है और केवल आत्म-बोध ही शेष रह जाता है। यही मन के तप की चौथी अवस्था है, इसी को आत्म-विनिग्रह कहते हैं। इस मानस तप का पाँचवां गुण मन की स्वच्छता, निर्मलता और शुद्धि होता है, उस समय आत्म-स्वरूप मन में इसी प्रकार निर्मल-जल वाले सरोवर का तल और मनुष्य का अपना प्रतिबिम्ब दोनों दिखाई देने लगते हैं अर्थात् इस स्वच्छ मानस-सरोवर में ईश्वर का साक्षात्कार निरन्तर होने लगता है और यह पुरुष पुकार उठता है—

"परमेश्वर तेथों वक्ख नहीं, पर देखन वाली अक्ख नहीं।" परन्तु जब यह ज्ञान चक्षु प्राप्त हो जाता है, तब प्रसाद-युक्त, सौम्यता वाले, मौनधारी, अच्छी तरह से संयमन किए हुए तथा भली-भान्ति स्वच्छ निर्मल और शुद्धमन में ईश्वर के निरन्तर दर्शन होते हैं इसी का नाम मानस-तप है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

श्रद्धया परया तप्तम्+तपः+तत्+त्रि-विधम्+नरैः। अफल+आकांक्षिभिः+युक्तैः सात्त्विकम्+परिचक्षते ॥

श्रद्धया=(स्त्री०) श्रत् (अव्यय)√धा+अङ्-टाप्=श्रद्धा+तृती० ए० व०= श्रद्धा। आस्तिक्य-बुद्धि द्वारा। पूज्य भाव से। पूर्ण विश्वास से।

परया=(वि० स्त्री०)√पृ+अच्-टाप्=परा+तृती० ए० व०। परम से। बड़ी द्वारा। महान् से। महती से।

तप्तम्=(वि०, नपुं०)√तप् (भ्वा० पर० अक०=तपना)+क्त=तप्त+प्र० ए० व०=तपा हुआ। किया हुआ।

तपः=(नपुं०)√तप्+असुन्=तपस्+द्वितीo ए० व०=तप को।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्वितीo ए० व०=उस (पूर्वोक्त) को।

त्रि-विधम्=(वि० नपुं० द्वितीo ए० व०)=तीन प्रकार के, को। (कायिक, वाचिक, और मानसिक, उन भेदों से) तीन तरह के, को।

नरैः=(पुं०)√नृ+अच्=नर+तृतीo ब० व०=नरों द्वारा। पुरुषों द्वारा। लोगों से।

अफल+आकांक्षिभिः=(वि० पुं०) फलस्य आकांक्षा-रहितैः=फल की इच्छा न करने वालों द्वारा। (तृतीo ब० व०) [आकांक्षाभिः=आ√काङ्क्ष +अ-टाप्=आकाङ्क्षा (स्त्री०)+इन् [आकांक्षा अस्य अस्मिन् वा अस्ति सः]=आकांक्षिन्+तृतीo ब० व०=इच्छा वालों द्वारा।]

फल की आकाङ्क्षा न करने वालों द्वारा।

युक्तैः=(वि० पुं०)√युज्+क्त+तृतीo ब० व०=जुड़े हुओं द्वारा। निरन्तर ईश्वर-ध्यान में युक्त हुओं द्वारा। निष्काम योगियों द्वारा।

सात्त्विकम्=(वि०, नपुं०, प्र०, ए० व०)=सात्त्विक।

परिचक्षते=परि√चक्ष् (अदा० आत्म० सक०=कहना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=कहते हैं। (कथयन्ति)।

अर्थ—फल की आकांक्षा न करने वाले, युक्त (अर्थात् निरन्तर ईश्वर ध्यान में जुड़े हुए) पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि) से किए हुए उस (पूर्वोक्त-कायिक, वाचिक और मानसिक) तीन प्रकार के तप को (महा पुरुष) सात्त्विक (तप) कहते हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या—सब जगह ईश्वर को हाज़र-नाज़र (विद्यमान-द्रष्टा) जानने वाले, अपने भीतर बाहर उसी को देखने वाले तथा सदैव उसी के ध्यान में लीन रहने वाले लोग युक्त कहलाते हैं ऐसे प्रभु-ध्यान में जुड़े हुए, फल की इच्छा न रख कर तप करने वाले पुरुषों द्वारा, परम श्रद्धा, पूर्ण विश्वास और आस्तिक बुद्धि से किया हुआ शरीर-सम्बन्धी, वाणी-सम्बन्धी और मन सम्बन्धी तीनों प्रकार का तप सात्त्विक तप कहलाता है ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

सत्कार-मान-पूजा+अर्थम्+तपः+दम्भेन च+एव यत्। क्रियते तत्+इह प्रोक्तम्+राजसम्+चलम्+अध्रुवम् ॥

सत्कार-मान-पूजा+अर्थम्=सत्कारः च मानः च पूजा च तेभ्यः अर्थम् (द्वन्द्व०) =सत्कार, मान और पूजा के लिए। ["सत्कार=(पुं०) सत्√कृ+घञ्। ["यह बहुत श्रेष्ठ पुरुष है।" बहुत बड़ा तपस्वी पुरुष है।" "श्रेष्ठ ब्राह्मण है" इत्यादि इस प्रकार जो बड़ाई की जाती है, उस का नाम "सत्कार" है। मन से आदर सत्कार। मान=(पुं०)√मान् (चुरा० पर० सक० =पूजा करना)+घञ्=मान। सम्मान। प्रतिष्ठा। "आते हुए को देख कर खड़े हो जाना।" "प्रणाम करना।" "चरण छूना।" "अर्घ देकर आसन पर बिठाना।" इत्यादि सम्मान का नाम मान है। वाणी से प्रशंसा।

पूजा=(स्त्री०)√पूज् (चुरा० पर० सक०=पूजन करना)+अ-टाप्= पूजा। "पैर धोना।" "पुष्प माला पहनाना।" "अर्चन करना।" "भोजन कराना।" और "दक्षिणा-दान देना।" आदि शरीर से नमस्कारादि। उपचार का नाम पूजा है।

अर्थम्=(अव्यय) के लिए]

तपः=(नपुं०) तपस्+प्र० ए० व०=तपस्या। तप।

दम्भेन=(पुं०)√दम्भ् (स्वा० पर० अक०=पाखण्ड करना)+तृती ए० व० =पाखण्ड से। आडम्बर द्वारा कपट से। दम्भ से। दिखलावे के भाव से।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) ही। केवल।

यत्=यद् (सर्व० वि०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

क्रियते=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+कर्म०, लट्०, प्र० पु०, ए० व० =किया जाता है।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह।

इह=(अव्यय) यहाँ। इस लोक में।

प्रोक्तम्=प्र√वच् (अदा०) पर० सक०=कहना)+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व० =कहा हुआ है। कहा गया है।

राजसम्=राजस् (नपुं०)+प्र० ए० व०=राजस (रजो गुण सम्बन्धी)।

चलम्=(वि०)√चल्+अच्+(नपुं०) प्र० ए० व०=चलायमान। चंचल। क्षणिक फल वाला।

अध्रुवम्=(वि०) न-ध्रुवम् (नञ् तत्पु०)। √ध्रु (भ्वा० पर० अक०=स्थिर होना)+क=ध्रुव+(नपुं०) प्र० ए० व०=स्थिर। अचल।]

सन्दिग्ध। संशय पूर्ण। अस्थायी। विनश्वर। अस्थिर। अनिश्चित। जिस का फल होने या न होने में शंका हो।

अर्थ—और जो तप, सत्कार, मान और निज पूजा के लिए अथवा केवल दम्भ के द्वारा ही किया जाता है, वह तप इस लोक में (अथवा इस प्रसंग में) राजस, चचल (क्षणिक फल वाला) और अध्रुव (संदिग्ध फल वाला) कहा जाता है ॥ १८ ॥

व्याख्या—शास्त्रों में अनेक व्रत, उपवास और संयम आदिकों द्वारा तप करने का विधान किया गया है जिन के पूर्ण विधि से अनुष्ठान करने पर स्वर्गादि की प्रप्ति भी होती है कौर मुक्ति भी मिल सकती है। पर जब इन तपों का अनुष्ठान परम श्रद्धा और पूर्ण आस्तिक्य बुद्धि से सब प्रकार के फलों की आकांक्षा त्याग कर किया जाता है। तब उपरोक्त दोनों फलों में से किसी एक की प्राप्ति अवश्य ही होती है और उस समय यह तप सात्विक संज्ञक होता है। परन्तु जब यही तप, सत्कार, मान और अपनी पूजा करवाने के लिए ही अश्रद्धा और केवल दिखलावे के भाव से ही किया जाता है तो पहले तो यह, कि वह निष्फल ही सिद्ध होता है। यदि थोड़ा बहुत फल होता भी है तो वह अल्प और क्षणिक होता है। जिस से ऐसा किया हुआ तप राजस तप कहलाता है।

राजस-तप करने वाले दम्भी तपस्वी पुरुष की यह उत्कट इच्छा होती है कि सब लोग मन से मेरा आदर सत्कार करें। वाणी से मेरा मान या प्रशंसा करें। तथा शरीर से मेरी पूजा करें। मुझे बहुत बड़ा तपस्वी समझें। महान् श्रेष्ठ और पहुँचा हुआ विचार करें। जब मैं लोगों के पास जाऊँ तो वे मुझे बहुत बड़ा तपस्वी जटाधारी देख कर वाणी से मेरे तप की प्रशंसा करने लग जाएँ और मेरे तप की महिमा से प्रभावित हुए मुझे देखते ही सत्कार के लिए उठ कर खड़े हो जाया करें। हाथ जोड़ कर प्रणाम करें और चरण छूकर माथा उन पर रखें सभा-सोसाइटियों और जलसा जलूसों में मुझे मान पत्र दें। सर्व साधारण लोग मेरे पैर धोकर चरणामृत पियें और सत्कार पूजा विधि से मेरी आरती उतारें तथा मेरा कण्ठ उन पुष्प मालाओं से लाद दें जिन में स्थान स्थान पर सौ सौ रुपये के नोट टँके हुए हों। यदि किसी कारण से ऐसा न हो सके तो षोडश उपचारों से मेरा पूजन अर्चन अवश्य करें। मैं बड़प्पन की इन सब बातों का अनुभव बड़ी चाह से स्वयं करूँ। परन्तु इस राजस तपस्वी की यह मनोवृत्ति ठीक उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार कोई कुरूप और भद्दा व्यक्ति अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए बढ़िया वस्त्र और सुन्दर भूषण धारण कर लेता है। इस प्रकार यह दम्भी तपस्वी भी अपने ऊपर तप का चोला पहन लेता है और अपनी जटायें और नाखून बढ़ा कर जटाधारी और शूर्पणख (शूर्पणखा का भाई—जनता रूपी सीता को छलने के लिए साधु वेष धारी-रावण) बन जाता है। भोले भाले लोग उसे न पहचान कर उस के जाल में सहज

ही फँस जाते हैं और जाले में फँसी हुई मक्षिका की दुर्दशा को प्राप्त होते हैं। ये राजस तपस्वी लोग ठीक ही उस गाय के समान होते हैं जो वत्स को जन्म तो देती है। परन्तु दूध किसी को भी नहीं देती है और न ही प्रसव-पीडा के अतिरिक्त इस दम्भ रूप तप-कर्म से उसे ही कुछ लाभ होता है उल्टे जन्म-मरण के रस्से ही गले पड़ते हैं। बल्कि कई लोग तो अन्त या बीच में ही तप का मलम्मा उतर जाने पर या किसी अन्य कारण से अपने असली रूप में नंगे हो जाने पर तपस्या छोड़ कर पुनः गृहस्थी हो जाते हैं। इसी से भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र आनन्द-कन्द महा योगेश्वर कहते हैं कि हे अर्जुन ! जो तप सत्कार, मान और पूजा की आकांक्षा से दम्भ पूर्वक किया जाता है। वह क्षणिक फल वाला तथा संदिग्ध फल वाला होता है शास्त्रकार और बुद्धिमान् लोग उस को राजस तप कहते हैं ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

मूढ-ग्राहेण+आत्मनः+यत्+पीडया क्रियते तपः। परस्य+उत्सादन+अर्थम्+वा तत्+तामसम्+उदाहृतम्।

मूढ-ग्राहेण=(वि०, पुं०) मूढेन ग्राहेन=मूढ ग्राह से। मूर्ख हठ से। मूर्ख आग्रह से। मूर्खता पूर्वक आग्रह से। मूर्खता भरे हठ से।

[मूढ=(वि०)√मुह्+क्त=मूढ। मूर्ख। ग्राहेण=(वि०)√ग्रह्+अच्+ण=ग्राह+(पुं०) तृती० ए० व०=पकड़ से। ग्रहण करने से। आग्रह से। हठ से।]

आत्मनः=(वि० पुं०) आत्मन्+षष्ठी० ए० व० अपनी। (अपने) शरीर की। (अपनी) वाणी की। (अपने) अन्तःकरण की।

यत्=यद् (सर्व०)+प्र० ए० प०=जो।

पीडया=(स्त्री०)√पीड्+अ-टाप्+पीड़ा+तृती० ए० व०=पीड़ा द्वारा। कष्ट द्वारा।

क्रियते=कृ (तना० उभ० सक०=करना)+कर्म० लट्० प्र० पु०, ए० व० =किया जाता है।

तपः=(नपु०) तपस्+प्र० ए० व०=तप।

परस्य=(वि०)√पृ+अप्=पर+(पु०) षष्ठी० ए० व०=दूसरे के। दूसरे का।

उत्सादन+अर्थम्=[(नपुं०) उद्√सद्+णिच्+ल्युट्=उत्सादन। उत्पादन। अर्थम्=के लिए]

उत्पाटन के लिए। बुरा करने के लिए। अनिष्ठ करने के लिये। (जड़ मूल से) उखाड़ने के लिए।

वा=(अव्यय) या । वा । अथवा ।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपु ०) प्र० ए० व०=वह ।

तामसम्=(नपु०) प्र० ए० व०=तामस ।

उदाहृतम्=उद्√हृ+क्त+(नपु०) प्र० ए० व०=कहा गया है ।

अर्थ—जो तप मूढ़ (मूर्खता पूर्वक) ग्राह (आग्रह-हठ) से आत्म-पीड़ा (अपने तन-मन की पीड़ा) सहित वा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है वह तामस तप कहा गया है ।। १९ ।।

व्याख्या—पहले इसी अध्याय के पाँचवें और छठे श्लोक में भगवान् ने कहा है—

"दंभ और अहंकार से युक्त हुए एवं कामना, आसक्ति और हठ के पीछे पड़े हुए जो लोग, शरीर, इन्द्रियों, अन्तःकरण और बुद्धि आदि के रूप में परिणत हुए आकाशादि पाँच भूतों के समुदाय को तथा ऐसे ही शरीर के भीतर अन्तरात्मा रूप से स्थित मुझ परमेश्वर को तंग करते हुए, शास्त्र विधान के विरुद्ध तप करते हैं, तू उन मूर्खों को आसुर निश्चय वाले जान ।"

अब उस तामस तप का वर्णन विशेष रूप से इस १९-वें श्लोक में किया गया है । तप के वास्तविक स्वरूप को न जान कर मन माने ढंग से हठ पूर्वक जो तप ये तामस लोग करते हैं उन से मुझ परमेश्वर को ये बड़ा दुःख देते हैं क्योंकि वह तप मेरी आज्ञा और चलाए गए नियमों के विरुद्ध होता है और उस से किसी और का भला तो क्या होना है । ये तामस-तप करने वाले स्वयं अपने शरीर को भी नाना प्रकार के कष्ट देकर आग और धूप से झुलसा लेते हैं । अंगों को सुखा लेते हैं । चिरकाल तक निरन्तर खड़े रहने से इन की टाँगें सूज कर हाथी की टाँगों की भान्ति मोटी हो जाती हैं । उन में पीप और कीड़े पड़ जाते हैं । बाहु सूखे काठ की तरह अकड़ कर जहाँ के तहाँ रह कर बेकार हो जाते है । जिस से किसी प्रकार का परोपकार तो क्या होना है । स्वयं अपने शरीर की क्रियाएँ भी पूरी होनी कठिन हो जाती हैं । ये लोग अपने मन और वाणी को भी कष्ट पहुँचाते हैं और प्रायः इन के ये तामस-तप दूसरों की सम्पदा का हरण करने, दूसरों का समूल नाश करने और शत्रुओं को मारने के लिए ही किए जाते हैं । अपना मतलब साधने अथवा अपने मन चाहे प्रस्ताव मनवाने के लिए जो धरने दिए जाते हैं, मरण व्रत या जलन व्रत रखे जाते हैं अथवा जल कर शरीर त्याग त्यागे जाते हैं किंवा बरफ़ानी जल में खड़े हो कर तप किए जाते हैं । इन को देख कर दूसरों के मन को अत्यन्त कष्ट और पीड़ा होती है । इस लिए ये सब मूर्खता पूर्वक आग्रह से अपने आप को और दूसरों को दुःख देने के लिए किए हुए तप तामस तप होते हैं । इस श्लोक की व्याख्या करते हुए सन्त ज्ञानेश्वर जी लिखते हैं—

'हे अर्जुन ! जिस तप में कोरी मूर्खता का आश्रय लेकर अपना शरीर शत्रु समझा जाता है। शरीर को पंचाग्नि का ताप पहुँचाया जाता है अथवा भीतर से ऐसी आग जलाई जाती है कि जिससे शरीर साँप का विष चढ़ने की तरह जलने लगता है। कभी सिर पर गुग्गल जलाये जाते हैं कभी पीठ में काँटे गड़ाए जाते हैं अथवा आस-पास जलने वाली आग में शरीर अंगारों की भान्ति जलाया जाता है अथवा श्वास और उश्वास रोक कर व्यर्थ ही उपवास किया जाता है अथवा अपने शरीर को उल्टा लटका कर और धूनी पर मुँह लटका कर धूआँ पिया करते हैं। नदी में बर्फ की तरह ठण्डे पानी में गले तक खड़े होकर साधना की जाती है अथवा अपने शरीर के जीवित माँस के टुकड़े काटे जाते हैं। जब इस प्रकार अपने शरीर को अनेक प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं, तब जो तप होता है, उसका कारण केवल दूसरों का नाश करना होता है।

इस प्रकार का तप करके जो अपने शरीर को कष्ट पहुँचाता है, उसकी अवस्था उस पत्थर के समान होती है जो स्वयं अपने ही भार के कारण नीचे की ओर निरन्तर लुढ़कता चला जाता है और इस प्रकार स्वयं अपने आपको भी चूर-चूर कर डालता है और जो कुछ उसके मार्ग में पड़ता है उसे भी चूर-चूर कर देता है ऐसा पुरुष सुख से रहने वाले अपने जीव को क्लेश देकर सफलता की दुष्ट वासना से तप का आचरण करता है। सारांश यह है कि इस प्रकार शारीरिक यातना के भयंकर आचरण से जो तप निष्पन्न होता है उसको ही तामस-तप कहा जाता है ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

दातव्यम्+इति यत्+दानम्+दीयते+अनुपकारिणे । देशे काले च पात्रे च तत्+दानम् सात्त्विकम्+स्मृतम् ।

दातव्यम्=(वि०) √दा (जुहो० उभ० सक०=देना)+तव्य+नपुं०) प्र० ए० व०=देने योग्य। देना चाहिए। देना उचित है। देना कर्तव्य है।

इति=ऐसा। इस प्रकार।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

दानम्=(नपुं०) √दा+ल्युट्+प्र० ए० व०=दानम्=भेंट। दान।

दीयते=√दा+(कर्म०) लट् प्र० पु०, ए० व०=दिया जाता है।

अनुपकारिणे=(वि०) न उपकारिन् (नञ् तत्पु०)+चतु० ए० व०=(स्वयं दाता का अपना) उपकार न करने के लिए]।

[परन्तु वह कृतघ्न या लोगों को दुःख देने वाला डाकू बूचड़, डोडे,

अफ़ीम और शराब आदि पीने, खाने वाला व्यसनी और दुराचारी 'अनुपकारी' न हो।]

[उपकारिन्=(वि० पुं०) उप√कृ+णिनि=उपकारिन्=उपकार करने वाला]।

देश=(पुं०) √दिश्+अच्=देश+सप्त० ए० व०=(उत्तम, पवित्र या उपयुक्त) देश में।

काले=(पुं०, नपुं०) √कल्+णिच्+अच् या अण्=काल+सप्त० ए० व० =(श्रेष्ठ या पुण्य) काल में।

च=और।

पात्रे=(वि० पुं०) पाति (रक्षति) क्रियाम् √पा+ष्ट्रन=पात्र+सप्त० ए० व०=(दान पाने के योग्य) व्यक्ति में (सुपात्र व्यक्ति को)।

च=और।

तत्=तद् (सर्व)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह।

दानम्=(नपुं०) √दा+ल्युट्=दान+प्र० ए० व०=(सुपात्र को) दिया गया, भोजन, वस्त्र, धन, धाम, औषध, अभय, विज्ञान, विद्या, शरण, त्राण आदि।

सात्त्विकम्=(नपुं०) प्र० ए० व०=सात्त्विक। सत्त्वगुणी।

स्मृतम्=√स्मृ (भ्वा० पर० अक०=स्मरण करना)+क्त=स्मृत+(नपुं०) प्र० ए० व०=स्मरण किया गया है। (शास्त्रों में कथित) स्मरण किया गया है॥

अर्थ—और "दान देना ही चाहिए" इस प्रकार के विचार से (उदार चित्त होकर) जो दान (उपयुक्त) देश काल और पात्र (के प्राप्त होने) पर अनुपकारी के लिये (स्वयं दाता का अपना कोई उपकार करने वाला होने के के विचार को त्याग कर) किया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है॥ २०॥

व्याख्या—सात्त्विक पुरुष के हृदय सरोवर में ऐसी तरंगें सदैव उठती रहती हैं कि मुझे दान देना चाहिए। दान देना मेरा कर्त्तव्य है क्योंकि वह जिस भूमि पर स्थित होता है वह साधारण भूमि न होकर सत्त्वगुण की भूमि होती है। सिंहासन बत्तीसी में एक ब्राह्मण के पुत्र की कथा आती है जो अपने मक्की और फूटों के खेत में पशु-पक्षियों से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा था। देव-योग से उसके खेत के समीप से राजा भोज और उसकी सेना लाँघ रही थी उसे देख कर वह ऊँचे स्वर से पुकारने लगा कि हे महान् लोगो! मेरे खेत में आप के खाने के लिए बहुत कुछ है आप वैसे ही बिना खाये क्यों जा रहे हो यहाँ से कुछ खा कर जाइए। यह सुन कर सब सैनिक उस के खेत

में प्रविष्ट हो गए । इतने में वह भी पक्षियों को उड़ाने, डराने वाली मिट्टी की गोलियां लेने के लिए मंच से नीचे उतर आया और सैनिकों से कहने लगा कि तुम लोगों को यह दुष्कर्म करते हुए लज्जा नहीं आती ? जो एक ब्राह्मण के खेत को उजाड़ने लगे हो यह कह कर वह फिर मच पर चढ़ गया और फिर उन को खेत में से फल खाने का निमन्त्रण देने लगा । जब ऐसा उस ने बार बार किया तो राजा भोज के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि अहो ! यह मञ्च वाली भूमि सत्त्व गुण वाली है तब उसने वह खेत ब्राह्मण कुमार को मुँह-माँगा धन दे कर मोल ले लिया और जब उस मञ्च वाली धरती को खुदवाया गया तो उस के नीचे से स्फटिक शिला पर धरा हुआ सोने का एक सिंहासन निकला, जिसके सोने की पुतलियों के रूप में बत्तीस पाये थे और यह सिंहासन महादानी विक्रमादित्य का था जिसके सात्त्विक प्रभाव से ब्राह्मण के पुत्र की बुद्धि सात्त्विकी हो जाती थी । जिस से उस का मन यह सोचने लगता था कि "दान देना ही कर्त्तव्य है।" दान देना ही उचित है।" "मुझे दान करना ही चाहिए।" यह बात तो उस पुरुष की है जो सात्त्विक-भूमि पर खड़ा हो कर ऐसा सोचता था । परन्तु जो पुरुष स्वयं सात्त्विक है उसका सदैव ऐसा सोचना तो स्वभाविक ही है कि अपने वित्त को यथा-शक्ति दूसरों के हित में लगाना ही चाहिए । भोजन-वस्त्र, धन-धाम औषध-अभय, विद्या-विज्ञान आदि, उपयुक्त लोगों और धर्म स्थानों, स्कूलों-कालेजों, मन्दिरों-धर्मशलाओं, औषधालयों तथा ऐसे ही सार्वजनिक-उपकारक स्थानों में देना कर्तव्य है।

और सात्त्विक पुरुष कभी ऐसा विचार नहीं करता कि इस पुरुष ने मेरे ऊपर उपकार किया था मैं इसे ही दान दूँ क्योंकि उपकार का बदला तो वास्तव में किसी भी प्रकार चुकाया ही नहीं जा सकता । उस को कुछ देना तो कृतज्ञता का प्रदर्शन प्रत्युपकार या उसकी सहायता करना होता है। मुगल सम्राट् हुमायूँ ने शेरशाह सूरी से जब पराजय पाई थी तो वह तो ईरान के बादशाह की शरण में पहुँचा था और वहाँ से सेना ला कर अपना राज्य वापस लिया था परन्तु जब ईरान राज्य का विध्वंस हुआ तो बादशाह की सन्तान ने भारत में आकर हुमायूँ के पुत्र सम्राट् अकबर की शरण ली थी अकबर ने जो कुछ उन उपकारियों को दिया था उसे दान नहीं समझा जा सकता । वह तो कृतज्ञता का प्रदर्शन, प्रत्युपकार या मित्रों की सहायता मात्र थी । श्री राम ने हनुमान् से कहा था—

सुनि कपि तोहि समान उपकारी । नहिं कोई सुर नर मुनि तनुधारी ।
प्रति उपकार करूँ का तोरा । सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥

जो दाता यह आशा धारण करके किसी को दान देता है कि समय पड़ने पर, लेने वाला मेरी अमुक सहायता करेगा उसका किया हुआ वह दान भी सात्त्विक नहीं होता । आजकल कुल-पुरोहितों को जो दान दिया जाता है वह

भी सात्त्विक कहलाने के योग्य नहीं होता क्योंकि पुरोहित तो उसे समझा जाता है जो

"खर, विवर्जी, सक्का । भागने में हरकारा. पहरा देने में पक्का ॥"

इन गुणों से युक्त होता है अर्थात् यजमान का सामान भी समय पर शहर से ला सके । ब्याह आदि में भोजन भी पका सके । समय पर पानी भी पिला सके । सम्बन्धियों को सन्देश भी पहुँचा सके और बरात में चलते समय भूली हुई वस्तुएँ भी यजमान के घर से ला सके और जब बरात के सब लोग सो जाएँ । वह जाग कर पहरा भी दे सके ताकि यजमान और उसके साथी बरातियों का सामान चोरी न हो सके । इससे सिद्ध होता है कि सात्त्विक दान अनुपकारियों को ही दिया जाता है । उपकार करने वालों को दिया हुआ दान सात्त्विक नहीं कहला सकता । फिर सात्त्विक दान, देश और काल को बिचार कर ही दिया जाता है । साधारणतया देश का अर्थ यहाँ वह देश है । जिस में भूँचाल, बाढ़, अकाल, सूखा पड़ने या पापी अत्याचारियों की मार-धाड़ और अत्याचारों के कारण सब कुछ नष्ट हो गया है । उस देश की दशा पर दया भाव से यथाशक्ति दान देना महा पुण्य होता है । काशी, हरिद्वार आदि पुण्य स्थानों में दान करना भी सात्त्विक दान ही होता है । जिस काल में किसी भूखे, नंगे, विद्यार्थी, रोगी, दीन-दुःखी, अति-पापियों से घिरे हुए को देखा या सुना जाये तत्काल उसी समय भोजन-वस्त्र, धन, औषध तन, मन, धन आदि से जैसे भी हो उस की सहायता करना यह सब उचित काल में किया हुआ दान समझा जाता है और यह उचित काल में दिया हुआ दान सात्त्विक होता है । विद्वान्, तपस्वी, देवता स्वरूप साधु ब्राह्मण को दिया हुआ दान भी सात्त्विक समझा जाता है । सूर्य ग्रहण, दीपमाला और संक्रान्ति आदि कालों में किया हुआ दान भी सात्त्विक होता है । सच्चे और सुपात्र साधु ब्राह्मण, छोटे बच्चे, विद्यार्थी, रोगी, दीन, दुःखी, लंगड़े, लूले, विधवाएं, अनाथ, लड़की ब्याहने वाले माता पिता ये सब दान के पात्र समझे जाते हैं । वे परोपकारी सब संस्थाएं भी दान की पात्र मानी जाती हैं जिन से प्राणी मात्र का कल्याण होता है । गौएं, कुत्ते, कौवे आदि जीव भी अन्न दान के पात्र होते हैं । इस प्रकार देना उचित है ऐसा समझ कर, बदला मिलने या लेने की आशा के बिना, देश काल और पात्र को देख कर जो दान दिया जाता है । उसे सात्त्विक दान कहते हैं ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपाकार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

यत्+तु प्रत्युपकार+अर्थम्+फलम्+उद्दिश्य वा पुनः । दीयते च परिक्लिष्टम्+तत्+दानम्+राजसम्+स्मृतम् ॥

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो ।

तु=(अव्यय) पर। परन्तु। और।
प्रत्युपकार+अर्थम्=(नपुं०) प्रति-उप √कृ (तना० उभ० सक०=करना) घञ्=प्रत्युपकार+अर्थम्+प्रत्युपकार के लिये (प्र० ए० व०)।
फलम्=(नपुं०) द्वितीय० ए० व०=फल को।
उद्दिश्य=उद्√दिश्+ल्यप्=उद्देश्य करके।

[अर्थात् मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये अथवा रोगादि की निवृति के उद्देश्य से]

वा=या। वा। अथवा।
पुनः=फिर। पुनः।
दीयते=√दा+(कर्म०) लट्० प्र० पु०, ए० व०=दिया जाता है।
च=और।
परिक्लिष्टम्=(वि०) परि√क्लिश् (दिवा० क्रया० पर० सक० आत्म० अक०=पीड़ा होना। पीड़ित होना। सन्तप्त होना। सताया जाना। मजबूर करना)+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=क्लेश पूर्वक। दुःख से। मजबरी से। मन को सन्तप्त करके।
तत्=(वि०, नपुं०) प्र० ए० व०=वह।
दानम्=(नपुं०) √दा+ल्यूट्+प्र० ए० व०=दान।
राजसम्=(नपुं०) प्र० ए० व०=राजस।
स्मृतम्=(वि०, क्रिया रूप में) √स्मृ+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=स्मरण किया है। कहा गया है॥

अर्थ—और जो दान प्रत्युपकार के लिए (अर्थात् बदले में किसी लाभ की इच्छा से), (मान, बड़ाई, स्वर्गादि की प्राप्ति या रोगादि की निवृत्ति के निमित्त आदि किसी भी) फल को उद्देश्य करके या फिर क्लेश-पूर्वक (किसी मजबूरी से) दिया जाता है। वह (दान) राजस कहा गया है॥ २१॥

व्याख्या—कुछ साधु या कपट वेषधारी लोग ऐसे भी होते हैं जो किसी गृहस्थ के दर पर धरना देकर बैठ जाते हैं अपने कपड़े फाड़ने लगते हैं तथा अपने शरीर पर घाव कर लेते हैं, बनावटी कोढ़ी बन जाते हैं, अपनी जीभ काट लेते हैं। इसी प्रकार के दुराग्रह कृत्यों द्वारा घर वाले को दान देने पर मजबूर कर देते हैं। इसी प्रकार चन्दा माँगने या पैसा इकट्ठा करने वाले कुछ महानुभाव मिल कर किसी व्यक्ति के पास जाते हैं और उसके घर या दुकान से उस समय तक नहीं उठते जब तक मुँह माँगा दान उससे नहीं ले लेते। परन्तु उस समय यदि कोई संजय की तरह दिव्य नेत्र वाला उस दानी महाशय के मन की बूझ सके या उसकी बुड़बुड़ाहट को समझ सके तो उसे सहज ही पता लग

सकता है कि वह दानी महाशय मन में कितना दु:खी है और मुँह से कितना अनाप-शनाप बक रहा है। कई लोग दूसरों से डर कर ही दान करते हैं। कुछ लोग अपना नाक रखने के लिए दान देते हुए अपनी चादर के बाहर पाँव फैलाते हैं, जिस से ऋणी हो कर अन्त में अत्यन्त दु:खी होते हैं। इसी प्रकार दु:खी मन से और पश्चाताप करते हुए जो दान दिया जाता है वह राजस दान होता है।

इसी प्रकार कई लोग उस पुरुष को दान देते हैं जो उन को लाभदायी सिद्ध हो सकता है और भोजन उन लोगों को खिलाते हैं जो पहले ही पर्याप्त धनी हैं और दाता के अपने वंश से सम्बन्ध रखते हैं तथा चरित्रहीन और बदनाम होते हैं। कई लोग ब्राह्मणों को देने योग्य दान अपनी लड़कियों को देते हैं। इस प्रकार "माँ मनसे बेटी खाए" वाली लोकोक्ति उन पर चरितार्थ हो जाती है और कई दाता स्वर्ग के भोगों की प्राप्ति के लिए दान करते हैं और कुछ रोगों की निवृत्ति के लिए ही दान देते हैं, जिनसे मंगल, सूर्य, शनि आदि ग्रहों के मुँह भरे जाते हैं। कुछ लोग अपने व्यापार को चमकाने के लक्ष्य से या दानी कहलाने के निमित्त से ही दान करते हैं। उनकी यह मनोवृत्ति उनके उन चित्रों से भली-भान्ति प्रदर्शित होती है जो समाचार पत्रों के मुख्य पृष्ठों पर छपे हुए होते हैं। इस प्रकार प्रत्युपकारार्थ किए हुए सब दान उसी प्रकार निन्दनीय होते हैं, जिस प्रकार रिशवत देकर कोटे और ठेके प्राप्त करना निन्दनीय समझे जाते हैं और इस दोष से प्रत्युपकारार्थ किये हुए सब दान राजस कहे जाते हैं।

इसी कारण से भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! जो दान क्लेश पूर्वक, प्रत्युपकारार्थ और फलेच्छा से दिये जाते हैं वे सब राजस दान कहे जाते हैं॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अदेश-काले यत्+दानम् अपात्रेभ्यः+च, दीयते। असत्कृतम्+अवज्ञातम्+तत्+तामसम्+उदाहृतम् ॥

अदेश-काले=(पुं०, नपुं०) न देशे च न काले च (नञ्, सप्त तत्पु०)=अयोग्य देश में और अयोग्य काल में। अशुद्ध वस्तुओं, अशुद्ध भक्षियों और म्लेच्छादि से युक्त पापमय देश में तथा पुण्य के हेतु बतलाये हुए संक्रान्ति आदि विशेषता से रहित काल में।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

दानम्=(नपुं०) प्र० ए० व०=दान।

अपात्रेभ्यः=(वि० पुं०) न पात्रेभ्यः (नञ्) चतु० ब० व०=(मूर्ख, चोर आदि) अपात्रों के लिये।

च=और।

दीयते=√दा (कर्म वा०) लट्०, प्र०, पु० ए० व०=दिया जाता है।

असत्कृतम्=(वि०) न सत्कृतम् (नञ्. कर्मधा०)=सत्√कृ+क्त+(नपुं०) प्र० द्वितीं० ए० व०=बिना सत्कार किए। प्रिय, वचन, पाद, प्रक्षालन और पूजादि सम्मान से रहित।

अवज्ञातम्=(वि०) अव√ज्ञा+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=तिरस्कार करते हुए। अनादर पूर्वक। अपमान करते हुए।

तत्+(नपुं०) प्र०, ए० व०=वह।

तामसम्=(नपुं) प्र०, ए० व०=तामस।

उदाहृतम्=(वि० क्रिया अर्थ में) उद्-आ√हृ+क्त+(नपुं०) प्र०, ए० व०= कथन किया गया है। वर्णन किया गया है। कहा गया है॥

अर्थ—जो दान अयोग्य देश में, अयोग्य काल में और अपात्रों के लिये, बिना सत्कार किए और अपमान करते हुए दिया जाता है। वह (दान) तामस कथन किया गया है॥ २२॥

व्याख्या—जो दान उस देश में दिया जाता है जिसमें न भुखमरी है, न बीमारी है, न किसी वस्तु का अभाव है अथवा जिस देश या भू-स्थल के रहने वाले लोग सदैव पाप कर्म में रत रहते हैं। शराबें पीते हैं, मांस भक्षण करते हैं इत्यादि सब प्रकार के दोषों से दूषित हैं। वहां अन्न, जल आदि के बिना और दान कदापि न देना चाहिए। जैसे गो-भक्षक म्लेच्छों के देशों में गौओं का दान देना दाता को नरकों में ले जाने वाला होता है। इसी प्रकार अयोग काल में दिया हुआ दान भी नरक-गामी करा देता है। जैसे ग्रहण के समय कन्या का दान तामस दान है जो दाता को नरकों का अधिकारी बना देता है। अपात्रों को दिया दान भी नरकों में ले जाने वाला और तामस होता है। धर्मध्वजियों, पाखण्डियों, कपटियों, हिंसकों, व्याधों, निन्दकों, कातलों, चोरों, डाकुओं, चापलूसों, भाण्डों, वेश्याओं, अभक्ष्य भक्षिकों, शराबियों, व्यभिचारियों, ठगों, द्यूत व्यसनियों आदि कुकर्मी अपात्रों को दिया हुआ दान, तामस दान कहलाता है और दानी के लिये नरकों में ले जाने का हेतु हो जाता है। आज कल मन्दिरों और गुरुद्वारों में दिये हुए दान भी तामस रूप धारण करते जा रहे हैं, क्योंकि उस चढ़ावे का इस समय अत्यन्त दुरुपयोग किया जाता है वह धर्म कार्यों में व्यय नहीं किया जाता, विपरीत इसके पार्टी बाज़ियों, जनता को भड़काने, लड़ाने और प्रबन्धकों के स्वार्थों और नाना प्रकार के नीच कर्मों में लगाया जाता है और वोट खरीदने पर खर्च किया जाता है। यदि इस कार्य

में देवयोग से असफलता का मुख देखना पड़ता है तो देश में गड़बड़ कराने पर लगाया जाता है ताकि किसी न किसी प्रकार राजसिंहासन की प्राप्ति हो सके।

तामस दान देने वाले दाता लोग उस पुरुष का तनिक भी सत्कार नहीं करते कि जिस को वे दान देते है। प्राचीन परिपाटी के अनुसार सुपात्र पुरुष के आने पर न उसे सत्कार या अर्घ देते हैं न कुशल क्षेम पूछते हैं न चरण छूते हैं, न बैठने के लिए आसन देते हैं, न केसर-कुंकम का टीका लगाते हैं, न पुष्प माला पहनाते हैं, न चरण धो कर भोजन कराते हैं तथा न ही दक्षिणा दान देकर सम्मानित करते हैं। विपरीत इसके अपमान करते हुए कहते हैं, श्याला हट्टा कट्टा माँगने के लिए कहीं से आ गया है, तेरे हाथ पाँव टूटे हुए हैं, जो दस नाखूनों द्वारा कमा कर नहीं खाता। चोर कहीं का अथवा उसके साथ हँसी-मजाक और मखौल का व्यवहार किया जाता है किंवा अपने मुख और अंगों को विकृत करके उसकी खिल्ली उड़ाई जाती है और पाँच पैसे उसके हाथ पर रख कर कहा जाता है कि अब फिर कभी ऐसे न आना नहीं तो पूंछ और मूँछे दोनों काट दी जाएँगी। इस प्रकार जो दान, अयोग्य देश में दिया जाता है, अयोग्य काल में किया जाता है, अपात्र व्यक्तियों में वितरण किया जाता है, सुपात्र को असत्कृत और अपमानित करके दिया जाता है। वह दान तामस कहलाता है और दाता को नरकों में ले जाने वाला होता है ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

'ॐ+तत्+सत्+ इति निर्देशः ब्राह्मणः+त्रि-विधः स्मृतः। ब्राह्मणाः +तेन वेदाः+च यज्ञा+च विहिताः पुरा ॥

"ॐ+तत्+सत्"=ओम् (अ, उ, म, अज, उपेन्द्र महादेव, सृजन, स्थिति और संहार करने वाली एक ही ब्रह्म की तीन शक्तियाँ) तत्=(केवल एक ही) वह। सत् (√अस+शतृ, अकार लोप)=विद्यमान (है)। [उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाला वह विद्यमान है। (ਸਤਿ ਸ੍ਰੀ ਅਕਾਲ) सिक्खों का जयकारा इसी का अनुवाद है।]

इति=ऐसा। इस प्रकार।

निर्देशः=(पुं०) निर्√दिश+घञ्+प्र० ए० व०=कथन। उल्लेख। नाम-करण। नाम। निर्दिश्यते अनेन इति निर्देशः। जिस से कोई वस्तु बतलाई जाए। उस को निर्देश या नाम कहते हैं।

ब्रह्मणः=(नपुं०) ब्रह्मन्+षष्ठी० ए० व०=ब्रह्म का। परमात्मा का। परब्रह्म परमेश्वर का।

त्रि-विधः=(पुं०) तीन प्रकार का।

स्मृतः=√स्मृ+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=स्मरण किया गया है। कहा गया है। रटा गया है। बार बार वेदों द्वारा रटा हुआ माना गया है।

ब्राह्मणाः=(वि० पु०) ब्रह्मणो (प्रजापतेः) अपत्यम् वा ब्रह्म वेदः, तम् अधीते (ब्रह्मा के पुत्र, ब्रह्म (वेद) को पढ़ने वाले। ब्राह्मण लोग+वेद पढ़ने वाले लोग। यज्ञ करने वाले लोग।

तेन=तद् (सर्व०)+(नपुं०) तृती० ए० व०=उसका।

वेदाः=(पुं०) प्र०, ब० व०=वेद। चारों वेद, सारे वेद।

च=और।

यज्ञा=(पुं०) प्र० ब० व०=सम्पूर्ण यज्ञ।

च=और।

विहिताः=वि√धा+क्त+(पुं०) प्र० ब० व०=रचे गये हैं।

पुरा=(अव्यय)√पुर्+का=पुरा। प्राचीन काल में। सृष्टि के आदि काल में।

अर्थ—"ओम्, तत्, सत्" ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश (वर्णन, कथन, नाम) किया गया है। सृष्टि के आदि काल में उस से ब्राह्मण, वेद और यज्ञ रचे गये हैं॥ २३॥

व्याख्या—सृष्टि रचना काल से पूर्व केवल एक ब्रह्म ही विद्यमान था। जिसके भीतर जगत् के सृजन, स्थित रखने और संहार करने वाली तीनों शक्तियाँ विद्यमान थीं। सृष्टि की रचना के काल में ये तीनों शक्तियाँ ब्रह्म से निकल कर ब्रह्मा विष्णु और शिव के रूप में प्रकट हो गईं तथा उन्होंने अपना अपना सृजन, स्थिति और, संहार-कार्य क्रमशः करना आरम्भ कर दिया इस प्रकार फिर ब्रह्म से वेदों और यज्ञों की रचना की गई। श्री गुरु नानक देव ने जपु जी साहिब में लिखा है—

"एका माई जुगति विआई, तिनि चेले परवाणु इकु संसारी इकु भंडारी इकु लाए दी वाणु। जिव तिस भावै, तिवै चलावै, जिव होवै फुरमाणु। ओह वेखै, ओना नदर न आवै, बहुता एह विडाण। आदेश तिसै आदेस। आदि अनील अनादि अनाहत जुग जुग एको वेस। (पौड़ी॥ ३०)॥

[**अर्थ**—(ब्रह्म से उत्पन्न हुई) एक माता (माया) है। जो ईश्वरीय आज्ञा या ढंग से सृष्टि के आदि काल में प्रसववती (तीन बच्चों को जन्म देने वाली) हुई, क्योंकि उसकी योनि में (चैतन्य प्रभु ने वीर्य सेचन किया था), उस से तीन प्रमाणिक चेले (आज्ञा कारी, सृष्टि रचता, भरता हरता शिष्य रूप पुत्र) उत्पन्न हुए। जिन में से एक संसार की रचना करने वाला (ब्रह्मा) है। दूसरा संसार की पालना करने वाला (विष्णु) है और तीसरे (शिव) का स्वभाव

(महा प्रलय द्वारा) संसार के संहार करने का है। जिस प्रकार पर-ब्रह्म परमेश्वर को रुचिकर स्फुरण होता है उसी प्रकार उसकी आज्ञानुसार वे तीनों सृष्टि का प्रबन्ध चलाते हैं। परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि परब्रह्म परमेश्वर तो सब को देखता है किन्तु स्वयं आप किसी के दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह उसकी एक बहुत बड़ी महानता है। हमारा उस को नमस्कार है, बार बार नमस्कार है। वह परब्रह्म परमेश्वर आदि है अर्थात् सब का मूल-कारण है। संसार से अलिप्त है और अनन्त शक्ति सम्पन्न है। जिसका अपना कोई आरम्भ नहीं है। वह नाश रहित है और युगान्तरों में सदा एक रस रहता है ॥]

जब कोई बच्चा जन्म लेता है तो उस के माता पिता या बड़े बूढ़े उसका नाम रख देते हैं। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि कोई बच्चा अपनी माता या पिता का नाम रक्खे। माता या पिता को स्वयं ही अपना नाम पुत्रों को बताना पड़ता है। इसी प्रकार सर्व शक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा के जन्मादि का तो किसी को भी कोई पता नहीं कि कब हुआ था अथवा कभी हुआ ही नहीं था। इसी से तो उसे अनादि, अजन्मा और सब का आदि कारण कहा जाता है तो फिर उसका नाम कौन रख सकता है या जान सकता है। उस प्रभु ने स्वयं ही हमें अपना नाम वेदों द्वारा "ओम् तत् सत्" बताया है। यद्यपि भगवान् के असंख्य नाम लोगों द्वारा कहे जाते हैं परन्तु वेदों में इन तीनों नामों द्वारा ही भगवान् का निर्देश विशिष्ट रूप से किया गया है। सब मन्त्रों के पूर्व और अन्त में इन्हें ही दुहराया जाता है। 'ओम्' अ, उ, म् तीन अक्षरों से मिलकर बना है, जिस में ईश्वर की सम्पूर्ण शक्तियों का निर्देश है। वास्तव में "ओम्" की महिमा न किसी से वर्णन की जा सकती है तथा न कोई उसे पूर्णतया गा सकता है। गोस्वामी तुलसी दास जी "राम" शब्द की महिमा वर्णित करते हुए कहते हैं—

"तुलसी 'रा' के कहत ही, निकसत पाप पहार।
पुनि भीतर आवत नहीं, देत कवार मकार ॥
एक छत्र एक मुकटमनि, सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुवर नाम के बरण बिराजत दोउ।"

गोसाई जी पूर्ण राम भक्त थे जो कुछ उन्होंने अपने इष्ट देव राम के सम्बन्ध में कहा वह बहुत खूब कहा है और अपनी अमर वाणी द्वारा भक्ति का सर्व श्रेष्ठ रूप दिखा दिया है। परन्तु यदि इन दोनों दोहों को इस प्रकार पढ़ा जाय तो और भी चार चाँद लग जाते हैं—

'तुलसी 'ओ' के कहत ही, निकसित पाप पहार।
पुनि भीतर आवत नहीं देत कवार मकार ॥

एक छत्र एक मुकुटमनि सब बरननि पर जोउ।
तुलसी ईश्वर नाम के वरण विराजत दोउ॥"

पहले दोहे में "देत कवार मकार" कहने से 'राम' का मकार पूरा नहीं उतरता, क्योंकि उसके अन्त में जो अकार है वह मुँह को बन्द होते ही तुरन्त खोल देता है क्योंकि उसका उच्चारण स्थान कण्ठ है और उस के उच्चारण के साथ ही मुँह खुल जाता है परन्तु ओम् का मकार स्वर-रहित होने से उच्चारण काल में मुँह बन्द रहता है। परन्तु 'रा' 'ओ' दोनों ही उच्चारण काल में पापों के पहाड़ रूप वायु को बाहर निकालते हैं। दूसरे दोहे में रघुवर नाम के दो वर्ण बतलाए गये हैं परन्तु राम शब्द र्+आ+म्+अ इन चार वर्णों से मिलकर बना हुआ है किन्तु ईश्वर का नाम 'ओम्' ओ+म् केवल इन दो ही अक्षरों से मिल कर बना है और 'रा' कभी (ॅ) का रूप धारण नहीं किया करता। जो हलन्त (र्) किसी अक्षर के ऊपर चढ़ जाता है वह राजा की कलगी के रूप में होता है। न कि राजा के छत्र के रूप में होता है परन्तु ओम् का ओ दूसरे व्यञ्जन वर्णों के साथ दण्ड लगा छत्र (ो) अवश्य होता है और राम का म कभी मुकुट-मणि या बिन्दु मात्र का रूप धारण नहीं करता परन्तु ओम् का 'म्' सदा मुकुट-मणि या बिन्दु अवश्य बन जाता है। भले ही राम नाम जपनें से मुँह के भीतर से पापों के समूह बाहर निकल जाते हैं और फिर भीतर नहीं प्रविष्ट होते होंगे परन्तु तुलसी के ये दोनों दोहे ईश्वर के मूल नाम "ओम्" के लिए ही बनाए गये ठीक मालूम होते हैं जो सब वेद मन्त्रों के आदि और अन्त में उच्चारण किया जाता है। गीता ७।८ में भगवान् ने स्वयं कहा है कि "प्रणवः सर्व वेदेषु" मैं सब वेदों का प्रणव-तत्त्व "ओम्" हूँ॥ श्रुति में भी कहा है –

"तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा इति।"

अर्थात् जैसे वृक्ष के बीच की डण्डी से सब पत्ते ग्रथित हैं, वैसे सब वेदों के वचन ओङ्कार से ग्रथित हैं॥"

वास्तव में ईश्वर का मूल नाम "ओम" ही है। उपनिषदों में "ओमिति ब्रह्म" अर्थात् "ओम् यह ब्रह्म का नाम है" ऐसा कहा गया है। उपनिषदों में 'तद्' और "सत्" भी ब्रह्म के नाम बतलाये गये हैं॥ 'तत्' का अर्थ वह (ब्रह्म जो केवल एक ही है) सत्' का अर्थ, सदा विद्यमान है।

इस "ओम्" "तत्" "सत्" नाम वाले ब्रह्म से सारे ब्राह्मण (अर्थात्, यज्ञों और शुभ कर्मों के करने वाले, वेद विद्या को पढ़ने वाले, ब्रह्मज्ञान को जानने वाले और अपने आप को ब्रह्म-पुत्र मानने वाले लोग), चारों वेद और यज्ञ (हवन, यज्ञ, तप् और सब प्रकार के कर्त्तव्य कर्म) रचे गये हैं अर्थात्

कर्ता, ज्ञान और कर्म सब कुछ "ॐ तत् सत्" नाम धारी ब्रह्म की ही रचना है। इसलिये प्रत्येक कार्य के आरम्भ और अन्त में ब्रह्म के इस मूल नाम का स्मरण करना चाहिए ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

तस्मात् + ओम् + इति + उदाहृत्य यज्ञ-दान-तपस्-क्रियाः । प्रवर्त्तन्ते विधान + उक्ताः सततम् + ब्रह्म + वादिनाम् ॥

तस्मात् = तद् (सर्व०) + (पुं० नपुं०) पंच० ए० व० = इस से । इसलिए । (अव्यय रूप) ।

ओम् = (अव्यय) इश्वर का पहला पवित्र नाम जो वेद मन्त्रों को पढ़ते हुए उन के पूर्व लगाया जाता है ॥ "ॐ" ॥

इति = (अव्यय) ऐसा । इस प्रकार ।

उदाहृत्य = उद्-आ√हृ + ल्यप् (उच्चार्य) = उच्चारण करके ।

यज्ञ-दान-तपस्-क्रियाः = (स्त्री०) प्र० ब० व० । यज्ञः च दानः च तपः च तेषां क्रियाः (इतरेतर द्वन्द्व०) = यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ ।

प्रवर्तन्ते = प्र-√वृत् (भ्वा० आत्म० अक० = विद्यमान होना ।) + लट्० प्र० पु०, ब० व० = प्रवृत्त होती है । प्रारम्भ की जाती है ।

विधान + उक्ताः = (वि०) विधानेन उक्ताः (तृती० तत्पु०-शास्त्र-चोदिताः) = शास्त्र-विधि से कही हुई । [उक्ताः = √वच् + क्त-टाप् + (स्त्री०) प्र० ब० व०] ।

सततम् = (वि०) सम्√तन् + क्त, समः अन्त्य-लोपः । सदा । सदैव । हमेशा ।

ब्रह्म-वादिनाम् = (वि०) ब्रह्म (= वेदं) वदति (पठति) = ब्रह्म + √वद् + णिनि = ब्रह्मवादिन् + (पुं०) षष्ठी० ब० व० = ब्रह्मवादियों की । वेद पढ़ने और पढ़ाने वालों की । [ब्रह्म-वदन-शीलानाम् = वेद का प्रवचन या पाठ करने वाले ब्राह्मणों की ।]

अर्थ —इसलिए ब्रह्म-वादियों (वेद पढ़ने-पढ़ाने) वाले ब्राह्मणों) की शास्त्र-विधि से कही हुई यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ सदैव "ॐ" इस नाम का उच्चारण करके आरम्भ की जाती हैं ॥ २४ ॥

व्याख्या —वास्तव में देखा जाए तो परब्रह्म का कोई नाम नहीं है, परन्तु इस माया जनित मोह के अन्धकार में परब्रह्म की कल्पना कराने के लिए ॐ नाम उसे पहचानने के लिए रख दिया है। जब कोई बालक जन्म लेता है तब वह अपने साथ नाम लेकर नहीं आता है परन्तु उसका नाम, यहीं, रखने वाले, रख देते हैं। उस नाम के पुकारते ही वह तुरन्त बोल उठता है। इसी प्रकार जब

संसार के दु:खों से पीड़ित लोग किसी भी नाम से पुकारते हैं तो वह ब्रह्म तत्त्व भी बोल उठता है। जब सब से पहले पूरे नाम "ॐ तत् सत्" से परब्रह्म को स्मरण किया जाता है तो वह तुरन्त दृष्टिगोचर होकर दर्शन देता है। अदृश्य होने पर भी दृष्टि-पथ में आ जाता है जैसे "ओम् प्रकाश" के सम्बन्धी उसे प्यार से केवल "ओम्" नाम कह कर बुलाया करते हैं। ठीक उसी प्रकार सब वेद मन्त्रों के पूर्व "ओम् तत् सत्" के स्थान पर केवल ॐ का ही प्रयोग किया जाता है। इस से पर-ब्रह्म परमेश्वर तुरन्त उपस्थित हो कर भक्त की कामना की पूर्ति कर देते हैं। इसी से इस नाम के साथ एक-रूप हो कर सात्त्विक कर्मों का आचरण किया जाता है। यदि मुख, ॐ सहित, वेद मन्त्रों का उच्चारण करता हो और हाथों से सात्त्विक कर्म हो रहे हों तो इहलोक और परलोक दोनों सार्थक और सफल हो जाते हैं। इसी व्यवस्था से ब्रह्मवेत्ता विद्वान् लोग ब्रह्मस्वरूप प्राप्त कर लेते हैं। जिस प्रकार अन्धेरे में जाने के समय जलता हुआ दीपक या प्रकाश का और कोई साधन लैम्प, लालटैन या टार्च साथ रखना पड़ता है, इसी प्रकार कर्ता, कर्म और मन्त्र पर प्रभु का प्रकाश डालने के लिए ओङ्कार का उच्चारण किया जाता है। जिस प्रकार जहाज़ पुरुष को विस्तृत समुद्र से पार कर देता है इसी प्रकार ॐकार का उच्चारण भव-सागर से पार कर देता है। जिस प्रकार तेज़ धार वाला छुरा बाँधने वाले रस्सों को काट देता है उसी प्रकार ॐकार का उच्चारण जन्म मरण के बन्धनों को काट कर जीव को मुक्त करा देता है "ओमिति ब्रह्म" अर्थात् "ॐ" यह ब्रह्म का नाम है ऐसा श्रुति में कहा गया है। इसलिए ब्रह्म-विद्या के पढ़ने पढ़ाने वाले वेद वेत्ता पुरुष प्रथम 'ॐ' का उच्चारण करके यज्ञ, दान और तप रूपी क्रियाएँ सदा विधिवत् करते हैं तथा अन्य शस्त्रोक्त सर्व-कर्म करते हैं क्योंकि जिस परब्रह्म से यज्ञादि कर्मों की उत्पत्ति हुई है और जिस कवि के द्वारा वेद-मन्त्रों की रचना हुई है उसी का ओम् उपनाम मन्त्रों के पूर्व पढ़ा जाना उचित है। ॐकार के उच्चारण से समस्त कर्मों का अंगवैगुण्य दूर हो जाता है तथा वे पवित्र और कल्याण प्रद हो जाते हैं ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

तत्+इति+अनभिसंधाय फलम्+यज्ञ-तपः-क्रियाः । दान-क्रियाः+च विविधाः क्रियन्ते मोक्ष-कांक्षिभिः ॥

तत्=वह (है)। 'तत्' नाम वाले पर-ब्रह्म का ही यह सब कुछ है।

इति=ऐसा।

अनभिसन्धाय=(नञ् तत्पु०) न अभिसन्धाय (न, अभि-सम्√धा+ल्यप्)=न

धार कर। संकल्प या इच्छा न करके। न चाह कर।

फलम्=(नपुं०) द्वि० ए० व०=फल को।

यज्ञ-तप:-क्रिया:=(स्त्री०) प्र० ब० व०=यज्ञ-क्रिया: च तप: क्रिया च (इतरेतर द्वन्द्व) यज्ञ और तप की क्रियाएँ। यज्ञ और तप क्रियाएँ।

दान-क्रिया:=(स्त्री०) प्र० ब० व०=दान की क्रियाएँ।

च=और।

विविधा:=(वि० स्त्री०) विभिन्न विधायस्य (प्रा० बहुव्री०) प्र० ब० व०=नाना प्रकार की। बहुत भान्ति की। अनेक तरह की।

क्रियन्ते=√कृ+(कर्मवाच्य) लट्० प्र० पु० ब० व०=की जाती हैं।

मोक्ष-काङ्क्षिभि:=(पुं०) मोक्षस्य काङ्क्षिन्+तृ ब० व०=मोक्ष चाहने वालों द्वारा। मोक्षार्थिभि: मुमुक्षुभि:=मोक्ष चाहने वाले मुमुक्षुओं द्वारा।

अर्थ—तत् (वह—इस नाम से कहा जाने वाला परब्रह्म परमेश्वर ही सब कुछ है, "तत् न मम" वह यज्ञादि कर्म मेरा कुछ भी नहीं है।] ऐसा (विचार और बोल कर) फल की इच्छा न धार कर, नाना प्रकार की यज्ञ, तप और दान की क्रियाएँ मोक्ष चाहने वाले (मुमुक्षुओं) द्वारा की जाती हैं॥ २५॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वर माया-जन्य संसार से अत्यन्त परे है वह सब कुछ देखता है सब कुछ सुनता है, हमारी प्रार्थना को स्वीकार करता है। विधि अनुसार की हुई यज्ञ, तप और दान की क्रियाओं को सार्थक और सफल करता है परन्तु अविधि-पूर्वक की हुई क्रियाएं वह सफल और सार्थक नहीं बनाता है। जैसे लकड़ी पर लकड़ी रख देने से सन्दूक नहीं बन जाता है। अथवा किसी घड़ी के सब कील पुर्जों को एक स्थान में रख देने से ही उन में समय प्रदर्शित करने वाली गति उत्पन्न नहीं हो जाती है। इसी प्रकार अविधि-पूर्वक कर्म विशिष्ट दिशा उद्देश्य या हेतु रहित होने से निष्फल या कुफल दाता होते हैं और पूर्व में पर-ब्रह्म का निर्दिष्ट नाम उच्चारण किए बिना पढ़ा हुआ मन्त्र अच्छा नहीं होता, वह उच्चारण तो ऐसा ही होता है जैसे कुत्ता मुँह फैला कर रो गया हो। भगवान् का नाम 'ओम्' अव्यय के अनन्तर 'तत्' शब्द से दर्शाया गया है श्रुति में "तत्त्वमसि" कहा गया है। [तू ही तत् अर्थात् पर-ब्रह्म है) और—"तदिति महतो भूतस्य नाम भवति।" अर्थात् श्रुति कहती है कि "तत्" ऐसा इस महाभूत (परब्रह्म परमात्मा) का नाम है। मुमुक्षु लोग यज्ञ, तप, दान आदि कर्म करते समय मन में उसका ध्यान धर कर वाणी से प्रथम उसी का उच्चारण करते हैं। वे संकल्प करते हुए सब से पूर्व "ॐ तत् सत्" का उच्चारण करते हुए पुन: प्रार्थना करते हैं कि 'तत्' रूपी ब्रह्म है उसी को हमारी ये सब क्रियाएं फलों सहित अर्पण हों और हमारे भोगने के लिए इन में से कुछ भी शेष न रहे इस प्रकार वे महानुभाव पुरुष 'तत्' नाम

वाले ब्रह्म को अपने सम्पूर्ण कर्म समर्पित करके "इदं न मम" कह कर अपने आप को समस्त कर्मों से पृथक कर लेते हैं । फिर 'ॐ' से आरम्भ किया हुआ और 'तत्' को समर्पित किया हुआ वह कर्म ब्रह्म रूप हो जाता है । परन्तु जब तक कर्ता में कर्तृत्व का अभिमान बना रहता है उस समय तक यह काम नहीं बनता क्योंकि इस कर्तृत्व के अभिमान के कारण 'तत्' नाम वाला ब्रह्म अपने से पराया या पृथक [भासमान या प्रतीत] होता रहता है परन्तु इस अभिमान के दूर हो जाने से एकरूपता हो जाती है । सदैव इस बात का निश्चय बना रहना चाहिए—

"ब्रह्मार्पणं, ब्रह्म हविर्, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं, ब्रह्म-कर्म-समाधिना ॥"

(॥ गी० ४।२४ ॥)

इसलिए मोक्षार्थी "तत्" का उच्चारण करके, फल की आशा रखे बिना यज्ञ, तप और दान रूपी विविध क्रियाए करते हैं ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

सद्+भावे साधु-भावे च 'सत्'+इति+एतत्+प्रयुज्यते प्रशस्ते कर्मणि तथा 'सत्'+शब्दः पार्थ ! युज्यते ॥

सद्+भावे=(पुं०) सतो भावः तस्मिन्=सत्य भाव में ।

सन् भावः तस्मिन् वा=विद्यमानता में । अविद्यमान वस्तु के विद्यमान होने में—जैसे पुत्र के जन्म होने पर । विजय प्राप्त होने पर । धन धान्य की वृद्धि होने पर । इसी प्रकार किसी अभाव की पूर्ति होने पर, जो शुभ कर्म, दानादि किया जाता है उस में (सप्त० ए० व०) ।

साधु-भावे=(पुं) सप्त० ए० व० । श्रेष्ठ भाव में । साधु-भाव में । बुरे आचरण वाले पुरुषों के सदाचारी हो जाने पर, जैसे किसी के पुत्र पहले दुराचारी थे फिर प्रभु की कृपा से साधु-भाव या सदाचारी हो गये हों तो उनके उपलक्ष में किए गये शुभ कर्म में ।

च=और ।

सत्=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+शतृ, अकार लोप=होता हुआ । संसार रूप होकर विद्यमान पर-ब्रह्म । (प्र० ए० व०) ।

इति=इस प्रकार ।

एतत्=एतद् (सर्व०) यह ।

प्रयुज्यते=प्र√युज् (रुधा० उभ० सक०, दिवा० आत्म० अक०=जोड़ना,

लगाना, प्रयुक्त करना, प्रयोग करना)+कर्म० लट्० प्र० पु० ए० व० =प्रयुक्त किया जाता है। प्रयोग किया जाता है।

प्रशस्ते=(वि०) प्र√शंस्+क्त=(नपुं०) सप्त० ए० व०=प्रशंसा किए हुए में। मङ्गलीय में। सौभाग्यशाली में। (विवाहादि) माङ्गलिक में।

कर्मणि=(नपुं०) कर्मन्+सप्त० ए० व०=कर्म में।

तथा=(अव्यय) और। वैसे ही। तथा।

सत्=पर-ब्रह्म का "सत्" नाम।

पार्थ!=हे पृथा पुत्र (अर्जुन)!।

युज्यते=√युज्+कर्म० लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्रयुक्त किया जाता है। प्रयोग किया जाता है।

अर्थ—हे पृथा पुत्र (अर्जुन)! सद्भाव (श्रेष्ठ भाव) या पुत्र आदि के जन्म रूप किसी वस्तु के अविद्यमान से विद्यमान होने) में, साधु-भाव (श्रेष्ठ भाव अर्थात् पुत्र आदि किसी दुराचारी के सदाचारी होने) में (किये गये यज्ञादि शुभ कर्मों में) इस प्रकार 'सत्' (ब्रह्म के) इस नाम का प्रयोग किया जाता है और (विवाह आदि) माङ्गलिक कर्म में भी इस 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। [इस श्लोक के तीसरे पाद में आया हुआ 'कर्मणि' पद सद्भावे कर्मणि, और साधुभावे कर्मणि में भी प्रयुक्त हुआ जानना चाहिए।।] ।। २६ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन! तू पृथा पुत्र है। तेरी माता कुन्ती ने तुझ को इन्द्र देवता से प्राप्त किया था। इस लिए तू इस संसार में देवता रूप में विद्यमान है। तेरी माता, नाते में मेरी भूआ है इस लिये तू मेरा प्रिय भ्राता और सखा है तेरी बुद्धि अति स्वच्छ और निर्मल है मेरी बात को जिस प्रकार तू समझता है उस प्रकार अधिक लोग न समझेंगे। देखो श्रुति में कहा है—"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।" अर्थात् हे सौम्य! यह "सत्" ही सामने (विद्यमान) है इस से प्रकट है कि "सत्" उस ब्रह्म का नाम है जो जगत् रूप में सदा सर्वत्र व्यापक है ॐ और तत् से मिलकर जो कर्म, ब्रह्म रूप हो जाते हैं। वे सत् से मिल कर कर्म करने वाले के मोक्ष का साधन बन जाते हैं। ईश्वर का 'सत्' नाम सद्भाव कर्म में प्रयोग किया जाता है। अविद्यमान वस्तु के विद्यमान हो जाने का नाम सद्भाव होता है जैसे जब किसी घर में पुत्र का अभाव होता है तो पुत्र को अविद्यमान या असद्भाव कहा जायेगा परन्तु जब प्रभु-कृपा से पुत्र की उत्पत्ति हो जाती है तो उसे सद्भाव या विद्यमान कहा जायेगा और उस पुत्र के नामकरण आदि जो संस्कार कर्म किए जाते हैं, उन सब शुभ कर्मों में मन्त्र उच्चारण करते समय संसार रूप होकर विद्यमान परब्रह्म को सम्पूर्ण कर्म की समाप्ति तक वहाँ विद्यमान समझना चाहिए और उसके मध्य में सत् नाम

का निरन्तर उच्चारण किया जाना चाहिए। इस प्रकार साधु भाव कर्म में भी विद्यमान् प्रभु का ध्यान करना चाहिए और उस के मध्य में निरन्तर सत् नाम का जप करते रहना चाहिए। साधुभाव कर्म उस कर्म का नाम है जो किसी दुराचारी को सदाचारी बनाने के लिए किया जाता है या जिस कर्म के द्वारा किसी विधर्मी का सनातन या वैदिक धर्म में प्रवेश करवाया जाता है उस सम्पूर्ण कर्म में ब्रह्म को विद्यमान् समझ कर सम्पूर्ण कर्म के मध्य में निरन्तर सत्-नाम का उच्चारण किया जाना चाहिए। इसी प्रकार विवाह आदि माङ्गलिक कर्म में भी किया जाना चाहिए। सारांश यह है कि यज्ञ, तप, दान और शेष सब संस्कार सम्बन्धी कर्मों में यथानिर्दिष्ट "ॐ तत् सत्" रूप प्रभु के मूल नाम रूप मन्त्र का उच्चारण किया जाता है जिस से ये सब क्रियाएँ सुख और शान्ति देने वाली हो जाती हैं। और मृत्यु के पश्चात् मोक्ष प्रदायिनी बन जाती हैं। किसी की मृत्यु के सयय भी निरन्तर 'राम नाम' "सत्" है का उच्चारण किया जाता है जिस से सब का कल्याण होता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः 'सत्'+इति च+उच्यते। कर्म च+एव तत्+अर्थीयम्+सत्+इति+इव+अभिधीयते।

यज्ञे=(पुं०) सप्त० ए० व०=यज्ञ में।

तपसि=(नपुं०)√तप्+असुन्=तपस्+सप्त० ए० व०=तप में।

दाने=(पुं०) सप्त० ए० व०=दान में।

च=और।

स्थितिः=(स्त्री०)√स्था+क्तिन्=स्थिति+प्र० ए० व०=(जो) स्थिति (है)। जो निष्ठा है। जो आस्था है। जो श्रद्धा है।

'सत्'=सत्।

इति=इस नाम से।

उच्यते=√वच्+कर्मवाच्य, लट्० प्र० पु०, ए० व०=(विद्वानों द्वारा) कही जाती है।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=(जो) कर्म (है)।

च=और।

एव=ही।

तत्+अर्थीयम्=(नपुं०) तस्य अर्थीयम्=उस ("ॐ तत्सत्" नाम वाले परब्रह्म) के लिए। अथवा

तेषाम् अर्थीयम्=उन (यज्ञ, तप, दान आदि) के लिए। [षष्ठी० तत्पु०]

[अर्थीयम्=(नपुं०, प्र० ए० व०)√अर्थ्+अक्=अर्थ+छ(ईय)+प्र० ए० व०=के लिए]

सत्='सत्' है।

इति=इस प्रकार।

एव=ही। भी।

अभिधीयते=अभि√धा (जुहो० उभ० सक०=निर्देश करना। कहना)+कर्म० लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है।

अर्थ—और (जो) यज्ञ कर्म में स्थिति, तप-कर्म में स्थिति तथा दान कर्म में स्थिति (श्रद्धा) है, (वह भी) सत् है, इस प्रकार (विद्वानों द्वारा) कहा जाता है। और उस (ॐ तत् सत् नाम वाले प्रभु) अथवा (यज्ञ०, दान, तप आदि) के लिये (किया हुआ) कर्म भी सत् है। ऐसा भी कहा जाता है॥ २७॥

व्याख्या—"ॐ तत् सत्" यह तीन अवयव वाला जो ब्रह्म का नाम है। इस श्लोक में उस के अंग-भूत "सत्" की विशेष व्याख्या की गई है इस सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! सात्त्विक यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति श्रद्धा, निष्ठा या तत्परता होती है वह उक्त ब्रह्म नाम का खण्ड "सत्" रूप ही होती है। कहने का भाव यह है कि उस श्रद्धा में मैं ही निवास करता हूँ अथवा वह मेरा ही स्वरूप होती है इस बात को समस्त ज्ञानी और विद्वान् लोग कहते हैं और उस मेरे "ॐ तत्सत्" नाम के निमित जो कर्म किए जाते हैं वे भी सत् नाम वाले या ब्रह्म-रूप ही होते हैं क्योंकि उन में मेरा निवास होता है, तथा यज्ञ, तप, दान आदि के लिए आहुति देना, मन्त्र पढ़ना, पूजन अर्चन करना व्रत रखना, दक्षिणा देना, ध्यान लगाना दत्त चित्त होकर प्रभु भक्ति में लीन होना धन-धान्य और धरती आदि का दान देना तथा श्रम-दान या देह-दान करना आदि सम्पूर्ण सकाम सात्त्विक कर्म भी 'सत्' नाम वाले कहे जाते हैं क्योंकि उन सब में भी प्रकट रूप में ब्रह्म का निवास होता है, कहने का भाव यह है कि ऐसे कर्म साक्षात् सत्-नाम वाले ब्रह्म ही होते हैं क्योंकि वे सब सकाम या निष्काम भाव से केवल भगवद् अर्पण बुद्धि से ही किए जाते हैं इस से सत् या विद्यमान ब्रह्म रूप ही हो जाते हैं इसलिए उन के करने से पुरुष को परमेश्वर की प्राप्ति होती है जिस का दूसरा नाम मोक्ष या कैवल्य मुक्ति होता है।

इस प्रकार किए हुए यज्ञ, तप और दान आदि यदि असात्त्विक और और विगुण हों तो श्रद्धा या निश्चय पूर्वक परमात्मा के "ॐ तत् सत्" नाम के प्रयोग से सगुण और सात्त्विक बना लिए जाते हैं॥

ॐ सर्व कर्मों के आरम्भ में प्रयोग किया जाता है, तत् केवल निष्काम कर्मों में वर्ता जाता है और 'सत्' सद् भाव अर्थात् पुत्रादि के जन्म जैसे कर्मों

में, साधु भाव अर्थात् किसी के सदाचारी या अन्य भ्रम मूलक मतों को छोड़ कर वैदिक मतावलम्बी होने वाली क्रियाओं में किंवा मोक्ष की आकांक्षा करने वालों द्वारा किए गये नाना प्रकार के यज्ञों में प्रयुक्त किया जाता है।

यज्ञ तप और दान आदि कर्मों में यदि किसी फल की आशा बनी रहे तो भी वह धर्म के अनुकूल ही होनी चाहिए जिस से वह कर्म सत् श्रेणी में गिना जा सके। निष्काप कर्म तो 'तत्' या परे की श्रेणी में ही गिने जाते हैं। प्रत्येक कर्म के आरम्भ में जो यह "ॐ तत् सत्" ब्रह्म संकल्प कहा जाता है उस में इन 'तत्' और 'सत्' दोनों श्रेणियों के कर्मों का समावेश होता है।

पुरुष को चाहिए कि वह सर्व कर्म ईश्वरार्पण ही किया करे क्योंकि ॐ ही तत् है ॐ ही सत् है उसे अर्पण किया हुआ कर्म ही सफल होता है ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

अश्रद्धया हुतम् +दत्तम+तप:+तप्तम+कृतम् च यत्। असत् +इति+उच्यते पार्थ ! न च तत्+प्रेत्य नो इह ॥

अश्रद्धया=(स्त्री०) न श्रद्धया (नञ् तत्पु०) "अश्रद्धा" शब्द का तृती० ए० व०। अश्रद्धा से। बिना श्रद्धा के।

हुतम्=(वि०)√हु+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=हवने किया हुआ। (होमा हुआ या किया हुआ) हवन।

दत्तम्=(वि०)√दा+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=दिया हुआ (दान)।

तप:=(नपुं०) तपस्+प्र० ए० व०=तप।

तप्तम्=(वि०)√तप्+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=तपा हुआ। किया हुआ।

कृतम्=(वि०)√कृ+(नपुं०) प्र० ए० व०=किया हुआ कर्म।

च=और।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो (कुछ भी)।

असत्=(वि०) न सत् (नञ् तत्पु०)√अस्+शतृ=सत्, अ का लोप=असत् (है)। सत् रहित है। ईश्वर सत्ता रहित है। मिथ्या है। झूठा है।

इति=ऐसा। इस प्रकार।

उच्यते=√वच्+कर्म० लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है।

पार्थ !=हे पृथा पुत्र (अर्जुन) !

न=न।

च=और।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह ।
प्रेत्य=प्र√इ=ल्यप्=मर कर । मरने के बाद ।
नो=न । No ।
इह=(अव्यय)=यहाँ । इस लोक में ।

अर्थ—हे पृथा पुत्र (अर्जुन) ! विना श्रद्धा के होमा हुआ (हवन), (विना श्रद्धा के) दिया हुआ (दान) (विना श्रद्धा के) तपा हुआ तप और (विना श्रद्धा के) और जो (कुछ भी) किया हुआ (कर्म) है । वह "असत्" है, इस प्रकार कहा जाता है । वह कर्म न मर कर (न मरने के बाद) और न यहाँ (इस लोक में) [लाभदायक या शुभ फल-प्रदाता होता है ॥ २८ ॥]

व्याख्या—हे पृथा पुत्र अर्जुन ! शुद्ध और पवित्र वंश में उत्पन्न होने से तू कभी श्रद्धा हीन नहीं हो सकता क्योंकि तेरा मन पूर्वले संस्कारों के कारण अत्यन्त शुद्ध और पवित्र है परन्तु जो लोग अच्छे संस्कारों वाले नहीं हैं तथा न ही अच्छे सात्त्विक गुणों वाले माता पिता से उत्पन्न हुए हैं और न जिन्हें सात्त्विकी संगति प्राप्त हुई है, उनके अन्तःकरण मैले और दोष युक्त होते हैं जिस से वे लोग सब शुभ कर्मों में सदा श्रद्धा हीन ही बने रहते हैं । जिस से उन के द्वारा अश्रद्धा से किए हुए यज्ञ तप दान और अन्य सब शुभ कर्म असत् या मिथ्या ही होते हैं । इन श्रद्धा से रहित किए हुए यज्ञादि कर्मों के द्वारा उस पुरुष के अन्तःकरण की शुद्धि कदापि नहीं हो सकती, जिस से उसको न इस जीवन में ही सुख प्राप्त होता है न मरने के बाद परलोक में ही शुभ गति मिलती है ।

निषिद्ध कर्मों के करने में तो श्रद्धा की आवश्यकता ही नहीं होती । उन को करते भी वही लोग हैं जिन की शास्त्र, महा पुरुषों और ईश्वर में श्रद्धा नहीं होती और उनको पाप कर्म करने से मिलने वाले बुरे फल का भी विश्वास नहीं होता । वे तो सदैव यही रागिनी अलापते रहते हैं कि "यह जग ही मीठा, अगला किसने डीठा ।" तथापि पाप रूप कर्मों का फल उन को अवश्य भोगना पड़ता है । इसलिए वेदों तत्पुरुषों और ईश्वर पर श्रद्धा रख कर ॐ तत्सत् उच्चारण करके पूरी आस्था और निष्ठा से यज्ञादि सर्व कर्मों का करना उचित हीं है जिससे इहलोक और परलोक दोनों सफल होते हैं । भगवान् ब्रह्मदेव ने प्रजा और यज्ञों को एक साथ उत्पन्न करके आदेश दिया था, कि तुम दोनों परस्पर एक दूसरे की वृद्धि करने वाले बनो । (गी० ३।१०)

"ॐ तत्सत्" में "ॐ" तो गूढाक्षर रूपी वैदिक मन्त्र है । उपनिषदों में ॐ का अनेक रीतियों से व्याख्यान किया हुआ है । जैसे प्रश्नोपनिषद के प्रश्न ५ के मन्त्र २ से ७ तक । माण्डूक्य० ८।१२ में और छांदोग्य० १।१ में भी इसी ओम् का वर्णन है ॥

'तत्' नाम है दृश्य-सृष्टि से परे रहने वाले पर-ब्रह्म का अर्थात् सृष्टि से दूर रहने वाले अनिर्वाच्य-तत्त्व का और सत् का अर्थ है आँखों के सामने वाली सृष्टि रूप परमेश्वर। इस "ॐ तत्सत्" संकल्प का पूरा अर्थ यह है कि उपरोक्त तीनों मिल कर सब ब्रह्म ही है। इस कारण से भगवान् ने गी० ९।१९ में कहा है कि "सदसच्चाहमर्जुन!" अर्थात् हे अर्जुन! मैं "सत्" (=परब्रह्म) और असत् (=दृश्य सृष्टि) दोनों ही हूं। संकल्प आदि में ॐ के बाद 'तत्' इसलिए कहा जाता है कि उस से फलाशा छोड़ कर किए हुए कर्म से परब्रह्म की प्राप्ति होती है क्योंकि तत् का अर्थ ही पर-ब्रह्म होता है और सत् के उच्चारण करने से दृश्य सृष्टि के भोग और स्वर्गादि प्राप्त होते हैं क्योंकि सत् का अर्थ विद्यमान है परन्तु श्रद्धा रहित होने से किसी के उच्चारण से कहीं भी कोई फल प्राप्त नहीं होता है बल्कि विपरीत इसके सब किए पापों के फल दुःख और शोक रूप में अवश्य प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥

ॐ तत्सत्। शुभमस्तु। मंगलमस्तु ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रय विभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्री भगवान् से गाए हुए [कहे हुए] उपनिषदों में ब्रह्मविद्या में, योगशास्त्र में, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में—श्रद्धात्रय विभाग योग नाम वाला सत्रहवाँ अध्याय कथित हुआ ॥

।। ॐ तत्सत् श्री परमात्मने नमः ।।

अथ अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ।। १ ।।

संन्यासस्य महाबाहो ! तत्त्वम्+इच्छामि वेदितुम् । त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक्+केशि-निषूदन ।।

संन्यासस्य=(पुं०) सम्-नि√अस्+घञ्+षष्ठी० ए० व०=संन्यास के ।

महा-बाहो !=(वि०) महान् बाहुः यस्य (बहुव्री०)=हे लम्बी भुजाओं वाले (श्री कृष्ण जी) ! हे महा शक्तिशाली (भगवान् कृष्ण) ! हे बाह्य दुःखों को दूर करने वाले परमेश्वर ! ।

तत्त्वम्=(नपुं०)√तत्+क्विप्, तुक्, पृषो० साधुः, तस्य भावः, तत्+त्व=तत्त्व+द्विती० ए० व०=तत्त्व को । वास्तविक दशा या परिस्थिति को ।

इच्छामि=√इष् (तुदा० पर० सक०=चाहना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=चाहता हूँ । इच्छा करता हूँ ।

वेदितुम्=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+तुमुन्=जानने के लिए । जानना ।

त्यागस्य=(पुं०)√त्यज्+घञ्+षष्ठी० ए० व०=त्याग के ।

च=और ।

हृषीक+ईश !=(वि०) हृषीकानाम् ईशः, (षष्ठी० तत्पु०) सम्बोधन ए० व०=हे इन्द्रियों के स्वामी ! । हे अन्तर्यामिन् ! ।)

पृथक्=(अव्यय)√प्रथ्+अच्, कित्, संप्रसारण=अलग-अलग ।

केशि-निषूदन !=(वि० सम्बो० ए० व०) केशिनामा हयच्छद्मा असुरः तं निषूदितवान् यः सः (बहुव्री०) छल से घोड़ा बना केशि नाम का असुर था । उसको भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी ने मारा था । इसलिए उनका नाम "केशि निषूदन" हुआ । हे केशि निषूदन ! [णिषूदन=(पुं०) नि √सूद् (भ्वा० आत्म० पर० सक०=मार डालना)+णिच्+ल्यु=मार डालने वाला । वध करने वाला ।]

अर्थ —अर्जुन बोला—

हे महाबाहो !, हे हृषीकेश !, हे केशिनिषूदन ! संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक् जानने के लिए (मैं) इच्छा करता हूँ ।। १ ।।

व्याख्या—अर्जुन एक सच्चे और श्रद्धालु शिष्य की तरह भगवान् से ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति कर रहा है और गूढ रहस्य जानने की इच्छा करता है इसलिए पहले भगवान् को महाबाहु, केशिनिषूदन और हृषकेश कह कर उन की प्रशंसा करता है जिस का भाव यह है कि आप सब तरह से सम्पूर्ण और सब भान्ति से समर्थ हैं । आपकी भुजाएँ बहुत लम्बी हैं और आपकी भुजाएँ अनन्त हैं अर्थात् आप की पहुँच सम्पूर्ण स्थलों में है और आप ने बालपन में ही केशि नाम के महा मायावी उस असुर का वध किया था जो घोड़े का स्वांग भर कर आपके हाँ आया था और दुष्ट-बुद्धि आप को मारना चाहता था । इन दोनों विशेषणों से सिद्ध होता है कि आप बाहर से पूर्णतया हमारी रक्षा करने में समर्थ हैं ।

हृषीक नाम इन्द्रियों का और ईश उनके स्वामी को कहते हैं इस लिए आप इन्द्रियों के स्वामी हो अर्थात् सब के अन्र्यामी हो । इस से सिद्ध होता है कि आप भीतर से भी हमारी रक्षा करने वाले हो अर्थात् मानसिक पापों से भी हमें बचाने वाले हो । इसलिए हे भगवन् ! हे स्वामिन् ! हे अन्तर्यामिन् ! मुझ पर कृपा कीजिए और 'संन्यास' तथा 'त्याग' इन दो शब्दों का अर्थ मुझ से पृथक् पृथक् कहिये क्योंकि मुझे तो ये दोनों शब्द समानार्थ ही प्रतीत होते हैं ।

संन्यास या सांख्य-योग का क्या स्वरूप है उस में कौन-कौन से कर्म और भाव सहायता करते हैं ? तथा कौन से बाधा डालते हैं ?

और फलासक्ति के त्याग रूप कर्म योग का क्या स्वरूप है ? इस में कौन-कौन से सहायक और बाधक होते हैं ?

इन दो प्रकार के योगों में भक्ति का स्थान कौन सा है ? इन सब को तथा इन से सम्बन्ध रखने वाली अन्य बातों को भी मेरे प्रति समझा कर कहिए क्योंकि आप तो सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और समस्त दोषों के नाश करने वाले साक्षात् परमेश्वर ही कृष्ण रूप में मेरे सम्मुख विद्यमान हो ।। १ ।।

श्री भगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। २ ।।

काम्यानाम् + कर्मणाम् + न्यासम् + संन्यासम् + कवयः + विदुः । सर्व-कर्म-फल-त्यागम् + प्राहुः + त्यागम् + विचक्षणाः ।।

काम्यानाम् = (वि०)√कम् + णिङ् + यत् = काम्य + (नपुं०) षष्ठी० ब० व० वाञ्छनीयों के । किसी विशेष कामना से किए हुओं के । अश्वमेध-पुत्रेष्टि आदियों के ।

कर्मणाम्=(नपुं०)√कृ+मनिन्=कर्मन्+षष्ठी० ब० व०=कर्मों के।

न्यासम्=(पुं०) नि√अस्+घञ्+द्विती० ए० व०=न्यास को। त्याग को। छोड़ने को।

सन्यासम्=(पुं०) सम्—नि√अस+घञ्+द्विती० ए० व०। संन्यास को। संन्यास।

कवयः=(वि० पुं०)√कव् (भ्वा० आत्म० सक०=प्रशंसा करना। वर्णन करना। चित्रण करना)+इन्=कवि+प्र० ब० व०=कवि लोग। पण्डित जन। बुद्धिमान् लोग।

विदुः=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=जानते हैं।

सर्व-कर्म-फल-त्यागम्=(पुं०) सर्वेषां कर्मणां फलानां त्यागः तम् (षष्ठी० तत्पु०) द्विती० ए० व०=सम्पूर्ण कर्मों के फलों के त्याग को।

प्राहुः=प्र√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लट्० प्र० पु०, ब० व० =कहते हैं।

त्यागम्=(पुं०)√त्यज्=घञ्+द्विती० ए० व०=त्याग को। त्याग।

विचक्षणाः=(वि० पुं०) वि√चक्ष्+युच्=विचक्षण+प्र० ब० व०=पारदर्शी जन। दीर्घ-दर्शी लोग। विचार-कुशल जन। पण्डित लोग॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

(पुत्रेष्टि, अश्वमेध आदि) काम्य (सकाम) कर्मों के संन्यास (त्याग) को (बुद्धिमान्-पण्डित) लोग सन्यास जानते हैं। और सब कर्मों के फलों के त्याग को विचक्षण (विशेष नेत्रों वाले-बुद्धि नेत्रों वाले-विचार-कुशल) लोग त्याग कहते हैं॥ २॥

व्याख्या—काम्य का अर्थ फलाशा होता है। शास्त्र मे जिन कर्मों के करने का विधान किसी फल की प्राप्ति के लिये किया गया है वे काम्यकर्म कहलाते हैं। जैसे "स्वर्गकामो यजेत, पुत्रकामो यजेत, पशुकामो यजेत" इस प्रकार के ज्योतिष्टोमादि सब कर्म काम्य कर्म होते हैं। इनके करने से स्त्री, पुत्र, धन, धान्य और आजीविका आदि की प्राप्ति होती है रोग नष्ट होकर शरीर नीरोग हो जाता है, सब प्रकार के भय और सकट रुक जाते हैं क्योंकि ये सब कर्म उपरोक्त फलादियों की प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं इसी कारण से काम्य कर्म कहलाते हैं। मनु जी ने इन को प्रवृत्त कर्म कहा है और निष्काम कर्म को निवृत्त-कर्म का नाम दिया है। यह बात "मनुस्मृति १२।८८,८९॥" में वर्णित है। पुत्र-प्राप्ति के लिये काम्य कर्म पुत्रेष्टि यज्ञ किया जाता है। परन्तु यदि कोई काम्य कर्म मन में फल की इच्छा न रख

कर कर्त्तव्य समझ कर किया जाए तो वह भी निष्काम भाव को प्राप्त हो जाता है। काम्य कर्मों के अनुष्ठान करने से फल की प्राप्ति तो अवश्य ही होती है परन्तु इन से अन्त:करण की शुद्धि नहीं होती। इसी कारण से सूक्ष्म-दर्शी बुद्धिमान् पण्डित लोग सकाम कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं अर्थात् कर्त्तव्य रूप से प्राप्त शास्त्र विहित सकाम कर्मों के न करने को 'संन्यास' शब्द का अर्थ समझते हैं। इस कथन से भगवान् ने यह भाव दिखलाया है कि बहुत से विद्वानों के मन में काम्य-कर्मों का फल सहित स्वरूप से त्याग कर देना ही संन्यास है। सब प्रकार के काम्य-कर्म कर्ता के लिये बन्धक होते हैं क्योंकि उन के फल भोगने के लिये कर्ता को बार बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जिन में वह कर्ता को उनके अनेक फल भोगवाते हैं। काम्य-कर्मों के त्याग का नाम ही संन्यास है। संन्यास मोक्षार्थी तो भूल कर भी काम्य कर्मों का अनुष्ठान नहीं करता क्योंकि वह समझता है कि काम्य कर्मों को करके कर्ता कभी उनका फल भोगने से बच नहीं सकता, क्योंकि यदि प्रत्यक्ष रूप से कामना न भी की जाये तो भी उनके फल बीज बन कर उसी प्रकार अंकुरित हो जाते हैं जिस प्रकार कृषक के न चाहने पर भी उस के खेत में नाना प्रकार की जड़ी बूटियाँ अपने आप उग आती हैं जिन के बीज खेत में पहले ही अपने आप गिरे हुए होते हैं। यदि कोई आदमी अनजाने में भी अपने मुँह में गर्म खीर डालता है तो क्या उस का मुँह भीतर से जल नहीं जाता? अथवा अनजाने में मुँह में गुड़ डालने से उस का मुँह मीठा नहीं हो जाता है? जिस प्रकार अनजाने में भी मुँह का जलना और मीठा होना दोनों कार्य हो जाते हैं। इसी प्रकार काम्य कर्म बाहर से निष्काम भाव से किए हुए भी कुछ न कुछ थोड़ा बहुत फल अवश्य देते हैं इसलिये संन्यासी लोग इन का सर्वथा त्याग कर देते हैं अर्थात् वे अपनी साधना का जीवन प्रारम्भ हो जाने पर फिर इनको कभी नहीं करते। जिन कर्मों को नित्य किये बिना मनुष्य का छुटकारा किसी प्रकार भी कदापि नहीं हो सकता वे नित्य कर्म कहलाते हैं और जो कर्म किसी विशेष निमित्त से किए जाते हैं वे नैमित्तक कर्म कहलाते हैं। जैसे शरीर शुद्धि के लिए स्नान करना यह नित्य कर्म है इसी प्रकार आत्म-शुद्धि के लिये सन्ध्या-वन्दन करना और गीता आदि पढ़ना भी नित्य कर्म है। अतिथि-सत्कार, अग्नि होत्र और पितृ श्राद्ध आदि कर्म जिन से देवतों और पितर आदियों के ऋण दूर होते हैं वे सब नैमित्तक कर्म कहलाते हैं। ये नित्य और नैमित्तक कर्म तो संन्यासियों को भी करने पड़ते हैं, क्योंकि इनसे शरीर के बाह्य स्वरूप और अन्तरात्मा की शुद्धि होती है और इन कर्मों के फल का भी कोई बन्धन नहीं होता। यद्यपि ये दोनों ही प्रकार के कर्म बाँझ और निष्फल होते हैं परन्तु जिस प्रकार भोजन करने से जीव की तृप्ति होती है और जल-पान करने से तृषा शान्त होती है इसी प्रकार

इन नित्य और नैमित्तक कर्मों के करने से मनुष्य की केवल तृप्ति और शान्ति ही होती है। कर्म का कोई बन्धन नहीं होता। निषिद्ध कर्म तो स्वभावतः ही त्याज्य होते हैं. जिस प्रकार सिर के कट जाने पर शेष शरीर अपने आप ही धरती पर गिर पड़ता है इसी प्रकार काम्य कर्मों के त्याग देने पर निषिद्ध कर्म अपने आप ही त्यक्त हो जाते हैं।

नित्य-नैमित्तक तथा और जो कर्म करने हों उनके फल की आशा न करना त्याग कहलाता है। इस लोक और परपलोक के जितने भी भोग हैं उन सब की कामना का सर्वथा त्याग करना समस्त कर्मों का त्याग होता है। विचारशील पुरुष ऐसा निरूपण करते हैं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि कर्म मात्र का त्याग तो संन्यास होता है और शुभ कर्म तो करते चले जाना परन्तु उनके सब प्रकार के फलों को त्याग देना—'त्याग' होता है। वास्तव में संन्यास और त्याग एक ही श्रेणी के दो शब्द हैं और दोनों का अर्थ त्याग ही होता है संन्यास का अर्थ भीतर बाहर दोनों प्रकार से कर्मों और उनके फलों का त्याग होता है परन्तु यहाँ 'त्याग शब्द का अर्थ करते हुए भी भीतर से उनके फलों की इच्छा का त्याग करना होता है। वहिरंग संन्यासी भी अनेक प्रकार के होते हैं जिन में से मुख्य संन्यासी निम्नलिखित हैं—

१—कुटीचर—घर बार सब कुछ त्याग कर कहीं बाहर कुटिया में रहने और सब को समान समझने वाले।

२—क्षेत्र अवस्था में संन्यासी मधूकरी माँग कर खाता है।

३—बहूदक—एक ही स्थान पर अधिक काल न ठहरने वाले संन्यासी।

४—विविदिषा—दिनरात श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते रहना जिन का काम है वे संन्यासी लोग।

५—विद्वत्—जीवनमुक्ति का आनन्द लेने के लिए ज्ञानावान् होकर आत्म साक्षात् कर लेने वाले।

६—हूँस—हँस पक्षी की भान्ति नीर-क्षीर विलगाने की तरह संसार के सार ब्रह्म को ग्रहण करने वाले।

७—परमहँस—वस्त्रादि सब कुछ त्याग कर केवल अपने स्वरूप में निष्ठित हो मौन धारी होकर रहने वाले ॥२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

त्याज्यम्+दोष-वत्+इति+एके कर्म प्राहुः+मनीषिणः। यज्ञ-दान-तपः-कर्म न त्याज्यम्+इति च+अपरे ॥

त्याज्यम्=(वि० नपुं०)√त्यज् (भ्वा० पर० सक० अ०=त्यागना)+ण्यत्

+प्र० ए० व०=त्याज्यम्=त्यागने योग्य। (त्यक्तव्यम्)।

दोष-वत्=(नपुं०) दोषः अस्य अस्ति सः=जिसमें दोष है वह=दोष-वत् (दोष +मतुप्)=दोष वाला। दोष युक्त। प्र० ए० व०। (बहुव्रीहि समास)।

इति=ऐसा। ऐसे। इस प्रकार।

एके=(वि० पुं०, प्र० ब० व०) कई एक।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म।

प्राहुः=प्र√ब्रू+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=कहते हैं।

मनीषिणः=(वि० पुं०) मनीषा (स्त्री०) [मनसः ईषा। मनरूपी गाड़ी का अगला दण्डा। मन रूपी हल की हलस अर्थात् बुद्धि]+इनि=मनीषिन्+ प्र० ब० व०=बुद्धिमान् लोग। विचार शील पुरुष। पण्डित लोग। धीमान् जन!

यज्ञ-दान-तपः-कर्म=(नपुं०) यज्ञस्य च दानस्य च तपसः च कर्म [समाहार द्वन्द्व समास—प्र० ए० व०]=यज्ञ, दान और तप के कर्म। यज्ञ, दान और तप रूपी सम्पूर्ण कर्म।

न=न। नहीं।

त्याज्यम्=(वि०, नपुं०, प्र०, ए० व०)=छोड़ने योग्य। त्यागने योग्य।

इति=ऐसा। ऐसे। इस प्रकार।

च=और।

अपरे=(वि० पुं०) प्र० ब० व०=दूसरे (विद्वान् लोग कहते हैं)।

अर्थ—कई एक बुद्धिमान् लोग इस प्रकार कहते हैं, कि (सभी) कर्म दोष वाले (होने से) त्यागने योग्य हैं और दूसरे बुद्धिमान् ऐसा कहते हैं, कि यज्ञ, दान, तप, रूप, कर्म त्यागने योग्य नहीं है॥ ३॥

व्याख्या—कुछ बुद्धिमान् लोग कहते हैं कि जब यह एक मानी हुई बात है कि जिस प्रकार अग्नि के साथ धुएँ का संयोग होता है। उसी प्रकार प्रत्येक कर्म के साथ थोड़ा बहुत दोष या पाप अवश्य मिला हुआ होता है। चाहे वह कर्म नित्य है, चाहे नैमित्तिक है। चाहे काम्य कर्म है, चाहे वह प्रायश्चित कर्म है। भले ही वह किसी अन्य प्रकार का या निष्काम कर्म हो। देखो जब हम स्नान करते हैं तो सरोवर के जल-जीवों को कष्ट होता है और हमारे स्पर्श से जल के भीतर रहने वाले जीवाणु रूप प्राणी नष्ट होते हैं। जब हम अग्नि होत्र करते हैं तो लकड़ी में रहने वाले कीड़े जलते हैं वह घी, शक्कर, जौ, चावल और मेवे आदि से निर्मित सामग्री जो हम आग में भस्म करते हैं वह दीन, दुःखी, क्षुधा पीड़ितों और रोगियों को खाने से हितकारी हो सकती थी। तप द्वारा अन्तरात्मा को क्लेश देना होता है। यज्ञों में प्रयोग

में लाये हुए आटे में गेहूँ के साथ घुण भी पिसा हुआ होता है। चावलों और अन्य सामग्री से निकाल कर बाहर फैंके हुए कीड़े भी मरे होंगे। जले हुए सैंकड़ों मन ईंधन के साथ भी अनेक जीव जले होंगे इत्यादि प्रत्येक कर्म जब दोषयुक्त ही है तो उन को क्यों करना चाहिये ? इसलिये उन सब को त्याग देना ही उचित है।

अन्य बुद्धिमान् लोग कहते हैं, कि इन सब स्वरूपत: कर्म त्यागियों की ये युक्तियाँ उक्तियाँ युक्त और उचित नहीं हैं क्योंकि संसार में कोई जीवित प्राणी ऐसा नहीं हो सकता जो सम्पूर्ण कर्मों को त्याग कर फिर जीवित रह सके क्योंकि साँस लेना भी एक कर्म है। हिलना, जुलना, खाना, पीना टट्टी जाना, थूकना, खाँसना आदि ये सब शारीरिक कर्म हैं जब शरीर को स्थिर और जीवित रखने के लिए ये सब कर्म बरवस करने पड़ते हैं तो मन को शुद्ध और निर्मल रखने वाले यज्ञ, दान, तप आदि तथा नित्य नैमित्तक, काम्य और प्राश्चित आदि सब कर्म अवश्य किए जाने चाहिएँ परन्तु उन में फलेच्छा और आसक्ति का अभाव होना परमावश्यक है आलसी, निखट्टू और कष्ट-भीरु होकर कर्मों का त्याग करना तामसी और राजसी पुरुषों को कदापि उचित नहीं है क्योंकि इस तरह बे समझी से कर्मों का-त्याग करके गेरुए वस्त्र धारण करके भिक्षा द्वारा धन एकत्रित करना पाप और नरक द्वारों में प्रवेश करवाने वाला होता है यदि सब मूर्ख लोग कर्मों का त्याग करना ठीक समझ कर भीख मांगने लगें तो भिक्षा देने वाला कोई न रह जाएगा इस तरह सब प्रकार की लोक मर्यादा और जगत् व्यवहार भंग हो जायेंगे और यह सब कार्य सृष्टि-रचयिता की इच्छा के विरुद्ध होगा परन्तु यह व्याख्या उन ज्ञानवान् ब्रह्मलीन सन्तों के विषय में नहीं है जो आत्म-साक्षात्कार किए हुए हैं। शारीरिक पीड़ा के निमित्त से होने वाले दु:खों को आत्मा में देखते ही नहीं हैं। अत: वे शारीरिक क्लेश जन्य दु:खों के भय से कर्मों को नहीं छोड़ते।

तथा बे आत्मा में कर्मों का अस्तित्व भी नहीं देखते, जिस से कि उनके द्वारा मोह से, नियत कर्मों का त्याग किया जा सकता हो।

"सारे कर्म प्रकृति के तीनों गुणों के हैं मैं तो कुछ भी नहीं करता क्योंकि गुण ही गुणों में बर्त रहे हैं" ऐसा समझ कर ही वे ब्रह्म ज्ञानी लोग कर्मों का संन्यास या त्याग करते हैं वे महापुरुष तो पहले ही शास्त्रों द्वारा कर्माधिकार से अलग कर दिए गए हैं। उन का त्याग मोह या दु:ख के निमित्त से कदापि नहीं होता। वे संन्यासी महात्मा लोग तो गीता में पूर्व कहे हुए—"सर्व संकल्प संन्यासी", "सर्वारम्भपरित्यागी", "मौनी", "सन्तुष्टो येनकेनचित्", अनकेत: स्थिरमति:' इत्यादि विशेषणों से युक्त होते हैं। तथा गुणातीत होते हैं। ज्ञान की परा-निष्ठा से युक्त होते हैं। इसलिए इस श्लोक में कहा गया यह

संन्यास और त्याग सम्बन्धी विकल्प केवल उन कर्माधिकारियों के विषय में ही है जो राजस और तामस स्वभावों वाले हैं ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

निश्चयम्+शृणु मे तत्र त्यागे भरत-सत्तम ! त्यागः+हि पुरुष-व्याघ्र ! त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ।

निश्चयम्=(पुं०) निर√चि (चुरा०, स्वा०, उभ० सक०=चयन करना) +अप्+द्विती० ए० व०=निश्चय को । दृढ़ विचार को । विश्वास को । निर्णय को । फैसले को ।

शृणु=√श्रु (स्वा० पर० अक०=सुनना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) सुन ।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरे ।

तत्र=(अव्यय) वहाँ । उस ।

त्यागे=(पुं०)√त्यज्+घञ्+सप्त० ए० व०=त्याम में ।

भरत-सत्तम=(वि० पुं० सम्बो० ए० व०) भरतानां सत्तम !=भरतानां साधुतमः) हे भरत वंशियों में श्रेष्ठतम (अर्जुन) !

त्यागः (पुं०) प्र० ए० व०=त्याग । संन्यास ।

हि=क्योंकि । ही । भी ।

पुरुष-व्याघ्र !=(वि० पुं० सम्बो० ए० व०) पुरुषाणां व्याघ्र !=पुरुषाणां वीर श्रेष्ठ !=हे पुरुषसिंह ! हे वीर श्रेष्ठ !

त्रिविधः=(पुं० वि०) त्रयाणां विधानां यः सः (बहुव्री०)=तीन प्रकार का ।

सम्प्रकीर्तितः=(वि० पुं०) सम्-प्र√कृ (कीर्त) (तुदा० पर० सक०=कहना) +क्त+प्र० ए० व०=कहा गया है ।

अर्थ—हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ ! हे पुरुष सिंह (अर्जुन) ! उस त्याग (या संन्यास के विषय) में (अब तू) मेरे निश्चय को सुन । (वह) त्याग भी (सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे) तीन प्रकार का कहा गया है ॥ ४ ॥

व्याख्या—भरतसत्तम और पुरुष व्याघ्र सम्बोधनों से अर्जुन की कुलीनता और शूरवीरता प्रदर्शित की गई है क्योंकि इन दोनों से युक्त पुरुष ही त्याग करने में समर्थ होता है । भगवान् ने कहा—कि हे अर्जुन ! जिस त्याग का स्वरूप तूने पूछा है उस के सम्बन्ध में ये दो प्रकार के बुद्धिमानों के मत मैंने पूर्व श्लोक में कहे हैं इस विषय में अब मेरा विचार भी ध्यान पूर्वक सुनो । त्याग और संन्यास दोनों का वाच्य अर्थ समान ही है और यह त्याग भी यज्ञ

दान और तप की भान्ति सात्त्विक राजस और तामस तीन भेदों वाला होता है। उस में से तामस और राजस त्याग ज्ञानियों का होना तो किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। यह तो केवल आत्म-ज्ञान रहित कर्माधिकारी-कर्मी पुरुषों का ही हो सकता है। आत्मज्ञानी या परमार्थ ज्ञानी का नहीं। यह अभिप्राय: समझ में आना बड़ा कठिन है। इस लिए तू इस को जानने के लिए मेरे वचनों को ध्यान से सुन ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञ-दान-तप:-कर्म न त्याज्यम्+कार्यम्+एव तत्। यज्ञ:+दानम्+तप:+च+एव पावनानि मनीषिणाम् ॥

यज्ञ-दान-तप:-कर्म=यज्ञस्य दानस्य तपस: च कर्म=यज्ञ दान और तप सम्बन्धी कर्म।

[कर्म=नपुं० प्र० ए० व०] यज्ञो दानं तप इति एतत् त्रिविधं कर्म।

न=न। नहीं।

त्याज्यम्=√त्यज्+ण्यत्+(नपुं०) प्र.० ए० व०=छोड़ने योग्य। त्यागने योग्य।

कार्यम्=√कृ+ण्यत्+(नपुं०) प्र०, ए० व०=कार्य, करणीयं, कर्तव्यम्=करना चाहिए।

एव=ही।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र०, ए० व०=वह (यज्ञ, दान, तप सम्बन्धी तीन प्रकार का कर्म)

यज्ञ:=(पुं०) प्र०, ए० व०=यज्ञ।

दानम्=(नपुं०) प्र०, ए० व०=दान।

तप: =(नपुं०) तपस्+प्र०, ए० व०=तप।

च=और।

एव=(अव्यय) ही।

पावनानि=(नपुं० वि०) √पू (भ्वा० आत्म० क्र्या० उभ० सक०=पवित्र करना)+णिच्+ल्यू=पावन+ प्र० ब० व०=पवित्र करने वाले (हैं)।

मनीषिणाम्=(वि० पुं०) मनीषा (मन रूपी रथ या हल का अग्र भाग या हलस रूपी बुद्धि)+इनि=मनीषिन्+षष्ठी० ब० व०=बुद्धिमानों के। विचारशील पुरुषों के।

अर्थ—यज्ञ, दान और तप सम्बन्धी (तीन प्रकार का) कर्म त्यागने

योग्य नहीं है। [अर्थात् इन तीनों का त्याग करना उचित नहीं है।] वह (यज्ञ, दान और तप संबन्धी तीन प्रकार का कर्म) करना ही चाहिए (क्योंकि) यज्ञ, दान और तप (ये तीनों) ही विचारशील या बुद्धिमान् (कामना रहित) पुरुषों के पवित्र करने वाले हैं ।। ५ ।।

व्याख्या—मनीषी या बुद्धिमान् वही पुरुष होता है, जो फल की कामना और आसक्ति को त्याग कर केवल भगवत् —अर्थ ही कर्म करता है, क्योंकि ऐसा करने से ही उस को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, वह तो निरा बुद्धू और मूर्ख ही होता है जो जन्म मरण के दु:खदायी चक्र से छूटने का उपाय नहीं करता, और यह चक्र तभी छूटता है जबकि मनुष्य सब प्रकार से पवित्र, शुद्ध और निर्मल हो जाता है। निष्काम भाव से आसक्ति रहित होकर वेद मन्त्रों सहित विधि पूर्वक नित्य यज्ञ हवन करना, देश काल और पात्र का विचार करके यथा-शक्ति अन्न-धन, धान्य-धाम, वस्त्र-श्रम अभय और पृथिवी आदि दान देना तथा ईश्वर चिन्तन-स्वाध्याय, ध्यान, योग, इन्द्रिय-निग्रह आदि शास्त्र विहित तप करना आदि कर्म बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करने वाले होते हैं अर्थात् निष्काम भाव और आसक्ति रहित हो कर किए हुए ये तीनों प्रकार के कर्म बुद्धिमान् मनुष्य के बन्धन रूप शुभाशुभ कर्मों के फलों से छुटकारा करा देते हैं। इसी का नाम उस का पवित्र शुद्ध या निर्मल होना है। इस लिये इन तीनों कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है। अतएव यज्ञ दान और तप इन तीनों को बुद्धिमान् पुरुष सदा आजीवन करता रहे। जब तक अन्तिम स्थान प्राप्त न हो, ममुष्य को चलते ही रहना चाहिए। जब तक तृप्ति न हो, थाली में पड़ा खाना खाते ही रहना चाहिए। जब तक खोई हुई वस्तु प्राप्त न हो जाए तब तक उस का अनुसन्धान करते रहना चाहिए। फल लगने तक केले में पानी सींचते रहना चाहिए। समुद्र उत्तीर्ण होने तक जहाज पर चढ़ें रहना चाहिए। वैसे ही जब तक आत्मज्ञान के विषय में उत्तम रीति से निश्चय न हो जाए अर्थात् जब तक आत्म स्वरूप पर-ब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार न हो जाये तब तक यज्ञ, दान और तप सम्बन्धी कर्म करते रहना चाहिए ।। ५ ।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।। ६ ।।

एतानि+अपि तु कर्माणि सङ्गम्+त्यक्त्वा फलानि च। कर्त्तव्यानि +इति मे पार्थ! निश्चितम्+मतम्+उत्तमम् ।।

एतानि=एतद् (सर्व०)+प्र० ब० व०=ये।

अपि=भी।

तु=परन्तु।

कर्माणि=(नपुं०) कर्मन्+प्र०, व० व० (यज्ञ दान तप रूप तीनों) कर्म ।

सङ्गम्=(पुं०) √सञ्ज्+घञ्=सङ्ग+द्विती० ए० व०=सङ्ग को । आसक्ति को ।

त्यक्त्वा=√त्यज्+क्त्वा=त्याग कर ।

फलानि=(नपुं०) फल+द्विती० ब० व०=फलों को ।

च=और ।

कर्तव्यानि=(वि०) √कृ+तव्य=(नपुं०) प्र० ब० व०=करने के योग्य हैं । करने चाहिए ।

इति=इस प्रकार । ऐसा । ऐसे ।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा ।

पार्थ !=(सम्बो०), (पुं०) ए० व० । हे पृथा (कुन्ती) पुत्र (अर्जुन) !

निश्चितम्=(वि०) निर् √चि+क्त—निश्चित+(नपुं०) प्र०, ए० व०= निश्चय किया हुआ । निश्चित । पक्का ।

मतम्=(नपुं०) √मन्+क्त=मत+प्र० ए० व०=मत । दृढ़ विचार ।

उत्तमम्+(वि०) उद्+तमप्=उत्तम+(नपुं०) प्र० ए० व०=उत्तम । सर्वोत्कृष्ट । सब से अच्छा ।

अर्थ—परन्तु हे पृथा पुत्र (अर्जुन) ! ये (यज्ञ, दान तप-रूपी तीनों) कर्म सङ्ग (आसक्ति) और फलों को त्याग कर (अवश्य) करने चाहिएं । ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे पृथा पुत्र अर्जुन ! मेरे इस गूढ़ उपदेश को ध्यानपूर्वक सुनो जो मनुष्य को संसार से मुक्त कराने वाला है । ऊपर जो दो प्रकार के विद्वानों के मत दर्शाये गये हैं, वे दोनों ही अधूरे हैं । क्योंकि धर्म शास्त्र में यज्ञ, दान आदि जिन कर्मों को करने के लिये कहा गया है वे सब काम्य कर्म हैं । किसी को करते समय पुत्र की इच्छा की जाती है, किसी में धन की मांग है, किसी के द्वारा राष्ट्र की रक्षा के लिये याचना की जाती है । इसी प्रकार किसी में ऐश्वर्य या प्रभुता की वृद्धि, धरती तथा राज्य की प्राप्ति, पशु समूह और अपने और स्वजनों के स्वास्थ्य की वृद्धि के लिये प्रार्थना की जाती है एवं किसी कर्म के द्वारा सुन्दर और सुशील स्त्री की कामना की जाती है और कोई यज्ञ, दान केवल रोग की निवृत्ति तथा शत्रुभय के अपनय के हेतु ही किया जाता है । इन सब कर्मों की काम्यता को देख कर ही पहली प्रकार के विद्वान् सब कर्मों को स्वरूप से ही त्यागने का उपदेश करते हैं क्योंकि कर्मों की आसक्ति और उन के द्वारा इस लोक और परलोक में प्राप्त होने वाले फलों की कामना

ही कर्ता को बन्धन में डालने वाली होती है। परन्तु ये लोग इस बात को कहते हैं "कि जब ये काम्य कर्म ही आसक्ति और फलेच्छा से रहित होकर केवल कर्तव्य समझ कर लोकोपकार के हेतु ही किए जाते हैं तो वे संसार बन्धन से छुड़ाने वाले बन जाते हैं। क्योंकि इन के द्वारा धीरे धीरे आत्म शुद्धि होकर आत्म-साक्षात्कार होने लगता है। काम्य कर्म दोषवत् इसी कारण से कहे जाते हैं कि उन के द्वारा इह लोक और परलोक के सुखों की कामना की जाती है परन्तु जब इस कामना को मक्खन से मक्खी और बाल की तरह बाहर निकाल दिया जाता है तो यही सब कर्म निर्दोष और मोक्ष के लिये पुष्टि कारक हो जाते हैं जो दूसरे बुद्धिमान् लोग काम्य कर्मों को आँखें बन्द करके करने का उपदेश करते हैं उन का यह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार फलेच्छा से किये हुए कर्म इस लोक और परलोक के सुख ऐश्वर्य और भोग अवश्य प्राप्त करवा देते हैं परन्तु साथ ही उनके फलों को भोगने के लिये जन्म-मरण के चक्कर में भी फँसा देते हैं, निषिद्ध कर्मों की तो बात ही क्या है वे तो नरकों को ले जाने वाले और अधमाधम योनियों में जन्म दिलाने वाले ही होते हैं। इस लिये हे अर्जुन ! मेरे निर्णीत अत्यन्त उत्तम इस सिद्धान्त को ध्यान पूर्वक सुनो और सदैव इस पर आचरण करो—शास्त्र विहित सब प्रकार के यज्ञ दान, तप और अन्य सब शुभकर्म अवश्य करो। परन्तु उनमें फलेच्छा कभी न करो और सब प्रकार की आसक्ति से रहित रहो। कर्तापन का अभिमान भूल कर भी न करो ऐसे सारे कर्म लोकोपकारार्थ और ईश्वरार्पण दृष्टि से ही किये जाने चाहिएँ। ऐसा करने से तुम अत्यन्त पवित्र होकर भव सागर से पार हो जाओगे और मेरे निराकार शुद्ध ब्रह्म स्वरूप में मिल जाओगे ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ ७ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणः+न+उपपद्यते । मोहात्+तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्त्तितः ॥

नियतस्य=(वि०) नि√यम्+क्त+(नपुं०) षष्ठी० ए० व०=नियम द्वारा स्थिर किए हुए का। नियम से बँधे हुए का। नित्य नैमित्तिक का। नियत का। कर्त्तव्य का। अपने धर्म रूप का। नियत किए हुए का। नियत का।

तू=तो, परन्तु, और।

सन्यासः=(पुं०) सम्-नि√अस्+क्त+प्र० ए० व०=त्याग।

कर्मणः=(नपुं०) कर्मन्+षष्ठी० ए० व०=कर्म का।

न=न। नहीं।

उपपद्यते=उप√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =उपयुक्त। योग्य है। उचित है।। युक्तियुक्त है। यथार्थ है।

मोहात्=(पुं०) √मुह्+घञ्+मोह+पंच० ए० व०=मोह से। भ्रम से। अज्ञान से।

तस्य=तद् (सर्व०)+(नपुं०) षष्ठी० ए० व०=उस (नियत कर्म) का।

परित्यागः=(पुं०) परि√त्यज्+(भावे) घञ्+प्र० ए० व०=परित्याग। छोड़ना। त्याग।

तामसः=(वि० पुं० प्र० ए० व०) तमस्+(तस्येदम्) अण्=तामसः। तामस।

परिकीर्तितः=परि√कीर्त्+(कर्मणि)=क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है।।

अर्थ—और नियत-कर्म का त्याग (करना) उचित नहीं है। मोह से, उसका त्याग तामस कहा गया है।। ७।।

व्याख्या—स्वर्गादि फल की इच्छा वाले काम्य कर्मों से यहाँ और स्वर्ग दोनों स्थानों में जो सुख और भोग प्राप्त होते हैं वे सब अस्थायी ही होते हैं और ये सब काम्य कर्म पूरी तरह से अन्तःकरण की शुद्धि भी नहीं करते उल्टे मनुष्य के बन्धन के ही कारण होते हैं। इसलिए मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करने वाले को उनका त्याग करना यथार्थ और युक्ति संगत है। परन्तु वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार यज्ञ, दान, तप, अध्ययन, अध्यापन, श्रुति, स्मृति, रूप शास्त्र विहित अग्नि-होत्र, सन्ध्योपासन, उपदेश, प्रजापालन, धर्म-युद्ध, कृषि-कर्म, पशु-पालन, व्यापार, नौकरी आदि जो जो कर्म धर्मानुसार परोपकार और संसार की मर्यादा तथा पद्धति स्थिर रखने के लिए परमावश्यक हैं उनका स्वरूप से त्याग करना ठीक नहीं है, उनमें केवल फल की कामना और आसक्ति का ही त्याग होना चाहिए। जो पुरुष इन नियत या नित्य कर्मों का त्याग, धन को दोष-युक्त समझ कर करता है। वह तो उस मूर्ख पुरुष के समान है, जो अन्धकार से घबराकर क्रोध से अपने नाखूनों से स्वयं ही अपनी आँखों को फोड़ लेता है अथवा सिर का दर्द होने पर डण्डा मार कर अपना सिर ही तोड़ लेता है। इन मूर्ख नित्य-कर्म त्यागियों को यह रहस्य भली भान्ति जान लेना चाहिए कि कर्मों का बन्धकत्व तो निष्काम और निरासक्त होकर कर्म करने में ही कटता है। जैसे लोहा लोहे से ही काटा जाता है। सब रोगों को उन्हीं रोगों के कीटाणुओं से बनी हुई दवाइयों के टीकों द्वारा दूर किया जाता है। कपड़े पर लगा हुआ तेल सोडा कास्टक मिले तेल अर्थात् साबुन से ही दूर किया जा सकता है। पापियों को मारने के लिए उन का पाप ही बलवान् होता है जिस प्रकार दर्पण पर लगी हुई मैल धूलि से दूर कर दी जाती है इसी प्रकार निष्काम भाव से आसक्ति रहित होकर किये

हुए नित्य कर्म अन्त:करण रूपी दर्पण की मल दूर कर देते है। जिससे उसमें अपना मूल और शुद्ध स्वरूप प्रतिबिम्ब रूप में साफ़-साफ़ दिखाई देने लगता है। इसलिए ऐसे नियत और नित्य नैमित्तक कर्मों को जान बूझ कर, भूल से, मूर्खता से या अज्ञान से जो पुरुष त्याग करता है वह कर्मों के त्याग का ठीक भाव नहीं समझता है और उसका वह त्याग तामस-त्याग होता है। ऐसा शास्त्रों में कहा गया है॥ ७॥

दु:खमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत॥ ८॥

दु:खम्+इति+एव यत्+कर्म काय-क्लेश-भयात्+त्यजेत्। स:+कृत्वा राजसम्+त्यागम्+न+एव त्याग-फलम्+लभेत्॥

दु:खम्=(नपुं०) √दु:ख+अच् वा घञ्=दु:ख+प्र० ए० व०=कष्ट, क्लेश, दु:ख।

इति=(अव्यय) ऐसा (जान कर)। ऐसे (समझ कर)। इस प्रकार जान कर।

एव=(अव्यय) ही (है)।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म।

काय-क्लेश-भ्यात्=(नपुं०) कायस्य क्लेशस्य भयात् (षष्ठी तत्पु०)=शरीर-दु:ख-भयात्=शारीरिक क्लेश के भय से (पंच० ए० व०)। देह-सम्बन्धी दु:ख के डर से।

त्यजेत्=√त्यज् (भ्वा० पर० सक०=त्यागना। छोड़ना)+विधि० प्र० पु०, ए० व०=त्याग दे। छोड़ दे।

स:=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह (पुरुष)।

कृत्वा=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+क्त्वा=कर के।

राजसम्=(वि०) राजस+(पुं०) द्विती० ए० व०=राजस को।

त्यागम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=त्याग को।

न=न। नहीं।

हि=ही। भी।

त्याग-फलम्=(नपुं०) त्यागस्य फलम् (द्विती० ए० व०)=त्याग के फल को। [ज्ञान-पूर्वकस्य सर्व-कर्म-त्यागस्य फलम् (=मोक्षाख्यम्)=ज्ञानपूर्वक किये हुए सर्व-कर्म-संन्यास-रूप असली त्याग के मोक्ष रूप फल को।]

लभेत्=√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=पाना, प्राप्त करना)+विधि० प्र० पु०, ए० व०=पाता है। प्राप्त करता है॥

अर्थ—जो कर्म (है), (वह) दुःख (रूप) ही है। ऐसा (निश्चय करके यदि कोई कर्म को) देह (को होने वाले) कष्ट के डर से त्याग दे। (तो) वह (पुरुष इस) राजस (नाम वाले) त्याग को करके (ज्ञान-पूर्वक किए हुए सर्व-कर्म-संन्यास-रूप-असली) त्याग के (मोक्ष रूप) फल को नहीं पाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—यज्ञ, दान, तप आदि नियत, नित्य-नैमितिक आदि कर्मों को करने के लिए कई प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। ईधर नींद का सुख शरीर को घेर लेता है उधर प्रातःकाल उठना पड़ता है तथा सर्द ऋतु-शीत काल में शौच के लिए बाहर खेतों में जाना होता है। ठण्डे जल से स्नान करना पड़ता है आलसी मन मानता नहीं है एक ओर निमोनिया रोग हो जाने का भय है। दूसरी ओर सर्दी लगने और खाँसी हो जाने का डर है। इधर से निवृत हो कर एकान्त स्थान में बैठ कर हरि के चरणों में ध्यान लगाना होता है परन्तु कच्चा मन मानता ही नहीं है और आलस्य करता है। इस प्रकार श्लोक ७ में अन्य दर्शाये हुए नियत कर्मों में पर्याप्त दौड़ धूप और परिश्रम करना पड़ता है काफ़ी सामग्री जुटानी होती है तथा बहुत से भिन्न भिन्न नियमों का पालन करना होता है इस प्रकार मन, इन्द्रियों और शरीर को क्लेश और कष्ट देकर तब कहीं ये कार्य सम्पन्न होते हैं। मन, इन्द्रियों और शरीर के आराम में आसक्ति के होने का नाम ही रजोगुण है। इस लिए जो लोग शारीरिक कष्टों से डर कर इन कर्मों का त्याग करते हैं उन का यह त्याग राजस नाम वाला है। ज्ञान पूर्वक किए हुए सात्त्विक त्याग के समान नहीं होता कि जिस का अन्तिम फल मोक्ष की प्राप्ति के रूप में प्राप्त होता है और फिर जब तक शरीर मन और इन्द्रियों में आसक्ति बनी रहती है तब तक मोक्ष का मिलना असम्भव है।

सदा किसी भी काम का आरम्भ कठिन होता है। रोग-निवारण करने वाली दवाई कठिनता से ही कण्ठ से नीचे उतारी जाती है कभी कभी टीके की सुरिंज की सुई की चोभ भी सहनी पड़ती है भोजन करने से पूर्व भोजन बनाने का कई प्रकार का बखेड़ा करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार सब कर्त्तव्य कर्मों का आचरण करना आरम्भ में बहुत ही कठिन जान पड़ता है। इसलिए उन कर्मों का आचरण कर्ता के लिए अति कष्टकारक प्रतीत होता है परन्तु फिर भी वह उसे कर्त्तव्य समझ कर करने लगता है। ज्यों ही जब उसे उस कर्म के करने में कुछ अधिक कष्ट अनुभव होता है त्यों ही राजस-कर्ता जी छोड़ कर उस कर्म को मध्य में ही अधूरा छोड़ देता है। कभी कभी कष्ट के भय से कर्त्तव्य कर्म को आरम्भ ही नहीं करता है। वह स्वशरीर को सोने का मन्दिर और बड़े भाग्य से मिला हुआ समझता है और इसे नित्य और स्थायी रहने वाला मानता है इसलिए इसे होने वाले थोड़े कष्ट से भी अपना मरना अनुभव करता है। इस प्रकार जो पुरुष शरीर-सुख लोभ के कारण कष्टों से डर कर कर्त्तव्य

कर्मों का त्याग करता है वह राजस-स्वभाव वाला पुरुष है और उस का वह त्याग भी राजस-त्याग कहलाता है। इस राजस त्याग के फलस्वरूप न उसके अन्त:करण की शुद्धि होती है और न उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

कार्यम्+इति+एव यत्+कर्म नियतम्+क्रियते+अर्जुन ! संगम्+त्यक्त्वा फलम्+च+एव स:+त्याग: सात्त्विक:+मत: ॥

कार्यम्=(वि०)√कृ+ण्यत्+(नपुं०) प्र० ए० व०=करने योग्य। करना कर्त्तव्य है।

इति=ऐसा। ऐसे। इस प्रकार (समझ कर)।

एव=ही।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म।

नियतम्=(वि०) नि√यम्+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=नित्य। नियत।

क्रियते=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+(कर्मवाच्य) लट्० प्र० पु०, ए० व०=किया जाता है।

अर्जुन !=हे अर्जुन !।

सङ्गम्=(पुं०)√सञ्ज्+घञ्+द्वितीo ए० व०=सङ्ग को। आसक्ति को।

त्यक्त्वा=√त्यज्+क्त्वा=त्याग कर। छोड़ कर।

फलम्=(नपुं०) फल+द्वितीo ए० व०=फल को।

च=और।

एव=ही। भी।

स:=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

त्याग:=(पुं०) प्र० ए० व०=त्याग।

सात्त्विक:=(पुं०) (वि०) प्र० ए० व०=सात्त्विक। सत्त्व गुण से युक्त।

मत:=√मन्+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=माना हुआ है।

अर्थ—हे अर्जुन ! करना चाहिए (करने योग्य या कर्त्तव्य है।) इस प्रकार (समझ कर) ही जो (शास्त्र विहित नित्य या) नियत कर्म सङ्ग (आसक्ति) और फल को छोड़ कर (सम्पादन) किया जाता है, वह ही सात्त्विक माना गया है ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अग्निहोत्र सन्ध्या-उपासना इत्यादि नित्य कर्मों का विधान

करने वाले जो "अग्निहोत्रं जुहोति अहरहः सन्ध्या-मुपासीत" इत्यादि वचन हैं। यद्यपि इन में नित्य कर्मों का फल कहा नहीं गया है, तो भी वेद विहित होने से ये नित्य कर्म हमें अवश्य करने योग्य हैं अर्थात् यद्यपि नित्य कर्म का फल नहीं सुना जाता है परन्तु मूर्ख पुरुष फिर भी उस के फल की कल्पना कर लेता है। उस कल्पना का न करना ही नित्य कर्म के फल को त्यागना है और इस बात को भूल जाना कि मैं यह कर्म कर रहा हूँ इस का नाम कर्म में सङ्ग या आसक्ति का त्याग कहलाता है। फल की आशा को छोड़ने और कर्म में निरासक्त हो जाने से अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है।

मैं यह कर्म करता हूँ और नित्य करता हूँ। यह अभिमान कभी न करना चाहिए। मैंने यह काम किया है इस से मुझे इस लोक में सुख और परलोक में स्वर्ग मिलेगा, ऐसा भी कभी सोचना न चाहिए। तामस और राजस् कर्मों से कर्ता के अन्तःकरण पर उनके संस्कार अंकित हो जाते हैं। इस लिए उन कर्मों को त्याग करना सर्वथा उचित और युक्तियुक्त होता है। निषिद्ध कर्मों का करना तो घोर नरकों में ले जाने वाला ही होता है, हिंसात्मक कर्म, असत्यमय कर्म, और चौर्य-कर्म आदि निषिद्ध कर्म तो फल-त्याग पूर्वक किए ही नहीं जा सकते। जिस प्रकार सूर्य की प्रभा से अन्धकार नष्ट हो जाता है ऐसे ही फल त्याग का विचार करते ही निषिद्ध और काम्य कर्म सामने से परे हट जाते हैं अर्थात् इन दोनों प्रकार के कर्मों में फल त्याग का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है। केवल शुद्ध सात्त्विक कर्म ही अनासक्ति छोड़ कर फलों की कामना और अहंकार को त्याग कर किए जा सकते हैं। मैंने इतना त्याग किया है यह अहंकार कभी न होने देना चाहिए। जितने भी कर्म हैं उन सब में कुछ न कुछ दोष तो होता ही है। देखो यद्यपि कृषीकर्म शुद्ध सात्त्विक क्रिया है परन्तु हल जोतने में खेत के कीड़े, मकौड़े भूमि में सोए हुए केचुएं रक्त वधुएँ और मेंडक आदि अनेक जीवों की हिंसा होती है। रोगियों की चिकित्सा भी शुद्ध सात्त्विक कर्म है परन्तु वैद्य को उन के शरीर के रोगाणुओं और कीड़ों को अवश्य नष्ट करना होता है। जब सात्त्विक स्वधर्म रूप कर्म भी सदोष होते हैं तो दूसरी प्रकार के कर्मों की तो बात ही क्या है ? इस लिए ज्ञान, भक्ति सेवा और अहिंसा में भी निष्काम्यता, निरासक्ति और फलेच्छा त्याग से ही पूरा लाभ होता है। जिस प्रकार कोई पुरुष आम जैसे फलों के छिलकों और गुठलियों में रस न होने से उन फलों का त्याग नहीं करता है इसी प्रकार शुद्ध सात्त्विक कर्मों में दोष देख कर भी उन का त्याग करना उचित नहीं है। उन का त्याग करना तो उनके फलों और उन में होने वाली आसक्ति को ही छोड़ना है। जिस प्रकार बीजों को जला देने से वृक्ष निर्वंश हो जाता है। उसी प्रकार कर्म फल और उन के संग को त्याग देने से सब शुभाशुभ कर्म अपने आप समाप्त हो जाते हैं अर्थात् वे भावी जन्म का कारण नहीं बनते। संसार में अनेक कर्त्तव्य कर्म हैं।

वैसे तो उन के त्याग की कल्पना करना एक बहुत सुन्दर शुग़ल है परन्तु इन्हें छोड़ना केवल कठिन ही नहीं असम्भव भी है। ज्यों ज्यों मनुष्य इन को छोड़ने का प्रयास करता है त्यों त्यों इन में और अधिक उलझता जाता है। सात्त्विक कर्मों में अवगुण और दोष की अपेक्षा पुण्य अत्यन्त अधिक होता है और वह दोषादि पुण्यों में इसी प्रकार दब जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा में उसके दाग़-धब्बे छिपे रहते हैं। कई लोग छोटा त्याग करके बड़ा भोग गले मढ़ लेते हैं। लिंगोटी लगा कर राज भवनों में रहने लगते हैं। देखने में साधु मालूम होते हैं परन्तु भोगों को भोगने में महाराजाओं को भी मात कर देते हैं। शरीर में विभूति रमाई हुई है और हाथियों पर चढ़े हुए हैं। इस प्रकार का त्याग न स्वयं त्यागी के लिए हितकर होता है न बुद्धिमानों पर कोई अच्छा प्रभाव डालता है। इसलिए नित्य कर्मों को अवश्य करना चाहिए परन्तु आसक्ति और कर्म फल की इच्छा को त्याग करके करना चाहिए। इसी का नाम भगवान् ने कर्म का सात्त्विक त्याग कहा है ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्यते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

न द्वेष्टि+अकुशलम्+कर्म कुशले न+अनुषज्यते। त्यागी सत्त्व-समाविष्टः +मेधावी छिन्न-संशयः ॥

न=न। नहीं।

द्वेष्टि=√द्विष् (अदा० उभ० सक०=द्वेष करना। वैर करना)+लट्०, पर०, प्र० पु०, ए० व०=द्वेष्टि=द्वेष करता है।

अकुशलम्=(वि० नपुं०) न कुशलं यः सः (नञ् बहुव्री०) द्वितीय० ए० व०= अकुशल को। दुःखदायी को।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को।

कुशले=(वि०)√कुश्+क्लन्+अण्+(नपुं०) सप्त० ए० व०=सुखदायी। शुभ ॥

न=न। नहीं।

अनुषज्यते=अनु√सञ्ज, √सस्ज् (दिवा० आत्म० सक०=अनुरक्त होना)+ लट्० प्र० पु०, ए० व०=आसक्त होता है। अनुराग करता है। प्रीति करता है।

त्यागी=(वि० पुं०)√त्यज्+घिनुण् (इन्)=त्यागिन्+प्र० ए० व०=त्यागी। आसक्ति और कर्म के फल को छोड़ने वाला।

सत्त्व-समाविष्टः=(वि०) सत्त्वेन समाविष्टः (तृती० तत्पु०)=सत्त्व-गुण से समविष्ट हुआ।

[सम-आ√विश्+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०] (=घिरा हुआ, व्यक्त हुआ, भली भान्ति व्याप्त हुआ)। सत्त्व-गुण से भली भान्ति युक्त हुआ।

मेधावी=(वि० पुं०) मेधा+विनि=मेधाविन्+प्र० ए० व०=मेधावी। [मेधया (आत्म-ज्ञान-लक्षणया-प्रज्ञा) संयुक्त:-तद्वान्=मेधावी] आत्म-ज्ञान रूप बुद्धि से युक्त।

छिन्न-संशय:=(वि० पुं०) छिन्न: (अविद्या-कृत:) संशय: यस्य=अविद्या जनित संशय से रहित। नष्ट हुए संशय वाला। (बहुव्री० प्र० ए० व०)। [छिन्न=(वि०)√छिद्+क्त=कटे हुए। नष्ट हुए। संशय:=(पुं०) सम् √शी+अच्+प्र० ए० व०=अनिश्चयात्मक ज्ञान वाला]।

अर्थ—(जो अकुशल (दु:खदायी, जन्म चक्र में डालने वाले, अकल्याण-कर) कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल (सुखद, शुभ, कल्याणकारी) कर्म में अनुषक्त नहीं होता। (वह पुरुष) सत्त्व-गुण से समाविष्ट (अच्छी तरह ओत-प्रोत या युक्त हुआ), मेधावी (बुद्धिमान्) और नष्ट हुए संशय वाला (होने से पूर्ण) त्यागी होता है॥ १०॥

व्याख्या—सात्त्विक-त्यागी पुरुष में राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होता है। वह न किसी अच्छे को प्रेम-दृष्टि से देखता है, और उसे न किसी बुरे से द्वेष होता है क्योंकि वह सदा सब के साथ सम-भाव होता है। कारण यह कि उसे प्रत्येक अच्छे और बुरे में केवल एक परब्रह्म-परमेश्वर ही दृष्टि-गोचर होता है। जब सारे संसार के सन्बन्ध में ही उस की समसृष्टि होती है तो फिर वह किसी के अच्छे या बुरे कर्म से राग या द्वेष भी कैसे कर सकता है? अकुशल-कर्म पाप-कर्मों का नाम है और काम्य कर्म वे कर्म होते हैं जो स्त्री-पुत्र, धन-धान्य या स्वर्गादि प्राप्त करने की किसी इच्छा विशेष से किए जाते हैं। ये सब कर्म पुनर्जन्म के कारण होते हैं। सात्त्विक त्यागी पुरुष के समान ही इन कर्मों को चाहे कोई करता रहे। परन्तु उसे उस के उन कर्मों से कोई द्वेष-भाव नहीं होता और न किसी के कुशल कर्मों से उसका कोई प्यार होता है। कोई तप करे, कोई जप करे, कोई स्नान करे कोई दान करे, परन्तु वह किसी से भी दिलचस्पी नहीं रखता, क्योंकि उसके विचार में तो सब भले बुरे कर्म गुणों के बर्तने के कारण होते हैं और तीनों गुण प्रकृति के कार्य हैं और प्रकृति पर-ब्रह्म परमेश्वर के वशीभूत हैं, इसलिये यदि वास्तव में देखा जाये तो सब कर्म ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही होते हैं। जिस सात्त्विक त्यागी पुरुष की भावना इतनी उच्च हो चुकी हो तो फिर उस को किसी अन्य के द्वारा होने वाले अथवा अपने द्वारा होने वाले किसी भी कर्म से राग-द्वेष कैसे हो सकता है? ऐसा पुरुष न काम्य-कर्मों से द्वेष करता है न नित्य-कर्मों से प्यार करता है वह इनको करता अवश्य है परन्तु अपने द्वारा

होते हुए उनको समझता नहीं है, क्योंकि उस में किसी प्रकार का भी कर्तृत्व अभिमान नहीं होता और वह सात्त्विक भाव से युक्त होता है और उसे आत्म-अनात्मक-विषयक पूर्ण-ज्ञान और अनुभव होता है। इसलिये वह मेधावी होता है, बुद्धिमान् होता है; अविद्या-जनित संशय से रहित होता है तथा आत्म स्वरूप में स्थित होता है। वह सब कर्मों को इन्द्रियों द्वारा करता हुआ भी मन से त्याग कर न कुछ करता है तथा न किसी के द्वारा कुछ करवाता है।

मेधावी या बुद्धिमान् पुरुष उसी का नाम है कि सात्त्विक त्याग के अनुष्ठान से जिसके अन्तःकरण की शुद्धि हो गई है और स्व-स्वरूप के साक्षात्कार से सम्पूर्ण संशय नष्ट हो गये हैं और जिसे आत्मा और अनात्मा के भेद का भली भान्ति ज्ञान हो चुका है तथा "अहं ब्रह्मोऽस्मि" का अर्थ जिस की समझ में आ चुका है तथा कर्मों में प्रीति और द्वेष दोनों जाते रहे हैं अर्थात् न शुभ कर्म से कोई प्रेम रहा है न अशुभ कर्म से कोई द्वेष रह गया है। कर्म केवल कर्त्तव्य बुद्धि से ही उस के द्वारा होते हैं। उसे न सुख की परवाह है न किसी दुःख की चिन्ता है। इस श्रुति के अनुसार वह सब कर्मों से मुक्त होकर ब्रह्म रूप बन चुका है—

"भिद्यते हृदय-ग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।" [मुण्डक २।२।८॥]

अर्थ—कार्य और कारण स्वरूप उस पर-ब्रह्म पुरुषोत्तम को जान लेने पर इस जीव के हृदय की अविद्या रूप वह गाँठ खुल जाती है जिस के कारण इसने इस जड़ शरीर को ही आत्म स्वरूप मान रक्खा था। इतना ही नहीं इसके समस्त संशय सर्वथा कट जाते हैं अर्थात् यह जीव सारे बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है॥ १०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

न हि देह-भृता शक्यम्+त्यक्तुम्+कर्माणि+अशेषतः। यः+तु कर्म-फल-त्यागी सः+त्यागी+इति+अभिधीयते।

न=न। नहीं।

हि=क्योंकि।

देह-भृता=(वि० पु०) देहं बिभर्ति इति देह-भृत=देह को धारण करे—वह देहधारी। शरीर में आत्माभिमान रखने वाला। देहधारी अज्ञानी। [भृत्=√भृ (भ्वा०, जुहो० उभ० स०=भरना। धारण करना)+क्विप्=भृत्+तृती० ए० व०=भृता] देहधारी पुरुष के द्वारा।

शक्यम्=√शक्+(कर्माणि) यत्=शक्य है। सम्भव। हो सकने वाला।

त्यक्तुम्=√त्यज्+तुमुन्=त्यागने के लिये। त्यागना।

कर्माणि=(नपुं०) कर्मन्+द्वितीο ब० व०=कर्मों को।

अशेषतः=(वि० नञ् बहुव्री०) न शेषतः [√शिष्+अच्+तस्]=संपूर्णता से। पूरी तरह से। निःशेषेण। पूर्णतया।

यः=यद् (सर्वं०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो। जो पुरुष।

तु=और। ही। परन्तु।

कर्म-फल-त्यागी=(वि० पुं०) कर्मणां फलानां त्यागी=(नित्य-कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ भी उन) कर्मों के फलों का त्याग करने वाला। [त्यागिन्+प्र० ए० व०=छोड़ने वाला। त्यागी]

सः=तद् (सर्वं०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

त्यागी=(वि० पुं०) त्यागिन्+प्र० ए० व०=त्यागी। त्याग करने वाला। कर्मों का त्यागी।

इति=इस प्रकार।

अभिधीयते=अभि√धा (जुहो० उभ० सक०=कहना)+ कर्मवाच्य, लट्०, प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है।

अर्थ—क्योंकि देहधारी पुरुष के द्वारा पूरी तरह से सम्पूर्ण कर्मों को (स्वरूप से) त्यागना सम्भव नहीं है। परन्तु जो पुरुष (नित्य कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ भी उन) कर्मों के फलों का त्याग करता है। (वास्तव में) वह ही (कर्मों को) त्याग करने वाला है ॥ ११ ॥

व्याख्या—"देह को धारण करे सो देह-धारी" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सारे जीव देहधारी हैं, चाहे वे चर हैं, चाहे वृक्षादि रूप में अचर हैं। इन में से कोई देहधारी ऐसा नहीं है जो जीवन पर्यन्त दिन रात कर्म नहीं करता है और कुछ नहीं तो सांस तो सब लेते ही हैं तथा भोजन खा कर और जल पी कर अपने अपने शरीरों की पालना भी करते हैं इस के अतिरिक्त अपने वंशों की वृद्धि के लिये सन्तानोत्पत्ति भी करते रहते हैं। प्रत्येक शरीर की प्रत्येक कोशिका (CELL) भी दिन रात अपने अपने कर्म में जुटी रहती है, सब प्रकार की वनस्पतियों के हरे पत्ते वायु मण्डल को शुद्ध करने में लगे रहते हैं और चर जीवों के लिए खाद्य सामग्री उत्पन्न करते हैं। इस लिये कोई प्राणी कर्म किए बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता है, क्योंकि उस की इच्छा के बिना भी, शरीर सम्बन्धी अनेक कर्म, उस के अङ्गों द्वारा स्वयं होते रहते हैं। जिस प्रकार घड़ा मिट्टी का बना हुआ है उसी प्रकार यह मानव शरीर भी पूर्व जन्म के कर्मों से ही निर्मित हुआ है जैसे कपड़ा तन्तुओं को त्याग कर कभी स्थिर नहीं रह सकता वैसे ही मनुष्य शरीर भी कर्म किए बिना जीवित नहीं रह सकता है जैसे अग्नि

उष्णता को छोड़ कर राख बन जाती है वैसे मनुष्य भी कर्महीन हो जाने से निर्जीव बन जाता है। कोई दीपक अपनी प्रभा से कैसे द्वेष कर सकता है, इसी प्रकार मनुष्य भी आप समूचे कर्मों को कैसे त्याग सकता है। जैसे हींग अपनी स्वाभाविक दुर्गन्ध से रहित नहीं रह सकती, वैसे ही मनुष्य भी अपने स्वाभाविक कर्मों से रहित नहीं रह सकता है। कोई भी जीव सांस लेने, खाने-पीने, सोने और शौच होने आदि रूप कर्मों के विना कैसे जीवित रह सकता है? इस से सिद्ध होता है, कि जिस को हम कर्म-त्यागी ज्ञानवान् पुरुष कहते हैं वह भी जीवन पर्यन्त कर्म करता ही रहता है। नितान्त जड़ मूक या आलसी ही नहीं बन जाता है। तीसरे अध्याय के श्लोक पांच में भगवान् स्वयं कह चुके हैं— "वास्तव में कोई देहधारी एक क्षण भर भी कर्म किए विना नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा परवश हुए प्रत्येक मनुष्य से कर्म कराया जाता है और फिर "शरीर यात्रा भी कर्म के विना सिरे नहीं चढ़ सकती" (गी० ३। ८)॥ इसलिये सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग किया जाना सम्भव नहीं है परन्तु ज्ञानी पुरुष कर्मों के फलों से प्रेरित होकर कभी कर्म नहीं करता वह तो शरीर यात्रा निमित्त या प्रारब्धानुसार उपस्थित कर्मों को ही कर्त्तव्य समझ कर करता है। परन्तु फलाशा और आसक्ति दोनों से रहित होने के कारण वह सदा उन से निर्लिप्त ही बना रहता है। कर्मों के फल का त्याग ही वास्तव में कर्मों का सच्चा त्याग है। जो पुरुष अपने शरीर को मनुष्य, देह का स्वामी, कुलीन और सुन्दर आदि समझता है वह महा मूर्ख है क्योंकि वह कर्मों का त्याग कभी नहीं कर सकता परन्तु कर्मों के त्याग का ढोंग अवश्य रच सकता है और इस तरह दुनिया को ठग कर नरक-गामी बन सकता है क्योंकि कायिक, वाचिक और मानसिक सम्पूर्ण कर्म तो स्वरूपतः किसी से त्यागे ही नहीं जा सकते। कर्म और उन के फलों में ममता, आसक्ति और कामना का त्याग ही कर्मों का त्याग होता है जो शास्त्र विहित कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ भी उन की आसक्ति और फल को त्यागता है, वहीं सच्चा त्यागी होता है॥ ११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

अनिष्टम्+इष्टम्+मिश्रम्+च त्रि-विधम्+कर्मणः फलम्। भवति+अत्यागिनाम्+प्रेत्य न तु संन्यासिनाम् क्वचित्॥

अनिष्टम्=(वि०) न इष्टम् (नञ् तत्पु०)। (नपुं०) प्र० ए० व०=अवांछित। अशुभ। बुरा। नरक और पशु-पक्षी आदि-योनि।

इष्टम्=(वि०) √इष्+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=अभिलषित। चाहा गया। प्रिय। देव-योनि। स्वर्ग। अच्छा।

मिश्रम्=(वि०) √मिश्र्+अच्+(नपुं०) प्र० ए० व०=मिश्रित। मिला-जुला। मनुष्य योनि।

च=और।
त्रि-विधम्=(सर्व०) नपुं०, प्र० ए० व०=तीन प्रकार का।
कर्मणः=(नपुं०) कर्मन्+षष्ठी० ए० व०=कर्म का।
फलम्=(नपुं०) फल=प्र० ए० व०=फल।
भवति=√भव्+लट्० प्र० पु० ए० व०=होता है। प्राप्त होता है।
अत्यागिनाम्=(वि० पुं०) अत्यागिन्+षष्ठी० ब० व०=अत्यागियों के। न त्याग करने वालों के। सकाम कर्म करने वालों के।
प्रेत्य=प्र√इ+ल्यप्=मर कर।
न=न। नहीं।
तु=परन्तु।
संन्यासिनाम्=(वि० पुं०) संन्यासिन्+ षष्ठी० ब० व०=संन्यासियों के। त्यागियों के।
क्वचित्=(अव्यय) किम्+अत्, कु आदेश=क्व+चित्=कहीं भी। कभी। किसी काल में भी।

अर्थ – अत्यागियों (सकामी पुरुषों) के कर्म का अच्छा (देवलोक-प्राप्ति), बुरा (पशु-पक्षी आदि अधम योनि की प्राप्ति) और मिश्रित (मनुष्य योनि की प्राप्ति रूप-ऐसा) तीन प्रकार का फल (उन्हें) मर कर प्राप्त होता है। परन्तु त्यागियों को कहीं या किसी भी काल में (भी कोई फल) नहीं मिलता है॥ १२॥

व्याख्या—"जो पदार्थ बाह्य कर्ता, कर्म, क्रिया आदि अनेक कारणों द्वारा निष्पन्न हुआ हो और बाज़ीगर की माया के समान, अविद्या जनित, महामोह-कारक हो, एवं जीवात्मा के आश्रित सा प्रतीत होता हो और सार-रहित होने के कारण तत्काल ही लय या नष्ट हो जाता हो, उसका नाम 'फल' है" (श्री स्वामी शंकराचार्य जी)। जो पुरुष पूर्व श्लोकों में कथित कर्म के त्याग की विधि को नहीं जानते हैं अथवा जान लेने पर भी आचरण नहीं करते हैं भाव यह कि जो भी वे लोग कर्म करते हैं वे उन में बहुत बुरी तरह से फँसे हुए हैं अथवा वे लोग सब काम इस संसार में ही भोगों और विलास की पूर्ति के लिए ही करते हैं तथा मर कर इन कर्मों द्वारा स्वर्ग प्राप्त करना चाहते हैं उनके कर्मानुसार अच्छे बुरे और मिश्रित तीन प्रकार के फल होते हैं जिन लोगों के ये सकाम कर्म अत्यन्त नीच, नितान्त पाप पूर्ण और अधम या निन्दनीय होते हैं। उन को मरने के उपरान्त घोर नरक की प्राप्ति होती है जिस में कठिन से भी कठिनतम यम-यातनाएं सहनी पड़ती हैं अथवा पृथिवी पर ही पशु-पक्षी, कीट-पतंग जीवाणु, रोगाणु और लता-वृक्षादि अनेक चर और अचर योनियों में जन्म धारण करना पड़ता है। जिन अत्यागी या सकामी पुरुषों के ये कर्म पाप और पुण्य दोनों

से मिश्रित या युक्त होते हैं उन को उन के इन कर्मों के अनुसार मनुष्य देह की प्राप्ति होती है। मनुष्यों में राव, रंक या बड़े छोटे अथवा सुखी दु:खी होना पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्मों के न्यूनाधिक अनुपात का फल होता है। जिन सकाम पुरुषों ने सदा हवन, यज्ञ दानादि सारे शुभ कर्म ही किए हुए होते हैं, उन को मर कर स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

परन्तु जिन ब्रह्मज्ञानियों और आत्मदर्शियों द्वारा सम्पूर्ण कर्म ममता, अभिमान, आसक्ति और फलेच्छा से रहित होकर किए जाते हैं। उनके कर्मों के बीज इसी जन्म में ज्ञानाग्नि में जल कर भस्म हो जाते हैं जिससे फिर उनको न नरक की प्राप्ति होती है न पशु-पक्षी आदि कोई निकृष्ट योनि धारण करनी पड़ती है और न पाप, पुण्य दोनों के मिश्रण से मिलने वाली किसी मनुष्य योनि में जाना होता है तथा न शुभ कर्मों का फल रूप स्वर्ग ही मिलता है। क्योंकि इस श्रुति के अनुसार उनके—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥" (मुण्डक० २।२।८॥)

यह बात ब्रह्मसूत्रों में भी श्री व्यास जी ने कही है—सूत्र—'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेष-विनाशौ तद् व्यपदेशात्॥"

अर्थ—प्रत्यक-अभिन्न-ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर इस तत्त्ववेत्ता पुरुष के पूर्व जन्मों के संचित कर्म तो विनाश हो ही जाते हैं और तत्त्वसाक्षात्कार के अनन्तर किए हुए कर्मों का भी उसे स्पर्श नहीं होता।

असली त्यागी का लक्षण तो स्वयं भगवान् ने ही बतला दिया है—

"अनाश्रितः कर्म-फलं कार्यंकर्म करोति यः। स संन्यासी।" (६।१) अर्थात् कर्म-फल का आश्रय लिए विना जो मनुष्य कर्त्तव्य-कर्म को करता है वह संन्यासी या त्यागी होता है॥

और त्यागी ही निरासक्ति और निष्काम अवस्था के कारण शुद्ध अन्तः-करण द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ शरीर त्यागते ही सीधा परब्रह्म में लीन हो जाता है॥

श्री ज्ञानेश्वर जी के वचनामृत का सार इस प्रकार है—

"जो पुरुष कर्म-फल की आशा नहीं छोड़ता है, उसी को तीनों कर्म फलों में से कोई एक भोगना पड़ता है। पिता पुत्री को जन्म देता है और बड़ी होने पर यह कहकर दूसरे को अर्पण कर देता है कि—

"यह मेरी नहीं है।" इस प्रकार पिता अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है और उस कन्या को ग्रहण करने वाला उसका जामाता जंजाल में फंस जाता है। इसी प्रकार पोस्त उत्पन्न करने वाले और होते हैं और इनको पीकर

जीवन बरबाद करने वाले और होते हैं। बीज उपजाने वाले उनको बेच कर धन और सुख प्राप्त कर लेते हैं और उनको मोल लेकर पीने वाले दुःख और रोग भोगते हैं। इस प्रकार कर्त्ता भले ही सब प्रकार के कर्म करे, परन्तु यदि वह अपने मन में उन कर्मों के फलों की आशा न रखे, तो वह अकर्त्ता ही बना रहता है। देव, मनुष्य और पशुपक्षी आदि का नाम ही संसार है और ये तीनों ही कर्मफल के तीन प्रकार है। जो इष्ट, अनिष्ठ और इष्टानिष्ठ कहलाते हैं ये सब आशा के चक्र में फँसे हुए इन कर्मों को अवश्य भोगते हैं। फिर प्रत्येक जन्म में अनेक कर्म फलों को उत्पन्न करते रहते हैं जिन का फिर कभी अन्त नहीं होता। परन्तु जो लोग निष्काम भाव से कर्म करते हैं वे कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। जब दीवार ही गिर पड़ती है तो उस पर बने हुए चित्र भी मिट्टी हो जाते हैं। जब रात ही समाप्त हो जाती है तो फिर अंधकार कहाँ रह सकता है? दर्पण के अभाव हो जाने पर प्रतिबिम्ब भी साथ ही नष्ट हो जाता है। जब आँख ही खुल गई तो स्वप्न भी जाता रहा। ठीक इसी प्रकार ऐसे ज्ञान प्रधान संन्यास से जब मूल अविद्या के ही जीवन का अन्त हो जाता है तो उसका कार्य जो कर्म-फल है उसका भी लोप हो जाता है और ज्ञानी, त्यागी पुरुष मोक्ष को प्राप्त हो जाता हैं॥ १२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

पञ्च+एतानि महाबाहो! कारणानि निबोध में। सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्व-कर्मणाम्॥

पञ्च=(वि०, संख्या०) पञ्चन्+(नपुं०) द्वितीο ब० व०=पाँच को।

एतानि=एतद् (सर्व०)+(नपुं०) द्वितीο ब० व०=इन को।

महाबाहो!=(सम्बो० ए० व०) हे विशालबाहु (अर्जुन)!

[अगले उपदेश में अर्जुन के चित्त को लगाने के लिये और अधिष्ठानादि ज्ञान की कठिनता दिखाने के लिए, उन पाँच कारणों को जानने योग्य होने से अर्जुन को महाबाहु कहा गया है।]

कारणानि=(नपुं०) √कृ+णिच्+ल्युट्=कारण+द्वितीο ब० व०=कारणों को। हेतुओं को। जिन के बिना कार्यों की सिद्धि नहीं होती, उनको। साधनों को।

निबोध=नि√बुध् (भ्वा० उभ० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व० =(तू) भली प्रकार जान। (तू) अच्छी तरह से जान।

सांख्ये=(पुं० नपुं०) संख्या+अण् [सम्यक् ज्ञानम् अस्ति अत्र इत्यर्थे अण्]+ सप्त० ए० व०। "सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्माऽनेन, इति सांख्यं

तत्त्वज्ञानम्" अर्थात् जिस शास्त्र में ज्ञान का प्रतिपादन हो उसका नाम सांख्य है।

[कई टीकाकारों ने 'सांख्य' शब्द का अर्थ वेदान्त शास्त्र में लिखा है, पर हमारा मत है कि साख्य' शब्द से अभिप्राय: इस स्थान में कापिल सांख्य-शास्त्र ही है (श्री तिलक महाराज)]

[जिस शास्त्र में जानने योग्य पदार्थों की संख्या (गणना) की जाय उसका नाम सांख्य अर्थात् वेदान्त है (श्री शंकराचार्य जी)] सांख्य में। सांख्य-शास्त्र में। वेदान्त शास्त्र में।

कृतान्ते=(वि०) ["क्रियते इति कृतम्" √कृ+क्त=कृत (किया हुआ=कर्म। √अम्+तन्+सप्त० ए० व०=अन्ते] (कर्मण:) कृत: अन्त: येन, तस्मिन् शास्त्रे (बहुव्री०)।

["कृतान्त" शब्द सांख्य का विशेषण है। 'कृत' कर्म को कहते हैं, जहाँ उसका अन्त अर्थात् जहाँ कर्मों की समाप्ति हो जाती है वह कृतान्त है यानी कर्मों का अन्त है (श्री शंकराचार्य जी)] कर्म-सिद्धान्त निर्णयकारी में। कर्मों का अन्त करने के सिद्धान्त वाले में। आत्म-ज्ञान-प्रद में।

प्रोक्तानि=प्र√वच्+क्त+(नपुं०) द्विती० ब० व०=कहे हुओं को।

सिद्धये=(स्त्री०)√सिध्+क्तिन्=सिद्धि+चतु० ए० व०=सिद्धि के लिये।

सर्व-कर्मणाम्=(नपुं०) सर्वेषां कर्मणाम्। षष्ठी० ब० व०। समस्त कर्मों की।

अर्थ—हे विशाल-बाहु (अर्जुन)! समस्त कर्मों की सिद्धि के लिये किए हुओं (कर्मों का) अन्त करने के सिद्धान्त वाले सांख्य (वेदान्त शस्त्र) में कहे हुए इन पाँच कारणों को मेरे से (तू) सुन ॥ १३ ॥

व्याख्या - भगवान् ने अगले श्लोक में अधिष्ठान, कर्ता, तरह-तरह का करण, नाना प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ और दैव इन पाँच प्रकार के कर्म सिद्धि के जिन कारणों का वर्णन किया है, उनको ठीक रूप में समझना बड़ा कठिन है। इस लिए अर्जुन को महाबाहु कह कर भगवान् ने इस कठिनाई के सम्बन्ध में उसे सावधान किया है कि इन पाँच कारणों को जानने के लिये महापराक्रम करने वाले श्रेष्ठ पुरुष ही समर्थ होते हैं। इस लिए तू भी मेरे द्वारा वक्ष्यमाण इन कारणो को सावधान और दत्तचित्त हो-कर सुन जो लौकिक और वैदिक सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के पाँच हेतु हैं और जिनका वर्णन उस सांख्य या वेदान्त शास्त्र में किया गया है जिस के सिद्धान्त आचरण किये जाने पर पूर्व किये हुए सारे कर्मों को नि:शेष कर देते हैं और यह सब किए हुए कर्म आत्म-ज्ञान की अग्नि से भस्म होते हैं और वह आत्म-ज्ञान उपनिषद् रूप वेदान्त शास्त्र से ही प्राप्त होता है। क्योंकि वे वेदान्त सम्बन्धी शास्त्र ही मनुष्य को आत्म-ज्ञान प्रदान करने वाले तथा अन्त:करण की शुद्धि करने वाले हैं।

जिन पाँच करणों से सम्पूर्ण कर्म बनते हैं। अब अगले श्लोक में उनको भगवान् अर्जुन प्रति कहते हैं ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥

अधिष्ठानम्+तथा कर्त्ता करणम्+च पृथक्+विधम् । विविधः+च पृथक्+चेष्टा दैवम्+च+एव+अत्र पञ्चमम् ॥

अधिष्ठानम्=(नपुं०) अधि√स्था+ल्युट्+प्र० ए० व०=आधार। (इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख और ज्ञान आदि की अभिव्यक्ति का) आश्रय (=शरीर)।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल् । वैसे ही। वैसे। और।

कर्त्ता=(वि० पुं०)√कृ+तृच्=कर्तृ+प्र० ए० व०=करने वाला। कर्त्ता। [उपाधि स्वरूप भोक्ता जीव]। कर्म करने के भाव वाला—अहंकार, जो कर्तृत्वादि धर्मों का आत्मा में आरोपण करता है और जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब कहलाता है।

करणम्=(नपुं०)√कृ+(करणे) ल्युट्+प्र० ए० व०=करण। कर्म करने के साधन रूप इन्द्रियाँ आदि बारह करण हैं।

च=और।

पृथक्=(अव्यय)√प्रथ्+अज्, कित्, सम्प्रसारण=अलग-अलग। भिन्न-भिन्न।

विधम्=(अव्यय) वि√धा+घञ्+नपुं०) प्र० ए० व०=प्रकार के।

विविधाः=(वि० स्त्री०) विभिन्ना विधा यस्य, (प्रा० बहुव्री०), वि-विध+टाप् =विविधा+प्र० ब० व०=नाना प्रकार की।

च=और।

पृथक्=(अव्यय) न्यारी-न्यारी।

चेष्टाः=(स्त्री०)√चेष्ट् (भ्वा० आत्म० अक० सक०=डोलना। घूमना। जीवन के चिह्न दिखाना। उद्योग करना)+अङ्-टाप्+प्र० ब० व०=चेष्टाएँ। श्वास-निश्वास आदि वायु सम्बन्धी क्रियाएँ। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान आदि रूप से वायु के भिन्न-भिन्न व्यापार, जिन के कारण शरीर में जीवन स्थिर रहता है।

दैवम्=(नपुं०) देव+अण+प्र० ए० व०=देवता का बल। देवता सम्बन्धी शक्ति या सत्ता। अधिष्ठातृ-देवता लोग। जैसे—

(१) आँख का 'आदित्य'। (२) श्रोत्र का 'दिक'। (३) त्वक् का 'वात'।

(४) रसना का 'प्रचेता'। (५) घ्राण का 'अश्विनी'। (६) वाक् का 'वह्नि'। (७) पाणि का 'इन्द्र'। (८) पाद का 'उपेन्द्र'। (९) पायु का 'मित्र'। (१०) उपस्थ का 'प्रजापति'। (११) प्राण का सद्योजात'। (१२) अपान का 'वामदेव'। (१३) व्यान का 'अघोर'। (१४) उदान का 'तत्पुरुष'। (१५) समान का 'ईशान'। (१६) शरीर का पृथिवी'। (१७) मन का 'चन्द्रमा'। (१८) बुद्धि का 'बृहस्पति' और (१९) अहंकार का 'रुद्र' है।

इस प्रकार और भी अधिष्ठातृ-देवता हैं, जो 'दैव' नाम से यहाँ कहे गये हैं, जिन की सहायता के बिना नेत्रादि कुछ भी काम नहीं कर सकते। पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के संस्कार।

च=और।

एव=ही। भी।

अत्र=(अव्यय) इस में। इस विषय में।

पञ्चमम्=(वि० संख्या०) पञ्चानां पूर्णः, पञ्चन्+डट्-मट्+(नपुं०) प्र० ए० व०=पाँचवां।

अर्थ—अधिष्ठान (शरीर) कर्ता (अहंकार—भोक्ता जीव) भिन्न भिन्न प्रकार के (दस इन्द्रियां, मन और बुद्धि—ये बारह) करण, नाना प्रकार की न्यारी न्यारी चेष्टाएँ (अर्थात् शरीर में प्राणादि वायु की क्रियाएँ) और वैसे ही पाँचवाँ दैव (शरीर में स्थित अधिष्ठातृ देवता लोग अथवा पूर्व कृत शुभाशुभ कर्मों के संस्कार) [ये पाँच नवीन कर्मों के कारण हैं) ॥ १४ ॥

व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीता की भाषा जितनी सरल और सुबोध है, भावार्थ उतना ही गम्भीर और दुर्बोध है, गीता के जन्म काल से ही इस की अनेक व्याख्यायें और अनुवाद हो चुके हैं परन्तु इस बात में सदा सन्देह ही बना रहेगा कि भगवान् का जो आशय है क्या वह पूरी तरह व्यक्त किया गया है? बड़े पुरुषों की सुबोध समझी जाने वाली बातें प्रायः बहुत गम्भीर और दुर्बोध होती है फिर स्वयं भगवान् के मुखारविन्द से निकले हुए वाक्यों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। 'हृषीकेश' शब्द को ही लीजिए जब हृषी+केश का अर्थ किया जायेगा तो "सुन्दर बालों वाला" होगा परन्तु जब "हृषीक+ईश" का अर्थ किया जायेगा, तो इन्द्रियों का स्वामी होगा परन्तु यह कोई नहीं कह सकता, कि कहने वाले के मन में कौन सा अर्थ है।

तेरहवें श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को महाबाहो कह कर सूचित किया है कि चौदहवां श्लोक बहुत गम्भीर और दुर्बोध है इस लिए तू उस को मुझ से पूरे ध्यान से सुन। भगवान् का यह कहना अत्यन्त उचित है सब टीकाकारों ने उसके अपने अपने ढंग से भिन्न भिन्न अर्थ किए हैं और सब ही ठीक मालूम

होते हैं परन्तु सब का ठीक होना सम्भव नहीं है। जैसा कि "दैवम्' का अर्थ "इन्द्रिय आदियों के अधिष्ठातृ देवता" भी किया गया है और "पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के संस्कार" भी किया है और अपने अपने स्थान पर दोनों ही ठीक हैं परन्तु कोई नहीं कह सकता है। कि भगवान् को दोनों में से कौन सा अर्थ मान्य या प्रिय है अथवा दोनों को छोड़ कर कोई और ही अर्थ मान्य या प्रिय है। कहने का भाव यह है कि यह श्लोक बहुत गम्भीर और अधिक विचार करने योग्य है।

शब्दार्थ—"वे पाँच ये हैं—क्षेत्र, कर्त्ता, भिन्न भिन्न साधन, अलग अलग क्रियाएँ और पांचवा दैव।' कहने को तो यह अर्थ अति सरल है परन्तु विचार करने पर बहुमुखी और अति गम्भीर है। इस लिए सब टीकाकारों के किए हुए अर्थों को मिला कर यहाँ लिखा जाता है ताकि पाठक हमारी समझ में आए हुए अर्थ पर विचार कर सकें।

इस जगत् का अखण्डित व्यापार सदैव प्रकृति के स्वभाव के अनुसार चलता ही रहता है और जिस कर्म को मनुष्य अपना किया हुआ समझता है। वह केवल उसी के यत्न का फल नहीं होता, वरन् उस के यत्न और संसार के अन्य व्यापारों अथवा चेष्टाओं की सहायता का परिणाम है। मन, बुद्धि ये दोनों शरीर के भीतर के कारण है और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ ये बाहर के करण हैं। इनके अतिरिक्त और भी स्रुवा आदि अनेक बाह्य उपकरण हैं जो यज्ञादि कर्मों के करने में सहायक होते हैं। देखो खेती केवल मनुष्य के यत्न पर ही निर्भर नहीं है उस की सफलता के लिए उपजाऊ और उर्वरा भूमि, अच्छा बीज, जल, खाद, बैल या ट्रैक्टर आदि सब कुछ होना आवश्यक है। इस प्रकार मनुष्य के प्रयत्न की सिद्धि होने के लिए संसार के जिन विविध व्यापारों की सहायता अवश्यक है, उनमें से कुछ व्यापारों को जान कर उनकी अनुकूलता पाकर ही मनुष्य प्रयत्न किया करता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना हाथ, पाँव चलाना, अंगों को सिकोड़ना फैलाना, आँखों को खोलना बन्द करना साँस लेना, संकल्प-विकल्प करना आदि सब चेष्टाएँ करनी पड़ती हैं। पूर्वकृत शुभाशुभ संस्कारों का नाम "दैव" है कुछ लोग इसे अदृष्ट भी कहते हैं। प्रारब्ध भी इसी के अन्तर्गत है। यह कर्म का पाँचवां साधन कहा गया है। इस से सिद्ध होता है कि मनुष्य कर्म करने में नितान्त स्वतन्त्रता नहीं है। तब यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है कि मनुष्य का ऐसा अभिमान करना निरी मूर्खता है कि मैं अमुक काम करूँगा और मुझे यह फल मिलेगा।

भगवान् ने कर्मों के जो पाँच कारण अलग अलग कहे हैं उन में से पहला कारण अधिष्ठान या शरीर है क्योंकि इस देह में भोक्ता अपने भोग्य विषयों सहित निवास करता है और इच्छा, द्वेष, सुख-दु:खादि का आश्रय भी यही

स्थूल शरीर है जो चौबीस तत्वों का घर है बन्ध और मोक्ष के झगड़े का निपटारा भी इसी में होता है जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति वाली तीनों अवस्थाओं का यही आधार स्थल है।

कर्त्ता, कर्म का दूसरा कारण है। इसी कर्त्ता को चैतन्य का प्रतिबिम्ब कहा जाता है। परमात्मा रूपी आकाश ही माया रूपी जल बरसाता है। उस से पृथिवी पर मनुष्य शरीर रूपी सरोबर बन जाते हैं। फिर इन सरोवरों में परमेश्वर रूपी आकाश प्रतिबिम्बत होता है।

अथवा कभी कभी राजा स्वयं स्वस्न में देखता है कि मैं रंक हो गया हूँ इस प्रकार वह निद्रा में अपने को भूल कर रोने लगता है। ठीक इसी प्रकार चैतन्य को भी माया के कारण अपना स्वरूप विस्मृत हो जाता है तब उस में देह का आभास उत्पन्न हो जाता है। तब उस का नाम 'जीव' होता है, यही जीव देह के अहंकार से मरण-पर्यन्त नाना प्रकार के अभिनय करता है। जिस समय सब कर्मों को यह अपने ही किए हुए समझता है। उस समय इस की यह प्रबल इच्छा होती है कि सब प्रकार के भोग भोगने के लिए एक-मात्र केवल मेरा ही शरीर केन्द्र बन जाए।

कर्मों का तीसरा कारण 'करण' है। दस इन्द्रियों मन और बद्धि ये भीतर बाहर के बाहर करण माने जाते हैं जिन के द्वारा कर्म किए जाते हैं तथा इन के द्वारा विषय भोगे जाते हैं।

कर्म का चौथा कारण भान्ति भान्ति की चेष्टाएं हैं। आक्सीजन प्राण-दाता वायु है जब यह फेफड़ों में जाकर काले-नीले-जामिनी रंग के रुधिर के साथ मिलती है तो उस का रंग लाल चमकीला हो जाता है जिससे वह हृदय में जमा होकर सारे शरीर की कोशिकाओं में आक्सीजन वितरण करता है श्वास के द्वारा अन्दर गई हुई आकसीजन या ओज़ोन वायु ही प्राण नाम से प्रसिद्ध है। जो कार्बन डाई आक्साइड गैस उश्वास के द्वारा बाहर फैंकी जाती है, उसी का नाम उदान है।

जो वायु सारे शरीर का चक्र लगा कर उसे जीवित रखती है उसे व्यान कहते हैं और जो वायु मल-मूत्र और पसीने आदि विषैले पदार्थों को शरीर से बाहर निकालती है उस का नाम अपान है उस का प्रकट रूप पायु मार्ग से शब्द करता हुआ बाहर निकलता हैं इस के उदर में भरे रहने से मनुष्य के प्राण दु:खी हो जाते हैं और जो वायु शरीर के भीतर बाहर समान रूप धारण किए रहती है। उस का नाम "समान" है। जँभाई, छींक, डकार आदि रूपों में होने वाली वायु की चेष्टाओं के नाम—नाग, कूर्म और कृकर हैं। इस प्रकार शरीर की नाना प्रकार की क्रियाएँ चेष्टाएँ कहलाती हैं।

कर्म का पाँचवां कारण दैव है। शरीर के रोम रोम में देवता लोग

विराजमान हैं और नेत्रादि में सूर्यादि का निवास है इन देवता के कारण से सब कर्मों के होने में सहायता मिलती है तथा पूर्वकृत कर्म भी दैव या भाग्य कहलाते हैं, जिन के कारण से नए कर्म स्वभाविक ही सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार ये पाचों कारण कर्म की सिद्धि के हेतु होते हैं ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

शरीर-वाक्+मनोभिः+यत्+कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यम्+वाविपरीतम् +वा पञ्च+एते तस्य हेवतः ॥

शरीर-वाक्+मनोभिः=(नपुं० तृती० ब० व०) शारीरेण, वाचा मनसा च= शरीर से, वाणी से और मन से। शरीर, वाणी और मन से।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिस को।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को।

प्रारभते=प्र-आ √रभ् (भ्वा० आत्म० सक०=आरम्भ करता)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=आरम्भ करता है।

नरः=(पुं०) प्र०, ए० व०=पुरुष। मनुष्य।

न्याय्यम्=(वि०) न्यायादनपेतम्, न्याय+यत्+(नपुं०) द्विती० ए० व०= न्याय्य को। न्याय योग्य को। न्याय युक्त को। न्याय-संगत को। धर्म-मय को। शास्त्रीय को।

वा=(अव्यय) वा। अथवा। या।

विपरीतम्=(वि०) वि-परि √इ+क्त=(नपुं०) द्विती० ए० व०=उलटे को। प्रतिकूल को। अन्याय युक्त को। धर्म विरुद्ध को। अशास्त्रीय को।

वा=(अव्यय) भी।

पञ्च=(पुं०) प्र० ब० व०=पाँचों।

एते=एतद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=ये।

तस्य=तद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=उस के।

हेतवः =(पुं०) √हि+तुन्=हेतु+प्र० ब० व०=कारण हैं। हेतु हैं।

अर्थ—मनुष्य-शरीर, वाणी और मन के द्वारा जिस भी न्याय-संगत अथवा अन्याय-युक्त कर्म को प्रारम्भ करता है। उस के (अधिष्ठान आदि) ये पाँचों (ही) हेतु (या कारण) हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या—महात्मा अक्षपाद ने लिखा है, "प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरम्भः।" अर्थात् कर्म (सब कर्म) शरीर, वाणी और बुद्धि (मन) द्वारा ही होते हैं। इसी प्रकार भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! यह पुरुष शरीर, वाणी और मन द्वारा

जिस न्याय रूप कर्म को अथवा विपरीत रूप कर्म को प्रारम्भ करता है। उस कर्म के पूर्वोक्त-शरीर, अहंकारोपाधि जीव, इन्द्रियादि द्वादश करण, प्राणादि नाना प्रकार की चेष्ठा, और पाँचवां दैव (अधिष्ठातृ देवता लोग अथवा पूर्वले कर्म) ये पाँच ही कारण होते हैं। श्रुति-स्मृति-रूप-शास्त्र से विहित अग्नि-होत्रादि कर्म तथा अन्य सब अच्छे कर्म न्याय-सम्बन्धी-कर्म कहलाते हैं और इन कर्मों के विपरीत या उलटे कर्म श्रुति-स्मृति-विरुद्ध और लोक-मर्यादा के विपरीत तथा निन्दनीय हैं वे सब निषिद्ध कर्म होते हैं यही हिंसादि पाप-कर्म इस श्लोक में विपरीत-कर्म कहे गये हैं। कुछ कर्म स्वभाविक ही होते रहते हैं जैसे सांस लेना, नाड़ियों में रुधिर का बहते रहना, आँख-झपकना, हँसना-रोना, छींकना, झंभाई लेना, आदि तथा कुछ नित्य-नैमित्तक कर्म होते हैं, जैसे मल-मूत्र-त्यागना, दातुन या मंजन करना, स्नान, ध्यान, सन्ध्योपासन अग्नि होत्र, स्वाध्याय और शुद्ध सात्विक भोजन तथा शयन करना आदि। इस श्लोक में कहे हुए 'न्याय' और विपरीत कर्मों में सम्पूर्ण कर्मों का समावेश हो जाता है, नर शब्द का प्रयोग करके भगवान् ने यह सूचित किया है, कि अच्छे बुरे सम्पूर्ण कर्मों के फल की प्राप्ति केवल मनुष्य को ही होती है अन्य जीवों को नहीं क्योंकि पशु आदि सब भोगयोनियां हैं, जो मनुष्य योनि से गिर चुकी हैं। हां जब कभी मनुष्य इन का वध खाने के लिये या बिना किसी कारण, क्रोध या दिल्लगी आदि से ही करता है तो प्रभु इन को बदला दिलाने के लिए मनुष्य योनि में भी उत्पन्न कर देते हैं। वह इस प्रकार कि उस वध किए हुए जीव का मांस भोजन द्वारा मनुष्य देह में प्रविष्ट होकर शुक्राणुओं का रूप धारण कर लेता है और फिर अपने शत्रु से बदला लेने के लिये प्रभु-कृपा से नर-शिशु के रूप में जन्म ग्रहण करता है। जैसे स्पेन देश में शत्रु मुसलमानों के पुत्र बन करवहां के लोगों ने वहां के सारे मुसलमानों को मार डाला था। इस श्लोक में 'शरीर' शब्द अधिष्ठान का पर्याय है। 'नरः' कर्त्ता को लक्ष्य करता है "वाङ् मनः" से करण को ग्रहण करना चाहिए और 'प्रारभते' पद चेष्टा का सूचक है॥ "न्याय्यं वा विपरीतं वा" से धर्म-अधर्म को ग्रहण किया जाता है। तात्पर्य यह कि शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के भले बुरे किये जाने वाले कर्मों में अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा और दैव ये पाँच ही हेतु हैं॥ १५॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

तत्र+एवम्+सति कर्त्तारम्+आत्मानम्+केवलम्+तु यः। पश्यति+अकृत-बुद्धित्वात्+न सः+पश्यति दुर्मतिः॥

तत्र=(अव्यय) तद्+त्रल्=उस विषय में। "पहले बतलाए हुए पांच कारणों द्वारा ही कर्म सिद्ध होते हैं।" इस विषय में वहाँ।

एवम्=(अव्यय) √इ+वमु (बा०)=इस प्रकार ऐसा। ऐसे।

सति=(वि०) √अस् (अदा० पर० अक०=होना)+शतृ, अकार लोप्=सत् सप्त० ए० व०=होने पर।

कर्त्तारम्=(वि० पुं०) √कृ+तृच्=कर्तृ+(पुं०) द्विती० ए० व०= कर्त्ता को।

आत्मानम्=(पुं०) √अत्+मनिण्=आत्मन्+द्विती ए० व०=आत्मा को। शुद्ध आत्मा को।

केवलम्=(वि०)√केव्+कलच्, अथवा के√वल्+अच्=केवल+(पुं०) द्विती० ए० व०=केवल को। असाधारण को। अकेले को। एकमात्र को।

तु=(अव्यय) परन्तु।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र०, ए० व०=जो। जो पुरुष।

पश्यति=(क्रिया)√दृश् (भ्वा०, पर० सक०=देखना)+लट्०, प्र० पु, ए० व०=देखता है।

अकृत-बुद्धित्वात्=(भावे) [न√कृ+क्त=अकृत=न की हुई। संस्कृत न की हुई। शुद्ध न की हुई। (वेदान्त से, आचार्य के उपदेश के द्वारा, सत्संग से, शास्त्र के अभ्याससे, भगवत्-अर्थ कर्म और उपासना के बल से, अथवा तर्क के द्वारा) शुद्ध न की हुई। बुद्धि+त्व+(पुं०) पंच० ए० व०=बुद्धि के होने से।] असंस्कृत बुद्धि के होने से। मलिन बुद्धि होने से। दुर्बुद्धि से।

न=न। नहीं।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र०, ए० व०=वह।

पश्यति=√दृश्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=देखता है।

दुर्मतिः=(वि०) दुष्टा मतिर्यस्य सः (बहुव्री०) (पुं०) प्र० ए० व०=दुर्बुद्धि।

अर्थ परन्तु वहाँ [पहले बतलाए हुए पाँच कारणों द्वारा ही कर्म सिद्ध होते हैं।] इस प्रकार होने पर भी जो (पुरुष) केवल (शुद्ध) आत्मा को कर्त्ता (रूप में) देखता है (अर्थात् समझता है); वह दुर्मति, अकृत-बुद्धि (अशिक्षित या असंस्कृत-बुद्धि) होने से (ठीक या यथार्थ रूप में) नहीं देखता (या समझता) है॥ १६॥

व्याख्या—पहले कहा जा चुका है कि अधिष्ठान आदि पाँच कारणों द्वारा ही न्याय-संगत और अन्याय युक्त सम्पूर्ण कर्म सम्पन्न होते हैं। परन्तु जो लोग दुर्मति हैं तथा अकृत-बुद्धि हैं अर्थात् जिन की बुद्धि श्रुति-स्मृति, उपनिषद और वेदान्त को पढ़ नहीं सकी है, जिन्होंने आचार्यों के उपदेशों को सुना नहीं है। जो लोग सत्संग से सर्वदा रहित हैं और जिन्होंने शास्त्रों का थोड़ा भी अभ्यास नहीं किया है तथा भगवत्-अर्थ-कर्म और उपासना का थोड़ा भी सहारा नहीं लिया है। वे अशुद्ध-बुद्धि-लोग उस शुद्ध आत्मा को कर्मों के

कर्ता के रूप में देखते हैं। जो वास्तव में असंग और उदासीन है। सर्व जड़ प्रपंच का प्रकाशक है। सत्ता स्फूर्ति रूप है। स्व प्रकाश-परमानन्दा घन है। बन्धन से रहित है। अकर्ता है। अद्वितीय है। वह आत्मा अविद्या के कारण से पूर्वोक्त अधिष्ठानादि पाँचों कारणों में प्रतिबिम्वित होता हुआ भासमान होता है।

जिस प्रकार सूर्य विषय रूप न होकर नेत्रों के विषयों को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार आत्मा कर्मों का विषय न होकर कर्मों को प्रकट करता हुआ भासमान होता है। जैसे देखने वाला—दर्पण और प्रतिबिम्ब न हो कर भी दोनों को प्रकाशित करता है। तद्वत् आत्मा भी उन सब का प्रकाशक है। स्वयं कर्ता या कर्म रूप न होकर दोनों को प्रकाशित करता है। दुर्बुद्धि पुरुष यह समझता है कि चैतन्य-रूप ईश्वर या ब्रह्म की परम सीमा शरीर ही है। इसलिये उसे ही आत्मा समझ कर पाप पुण्य-कर्मों द्वारा सब प्रकार से पालता है। परन्तु ऐसा कभी विचार नहीं करता कि मैं तो सब कर्मों से परे हूँ और सब कर्मों का साक्षी हूँ। यह ठीक है कि निद्रित पुरुषों को जब तक चेत नहीं आता तब तक वह स्वप्न को सत्य ही समझता रहता है। रस्सी का ज्ञान होने से पूर्व उसे सर्प ही समझता रहता है। यरक़ान के रोगी को सब वस्तुएँ पीली ही दिखाई देती हैं। हरे चश्मे धारी को सब ओर हरा ही हरा दिखाई देता है। जैसे सावन के अन्धे को हरा ही हरा दीखता है। माँगने वाले को सब मोती-हीरों वाले ही दिखाई देते हैं। वह मूर्ख देहात्म-बुद्धि के कारण आत्मा पर देह रूपी जाल फैलाता है। इस कारण से वह अपने आप को भूला हुआ देह रूपी कारावास में कर्म की दृढ़ शृङ्खलाओं से बाँधा जाता है। अतएव जो अकृत-बुद्धि और मन्दमति पुरुष निर्मल आतम-स्वरूप पर, प्रकृति के किए हुए कर्म आरोपित करता है वह कल्प-कल्पान्तरों तक जन्म धारण करता रहता है। परन्तु जब प्रतिबिम्ब लौट कर बिम्ब में समा जाता है तो फिर उसकी कोई अलग स्थिति शेष नहीं रहती। जो सूर्य जल आदि में प्रतिबिम्बित होता है उस का उन जल आदि पदार्थों से कोई सीधा उल्टा सम्बन्ध नहीं है वह तो उन से सर्वथा भिन्न और बहुत परे है। यही बात आत्मा के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए। इसलिये जो पुरुष अविद्या के कारण से असंग आत्मा को कर्मों का कर्ता देखता है वह भ्रान्त पुरुष आत्मा के वास्तविक रूप को नहीं देखता है अर्थात् अधिष्ठानादि पाँचों कारणों के साथ अज्ञान से आत्मा की एकता मान कर उन के द्वारा किए हुए कर्मों को "मैं ही कर्ता हूँ" इस प्रकार केवल शुद्ध आत्मा को उन कर्मों का कर्ता समझता है वह वास्तव में कुछ भी नहीं समझता है।

वह मनुष्य दुर्बुद्धि होता है जिस की बुद्धि, कुत्सित है, विपरीत है, दुष्ट है और बारम्बार जन्म-मरण देने में कारण होती है। ऐसा मनुष्य देखता

हुआ भी वास्तव में देखता नहीं है। जैसे बालक दौड़ते हुए बादलों में चन्द्रमा को दौड़ता हुआ देखता है अथवा जैसे दौड़ती हुई रेल गाड़ी में बैठा हुआ वह बाहर के वृक्षों और तार के खम्भों को दौड़ता हुआ ही अनुभव करता है ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

यस्य न+अहम्+कृत:+भाव:=बुद्धि:+यस्य न लिप्यते। हत्वा+अपि स:+इमान्+लोकान्+न हन्ति न निबध्यते ॥

यस्य=यद् (सर्व०)+(पु०) षष्ठी० ए० व०=जिस का।

न=न। नहीं।

अहम्+कृत:=(वि०) [अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं√कृ+क्त+क्विप्=करने वाला। कर्त्ता।] मैं कर्त्ता हूँ। [(पु०) प्र०, ए० व०]

भाव:=(पु०)√भू+घञ् अथवा √भू+णिच्+अच्=भाव+प्र० ए० व०=भाव। भावना। विचार।

बुद्धि:=(स्त्री०)√बुध्+क्तिन्+प्र० ए० व०=बुद्धि।

यस्य=जिस की।

न=न। नहीं।

लिप्यते=√लिप् (तुदा० उभ० सक०=लीपना)+कर्म वाच्य, लट्०, प्र० पु०, ए० व०=लीपी जाती है। लिपायमान होती है। लिप्त होती है।

हत्वा=√हन् (अदा० पर० सक०=मारना। ताड़ना। पीटना। वध करना) +क्त्वा=मार कर।

अपि=(अव्यय) भी।

स:=तद् (सर्व०)+पु०) प्र० ए० व०=वह।

इमान्=इदम् (सर्व०)+(पु०) दिती० ब० व०=इन को।

लोकान्=(पु०)√लोक्+घञ्+द्विती० ब० व०=लोकों को। सब लोकों को। (स्वयं परमात्मा-प्रेरणात्मा प्रलय काल में सब लोगों का नाश करता है तो फिर ब्रह्मलीन के लिये क्या बात है।)

न=न। नहीं।

हन्ति=√हन्+लट्० प्र० पु० ए० व०=मारता है।

न=न। नहीं।

निबध्यते=नि√बन्ध् (क्र्या० पर० सक०=बाँधना)+कर्म वाच्य, लट्०, प्र० पु०, ए० व०=बाँधा जाता है। बंधायमान होता है ॥

अर्थ—जिस पुरुष का भाव "मैं करता हूँ" नहीं है और जिस की बुद्धि (इन्द्रियों के विषयों में) लिपायमान नहीं होती है, वह इन लोकों को मार कर भी न मारता है और न बांधा जाता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जिस पुरुष का अन्त:करण वेदान्त के उपदेश, संग रहित निष्काम कर्मों के करने और प्रभु के स्वरूप में स्थित होने से शुद्ध और पवित्र हो चुका है, जिस में से यह भाव जाता रहा है कि मैं परमात्मा से अलग कोई और हूँ। जिसे कभी यह भावना ही नहीं होती कि मैं किसी कर्म का कर्ता हूं, जो अपने "मैं" नाम को ही भूल गया है और जिसे 'तू' के बिना और सब कुछ दिखाई देना ही बन्द हो गया है । जो द्रष्टा रूप होकर यह देख रहा है कि समस्त कर्मों के ये पांच ही कारण हैं—पार्थिव शरीर, अहंकारोपाधि जीव (अन्त:करण, इन्द्रियां आदि बारह करण, पञ्च प्राणादि चेष्टा और दैव (इन्द्रियां आदि शरीर के द्वारों में स्थित विषयों के लोभी देवता लोग)। ये देवता लोग बड़ा उपद्रव करते हैं, विषय-वायु को आते देख कर इन्द्रियों की खिड़कियां खोल देते हैं और भीतर जल रहे ज्ञान दीपक को अन्त:करण में प्रविष्ट हुआ मोहक-विषय-वायु बुझाने का प्रयास करता है परन्तु ये लोग इतने सावधान और हुश्यार होते हैं कि जिन्होंने निरन्तर प्रकाशित रहने वाले ज्ञान-रूपी-विजली के वे बल्व अन्त: करण में जला रक्खे हैं जो न किसी प्रकार की वायु से बुझते हैं और न किसी समय उनका प्रकाश ही न्यूनाधिक होता है क्योंकि इन वल्वो की प्रकाशक शक्ति का केन्द्र अथाह शक्तिशाली पावर-हाऊस एक मात्र केवल परब्रह्म परमेश्वर ही हैं। चाहे उनका शरीर रूपी बंगला बना रहे चाहे टूट कर छिन्न भिन्न हो जाए, चाहे दिन हो, चाहे प्रकाश, परन्तु यह बल्व प्रकाशित रहते हैं और शरीर त्याग के अनन्तर यह प्रकाश उस महा प्रकाश से मिल कर तद्रूप हो जाता है और फिर इस की कोई अलग सत्ता शेष नहीं रहती ।

इस अवस्था को प्राप्त हुए ब्रह्म-ज्ञानी पुरुष को प्रारम्भ जीवन-काल में ही यह भासमान होने लगता है कि मैं "मैं" नहीं हूं। इसलिए "मैं" किसी कर्म का भी कर्ता नहीं हूँ। अविद्या से आत्मा में अध्यारोपित ये अधिष्ठानादि पांच हेतु ही समस्त कर्मों के कर्त्ता हैं। मैं तो केवल उन के ,व्यापारों का साक्षी मात्र "पंच प्राणों से रहित" मन से रहित, शुद्ध, श्रेष्ठ, अक्षर से भी पर और केवल अक्रिय आत्म स्वरूप हूँ तथा जिस की बुद्धि अर्थात् आत्मा का उपाधि स्वरूप अन्त:करण किसी विकार से लिप्त नहीं होता, जो अनुताप नहीं करता, हर्ष नहीं मानता दु:ख सुख से प्रभावित नहीं होता, शीत और उष्ण को अनुभव नहीं करता, ऐसा-प्राण, इन्द्रियों और अन्त:करणादि से सम्बन्ध न रखने वाला महापुरुष तो सब विकारों से रहित हुआ—अकर्ता, अभोक्ता, अज, अमर, अविनाशी-आत्म-स्वरूप ही हो जाता है। फिर उस से जो प्रकाश निकल कर दशों दिशाओं में फैला हुआ होता है उस से कहीं भी माया रूपी अन्धकार

दिखाई ही नहीं देता जैसे यदि सूर्य अन्धेरे में रहने के लिये किसी सुरंग या तहखाने (भूगर्भ गृह) में चला जाये तो फिर भी उसे अन्धेरा कहीं नहीं मिल सकता क्योंकि वह वहां भी जाता है वहां उसके साथ पूर्ण प्रकाश भी जाता है। कारण यह कि वह कि वह किसी समय भी अपने स्वाभाविक प्रकाश से रहित नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जो पुरुष आत्म-भाव से आवृत्त हो जाता है, वह जिस दृश्य पदार्थ की ओर देखता है वही पदार्थ स्वयं उस देखने वाले का ही रूप धारण करने लगता है और इस प्रकार उस के साथ मिलकर एक रूप हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा बोध के कारण जिस का 'अहम्' भाव पूरी तरह से जल कर भस्म हो जाता है। उस के कर्म तभी तक होते हैं जब तक उस का शरीर जीवित होता है। मरने के बाद उसके सम्पूर्ण कर्म, मन, बुद्धि और अहंकार आदि समस्त उपाधियों समेत शरीर और इन्द्रियों के जलने से पूर्व ही पूरी तरह से भस्मसात् हो जाते हैं। जब ब्रह्म-ज्ञानी पुरुष का सब कर्मों में संग और फल का त्याग हो जाता है तब उसका किसी कर्म में न राग होता है न द्वेष रहता है और न ही राग-द्वेषादि किसी प्रेरणा से उस के कर्म होते हैं जिन से कर्मों का अच्छा या बुरा कोई प्रभाव उस के अन्तःकरण पर नहीं होता। ऐसी अवस्था में वह जो कुछ भी करता दिखाई देता है, वह उसके न करने के ही समान होता हैं। अन्न के जितने दाने हैं उन सब में एक-एक जीवित भ्रूण सोया हुआ होता है प्रत्येक मनुष्य उन को खाता हैं। वृक्षों में जीवन होता है, नित्य ही लोग उन्हें काटते हैं, दवाई खाकर शरीर के रोगाणुओं को मारते हैं। मक्खियों, मच्छरों, कीड़े-मकोड़ों, चूहों चिड़ों, सांपों, भेड़ियों आदि अनेक हिंसक और हानिकारक प्राणियों का वध केवल सृष्टि की रक्षा करने के निमित्त किया जाता है अनेक अदृष्ट जीव साँस की गर्म वायु द्वारा नष्ट हो जाते हैं अनेक कीटाणु शरीर के भीतर जकर पेट में मर जाते हैं। अनेक जीव चलते समय पाँवों के नीचे आकर मर जाते हैं सोते समय कई एक जीव शरीर के द्वारा मसले जाते हैं कृषि कर्म करने वाले प्राणी से उस की हल जोतना आदि प्रत्येक क्रिया में असंख्य जीवों की मृत्यु या हत्या होती है। रोटी पकाते समय अनेक कीट पतंगादि उपलों और लकड़ियों के साथ जलते हैं। अनाज, दालों सब्जियों और फसलों तथा वृक्षों पर कीटनाशक अनेक विषाक्त पदार्थों का छिड़काव (स्प्रे) करना पड़ता है, और धूड़ा धूड़ना होता है। पुस्तकों और वस्त्रों के कीड़े मारने पड़ते हैं अनाज को कीड़ेमार दवाइयों द्वारा बचाना पड़ता है। हरकाए कुत्ते मारे जाते हैं, फलों का नाश करने वाले तोते आदि पक्षी गुलेल और बन्दूक का निशाना बनाए जाते हैं। कपड़ों और सिरों में पड़ी हुई जूओं को मारा जाता है ज्ञानी ये सब हिंसाएं लोक हितार्थ करता है अर्थात् इस प्रकार सारे लोक को मारता हुआ भासमान होता है परन्तु –

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः॥ गी० ४।२०॥

तथा—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। गी० ५।१० ।।

जैसे अग्नि, वायु और जल के द्वारा प्रारब्ध-वश किसी प्राणी की हिंसा देखने में आती है, तो भी वह वास्तव में हिंसा नहीं है, वैसे ही जिस पुरुष का देह में अभिमान नहीं है और स्वार्थ रहित केवल संसार के हित के लिये ही जिस की समस्त क्रियाएँ होती हैं उस ज्ञानी पुरुष के शरीर और इन्द्रियों द्वारा हिंसा को भी यदि देखा जाता है, तो वास्तव में वह हिंसा नहीं है क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकार का अभाव होने से किसी प्राणी की हिंसा हो ही नहीं सकती तथा कर्तृत्व भाव के बिना किया हुआ कर्म वास्तव में अकर्म ही है। चाहे उस कर्म में नवीन जगत् की सृष्टि हो, चाहे संहार हो। जैसे सूर्य कभी यह नहीं सोचता कि उस के उदय होने से कमल खिलते हैं, या कुमुद मुरझाते हैं। वह किसी बात की परवाह किए बिना ही उदय और अस्त होता है इस प्रकार ज्ञानी द्वारा भी समस्त कर्म सहज-स्वभाव ही होते रहते हैं। सच पूछो तो वह इस देह में विदेह ही बना रहता है क्योंकि इस अवस्था में उसे आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। उसे तो इस बात का पता भी नहीं लगता कि मेरी इन्द्रियाँ किन-किन कर्मों का आचरण कर रही हैं। सोने की चण्डिका, सोने के महिषासुर का सोने के त्रिशूल से वध करती हुई देख कर पुजारी उसे सत्य समझता है। इसी प्रकार सुवर्ण अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर रूप ज्ञानी की हिंसा को देख कर प्राकृत पुरुष उसे हिंसा रूप में देखता है। परन्तु वह वास्तव में हिंसा नहीं होती। सिनेमा के चल-चित्रों और रंगीन टैलीविज़न में जो जलती हुई अग्नि, बरसता हुआ पानी और किसी प्राणी का होता हुआ वध जैसे असत्य और केवल भासमान होते हैं। इसी प्रकार यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो ब्रह्मज्ञानियों द्वारा की हुई हिंसा भी केवल दृश्यमात्र ही होती है उस में वास्तविकता कुछ भी नहीं होती। उन मुक्त या विदेही पुरुषों के शरीर केवल प्राचीन संस्कारों के कारण ही चलते फिरते नजर आते हैं। परमात्मा स्वयं सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाला माना जाता है। फिर उसका स्वरूप मुक्त पुरुष भी हिंसा करता हुआ यदि किसी को भासमान हो तो इस में आश्चर्य ही क्या है? ज्ञानी के लिये तो स्वयं अपने मारने के बिना और कुछ शेष रहता ही नहीं है। आत्मा केवल साक्षीभूत और आत्म-स्वरूप है। दोष तो बुद्धि में होता है कर्म में नहीं इसलिये बुद्धि के निर्मल हो जाने पर कोई कर्म भी मनुष्य को बाँधता नहीं है। इसी कारण से यह कहा जाता है कि "जिस में अहंकार-भाव नहीं हैं, जिस की बुद्धि मलिन नहीं है वह इस समस्त जगत् को मारता

हुआ (इस से अपना छुटकारा कराता हुआ) भी नहीं मारता और न बन्धायमान (जन्म-मरण के चक्र में फँसने वाला) होता है ॥"

महात्मा गाँधी जी इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

'ऊपर ऊपर से पढ़ने पर यह श्लोक मनुष्य को भुलावे में डालने वाला है, गीता के अनेक श्लोक काल्पनिक आदर्श का अवलंबन करने वाले हैं। उस का सच्चा नमूना जगत् में नहीं मिल सकता और उपयोग के लिये भी जिस तरह रेखागणित में काल्पनिक आकृतियों की आवश्यकता है। उस तरह धर्म व्यवहार के लिये है इसलिये इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

"जिस की अहंता नष्ट हो गई है और जिसकी बुद्धि में लेश-मात्र भी मैल नहीं है, उसके लिये कह सकते हैं कि वह भले ही सारे जगत् को मार डाले; परन्तु जिस में अहंता नहीं है उसे शरीर ही नहीं है। जिस की बुद्धि विशुद्ध है वह त्रिकाल-दर्शी है। ऐसा पुरुष तो केवल एक भगवान् है। वह करते हुए भी अकर्ता है मारते हुए भी अहिंसक है। इस से मनुष्य के सामने तो न मारने का और शिष्टाचार-शास्त्र का ही मार्ग है ॥" ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानम्+ज्ञेयम्+परिज्ञाता त्रि-विधा कर्म-चोदना । करणम्+कर्म कर्त्ता+इति त्रि-विधः कर्म-संग्रहः ॥

ज्ञानम्=(नपुं०) ज्ञायते अनेन इति, √ज्ञा=क्र्या० उभ० सक०=जानना) +ल्युट्+प्र० ए० व०=ज्ञान। जानकारी। बोध। पदार्थ का ग्रहण करने वाली मन की वृत्ति। जिस के द्वारा जाना जाए।

ज्ञेयम्=(वि०)√ज्ञा+(कर्मणि) यत्+(नपुं०) प्र० ए० व०=जानने योग्य। ज्ञातव्य। जानने में आने वाली वस्तु।

परिज्ञाता=(पुं०) परि√ज्ञा+तृच्=परिज्ञातृ+प्र० ए० व०=जानने वाला।

त्रि-विधा=(स्त्री०) प्र० ए० व०=तीन प्रकार की।

कर्म-चोदना=(स्त्री०) कर्मणः चोदना (षष्ठी० तत्पु०) [(स्त्री०)√चुद् (चुरा० पर० सक०=भेजना। प्रेरणा करना)+णिच्+युच्=प्रेरणा ।]=कर्म-प्रेरणा। कर्म-प्रवर्तिका। कर्म-प्रेरक।

करणम्=(नपुं०)√कृ+ल्युट्+प्र० ए० व०=साधन। करण। कर्म करने का साधन। जिस के द्वारा कर्म किया जाए। अर्थात् श्रोतादि दस बाह्य-इन्द्रियाँ और बुद्धि आदि चार अन्तःकरण ।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म। करने का नाम कर्म है। क्रिया।

कर्ता का अत्यन्त इष्ट, जो क्रिया द्वारा सम्पादन किया जाता है।

कर्ता=(पुं०)√कृ+तृच्=कर्तृ+प्र० ए० व०=कर्ता। कर्म करने वाला।

इति=यह। इस प्रकार। ऐसे।

त्रि-विध:=(पुं०) प्र० ए० व०=यह तीन प्रकार का।

कर्म-संग्रह:=(पुं०) कर्मणा: संग्रह:=कर्म का संग्रह:। (है)।

[(पुं०) सम्√ग्रह+अप्+प्र० ए० व०=जिसमें कुछ संगृहीत किया जाए उसका नाम संग्रह है।

अर्थ—ज्ञान ज्ञेय और परिज्ञाता (ये तीनों) कर्म करने के लिए तीन प्रकार की प्रेरणा हैं और करण (कर्म करने का साधन), (किया जाने वाला) कर्म तथा (इसकर्म को) करने वाला कर्ता यह ऐसा तीन प्रकार का कर्म का संग्रह (कर्म करने के लिए इकट्ठा करने योग्य सामग्री) है ॥ १८ ॥

व्याख्या—संसार में जो कोई भी कर्म किया जाता है-उस के प्रेरक अर्थात् उस को करने की इच्छा उत्पन्न करने वाले तीन साधन होते हैं जैसे जब किसी मनुष्य के मन में यह इच्छा उत्पन्न होती है कि मैं अपने रहने के लिए एक सुन्दर घर बनाऊँ। तो पहली प्रेरणा जो इस इच्छा को उत्पन्न करती है वह उस का पूर्व ज्ञान होता है अर्थात् उसने पहले अन्य लोगों को उस प्रकार के मकान बनाते हुए या बना कर रहते हुए देखा है अथवा उस ने स्वयं भी पहले कोई और मकान अपना या किसी दूसरे का बनवाया है, जिस से उसे इस बात का ज्ञान या अनुभव हुआ है कि अब नवीन घर कैसे बनाया जा सकता है।

कर्म करने की दूसरी प्रेरणा ज्ञेय वस्तुओं से मिलती है, ज्ञेय नाम जानने योग्य वस्तु का है अर्थात् अब वह सोचता है कि मकान बनाने पर कितना धन व्यय होगा? और मेरे पास धन कितना है? कमी कहाँ से पूरी होगी? ईंटें, मिट्टी, सीमिण्ट, रेत, बजरी, चूना, गार्डर, टी आईरन, लकड़ी, रस्से, सीढ़ी, तख्ते, बाल्टियाँ बांस, शहतीरियां, कुदाल आदि निर्माण-सामग्री कहाँ से और कैसे प्राप्त की जाएगी? ये सब बातें उस के लिए ज्ञेय, ज्ञातव्य या जानने योग्य होती हैं जब ये सब अच्छी तरह से जान ली जाती हैं, तो इस से फिर उसे मकान बनाने की दूसरी प्रेरणा होती है!

फिर जब कोई सुयोग्य व्यक्ति मकान बनाने या निर्माण करने वाला मेमार मिस्तरी या शिल्पी उसे मिल जाता है, तो उसे वह मकान बनाये जाने का ठेका दे देता है। इस प्रकार परिज्ञाता या सुयोग्य अनुभवी कार्य कुशल व्यक्ति रूप तीसरी प्रेरणा के मिल जाने पर भवन निर्माण रूप कार्य का आरम्भ करना निश्चित हो जाता है। हवन, तप व्रत ध्यानयोग और अन्य सब कर्मों में भी यही तीन ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता कर्म करने की चोदना अर्थात् प्रेरणा करने वाले होते हैं। जैसे हवन करने में—

१—हवन कैसे किया जाता है ? और हवन करने का फल क्या होता है ? इन सब बातों का ज्ञान होता है।

२—ज्ञातव्य या ज्ञेय वस्तु हवन सामग्री कहाँ से या कैसे प्राप्त होगी ? वेरी या पलाश की लकड़ी का जुटाना कैसे होगा ? हवन सम्बन्धी और सब कार्य कैसे किया जायेगा ?

३—हवन कराने वाले परिज्ञाता उपाध्याय की प्राप्ति।

इस प्रकार पढ़ाई प्रारम्भ करने के लिए भी ये ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता (सुयोग्य गुरु) तीन प्रेरक होते हैं।

परन्तु कोई कर्म केवल इन तीन प्रेरकों के होने मात्र से ही प्रारम्भ नहीं किया जा सकता, उस के करने के लिए करण (कर्म सिद्ध करने वाले सामान) कर्म (सोचे हुए कम का निरन्तर करते जाना) और कर्ता (काम को करने वाले) की भी आवश्यकता होती है।

मान लो कि गृह निर्माण का सब करण या सामान भी एकत्रित हो चुका है मकान बनाने वाले राज और मजदूर भी आ गए हैं, परन्तु मकान बनवाने वाला जो कि कर्त्ता कहलाता है वह वहाँ पर उपस्थित नहीं है। तब भी वह निर्माण कार्य प्रारम्भ या सिद्ध नहीं होगा! इस प्रकार किसी कार्य के सम्पन्न होने के लिए ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता (कार्य कुशल पुरुष) ये तीन तो कर्म के प्रेरक होते हैं और करण, कर्म तथा कर्त्ता ये तीन कर्म के संग्रह रूप होते हैं अर्थात् इन तीनों के एकत्रित होने पर ही सब कर्म प्रारम्भ और पूरे होते हैं।

इस कर्म प्रसंग में भगवान् ने आत्मा को अकर्ता, अभोक्ता आदि कहा है अर्थात् उसका इन कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वह निर्लेप और असंग है परन्तु माया वश भ्रान्त हुआ जब वह इन कर्मों को अपने द्वारा होता हुआ समझने लगता है तो उस का सम्बन्ध शरीर से जुड़ जाता है जिस से वह 'जीव' कहलाने लगता है और जन्म मरण के चक्र में फँस जाता है जिन कर्मों को वह अपने किए हुए कर्म मानता है वास्तव में वह उन के करने वाला नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों के कारण तो अधिष्ठान (शरीर) कर्ता भिन्न भिन्न प्रकार के करण, नाना प्रकार की अलग अलग चेष्टाएँ और दैव ये पाँच ही होते हैं। चाहे पुण्य कर्म हों चाहे पाप कर्म हों, उन को जो कोई भी मनुष्य करता हुआ दिखाई देता है वास्तव में उन सभी कर्मों के कारण केवल यही पाँच होते हैं। फिर भी जो आत्मा को कर्ता समझता है। वह दुर्मति और असंस्कृत बुद्धि वाला होता है परन्तु जो यह समझता है कि मैं तो शुद्ध आत्मा हूँ मैं तो किसी भी कर्म का कर्त्ता नहीं हूँ तथा उस में किसी प्रकार का भी अहं-भाव नहीं है और न ही उस की बुद्धि किसी प्रकार के विषयों या व्यसनों में लिप्त है, वह

सारे संसार को मारता हुआ भासमान होता भी वास्तव में न किसी को मारता है तथा न ही किसी प्रकार के पाप से बन्धायमान होता है। वह इस कर्म-विधि को भली भान्ति जानता है कि सब कर्मों के ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता केवल तीन ही प्रेरक होते हैं और करण, कर्म और कर्ता तीन कर्म-संग्रह होते हैं अर्थात् इन तीन के मिलने से ही सब कार्य सम्पन्न होते हैं इस प्रकार से वह कर्मों का द्रष्टा इस कर्म फ़िलासफी से अनभिज्ञ नही होता। बल्कि पूरी तरह से जानकार होता है ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

ज्ञानम्+कर्म च कर्त्ता च त्रिधा+एव गुण-भेदतः । प्रोच्यते गुण-संख्याने यथावत्+शृणु तानि+अपि ॥

ज्ञानम्=(नपुं०) ज्ञायते अनेन, इति√ज्ञा+ल्युट्+प्र० ए० व०=ज्ञान। जानकारी।

कर्म=(नपुं०) क्रिया [यहाँ कर्म शब्द का अर्थ "क्रिया" है। कर्ता का अत्यन्त इष्ट परिभाषिक कर्म नहीं (श्री स्वा० शंक०)] प्र० ए० व०।

च=और।

कर्त्ता=(पुं०)√कृ+तृच्=कर्तृ+प्र० ए० व०=करने वाला। कर्त्ता।

च=और

त्रिधा=(अव्यय) त्रि+धा=तीन प्रकार से। तीन प्रकार का। तीन तीन प्रकार के।

एव=ही।

गुण-भेदतः=सत्त्वादि-भेदेन । [(पुं०)√भिद्+घञ्+तसिल=भेदतः=भेद से] सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों के भेद से। ["एव" शब्द से यहाँ यह आशय है कि ज्ञान, क्रिया और कर्त्ता तीनों पदार्थ गुणों के अतिरिक्त अन्य जाति से नहीं है]

प्रोच्यते=प्र√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+कर्मवाच्य, लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहे जाते हैं। कहे गये हैं।

गुण-संख्याने=(पुं०) [सम्√ख्या+ल्युट्+सप्त० ए० व०] गुणानां संख्याने =गुणों की संख्या (गणना) करने वाले कपिल मुनि के सांख्य शास्त्र में।

यथावत्=(अव्यय) यथा+वति=ज्यों का त्यों। अच्छी तरह। भली भान्ति। भली प्रकार। यथावत्। यथा न्याय।

शृणु=√श्रु (स्वा० पर० अक० सक०)+लोट्०, म० पु० ए० व०=(तू) सुन।

तानि=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ब० व०=उन को।

अपि=भी।

अर्थ—ज्ञान, क्रिया और कर्त्ता, गुण-संख्यान (गुणों की गणना करने वाले कपिल मुनि के सांख्य-शास्त्र) में (सत्व, रज, तम्) गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं। उन को भी यथावत् (ज्यों का त्यों तू मुझ से) सुन ॥ १९ ॥

व्याख्या—"गुण-संख्यान" शब्द का अर्थ—गुणों की गिनती करने वाला (शास्त्र) है। कपिल-मुनि ने जो सांख्य शास्त्र लिखा है, उस में सत्त्व, रज और तम इस प्रकार गुणों के तीन भेद बतला कर फिर अनेक पदार्थों में इन तीनों गुणों का विस्तार दिखाया गया है। यद्यपि परमार्थ-ब्रह्म की एकता के विषय में भगवान् के सिद्धान्त से गुणों की सख्या करने वाला यह 'कापिल-सांख्य शास्त्र विरुद्ध है तो भी गुणों के भोक्ता जीव के विषय में तो प्रमाण ही है। इस लिए यहाँ इस शास्त्र का वर्णन अगले श्लोकों में कहे हुए अभिप्राय की स्तुति करने के लिए प्रमाण रूप से किया गया है। हे अर्जुन ! ज्ञान और ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) के लक्षण प्रथम ही तेरहवें अध्याय के श्लोक १८ में अध्यात्म दृष्टि से बतला दिए गए हैं। परन्तु क्रिया रूपी ज्ञान का लक्षण प्राय: ज्ञान से कुछ पृथक् ही होता है इसलिये अब इस त्रयी में से ज्ञान की और दूसरी त्रयी में से कर्म और कर्त्ता की व्याख्याएँ की जाती हैं। यहाँ कर्म शब्द का अर्थ क्रिया है। कर्त्ता का अत्यन्त इष्ट पारिभाषिक शब्द कारक रूप कर्म नहीं है। सांख्य शास्त्र में ज्ञान, कर्म और कर्त्ता में से प्रत्येक के सात्त्विक, राजस और तामस ये तीन-तीन ही भेद बतलाए गये हैं। ये तीनों पदार्थ इन गुणों के अतिरिक्त और किसी दूसरी जाति के नहीं होते। अब तू इस ज्ञान, कर्म और कर्त्ता को तथा गुणों के अनुसार किए गये उनके समस्त भेदों को यथावत् ध्यानपूर्वक सुन ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

सर्व-भूतेषु येन+एकम्+भावम्+अव्ययम् ईक्षते। अविभक्तम्+विभक्तेषु तत्ज्ञानम्+विद्धि सात्त्विकम् ॥

सर्व-भूतेषु=(नपुं०) सर्वेषु भूतेषु (सप्त० तत्पु०) [√भू+क्त+सप्त० ब० व०] =(अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त) सम्पूर्ण भूतों में।

येन=यद् (सर्व०)+(नपुं०) तृती० ए० व०=जिस (ज्ञान) के द्वारा।

एकम्=(वि०) एक+(पुं०) द्विती० ए० व०=एक को।

भावम्=√भू+णिच्+अच्+द्विती० ए० व०=भाव को। आत्म वस्तु को।

अव्ययम्=(पुं० नपुं०) न-वि√इण्+अच्+द्विती० ए० व० [नञ् ब० व्रीहि०] (न व्येति स्वात्मना धर्मैः)=अव्यय को। अविनाशी को।

ईक्षते=√ईक्ष् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=देखता है।

अविभक्तम्=(वि०) न विभक्तम् (नञ्० तत्पु०) [वि√भज्+क्त+द्वितीο ए० व०]=न विभक्त को। न बँटे हुए को। विभाग रहित को। सम-भाव से स्थित को।

विभक्तेषु=(पुं०) वि√भज्+क्त+सप्त० ब० व०=विभक्तों में। अलग-अलग सब शरीरों में।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्वितीο ए० व०=उस को।

ज्ञानम्=(नपुं०)√ज्ञा+ल्युट्+द्वितीο ए० व०=ज्ञान को।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व०= (तू) जान।

सात्त्विकम्=(वि) द्वितीο ए० व०=सत्त्व गुण से युक्त। सात्त्विक।

अर्थ—(पुरुष) जिस ज्ञान से सब विभक्त भूतों (अलग-अलग शरीर) में एक अविभक्त (समभाव से स्थित) अविनाशी भाव (परमात्मा) को देखता है उस ज्ञान को तू सात्त्विक ज्ञान जान ॥ २० ॥

व्याख्या—परमेश्वर के सारे नाम-रूपात्मक व्यक्त स्वरूप केवल मायिक और अनित्य हैं तथा इन की अपेक्षा उसका अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है उस में भी जो निर्गुण अर्थात् नाम-रूप-रहित है वही सब से श्रेष्ठ है। हमें अज्ञान से निर्गुण ही सगुण सा मालूम होता है। ज्ञान के ठीक सिद्धान्त जब बुद्धि में आ जाते हैं, मन में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, हृदय में जम जाते हैं और नस-नस में समा जाते हैं। तब ही ईश्वर के स्वरूप की पूरी पहचान होती है। एक ही ब्रह्म सब प्राणियों में व्याप्त है। इस बात को समझ कर इसको अपने जीवन में ढालने की क्षमता सहसा ही उत्पन्न नहीं होती। इस के लिए अनेक जन्मों और पीढ़ियों के संस्कारों की, इन्द्रियों के निग्रह की, भक्ति, उपासना, ध्यान और निरन्तर योग की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इन सब बातों की सहायता से पुरुष को सर्वत्र एक ही आत्मा के दर्शन होने लगते हैं। जब सारे संसार के भूत मात्र में केवल एक ही आत्मा दृष्टिगोचर होने लगता है तभी समझा जा सकता है कि मनुष्य का ज्ञान यथार्थ परिपक्व और सात्त्विक है। यह बात पूरी तरह से जिस में दिखाई न दे उसका ज्ञान कच्चा होता है। सच्चे साधु और निरे वेदान्त-शास्त्री में धरती आकाश का अन्तर होता है। सच्चे ज्ञान से पुरुष में अमानित्व, शान्ति, आत्म-निग्रह और समबुद्धि आदि उदात्त मनोवृत्तियाँ जागृत हो जाया करती हैं जिस से चित्त की पूरी शुद्धता आचरण में व्याप्त हो जाती है। जिसे सात्त्विक ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उसे सब भूतों में जो कि एक साधारण व्यक्ति को पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं, एक परमात्मा ही रम रहा दिखाई देता है। जब इस सात्त्विक ज्ञान का उदय होता है, तब ज्ञाता और ज्ञेय ब्रह्मैक्य में लीन हो जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य कहीं भी अन्धकार को

नहीं देखता, सब जगह अपने प्रकाश को ही व्यापक देखता है। इस प्रकार सात्त्विक ज्ञान से युक्त पुरुष भी सब भूतों में केवल आत्म-प्रकाश को ही देखता है अर्थात् प्राणिमात्र में एक ही आत्मा को पहचानना पूर्ण और सात्त्विक ज्ञान है। कहने का भाव यह है कि विभक्त में अविभक्त या अनेकता में एकता की पहचान ही ज्ञान का सच्चा स्वरूप या लक्षण है ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नाना भावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

पृथक्त्वेन तु यत्+ज्ञानम्+नाना-भावान्+पृथक्+विधान् । वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तत्+ज्ञानम्+विद्धि राजसम् ॥

पृथक्त्वेन=पृथक्+त्व+(पुं०) तृती० ए० व०=अलग-अलग भाव से। पृथक भाव द्वारा।

तु=(अव्य०) परन्तु। और।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

ज्ञानम्=(नपुं०)√ज्ञा+ल्युट्+प्र० ए० व०=ज्ञान। (पुरुष में स्थित हुआ।

नाना=(अव्यय) न+नाञ्=अनेक प्रकार के। कई तरह के। विविध। भान्ति-भान्ति के।

भावान्=(पुं०) भावयति चिन्तयति वा ज्ञापयति पदार्थान्, √भू+णिच्+अच्+द्विती० ब० व०=भावों को। आत्माओं को।

पृथक्+विधान्=(वि०)-पृथक्-विध+(पुं०) द्विती० ब० व०=भिन्न प्रकार वालों को।

वेत्ति=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ए० ब०=जानता है।

सर्वेषु=(वि०) सर्व+(नपुं) सप्त० ब० व०=सब में।

भूतेषु=(नपुं०) सप्त० ब० व०=भूतों में।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उस को।

ज्ञानम्=(नपुं०) द्विती० ए० व०=ज्ञान को।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० ब०=(तू) जान।

राजसम्=(वि०) रजस्+अण्+द्विती० ए० व०। राजस। रजोगुण सम्बन्धी।

अर्थ—परन्तु (पुरुष में स्थित हुआ) जो ज्ञान सब भूतों में अलग-अलग भाव से, भिन्न-भिन्न प्रकार वाले नाना भावों (आत्माओं) को जानता है। (तू) उस ज्ञान को राजस (रजोगुण से उत्पन्न हुआ) जान ॥ २१ ॥

व्याख्या— कोई मनुष्य जिस अपने ज्ञान के द्वारा सब प्राणियों में अपने से भिन्न नाना प्रकार के अनेक आत्माओं को देखता है। वह ठीक नहीं देखता है। जैसे एक ही विद्युत् शक्ति के द्वारा अनेक प्रकार की मशीनें चलती हैं। अनेक प्रकार के पंखें घूमते हैं। नाना प्रकार की घंटियाँ बजती हैं। भान्ति-भान्ति के ध्वनि-विस्तारिक (लाऊड स्पीकर) बोलते हैं। यह शक्ति सिनेमों में बोलते हुए चलचित्रों का प्रदर्शन करती है, भिन्न-भिन्न रंगों और नाना प्रकार के बल्बों और ट्यूबों का प्रकाश भी इसी शक्ति के द्वारा होता है। परन्तु जो पुरुष इन सब में भिन्न-भिन्न शक्तियों को जानता है वह ठीक नहीं जानता है। इसी प्रकार जो पुरुष सब शरीरों में एक ही परमात्मा को प्रति-बिम्बित होता हुआ नहीं देखता है, बल्कि सब में भिन्न-भिन्न आत्मा समझता है और अपने में भी सब से भिन्न आत्मा को देखता है। उसका यह नानात्व-ज्ञान जिसके कारण सब शरीरों में एक ही आत्मा के स्थान पर अनेक आत्माएँ जानी जाती हैं। राजस श्रेणी का ज्ञान होता है ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

यत्+तु कृत्स्न-वत्+एकस्मिन्+कार्ये सक्तम्+अहैतुकम्। अतत्त्व+अर्थ-वत्+अल्पम्+च तत्+तामसम्+उदाहृतम् ॥

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो (ज्ञान)।

तु=(अव्यय) और।

कृत्स्न-=(वि०)√कृत्+क्स्न=सम्पूर्ण।

वत्=(अव्य०)√वा+डति=सदृश।

एकस्मिन्=एक में (वि०, नपुं०, सप्त, ए० व०)।

कार्ये=(नपुं०) √कृ+ण्यत्+सप्त० ए० व०=कार्य में।

सक्तम्=(वि०) √सञ्ज्+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=आसक्त।

अहैतुकम्=(वि०)√हेतु-वर्जितम् (निर्युक्तिकम्), हेतु+ठञ् (नञ् तत्पु०) (नपुं०) प्र० ए० व० बिना किसी तात्पर्य का। हेतु रहित। युक्ति रहित (है)।

अतत्त्व+अर्थ-वत्=(वि०) [यथाभूतः अर्थः=तत्त्वार्थः, सः अस्य ज्ञेयभूतः अस्ति इति तत्त्वार्थवत्। त तत्त्वार्थवत्=अतत्त्वार्थवत् (नञ् तत्पु०)। यथार्थ अर्थ का नाम तत्त्वार्थ है। ऐसा तत्त्वार्थ जिस ज्ञान का ज्ञेय हो वह ज्ञान तत्त्वार्थ युक्त न हो, वह "अतत्त्वार्थवत्" (तत्त्वार्थ से रहित) होता है।] तत्त्व अर्थ से रहित। मिथ्या-अर्थ-वत्।

अल्पम्=(वि०) √अल्+प+(नपुं०) प्र० ए० व०=तुच्छ । थोड़ा-सा । ज़रा-सा ।

च=और ।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह ।

तामसम्=(वि०) तमस्+अण्+(नपुं०) प्र० ए० व०=तमोगुणी सम्बन्धी । तमोगुण से उत्पन्न । तामस ।

उदाहृतम्=उत्-आ√हृ+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है ।

अर्थ—और जो (ज्ञान) एक कार्य (शरीर या शरीर से भिन्न किसी प्रतिमा आदि) में सर्व-वस्तु-विषयक सम्पूर्ण ज्ञान की भान्ति आसक्त युक्त से रहित, तत्त्व-अर्थ से रहित (अर्थात् मिथ्या अर्थ वत्) और तुच्छ है वह तामस कहा जाता है ॥ २२ ॥

व्याख्या—जो पुरुष निष्कारण और तत्त्वार्थ को बिना जाने बूझे एक ही बात में यह समझ कर फँसा रहता है कि यही सब कुछ है । उसका वह तुच्छ ज्ञान, तामस-ज्ञान कहलाता है । इस तामस ज्ञान ने संसार के सब देशों में समय-समय पर अनेक झगड़े खड़े किये हैं और धर्म के नाम पर अनेक निष्पाप भक्तों और असंख्य लोगों के प्राण हरण किए हैं । दूसरों को बलपूर्वक, धोखे से, लालच से और अन्य घृणित उपायों से अपने मत में मिलाने की इच्छा इसी तामस ज्ञान के कारण होती है । इसी तमोगुणी ज्ञान के होने से मनुष्य दूसरों को तुच्छ, मलेच्छ, पतित और काफ़र समझता है । उसकी दृष्टि में अपने इष्ट के बिना बाकी सब के इष्ट ईश्वर सत्ता से रहित होते हैं । इसी कारण से वह उनको तोड़ना, फोड़ना और नष्ट-भ्रष्ट करना अपना धर्म समझता है और जी खोल कर उनकी निन्दा करता है । सब प्रकार के जलूस और प्रदर्शन इसी तामस ज्ञान के कारण किए जाते हैं । जिन से लाभ तो कोई नहीं होता, हानि बहुत होती है, ट्रैफ़क रुक जाता है । बच्चों के चोटें बहुत लग जाती हैं और साधारण जनता को चलने फिरते में कठिनाई हो जाती है । समय और पैसे का दुरुपयोग होता है, अपनी बात को मनवाने के लिए धरने मारना भी इसी अज्ञानता का सूचक है । सारी-सारी रात लाऊड-स्पीकर बजा कर रोगियों की नींद उड़ा कर रोग-वृद्धि की जाती है फिर बड़े तड़के से ही लाऊड स्पीकर से उच्चारण होने लगता है—

'मत्ने टिक्का, तेड़ धोती, हत्थ छुरी कुसाई ।"
"हाय एह की हो गया ? हाय एह की हो गया ?"
घर बार लुटा के टुर चलिया ।" इत्यादि ।

यदि कोई व्याह शादी, इकट्ठ (धर्म शान्ति) या कुड़माई का उत्सव

है तब तो कुछ न पूछिए इतने ज़ोर से लाऊड स्पीकर बजाए जाते हैं कि जिन के कठोर और तीक्ष्ण स्वरों से सब के कानों के पर्दे फट जाते हैं उनके द्वारा इतना गन्दा, भद्दा और सभ्यताहीन प्रचार किया जाता है कि कुछ न पूछिए। मनुष्यता मारे लज्जा के मुँह छिपाने लगती है, बेचारी सभ्यता थर-थर काँपने लगती है।

अपने बाल-बच्चों और स्त्री को ही सारा संसार समझना भी तामस ज्ञान है। तामस ज्ञान युक्त पुरुष भिन्न भिन्न जातियों के लोगों, भिन्न भिन्न देशों के निवासियों और भिन्न भिन्न धर्मावलम्बियों को अपने से भिन्न समझ कर उन सब से घृणा और द्वेष करता है प्राणिमात्र में एक ही आत्मा को नहीं देखता है। इस ज्ञान के कारण धर्मान्ध, डाकू, व्यसनी, ठग, हैंकड़, बाज़ और सीनाज़ोर बन जाता है उसका अन्त:करण तमोगुण के अन्धकार से परिपूर्ण हो जाता है। तामस ज्ञान वाला किसी एक कार्य में, किसी एक शरीर में अथवा मिट्टी-पत्थर आदि की किसी एक प्रतिमा में किंवा किसी एक ग्रन्थ में सर्व वस्तु विषयक अर्थात् अत्यन्त संकुचित-दृष्टि होकर सम्पूर्ण ज्ञान की भान्ति उस में आसक्त हो जाता है और यह समझता है कि इस से परे और कुछ भी नहीं है केवल यह पत्थर या काष्ठ की प्रतिमा मात्र अथवा यह कागजों का थब्ब रूप ग्रन्थ ही ईश्वर है। इस प्रकार का ज्ञान अन्ध-विश्वास और तामस ज्ञान कहलाता है जो ज्ञान युक्ति और यथार्थ अर्थ से रहित होता है तथा हेतु रहित होने से तुच्छ होता है एवं अल्प फल वाला होता है, वह ज्ञान तामस कहलाता है। इस तामस ज्ञान के कारण मनुष्य मर कर घोर अन्धकार और नरक में गिरता है जिसे भोगने के बाद धरती पर पशु पक्षी, कीट पतंग और वनस्पति आदि अधम और तुच्छ योनियों में जन्म धारण करता है क्योंकि वह जिस विपरीत ज्ञान के द्वारा क्षण-भङ्गुर और नाशवान् शरीर को ही आत्मा मानकर उस में सर्वस्व की भान्ति आसक्त रहता है। वह तामस-ज्ञान उसे ले डूबता है ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

नियतम्+सङ्ग+रहितम्+अराग-द्वेषत: कृतम्। अफल-प्रेप्सना कर्म यत्+तत्+सात्त्विकम्=उच्यते ॥

नियतम्=(वि०) नि √यम्+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=नियम द्वारा स्थिर किया हुआ। श्रुति-स्मृति-शास्त्र-विहित। वर्णाश्रम के अनुकूल। अधिकारानुसार। नित्य नैमित्तक। शरीरयात्रा निमित्त उचित।

सङ्ग-रहितम्=(वि०) आसक्ति-वर्जितम्। [(पुं०) √सञ्ज्+घञ्=सङ्ग=अनुराग। आसक्ति ॥ (वि०) √रह्+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=

बिना, हीन । रहित ।] सङ्ग से रहित । आसक्ति से रहित ।

अराग-द्वेषतः=न राग-प्रयुक्तेन, न द्वेष-प्रयुक्तेन च (नञ् समास)=बिना राग से और बिना द्वेष से । बिना प्यार के और बिना शत्रुता के ।

कृतम्=$\sqrt{}$कृ+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=किया हुआ ।

अफल-प्रेप्सुना=(वि० पुं०) फलं प्रेप्सति इति फल-प्रेप्सुः (फल-तृष्णः) तद् विपरीतेन अफल-प्रेप्सुना । न फलानां प्रेप्सुना=न फलों को चाहने वाले द्वारा ।

[प्रेप्सुना=(वि०) प्र $\sqrt{}$आप्+सन्+उ=प्रेप्सु+(पुं०) तृती० ए० व० । अभिलाषी द्वारा । इच्छुक द्वारा । चाहने वाले द्वारा ।]

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म ।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो ।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह ।

सात्त्विकम्=(नपुं०) प्र० ए० व०=सात्त्विक । सत्त्व-गुण सम्बन्धी । सत्त्व गुण से उत्पन्न ।

[(वि०) सत्त्व+ठञ्=सात्त्विक=सत्त्व-गुण-सम्पन्न । सत्त्व-गुण-सम्भूत ।]

उच्यते=$\sqrt{}$वच्+(कर्मवाच्य) लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है ॥

अर्थ—जो नियत कर्म आसक्ति से रहित, बिना राग और द्वेष के फलों को न चाहने वाले पुरुष द्वारा किया हुआ है, वह सात्त्विक कहा जाता है ॥ २३ ॥

व्याख्या—कुछ टीकाकारों का विचार है कि इस श्लोक में प्रयुक्त "सङ्ग रहितम्" विशेषण में 'सङ्ग' नाम आसक्ति का नहीं है जो कि स्वामी शंकराचार्य आदि सब प्राचीन टीकाकारों ने किया है । बल्कि यहाँ इस पद का अर्थ "कर्मों में कर्त्तापन के अभिमान का त्याग" लेना चाहिए क्योंकि आसक्ति का अभाव "अरागद्वेषत" पद से अलग बतलाया गया है । हो सकता है कि भगवान् के कहने का आशय यही हो क्योंकि यह कथन युक्ति युक्त ही दिखाई देता है ।

इस श्लोक में भगवान् अर्जुन को सात्त्विक (पवित्र) कर्म का लक्षण समझाते हुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! मनुष्य के जो कर्त्तव्य कर्म हैं, श्रुति-स्मृति के अनुसार हैं, वर्ण, आश्रम प्रकृति और परिस्थिति के अनुकूल हैं। जिनके करने से सात्त्विक शक्तियों की शरीर में बृद्धि होती है, और जिसके करने से सर्वोदय होता है तथा जिन के करने से संसार में सुख और शान्ति की प्रगति और प्राप्ति होती है एवं जिन के करने से शरीर-यात्रा की सुख से पूर्ति होती

हैं। ऐसे सब नित्य नैमित्तक तथा शिल्प, कृषि, राज-सेवा, व्यापार आदि कर्त्तव्य कर्म मनुष्य के नियत कर्म कहे जाते हैं। जब ये सब कर्म कर्मों में कर्तापन क अभिमान को त्याग कर किए जाते हैं, आसक्ति या लगाव रहित होकर किये जाते हैं। राग या ममता रहित होकर किए जाते हैं, द्वेष भाव त्याग कर किए जाते हैं तथा उनके फलों को स्वयं न चाह कर केवल ईश्वरार्पण करके किए जाते हैं और कर्त्तव्य समझ कर लोक कल्याण के लिए किए जाते हैं ऐसे सब कर्म सात्त्विक कर्म कहलाते हैं। इन को करने से, करने वाले मनुष्य के मन की सन्तुष्टि, शान्ति और शुद्धि होती है, अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सात्त्विक कर्म में ऊपर कही गई सारी बातों का समावेश समझना चाहिए क्योंकि इन में से किसी एक का भी अभाव होने से उस कर्म की सात्त्विकता में त्रुटि हो जाती है ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

यत्+तु काम+ईप्सुना कर्म स+अहङ्कारेण वा पुन:। क्रियते बहुल+आयासम्+तत्+राजसम्+उदाहृतम् ॥

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

तु=(अव्यय) परन्तु। और।

काम+ईप्सुना=(वि० पुं०) कामम् ईप्सति इति कामेप्सु: तेन, फलप्रेप्सुना इत्यर्थ:=भोग रूप फल की इच्छा वाले द्वारा [तृती० ए० व०]।

कर्म=नपुं० प्र० ए० व०=कर्म।

स+अहङ्कारेण=(पुं०) अहङ्कारेण सहितेन (तृती० ए० व०)=(मैं ने यह कर्म किया--इत्यादि) अहङ्कार के साथ।

वा+(अव्यय) और।

पुन:=(अव्यय) फिर।

क्रियते=√कृ+(कर्मवाच्य) लट्० प्र० पु०, ए० व० किया जाता है।

बहुल+आयासम्=(पुं०) बहुलम् आयासम्=महता (निर्वतते) आयासेन। [आ√यस्+घञ्+द्वितीo ए० व०=आयासम्=थकावट। प्रयास।] परिश्रम से युक्त है।

तत्=वह।

राजसम्=(नपुं०) राजस। रजोगुण सम्बन्धी। रजोगुण से उत्पन्न।

उदाहृतम्=उत्-आ√हृ+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है ॥

अर्थ—परन्तु जो कर्म बहुलायास (महान् परिश्रम से करने योग्य है) फिर

फल को चाहने वाले और अहंकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता है वह (कर्म) राजस कहा जाता है ॥ २४ ॥

व्याख्या—जो कर्म महा-प्रयास युक्त है। जो कर्म सागर पाटने के समान महान् जोखम से करने योग्य हैं जैसे सिंहों का पालना। साँपों से खेलना। नट और बाजीगर के करतब। रीछों से कुशती लड़ना, सिंहों और व्हेलों तथा वालरसों का शिकार करना। बर्फानी समुद्रों की यात्राएँ। आकाश में उड़ कर चन्द्र आदि में जाना। हिमालय के शिखिर गौरी शंकर पर चढ़ना, ऐटम बमों का बनाना और गिराना, समुद्रों पर पुलों का बाँधना, मृत्यु-कूप की दीवारों पर मोटर साइकल चलाना, सरकस के करतब, आग आदि में कूदना इत्यादि ये सब कर्म बहुलायास कर्म कहे जाते हैं, क्योंकि इन के करने में बहुधा जीवन से हाथ धोने पड़ते हैं, जो लोग इन बहुलायास कर्मों को करते हैं और फिर इस आशा से करते हैं कि संसार हमारी प्रशंसा करेगा और हमें इस के करने से महान् धन राशि प्राप्त होगी। हमारे मरने के बाद भी लोग हमारा यशोगान करेंगे अथवा हमें हमारे किये हुए इन कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति होगी। फिर उन को इस बात का भी बड़ा अभिमान होता है कि यह कर्म हमारे बिना और कोई व्यक्ति कर ही नहीं सकता था वे इस सत्य को नितान्त भूल जाते हैं कि ईश्वर की कृपा के बिना मनुष्य अपने आप कोई भी कर्म कदापि नहीं कर सकता है। उनके किए हुए ये कर्म राजस-कर्म कहलाते हैं ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

अनुबन्धम्+क्षयम्+हिंसाम्+अनपेक्ष्य च पौरुषम्। मोहात्+आरभ्यते कर्म यत्+तत्+तामसम्+उच्यते ॥

अनुबन्धम्=(पुं०) अनु√बन्ध्+क्त+द्विती० ए० व०=परिणाम को। भावी में होने वाले अशुभ परिणाम को। अन्त में होने वाले परिणाम को।

क्षयम्=(पुं०)√क्षि+अच्+द्विती० ए० व०=क्षय को। हानि को। धन या शक्ति के क्षय को।

हिंसाम्=(स्त्री०)√हिंस् (रुधा० चुरा० पर० सक० वध करना)+अ—टाप् +द्विती० ए० व०=हिंसा को। प्राणियों की पीड़ा को।

अनपेक्ष्य=न अपेक्षा कृत्वा (नञ् तत्पु०) न-अप√ईक्ष्+ल्यप्।=न अपेक्षा करके। परवाह न करके। न विचार कर।

च=और।

पौरुषम्=(नपुं०) पुरुष+अण्+द्विती० ए० व०=पौरुष को। सामर्थ्य को।

मोहात्=(पुं०)√मुह्+घञ्+पंच० ए० व०=मोह से। अज्ञान से। अविवेक से।

आरभ्यते=आ√रभ् (भ्वा० आत्म० सक०=आरम्भ करना)+(कर्मवाच्य) लट्० प्र० पु०, ए० व०=आरम्भ किया जाता है।

कर्म=(नपुं०) प्र० ए० व०=कर्म।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र०, ए० व०=जो।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र०, ए० व०=वह।

तामसम्=(नपुं०) तमस्+अण्+प्र० ए० व०=तमोगुण सम्बन्धी। तमोगुण से उत्पन्न। तामस।

उच्यते=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+(कर्मवाच्य) लट्० प्र०, ए० व०=कहा जाता है॥

अर्थ—जो कर्म अनुबन्ध (आगे होने वाले अशुभ परिणाम), क्षय (धन या शक्ति के नाश), हिंसा (प्राणियों की पीड़ा) और पौरुष (सामर्थ्य) को न विचार कर (केवल) मोह से (या अविवेक से) आरम्भ किया जाता है। वह (कर्म) तामस कहा जाता है॥ २५॥

व्याख्या—भगवान् ने तामस कर्म के चार दुर्गुण—

१—अन्त में होने वाले बुरे फल का विचार न करना।

२—धन और शक्ति को व्यर्थ नाश करना।

३—प्राणियों को जानबूझ कर और अनजाने में दुःखी करना और

४—अपनी आर्थिक, मानसिक और शारीरिक शक्ति को न समझ कर कर्म करना, बतलाए हैं। यह तामस कर्म कर्त्ताओं द्वारा, नितान्त मोह, अज्ञान और अविवेक से प्रारम्भ कर दिया जाता है। तामस पुरुष वृक्ष के जिस तने पर बैठा होता है अपने मरने का विचार छोड़ कर उसे ही काटने लगता है। अन्त में उसी के साथ पृथिवी पर गिर कर अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। एक युवक अभिमान-पूर्वक अपने साथियों से बोला कि यह बिजली मेरा क्या बिगाड़ कर सकती है ऐसा कह कर बिजली के खम्भे पर चढ़ गया। तार को हाथ लगाते ही झटके से भूमि पर गिर पड़ा और काल का ग्रास बन गया।

दीना नगर में परसराम नाम के एक व्यक्ति ने अपने भाई से मिल कर अखाड़ा लगाया बहुत से लोग मिल कर गाने बजाने लगे अन्त में उसने सब के सामने अपने भाई के लड़के की गर्दन काट कर बलि दे दी, परसराम समेत सभी तामस कर्म-कर्त्ता पकड़े गये और न्यायपालिका के अन्तिम निर्णय के अनुसार फाँसी के तख्ते पर चढ़ाए गये। मूर्ख पतंगा, जल कर मरने के परिणाम को न विचार कर दीपक की ज्योति पर गिरता है और जल कर प्राण त्याग देता है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण तामस कर्मों को करते समय उनका कर्त्ता अन्त में होने वाले अनिष्ठ का कोई विचार नहीं करता है जैसे मक्खी दूध में जान-बूझ कर गिरती है और अपने प्राणों को खो देती है। मनुष्य का तामस कर्म में लगा हुआ सब प्रकार का बल और धन व्यर्थ नष्ट हो जाता है, जो पुरुष किसी वृक्ष को कुल्हाड़ी से न काट कर अपने बल से ही गिराना चाहता है, वह उस को गिराने में असफल हो कर अपना शारीरिक बल व्यर्थ गँवाता है। जो धन खर्च करके चिड़ियों का दूध खरीदता है, उसका धन व्यर्थ नष्ट हो जाता है। तामस पुरुष अपने तामस कर्मों द्वारा जीवित प्राणियों का वध कर देते हैं पर स्वयं भी उस का कुफल भोगते और पश्चाताप करते हैं। अपने कर्मों द्वारा अनजाने में भी अन्य प्राणियों को पीड़ा देते हैं, मार्ग में काँटे बखेरते हैं, गढ़े खोदते हैं, ताकि लोग इस मार्ग से लाँघ न सकें।

फिर उनके वे सब तामस कर्म पौरुष या सामर्थ्य का विचार किए बिना होते हैं, जिस से वे मुँह की खाते हैं और अपना राज-तेज, मान, मर्यादा आदि सब कुछ खो बैठते हैं। इन तामस कर्मों में से कोई भी कर्म विवेक या ज्ञान-पूर्वक प्रारम्भ नहीं होते बल्कि ये सर्व-कर्म अविवेक से ही किए जाते हैं जिनका परिणाम कर्त्ता के नाश के बिना और कुछ नहीं होता ॥ २५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

मुक्त-सङ्गः+अन्+अहम्+वादी धृति+उत्साह-समन्वितः। सिद्धि+असिद्ध्योः+निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विकः उच्यते ॥

मुक्त-सङ्गः=(वि०) मुक्तः (परित्यक्तः) सङ्गः येन सः (बहुव्री०)=जिस के द्वारा सङ्ग (आसक्ति) का त्याग किया हुआ है। सङ्ग या आसक्ति से रहित। (पुं०) प्र० ए० व०।

अन्+अहम्+वादी=(वि०) न अहम् वादी='मैं' न कहने वाला। न अहं वदनशील। अहङ्कार के वचन न बोलने वाला [√वद् (भ्वा० पर० सक०=बोलना)+णिनि=वादिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=बोलने वाला] निरहंवादी।

धृति+उत्साह-समन्वितः=(वि०) धृतिः (धारणम्) उत्साहः (उद्यमः) च ताभ्यां समन्वितः=धृति और उत्साह से युक्त।

[धृति=(स्त्री०)√धृ (भ्वा० उभ० सक०=धारण करना)+क्तिन्=धैर्य।

उत्साह=(पुं०) उद्√सह्+घञ्=साहस। हिम्मत। हौंसला।

समन्वितः=(वि०) सम्-अनु√इ+क्त+(पुं०) प्र०, ए० व०=संयुक्त। मिला हुआ]।

"धारण-शक्ति" और "उद्यम" इन दोनों से युक्त।

सिद्धि+असिद्ध्योः+(स्त्री०, इतरेतर द्वन्द्व० सप्त० द्वि० व०)=क्रियमाणस्य कर्मणः फल-सिद्धौ असिद्धौ च=किए जा रहे कर्म के फल की सिद्धि (सफलता) होने में या असिद्धि (असफलता) होने में।

निर्विकारः=(वि०) नास्ति विकारः (व√कृ+घञ्+पुं० प्र० ए० व०=विकृति। परिवर्तन) यस्मिन् सः=विकार नहीं होता। विकार रहित।

कर्त्ता=(वि०)√कृ+तृच्=कर्तृ+(पुं०) प्र० ए० व०=(कर्म को) करने वाला। कर्त्ता।

सात्त्विकः=(पुं०) सत्त्व गुण सम्पन्न। सात्त्विक।

उच्यते=√वच्+लट्० (कर्म वाच्य) प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है॥

अर्थ—मुक्त-सङ्ग (आसक्ति से रहित), अनहंवादी (अहंकार के वचन न बोलने वाला) धृति और उत्साह से युक्त और (किए जा रहे कर्म की) सिद्धि और असिद्धि (के विषय) में विकार रहित कर्त्ता, सात्त्विक कहा जाता है। [जो पुरुष केवल शास्त्राज्ञा से ही कर्म में प्रवृत्त होता है, फलेच्छा, आसक्ति और अहंकार आदि से नहीं तथा धैर्य और उत्साह वाला है और सिद्धि असिद्धि से लापरवाह है, वह कर्त्ता सात्त्विक होता है॥ २६॥

व्याख्या—जो पुरुष मुक्त-सङ्ग है अर्थात् आसक्ति से रहित है। सारे कर्मों के करने से, उनके फल में अथवा उनके भोगों में जिसका किंचित् मात्र भी प्यार या दिलचस्पी नहीं है। सब कर्मों को वह केवल शास्त्र की आज्ञा, ईश्वर की इच्छा या कर्त्तव्य समझ कर केवल लोक-हितार्थ ही करता है। कभी वह इस बात का अनुभव ही नहीं करता कि ये सब कर्म मेरे मन, शरीर और इन्द्रियों के द्वारा किए जा रहे हैं। इन कर्मों के करने में न मान है, न अभिमान है, न प्रतिष्ठा की इच्छा है। न स्त्री, पुत्र, धन, मकान, वाहन, पदाधिकार और स्वर्गादि की इच्छा है और जिसके ये नित्य-नैमित्तक तथा कर्त्तव्य-कर्म सहज स्वभाव शास्त्रानुकूल ही होते हैं।

जिस पुरुष का मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों में अपनत्व और ममत्व नष्ट हो जाने से पदार्थों में आत्म-भाव जाता रहा है। जिस से वह 'मैं' और 'मेरा' कभी नहीं कहता। "मैं यह कर्म करता हूँ", "मैं उस कर्म के करने में सफल हो जाऊँगा", "मैं स्वामी हूँ", 'मैं भोगी हूँ', 'मैं बलवान् हूँ', 'मैं सुखी हूँ', 'मैं पण्डित हूँ', 'मैं विद्वान् हूँ', 'मैं योगी हूँ', 'मैं यति हूँ', 'मैं तपस्वी हूँ', 'मैं यज्ञ करूँगा', मैं दान दूँगा' इत्यादि जो इस प्रकार सदा बकरे की तरह 'मैं, मैं' करता हुआ बार बार काल रूपी कसाई की छुरी से अपना गला नहीं कटवाता, तथा कभी अपने गुणों की श्लाघा नहीं करता। न

कभी इस प्रकार के अहंकार के शब्द कहता है कि अमुक काम को मैंने ही किया है। यदि उसे मैं न करता तो वह काम कभी पूरा ही नहीं हो सकता था।

जिस कर्त्ता में धृति या धैर्य है काम को बिगड़ता देख कर भी घबराहट नहीं होती विघ्न बाधाओं की भी चिन्ता नहीं करता, और न ही कभी अपने कर्त्तव्य से विचलित होता है। न किए जा रहे कर्म में ढील करता है न उस के करने से उकताता है। विघ्न आदि के प्राप्त होने पर भी आरम्भ किए हुए कार्य का परित्याग नहीं करता। सदा मन में उत्साह से परिपूर्ण रहता है। अपने आरम्भ किए हुए कर्म को श्रद्धा पूर्वक करने के जिए उत्सुक रहता है और उत्साह के बल से सब कठिनाइयों को पार कर जाता है एक क्षण भर के लिए भी हिम्मत और हौसले को हारता नहीं है।

उसे अपने कार्य में चाहे सफलता मिले चाहे असफलता हो इन दोनों परिस्थितियों में सम भाव बना रहता है। सिद्धि की प्राप्ति होने पर कभी उसे न हर्ष होता है और न असिद्धि की प्राप्ति में उसे दुःख या विषाद होता है न किसी बात से उस का मुख मलिन होता है और न किसी बात से विकसित होता है। उसके मुख मण्डल पर सदा एक रस शान्ति ही छाई रहती है। इस प्रकार के सब गुणों से युक्त मुक्त सङ्ग, अनहंवादी, धृति और उत्साह समन्वित तथा सिद्धि और प्रसिद्धि में निर्विकार कर्त्ता, 'सात्त्विक' होता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफल प्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ॥
हर्षशोकान्वित कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

रागी कर्म-फल-प्रेप्सुः + लुब्धः + हिंसा + आत्मकः + अशुचिः । हर्ष-शोक + अन्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥

रागी = (वि०) रागः अस्य अस्ति इति रागी । √रञ्ज् + घिनुण्, वा राग + इनि = रागिन् + (पुं०) प्र० ए० व० = आसक्ति-युक्त । अनुरागवान् ।

कर्म-फल-प्रेप्सुः = (वि०) कर्मणां फलानां प्रेप्सुः = कर्मों के फलों को चाहने वाला । [प्रेप्सु = (वि०) प्र√आप् + सन् + उ + (पुं०) प्र० ए० व० = अभिलाषी । इच्छुक ।]

लुब्धः = (वि०) √लुभ + (कर्तरि) क्त + (पुं०) प्र० ए० व० = लोभी । दूसरे के धन में तृष्णा रखने वाला और उपयुक्त देश काल में अपने धन को खर्च न करने वाला ।

हिंसा-आत्मकः = (वि०) हिंसा-स्वभावः । पर-पीडा-स्वभावः । दूसरों को कष्ट पहुँचाने के स्वभाव वाला । हिंसा करने के स्वभाव वाला । क्रूर । निर्दय । [(पुं०) प्र० ए० व०] तंग करने वाला ।

अशुचिः = (वि०) नञ् बहुव्री० । जो साफ़ न हो । मैला । गन्दा । अशुद्ध ।

बाह्यान्तः शौचवर्जित=बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार की शुद्धि से रहित। अपवित्र। अशुद्धाचारी। (पुं०) प्र० ए० व०।

हर्ष-शोक+अन्वित:=(वि०) इष्टप्राप्तौ हर्षः अनिष्ट प्राप्तौ इष्ट-वियोगे च शोकः ताभ्यां हर्षशोकाभ्याम् अन्वितः (संयुक्तः)=इष्ट पदार्थों की प्राप्ति में हर्ष एवं अनिष्ठ की प्राप्ति और इष्ट के वियोग में होने वाला शोक (हर्ष-शोक) से लिप्त। हर्ष और शोक से युक्त। (अनु√इ+क्त +पुं०, प्र० ए० व०) हर्षः च शोकः च ताभ्यां अन्वितः (युक्तः)।

कर्ता=(वि० पुं०)√कृ+तृच्+प्र० ए० व०=कर्म करने वाला। कर्त्ता।

राजसः=(पुं०) रजस्+तस्येदम् अण्+प्र० ए० व०=राजस। रजो गुणी।

परिकीर्तितः=(वि०) परि√कृत् (चुरा० पर० सक०=कहना)+क्त+(पुं०) प्र०, ए० व०=कहा गया है।

अर्थ—रागी (अनुरागी-आसक्ति से युक्त), कर्म-फल को चाहने वाला, लोभी, हिंसा करने के स्वभाव वाला, भीतर और बाहर से अपवित्र और हर्ष-शोक से युक्य कर्त्ता राजस कहा गया है ॥ २७ ॥

व्याख्या—जो पुरुष काम-वासना की पूर्ति के लिये जीवों से प्यार करता है। जिसके मन में इन्द्रियों के भोगों की इच्छा का तूफ़ान उठा हुआ हैं, जो किसी भी स्त्री को देख कर कामान्ध हो जाता है, जो पुत्र और धन की ममता में डूबा हुआ है। इस प्रकार जो सब काम, कामना या प्यार-पूर्ति के लिये करता है और रागी या अनुरागी कहलाता है।

जिसके सारे कर्म किसी न किसी फल की इच्छा से किए हुए होते हैं। यदि हवन यज्ञ या तप आदि करता है तो भी स्वर्ग के भोगों को पाने के लिये अथवा संसार में यश करवाने की इच्छा से। उसके बहुत से कर्म स्त्री, पुत्र, धन, धरती, अधिकार तथा राज्य आदि की प्राप्ति की इच्छा वाले ही होते हैं। बिना फल की इच्छा के तो वह किसी भी कटी हुई अंगुली पर मूतता भी नहीं है। ऐसे लोग अत्यन्त लोभी और लालची भी होते हैं। दूसरों के धन को सदा अपना कर लेना चाहते हैं, कौड़ी कौड़ी और एक-एक पैसे के लिये प्राण त्यागने के लिये तैयार हो जाते हैं। जब कहीं उचित स्थान पर भी पैसा खर्च करना होता है तो इनकी जान निकलती है, लाखों पास होने पर भी कहते रहते हैं कि अजी! हमारे पास क्या है? परन्तु जब कभी मद्य के नशे में धुत्त होते हैं, तो नाचने वालों, बाजा बजाने वालों, भाँण्डों और भड़ुओं आदि को मुट्ठियाँ भर भर कर देते हैं, परन्तु नशा उतर जाने पर अत्यन्त पछताते हैं। कानों को हाथ लगाते हैं परन्तु जब फिर किसी स्थान पर माँस, मद्य या सुन्दर स्वादु भोजनों की गन्ध सूँघते हैं, तो मान न मान मैं तेरा मेहमान वाली लोकोक्ति

का रूप धारण करके वहीं खाने पर बैठ जाते हैं चाहे पेट भर कर फट भी क्यों न जाए, अजीर्ण हो जाये, कै आ जाए इस बात की इन लोभ-युक्त कर्म करने वालों को कोई परवाह ही नहीं होती। कभी ये लोभी "जूतियों के सदके" वाले जाल में भी फँस जाते हैं। कहते हैं कि लखनऊ में किसी समय जिन्दा-दिल एक नवाब साहिब रहते थे, एक बार उन्होंने लखनऊ में रहने वाले सब लोभी, लालची, राजस, धनी पुरुषों को भोजन करने का निमन्त्रण दे दिया जिस से वे सब लोग भोजन करने के लिए सुन्दर वस्त्र और बहुमूल्य जूते धारण करके नवाब साहिब के सजे सजाए राजसी भवन के भीतरी भाग में पहुँच कर मख़मल और साटन के फ़र्श पर बैठ गये उन सब के बहुमूल्य जूते ड्यूढी में ही खुलवा लिए गये एक दो घण्टे इधर-उधर की गप-शप होती रही अन्त में सुन्दर स्वादु रसीले भोजन परोसे गये। जब ये लोग उन भोजनों को खाने लगे तो खाते समय बार बार नवाब साहिब की प्रशंसा और धन्यवाद करने लगे। नवाब साहिव हाथ जोड़ कर उत्तर में कह रहे थे कि यह सब

आप के जूतों का ही सदका है। भोजन कर चुकने के बाद जब ये लोग लौट कर ड्योढ़ी में आए तो वहाँ पर एक भी जूता न था अब उनकी समझ में आया कि नवाब साहिब ने हमारे ही जूते बेच कर उन से प्राप्त धन से खरीदा हुआ भोजन हमें खिलाया है। इससे वे लोभी, लालची, तामस कर्म करने वाले लज्जित होकर नंगे पाँव अपने अपने घरों को लौट आए। बहुधा देखा जाता है कि पराए धन और पराए पदार्थों की अभिलाषा करने वालों की कुछ ऐसी ही दुर्दशा होती है। किसी ने ठीक ही कहा है कि जिस ने कारूँ कंजूस की भान्ति धन के चालीस खज़ाने एकत्रित किए हुए हैं परन्तु उन में से न कुछ अपने लिये खर्चता है। न किसी को ही कुछ देता है तो जैसा वह उस धन का स्वामी है। वैसे ही हम सब भी उस अत्यधिक धन के स्वामी हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वह तो उस धन की रक्षा करता है। और हम सब उस धन की रक्षा करने की चिन्ता से रहित और मुक्त हैं, तात्पर्य यह है कि जो पुरुष धर्म के लिये भी निष्काम भाव से धन को खर्च नहीं करता है उसका धन व्यर्थ और निष्फल होता है। जो पुरुष हिंसात्मक या हिंसा करने के स्वभाव वाला है वह अपने अभिप्राय की पूर्ति के लिये दूसरों की आजीविका रूप वृत्ति का छेदन करता है। वह स्वभाव से ही दूसरों को सब प्रकार का दुःख या पीड़ा देने वाला होता है और लोगों को सब प्रकार से तंग करता है अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए दूसरों के प्राणों की भी परवाह नहीं करता। वह क्रूर, बेरहम और नृशंस होता है। जो भीतर बाहर से अपवित्र है ? मन से किसी का भी भला नहीं करता। अपने अभिप्राय को गुप्त रखता है चेहरे से भीतरी कुवासनाओं को किसी पर प्रकट

नहीं होने देता है बगुले की तरह एक चरण दो ध्यान बना रहता है है जो बाहर से कुछ और है और भीतर से कुछ और है अर्थात् जिस के पेट में सारे शहर की गन्दगी भरी रहती है वह पुरुष भीतर से मलिन या अपवित्र कहलाता है। जिस पुरुष का शरीर ख़ारिश के रोग से युक्त है। सारे शरीर पर चमजूएँ पड़ीं हुई है, डाढ़ी और केश जूओं से भरे हैं बग़लों से दुर्गन्ध आती है। दिन भर वृष्णों को ही खुर्चता रहता है, टट्टी होकर भली-भान्ति मिट्टी पानी या साबुन आदि द्वारा शुद्ध नहीं होता तथा नित्य स्नान और दातुन आदि नहीं करता, वह बाहर से अपवित्र होता है उस की यह बाह्य अवित्तता चमड़ी के संक्रामक रोग फैलाने का कारण बन जाती है और जो कर्म के सिद्ध हो जाने पर बाजे बजाने लगता है, खुशियाँ मनाता है। महान् हर्ष से फूला नहीं समाता है। काम की असफलता होने पर, परीक्षा में फेल हो जाने पर, व्यापार में घाटा हो जाने पर कृषि में ईति-भीति, सूखा अति-वृष्टि, आँधी, अग्नि-दाह आदि विपत्तियों के टूट पड़ने पर जो कर्त्ता शोकान्वित होकर रोता है। चीख़ता है चिल्लाता और सिर पीटता है तथा शोक से विह्वल होकर हृदय गति रुक जाने से मर जाता है। इस प्रकार ऊपर कहे हुए सब लक्षणों से युक्त वह कर्त्ता तामस कहलाता है। सारांस यह कि जो रोगी है, कर्मफल की इच्छा वाला है, लोभी है, हिंसावान् है, मलिन है, हर्ष और शोक से लिप्त है वह व्यक्ति राजस-कर्त्ता कहलाता है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठः+नैष्कृतिकः+अलसः । विषादी दीर्घ-सूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥

आयुक्तः=(वि० पुं०) न युक्त यः सः (नञ् बहु०)√युज् (रुधा० उभ० सक०=जुड़ना, जोड़ना)+क्त+प्र० ए० व०=न जुड़ा हुआ।

असंयुक्त=न मिला हुआ। ईश्वर में चित्त न देने वाला। धर्म में बुद्धि न रखने वाला। अमनस्क। काम में चित्त न लगाने वाला।

प्राकृतः=(वि०) प्रकृतेः अयम्, प्रकृति+अण्+(पुं०) प्र० ए० व०। अथवा प्रकृष्टम् अकृतम् (अकार्यं) यस्य (प्रा० बहुव्री०) प्र—न√कृ+क्त+ प्र० ए० व०=मामूली नीच। अशिक्षित। गंवार। असंस्कृत। संस्कार रहित बुद्धि वाला। नादान।

स्तब्धः=(वि०) स्तम्भ् (भ्वा० आत्म० सक०, क्र्या० पर० सक०=रोकना। अकड़ना। अभिमान करना)+(कर्तरि क्त)+(पुं०)+प्र० ए० व०= हठी। ज़िद्दी। हैंकड़ी बाज़। आकड़ खाँ। घमण्डी। दण्ड की भान्ति किसी के सामने न झुकने वाला।

शठ:=(वि०) √शठ् (भ्वा० पर० सक०=छलना)+अच्+(पुं०) प्र० ए० व०=छलिया। कपटी। दग़ाबाज़। धूर्त्त। लम्पट। दुष्ट। मायावी। शक्ति गूढ़ कारी। शठ।

नैष्कृतिक:=(वि०) निस् √कृ+क्तिन्+ठक्+(पुं०) प्र० ए० व०=पर वृत्ति छेदन कर। दूसरे की आजीविका का नाशक। बदचलन। चुग़लख़ोर। कीनावर। दूसरों की बिना किसी कारण हानि करने वाला। निस्√कृत् (तुदा० पर० सक०=काटना। छेदन करना)+ठक् (इक्)+(पुं०) प्र० ए० व०=दूसरों के काम छेदन करने वाला।

अलस:=(वि०) न लसति व्याप्रियते इति √लस् (भ्वा० पर० अक०=चमकना. उछलना, कूदना, काम करना)+[क्विप् अच्+(नञ् बहुव्री०)=आलसी। जिसका कर्त्तव्य-कार्य में भी प्रवृत्त होने का स्वभाव नहीं है।

विषादी=(वि०) वि√सद्+घञ्+इनि=विषादिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=विषाद युक्त ग़मगीन रहने वाला। सदा शोक युक्त स्वभाव वाला।

दीर्घ-सूत्री=(वि०) √दृ+घञ् (बा०)=दीर्घ। सूत्+अच्=सूत्र+इनि=सूत्रिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=सूत्री। [कर्तव्यानां दीर्घप्रसारणो यद् अद्य श्वो वा कर्त्तव्यं, तद् मासेन अपि न करोति=कर्त्तव्य में बहुत विलम्ब करने वाला—आज या कल करने योग्य कर्म को जो महीने भर में भी नहीं कर पाता]।

च=और।

कर्त्ता=(वि० पुं०, प्र० ए० व०) काम करने वाला। कर्त्ता।

तामस:=(वि० पुं० प्र० ए० व०) तमोगुण से युक्त। तामसी स्वभाव वाला। तामस।

उच्यते=√वच्+(कर्मवाच्य) लट्० प्र० ए० व०=कहा जाता है।

अर्थ—अयुक्त (परमात्मा से दूर हटा हुआ), प्राकृत (अशिक्षित), स्तब्ध (अकड़बाज़, घमण्डी), शठ (धूर्त, लम्पट), नैष्कृतिक (पर-वृत्ति-छेदक), आलसी, विषादी (सदा शोक युक्त रहने वाला) और दीर्घसूत्री (आज का काम कल पर छोड़ने वाला) कर्त्ता "तामस" कहा जाता है॥ २८॥

व्याख्या—जो कर्म करने वाला अयुक्त है अर्थात् परमेश्वर से परे हटा हुआ है किसी काल में भी ईश्वर का चिन्तन नहीं करता है, ईश्वर की कोई सत्ता ही नहीं मानता है। पूरा नास्तिक है और प्रभु पर श्रद्धा रखने वाला नहीं है। जिस का चित्त समाहित नहीं है अर्थात् जो मन और इन्द्रियों को वश में किए हुए नहीं है। बल्कि जो स्वयं उनके वशीभूत हो चुका है। चंचल बुद्धि से युक्त है। सदा भूल-भलैयों में पड़ा रहता है। प्राकृत है अर्थात् जैसी बुद्धि वाला

जन्म काल में था वैसी बुद्धि वाला तीनों अवस्थाओं में बना रहा है। बचपन में सभ्यता सीखने का न कोई सुअवसर प्राप्त हुआ है। न किसी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा ही मिली है, न कोई सत्संगति ही प्राप्त हुई है, न किसी महापुरुष की शिक्षा या उपदेश को ही ध्यान से सुना है। न किसी के शुभ आचरण को देखकर उसका अनुकरण ही किया है। जैसा उत्पन्न हुआ था, वैसा ही अब तक बना हुआ है। उसका सब रहन-सहन उस छोटे बालक के समान ही है, जो कभी अपने आप हँस पड़ता है और कभी रोने लगता है। कृत्य और अकृत्य से अनभिज्ञ है क्योंकि शास्त्र-संस्कार से रहित बुद्धि वाला है। मूर्ख है। उजड्ड है। जो असभ्य है। गँवार है। नादान है। अशिक्षित है। असंस्कृत है। जो स्तब्ध है अर्थात् अकड़बाज है। घमण्डी हे। गुरु, देवता और महापुरुषों के सामने आने पर भी नत-मस्तक नहीं होता है। अपनी तुलना या मुकाबले में दूसरों को व्यर्थ ही तुच्छ और छोटा समझता है। अपने में कोई गुण न होने पर भी अपने को बड़ा गुणवान् समझता है। जो पुरुष शठ है। धूर्त्त है। लम्पट है। दुष्ट है। दग़ाबाज़ है। शक्ति गूढ़-कारी है। छलिया है। मायावी है। दूसरों को गिराने के लिए मन ही मन दाव-पेच सोचता रहता है। जो कर्त्ता नैष्कृतिक है अर्थात् दूसरों के काम को छेदन करने वाला है। दूसरों की आजीविका का नाशक है। बदचलन है। चुग़लख़ोर है। कीनावर है। बिना कारण दूसरों की हानि करने कराने वाला है तथा जो कर्त्ता आलसी है, काम करने से कन्नी कतराता है। बड़ी कठिनता से कर्म करने में प्रवृत्त होता है। अवश्य करने योग्य कर्म को करने में भी आलस्य करता है तथा जो पुरुष विषादी है अर्थात् सदा शोक युक्त स्वभाव वाला होता है। नित्य अप्रसन्नचित्त या असंतुष्ट रहता है और जो दीर्घ-सूत्री है अर्थात् किसी कार्य को या तो प्रारम्भ करता ही नहीं है या आरम्भ किए हुए कार्य को कल करेंगे परसों करेंगे" ऐसा कहते-कहने महीनों नहीं वर्षों गुजार देता है। इस प्रकार जो कर्त्ता आयुक्त, प्राकृत, स्तब्ध, शठी, नैष्कृतिक, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री होता है वह तामस कहलाता है ॥

इन तीनों प्रकार के कर्त्ताओं में सात्त्विक कर्त्ता ही—अकर्त्ता, अलिप्त, कर्मयोगी और फलाशा छोड़ने वाला होता है। अब अगले श्लोकों में जगत् के त्रिविध विस्तार का और वर्णन भी सुनोगे ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

बुद्धे:+भेदम् धृते:+च+एव गुणत:+त्रिविधम्+शृणु । प्रोच्यमानम्+अशेषेण पृथक्त्वेन धनम्-जय ! ॥

बुद्धे:=(स्त्री०) √बुध्+क्तिन्+षष्ठी० ए० व०=बुद्धि के। व्यसायात्मिका

बुद्धि के। निश्चय करने वाली इन्द्रिय के।

भेदम्=(पुं०) √भिद्+घञ्+द्वितीo एo वo=भेद को।

धृतेः=(स्त्री०) √धृ+क्तिन्+षष्ठी० ए० व०=धृति के। धारण शक्ति के। धैर्य के।

च=और।

एव=ही। भी।

गुणतः=(पुं०) √गुण्+अच्+तसिल्=गुण से।

त्रि-विधम्=(पुं०) द्वितीo एo वo=तीन प्रकार वालों को।

शृणु=√श्रु+लोट० म० पु०, ए० व०=(तू) सुन।

प्रोच्यमानम्=(वि०) प्र √ब्रू (√वच्)+शानच् =(पुं) द्वितीo, एo वo= कहे जाते हुए को।

अशेषेण=(वि०) नञ् बहुव्री० (पुं०) तृती० ए० व०=सम्पूर्णता से।

पृथक्त्वेन=पृथक्+त्व+तृती० ए० व०=अलग अलग पन से। अलग अलग से।

धनम्+जय !=(वि० पुं० संबोधन ए० व०=हे धन को जीतने वाले) (अर्जुन)!

[दिग्विजये मानुषं दैवं च प्रभूतं धनम् अर्जयत् तेन असौ धनंजयः अर्जुनः ॥ दिग्विजय के समय अर्जुन ने मनुष्यों और देवों का धन जीता था। इसलिए अर्जुन का नाम 'धनंजय' हुआ]।

अर्थ—हे धनञ्जय (अर्जुन)! (मेरे द्वारा) सम्पूर्णता से अलग अलग कहे जा रहे, गुण (भेद) से तीन प्रकार के बुद्धि और धृति के भेदों को भी (तू) सुन ॥ २९ ॥

व्याख्या—इस श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को "धनंजय" कह कर यह जतलाया है, कि हे अर्जुन ! तू ने दिग्विजय के समय मनुष्यों और देवों दोनों से धन छीना था, इस से तू बड़ी शक्ति, अतुल बुद्धि और सात्त्विक धृति से युक्त है। इस लिये मेरे द्वारा किए जा रहे उपदेश के आशय को ग्रहण करने में पूरी तरह से समर्थ है। अब मैं अगले छः श्लोकों में बुद्धि और धृति के सात्त्विक राजस और तामस इस तरह तीन तीन प्रकार के भेदों का अलग अलग पूरा पूरा वर्णन करूंगा। तू उस को ध्यानपूर्वक सुन। इस अध्याय के अठारहवें श्लोक में बुद्धि का पर्याय ज्ञान शब्द कर्म-प्रेरणा के अन्तर्गत आया है और यहां बुद्धि का ग्रहण कर्म-संग्रह में किया गया है। इस लिये दोनों में अन्तर जान लेना चाहिए। यद्यपि श्रुति में कहा गया है—

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।

अर्थात् 'काम', संकल्प', 'विचिकित्सा', 'श्रद्धा', 'अश्रद्धा', 'धृति', 'अधृति', 'ह्री', 'धी' और 'भी' इस प्रकार ये सब वृत्तियां मन या अन्तःकरण के ही भेद हैं तो भी यहां बुद्धि और धृति का जो अलग अलग कथन किया है वह ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति इन दोनों का बोध कराने के लिए है। 'धृति' शब्द धारण करने की शक्ति-विशेष का नाम है जो बुद्धि की ही एक वृत्ति है। यही शक्ति मनुष्य में सब क्रियाओं और भावों को दृढ़ता से धारण कराने का कारण होती है। हे अर्जुन ! सात्त्विक धृति और सात्त्विक बुद्धि से ही मनुष्य का कल्याण होता है तामस और राजस धृतियों और बुद्धियों से नहीं। इस लिये इनके अन्तरों और लक्षणों को अब तू दत्तचित्त होकर ध्यानापूर्वक मुझ से सुन ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

प्रवृत्तिम्+च निवृत्तिम्+च कार्य+अकार्ये भय+अभये। बन्धम्+मोक्षम्+च या वेत्ति बुद्धि सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥

प्रवृत्तिम्=(स्त्री०) प्र √वृत्+क्तिन्+द्विती० ए० व०=प्रवृत्ति को। कर्म में लगने को। कर्म मार्ग को। कर्म के करने को [गृहस्थी होते हुए फल और आसक्ति दोनों को छोड़ कर भगवद्-अर्पण बुद्धि से केवल लोक-शिक्षा के लिए राजा जनक की भान्ति वर्तने का नाम प्रवृत्ति-मार्ग है]

च=और।

निवृत्तिम्=(स्त्री०) नि √वृत्+क्तिन्+द्विती० ए० व०=निवृत्ति को। विरक्ति को। सांसारिक झंझटों से उपरामता को। कर्मों के संन्यास को। कर्म में न लगने को। कर्म से निवृत्ति को।

[देहाभिमान को त्याग कर केवल सच्चिदा-नन्द-घन परमात्मा में एकी-भाव से स्थित हुए श्री शुकदेव जी और सनकादिकों की भान्ति संसार से उपराम होकर विचरने का नाम निवृत्ति-मार्ग है।]

च=और।

कार्य-अकार्ये=(वि०) √कृ+ण्यत्=कर्तव्य। न+कार्य+सप्त० ए० व०=कार्य और अकार्य में। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को। विधि और निषेध को। करने योग्य और न करने योग्य को।

भय-अभये=(नपुं०) √भी+अच्=भय। न भय+सप्त० ए० व०। भय और अभय में। भय और अभय को। [जिस से मनुष्य भयभीत होता है, उसका नाम भय है और उस से विपरीत का नाम अभय है]

बन्धम्=(पुं०) √बन्ध्+घञ्+द्विती० ए० व०=बन्द को। बन्धन को। बेड़ी को। जंजीर को।

मोक्षम्=(पुं०) √मोक्ष्+घञ्+द्विती० ए० व०=मोक्ष को। मुक्ति को। छुटकारे को।

च=और।

या=यद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=जो।

वेत्ति=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= जानता है।

बुद्धिः=(स्त्री०) √बुध्+क्तिन्+प्र० ए० व०=निश्चय करने वाली इन्द्रिय। बुद्धि।

सा=तद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=वह।

पार्थ !=(पुं०, सम्बोधन ए० व०) हे पृथा-पुत्र (अर्जुन) !

सात्त्विकी—(वि० स्त्री०) सत्त्व गुण से युक्त (प्र० ए० व०)।

अर्थ—हे पृथा-पुत्र (अर्जुन) ! प्रवृत्ति (काम के करने को) और निवृत्ति (काम के छोड़ने को), कर्तव्य (करने योग्य काम को), अकर्तव्य (न करने योग्य काम को), भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष को जो बुद्धि जानती है वह (बुद्धि) सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

व्याख्या—जो बुद्धि कर्म में लगने और कर्म से हटने के वास्तविक अर्थ को जानती है। कर्म-मार्ग से परिचित है और कर्म के त्याग-मार्ग को जानती है। कर्मों को करना जानती है। उन को करते समय ममता, आसक्ति, अहंकार और फलेच्छा का भली भान्ति त्याग करती है परमात्मा की प्राप्ति के लिए शास्त्रानुसार यज्ञ दान और शुभ कर्मों का आचरण करना सिखाती है। गृहस्थ होते हुए भी मोक्ष के प्राप्त कराने वाले कर्मों में प्रवृत्त कराती है। तथा निवृत्ति या संन्यास मार्ग को भी भली भान्ति जानती है सर्व कर्मों और उनके फल स्वरूप भोगों से अलग रहना जानती है सांसारिक झंझटों से विरक्त करने सब प्रकार के दुर्गुणों से रहित होना जताती है। इस बात को भी समझती है कि प्रवृत्ति मार्ग में किया हुआ कर्म कार्य होता है। और निवृत्ति मार्ग में किया हुआ कर्म अकार्य कहलाता है अथवा शुभ कर्म कार्य या करने योग्य होता है और अशुभ कर्म अकार्य या न करने योग्य होता है। जो बुद्धि कर्तव्य कर्मों को करना जानती है और अकर्तव्य कर्मों को छोड़ना जानती है। जो बुद्धि जन्म-मरणादि के वास्तव भय से परिचित है और मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति के बाद होने वाले अभय से भी परिचित है। जो बुद्धि यह जानती है कि किन कारणों से भय उत्पन्न होता है और किन कारणों से अभय की प्राप्ति होती

है। किन कारणों से जीव को बन्धन होता है और किन उपायों से जीव का जन्म-मरण से छुटकारा होता है। उपरोक्त गुणों से युक्त जो बुद्धि होती है वह बुद्धि सात्त्विकी कहलाती है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

यया धर्मम्+अधर्मम्+च कार्यम्+च+अकार्यम्+एव च । अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥

यया=यद् (सर्व०)+(स्त्री०) तृती० ए० व०=जिस के द्वारा ।

धर्मम्—(पुं० नपुं०) धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्म-भिः इति वा, √धृ+मन्=धर्म+द्विती० ए० व०=धर्म को । उस कर्म को, जिस के करने से करने वाले का इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति होती है । पुण्य-कर्म को ।

अधर्मम्=(पुं० नपुं०) नञ् तत्पु०, द्विती० ए० व०=अधर्म को । पाप-कर्म को । निषिद्ध-कर्म को ।

च=और ।

कार्यम्=(वि०) √कृ+ण्यत्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=कार्य को । कर्तव्य को ।

च=और ।

अकार्यम्=(नपुं०) न कार्य+द्विती० ए० व०=अकार्य को । न करने योग्य कर्म को ।

एव=(अव्यय) ही । भी ।

च=और ।

अयथावत्=(अव्यय) यद+थाल्=यथा न यथा=अयथा+मतुप्=अयथावत् न यथार्थ रूप से । न सर्वतो भाव से । न निर्णय पूर्वक ।

प्रजानाति=प्र √ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=जानता है ।

बुद्धिः=(स्त्री०) √बुध्+क्तिन्+प्र० ए० व०=बुद्धि । विचार शक्ति ।

सा=तद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=वह ।

पार्थ !=हे पृथा-पुत्र (अर्जुन) !

राजसी=(स्त्री०, वि०) प्र० ए० व०=रजोगुण वाली । राजसी ॥

अर्थ—हे पृथा-पुत्र (अर्जुन) ! जिस (बुद्धि) के द्वारा (पुरुष) धर्म और अधर्म को तथा कार्य और अकार्य को ही यथार्थ (ठीक रूपों में) नहीं जानता है वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार उज्ज्वल विवेकी राज-हंस नीर-क्षीर का विश्लेषण कर लेना जानता है इसी प्रकार सात्त्विकी बुद्धि द्वारा पुरुष धर्म, अधर्म और कार्य, अकार्य में अन्तर करना जानता है परन्तु जिस प्रकार बगुला दूध और पानी मिला हुआ ही पी जाता है इसी प्रकार राजसी बुद्धि वाला पुरुष धर्म, अधर्म और कार्य, अकार्य इन सब को समान रूप से जिस बुद्धि द्वारा करता रहता है उस का नाम राजसी या शाही बुद्धि है। जो कर्म इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष दिलाने वाले होते हैं वे कर्म धर्म कहलाते हैं जैसे हिंसा न करना, सत्य बोलना, ब्रह्मचर्य धारण करना। निष्काम भाव से आसक्ति और फल की इच्छा को छोड़ कर यज्ञ, हवन, दानादि, श्रुति-समृतिविहित शुभ कर्मों को करना धर्म कहलाता है। इन के विपरीत हिंसा, असत्य, कुत्सित-काम-भोग आदि पाप कर्मों का करना अधर्म कहा जाता है। ये धर्म और अधर्म दोनों अदृष्ट-अर्थ की प्राप्ति कराते हैं। ब्राह्मण का कर्तव्य पढ़ना पढ़ाना, हवन यज्ञ करना है। परन्तु मद्यपान या मांस-भक्षण उस का अकार्य समझा जाता है। राजा, शासक या किसी पदाधिकारी का कर्त्तव्य प्रजा पालन करना और न्याय पूर्वक प्रजा की वृद्धि और शान्ति स्थापित करना है। परन्तु वर्तमान काल का शासक-वर्ग प्राय: प्रजा को दोनों हाथों से लूटने और पीड़ित करने में लगा हुआ है। इन राजसी पुरुषों की राजसी बुद्धि न अपने कर्त्तव्य को समझती है और न ही अकर्त्तव्य को जान कर उस से घृणा करती है। जिस प्रकार अन्धे पुरुष को राजसी बुद्धि न अपने कर्त्तव्य को समझती है और न ही अकर्त्तव्य को जान कर उस से घृणा करती है जिस प्रकार अन्धे पुरुष को दिन-रात का कुछ भी अन्तर ज्ञात नहीं होता। उसी प्रकार राजसी बुद्धि से युक्त पुरुष को कार्य और अकार्य का भेद यथार्थ रूप में दिखाई नहीं देता। कार्य और अकार्य इन दोनों से दृष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है। इसलिये हे बुद्धि-मति. धर्मपरायणा, कर्तव्य-ज्ञात्री माता कुन्ती के पुत्र अर्जुन! तुम इस बात को भली भान्ति जान लो कि जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कार्य और अकार्य को ही यथावत् नहीं जानता है वह बुद्धि राजसी होती है॥ ३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

अधर्मम्+धर्मम्+इति या मन्यते तमसा+आवृता। सर्व-अर्थान्+विपरीतान्+च बुद्धि सा पार्थ! तामसी॥

अधर्मम्=(पुं०) अ, तत्पु० द्वितीo एo वo=अधर्म को। पाप को। निषिद्ध कर्म को।

धर्मम्=(पुं० नपुं०)√धृ+मन्+प्र० ए० व०=धर्म। पुण्य।

इति=(अव्यय) ऐसी। इस प्रकार की।

या=यद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=जो ।

मन्यते=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=मानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= मानती है ।

तमसा=(नपुं०) तमस्+तृती० ए० व०= अन्धकार से। तमोगुण से ।

आवृता=(स्त्री०) आ√वृ+क्त+टाप्=ढकी हुई । आवृत हुई ।

सर्व+अर्थान्=(पुं०) सर्वान् अर्थान् (द्विती० ब० व०) सब अर्थों को। सारे विषयों को। सारी बातों को। समस्त पदार्थों को।

बिपरीतान्=(वि० पुं०) विपरीतों को । विपरीत । उल्टे ।

च=और ।

बुद्धिः=(स्त्री०)√बुध्+क्तिन=प्र० ए० व०=बुद्धि ।

सा=तद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=वह ।

पार्थ !=हे पार्थ (अर्जुन) !

तामसी=(स्त्री०) तमोगुण से युक्त । तामसी ।

अर्थ—हे पार्थ (अर्जुन) ! जो तमोगुण से ढकी हुई बुद्धि अधर्म (पापयुक्त या निषिद्ध कर्म) को धर्म मानती है [अर्थात् शास्त्रानुसार कर्म समझ कर करती है] और सम्पूर्ण (शुभाशुभ) कर्मों को विपरीत [अर्थात् शुभ को अशुभ और शुभ को शुभ समझती है ।) इस प्रकार की वह बुद्धि तामसी है ।। ३२ ।।

व्याख्या—जो दुद्धि अन्धकार से ढकी हुई अर्थात् जिस पर तमोगुण का पर्दा पड़ा हुआ है वह सब बातों को उल्टा करके देखती है। उसे पापयुक्त निषिद्ध कर्म भी धर्म युक्त और शास्त्र-विहित मालूम होता है । शास्त्रानुसार लड़की के व्याह पर माता पिता को संयम के साथ धर्मानुसार आचरण करना चाहिए । परन्तु यह तामसी बुद्धि तो देव पूजन को व्यर्थ और धर्म विरुद्ध समझती है बरात को मिठाई और सात्त्विक भोजन खिलाने के स्थान पर बकरों, मुर्गों आदि के मांस खिलाना और शराब पिलाना धर्म समझती है । दान में धन देने के स्थान पर वैश्याओं, भाण्डों और भड़ुओं को धन देना धर्म मानती है । ईश्वर निन्दा, ब्राह्मण निन्दा, साधु-सन्त-निन्दा, शास्त्र विरोध माता, पिता, गुरु आदि का अपमान सद्धर्म विरोध, लूट-मार करने का प्रचार, दम्भ रचना, व्यभचार करना, झूठ बोलना, अभक्ष्य-भोजन करना, स्त्रियों और बालकों का अपहरण, बसों और गाड़ियों के डिब्बों को जलाना, देश की सम्पत्ति को नाश करना, दम्भ और पाखण्ड युक्त ग्रन्थों की रचना करना, भोली भाली जनता को धर्म के नाम पर लूटना, न आप जीना न दूसरों को जीने देना सदा अपने धर्म को दूसरों द्वारा विपत्तिग्रस्त समझना । प्रदेश, भाषा, वेशभूषा और धर्म को आगे करके दंगे कराना, दूसरों के घरों तथा पूजा स्थानों को जलाना और उनमें

लूट मार करना तथा दूसरे विचार वालों के गले काटना आदि सम्पूर्ण कामों को जो तामसी बुद्धि वाले धर्म समझ कर करते हैं इन में इन को थोड़ा भी अधर्म दिखाई नहीं देता । इन को अपने पूर्वजों के वही कर्म रुचिकर और धार्मिक मालूम होते हैं । जिन में उन की हार हुई है या उनके परिवार के लोग मारे गये हैं इन तामस और विपरीत बुद्धि वालों को यह समझ नहीं आती कि यह गीत तो उन महा पुरुषों की निन्दा करने के तुल्य हैं और उनकी महान् शक्ति को तुच्छ और मिट्टी बना कर दिखाने वाले हैं । जब कभी किसी महा पुरुष द्वारा उनको उनकी इस बुद्धि की विपरीतता की ओर ध्यान दिलाया जाता है तो इन बुद्धि-रंकों का उत्तर होता है कि ये तो धार्मिक गाने हैं । इस लिये हम इन्हें धार्मिक स्थानों पर रेडियो द्वारा सायं प्रातः दोनों समयों में प्रसारित करते है । इस प्रकार जो बुद्धि अधर्म को धर्म करके मानती है और धर्म को अधर्म के रूप में देखती है तथा शुद्ध पदार्थों में अरुचि और अशुद्ध पदार्थों में सुरुचि रखती है वह बुद्धि तमोगुण के अन्धकार से आवृत होती है और वह बुद्धि तामसी कहलाती है । जो मनुष्य को भवसागर में डुबोने का कारण होती है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

धृत्या यया धारयते मनः-प्राण+इन्द्रिय-क्रियाः । योगेन+अव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥

धृत्या=(स्त्री०)√धृ(भ्वा० उभ० सक०=धारण करना)+क्तिन्=धृति+तृती० ए० व०=धृति द्वारा । धारणा से । मानसिक धैर्य से । मन के दृढ़ निश्चय द्वारा । [यहां धृति का अर्थ शारीरिक धैर्य नहीं है ।

यया=यद् (सर्व०)+(स्त्री०) तृती० ए० व०=जिस के द्वारा ।

धारयते=√धृ+णिच्+लट्० प्र० पु० ए० व०=धारण करते हैं ।

मनः-प्राण+इन्द्रिय-क्रियाः=(स्त्री०) द्विती० ए० ब० व० । मनः च प्राणाः च इन्द्रियाणि च (इतरेतर द्वन्द्व०)=मनः प्राणेन्द्रियाणि, तेषां क्रियाः ताः=मन, प्राण और इन्द्रियों की (भजन ध्यान और निष्काम, या फलाशा से रहित होकर की हुई) क्रियाओं को ।

योगेन=(पुं०)√युज्+घञ्+तृती० ए० व०=योग से । समाधि योग से । ध्यान-योग के द्वारा । समाधि रूप योग से । एकाग्रचित्त से । कर्म-फल त्याग रूपी योग से । परमात्मा में जुड़ जाने के बल से ।

अव्यभिचारिण्या=(वि० स्त्री० तृती० ए० व० इस का विशेष्य 'धृत्या" है) न व्यभिचारिणी या तया (नञ् बहुव्री०) ।

[वि-अभि√चर्+घञ्= व्यभिचार+इनि = व्यभिचारिन्+ङीप्= व्यभिचारिणी=(काम वासना से) इधर उधर फिरने वाली। आवारागर्द] भगवद्-विषय के बिना और सब सांसारिक विषयों से रहित हुई के द्वारा। सन्मार्ग से इधर उधर न होने वाली के द्वारा। नियत मार्ग से न डिगने वाली के द्वारा। अटल रहने वाली के द्वारा। इन्द्रियों के विषयों के सुख से सर्वथा रहित हुई द्वारा।

धृतिः=(स्त्री०)√धृ+क्तिन्+प्र० ए० व०=धारणा। धृति। मानसिक धैर्य। मन का दृढ़ निश्चय। बुद्धि द्वारा निर्णय किया हुआ और मन द्वारा दृढ़ किया हुआ निश्चय। बुद्धि और मन दोनों की सहायता से उत्पन्न हुआ दृढ़ निश्चय।

सा=तद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=वह।

पार्थ !=हे पृथा-पुत्र (अर्जुन) !

सात्त्विकी=(स्त्री०) सत्त्व-गुण से उत्पन्न हुई। सात्विकी॥

अर्थ—हे पार्थ (अर्जुन) ! (समाधि, ध्यान या कर्म-फलाशा-त्याग) योग के द्वारा जिस अव्यभिचारिणी (अडिग) धृति (धारणा-मानसिक निश्चय) से (मनुष्य) मन, प्राण और इन्द्रियों की (भजन, ध्यान और निष्काम या फलाशा रहित होकर की हुई) क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति सात्विकी है॥ ३३॥

व्याख्या—हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! जब कोई मनुष्य समाधिस्थ होकर ध्यान योग में लीन हो जाता है, अथवा जब कोई पुरुष फलाशा छोड़ कर निष्काम भाव से कर्म करता है वो उस की बुद्धि ईश्वर की सत्ता और स्थिति के सम्बन्ध में एक निर्णय करती है और उस निर्णय को मन में स्थिर या दृढ़ करती है। इसी बुद्धि द्वारा किए हुए निर्णय को जो मन द्वारा दृढ़ किया गया हो उसे धृति या मानसिक धैर्य कहते हैं जब यह धृति अव्यभिचारिणी होकर अडिग रूप धारण कर लेती है तो मनुष्य इस की सहायता से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है और ये सब क्रियाएँ सत्व-गुण से युक्त होती हैं। इस लिए यह क्रियायें जिस धृति द्वारा धारण की जाती है वह धृति सात्त्विकी कहलाती है॥ ३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

यया तु धर्म-काम+अर्थान्+धृत्या धारयते+अर्जुन!। प्रसङ्गेन फल-आकांक्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी।

यया=यद् (सर्व०)+(स्त्री०) तृती० ए० व०=जिस (धृति) के द्वारा। जिस

धारणा से। जिस बुद्धि द्वारा निश्चित और मन से दृढ़ की हुई शक्ति से।

तु=(अव्यय) और। परन्तु।

धर्म-काम-अर्थान्=(पुं०) द्विती० ए० व०। धर्मः च कामः च अर्थः च तान् इतरेतर द्वन्द्व०) धर्म, काम और अर्थों को।

धृत्या=(स्त्री०) तृती० ए० व०=धृति के द्वारा।

धारयते=√धृ (भ्वा० उभ० सक०=धारण करना)+लट्०-(णिच्) प्र० पु०, ए० व०=धारण करता है।

अर्जुन !=हे अर्जुन ! [सम्बो० ए० व०]

प्रसङ्गेन=(पुं०) प्र०√सञ्ज्+घञ्+तृती० ए० व०=प्रसंग से। संसर्ग से। आसक्ति से। अनुराग से। सम्बन्ध से। अति आसक्ति से।

फल+आकाङ्क्षी=(वि०) फलानाम् आकाङ्क्षिन्+प्र० ए० व० [आ √काङ्क्ष (भ्वा० उभ० सक०=इच्छा करना)+णिनि]=फलों की इच्छा करने वाला मनुष्य।

धृतिः=(स्त्री०) प्र० ए० व०=धृति। धारणा।

सा=सद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=वह।

पार्थ !=हे पार्थ (अर्जुन) !

राजसी=(वि०, स्त्री०) रजोगुण से उत्पन्न हुई। राजसी।

अर्थ—परन्तु हे पृथा-पुत्र ! अर्जुन ! फल की इच्छा करने वाला मनुष्य) जिस धृति (या धारणा) के द्वारा अति आसक्ति से धर्म, काम और अर्थों को धारण करता है, वह धृति (या धारणा) राजसी है॥ ३४॥

व्याख्या—जिस धृति या दृढ़ निश्चयात्मक मानसिक शक्ति से मनुष्य अपने मन में यह दृढ़ निश्चय करता है कि धर्म काम और अर्थों को प्राप्त करना ही मेरा अवश्य कर्त्तव्य है परन्तु चौथे मोक्ष की प्राप्ति में उसका कोई ध्यान नहीं होता क्योंकि उसका मनुष्य-जीवन केवल सांसारिक सुखों, इन्द्रियों तथा शरीर को तृप्त करने वाले धर्म काम अर्थों और स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा तक ही सीमित होता है, वह बार बार जन्म लेकर इस संसार के सुख और भोग भोगना चाहता है और मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग-भोग भोगने के लिए स्वर्ग में जाना चाहता है इस प्रकार सदा इसी चक्र में पड़ा रहना चाहता है जन्म-मरण-व्याधि आदि दुःखों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता है और न इन से छूटने का कोई उपाय करता है और जिस जिस धर्म या अर्थ अथवा काम का प्रसंग आता है उस उस से ही वह मनुष्य फल चाहने वाला होता है। उस की जो धृति है वह राजसी होती है अर्थात् जिस धृति के द्वारा मनुष्य फलों को चाहने वाला बन कर धर्म, काम और अर्थों को (मोक्ष की अवहेलना करता हुआ) अति दृढ़ आसक्ति से धारण करता है वह धृति राजसी होती है॥ ३४॥

यथा स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृति सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

यथा स्वप्नम्+भयम्+शोकम्+विषादम्+मदम्+एव च । न विमुञ्चति दुर्मेधाः+धृति सा पार्थ तामसी ॥

यथा=यद् (सर्व०)+(स्त्री०) तृती० ए० व०=जिस (धृति) से।

स्वप्नम्=(पुं०)√स्वप् (अदा० प्र० अक०=सोना)+नन्+द्विती० ए० व०=नींद को। ऊँघ को। स्वप्न को।

भयम्=(नपुं०)√भी+अच्=भय+द्विती० ए० व०=भय को। त्रास को। डर को।

शोकम्=(पुं०)√शुच्+घञ्+द्विती० ए० व०=शोक को। मनस्ताप को। चिन्ता को।

विषादम्=(पुं०) वि√सद्+घञ्+द्विती० ए० व०=विषाद को। दुःख को। इन्द्रियों की व्याकुलता को। पश्चाताप को। निराशता को।

मदम्=(पुं०)√मद्+अप्+द्विती० ए० व०=मद को। उन्मत्तता को। गर्व या अहंकार के पागलपन को। मस्ती को। विषयों की पूर्ति से होने वाली मस्ती को। धन के मद को। जवानी की मस्ती को।

ए=ही। ऐसे ही।

च=और।

न=न। नहीं।

विमुञ्चति=वि√मुच् (तुदा० उभ० सक०=छोड़ना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=त्यागता है। छोड़ता है।

दुर्मेधाः=दुर्√मेध् (भ्वा० उभ० सक०=बुद्धिमान् होना)+असुन्=दुर्मेधस्+प्र० ए० व०=दुर्मेधाः=मूर्ख। मूढ़। दुर्बुद्धि। दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य।

धृतिः=(स्त्री०) प्र० ए० व०=धृति। धारणा।

सा=तद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=वह।

पार्थ!=हे पार्थ (अर्जुन)!

तामसी=(स्त्री०) तमो गुण से उत्पन्न हुई। तामसी।

अर्थ—हे पार्थ! जिस धृति से दुर्बुद्धि पुरुष स्वप्न (निद्रा-ऊँघ) भय, शोक (चिन्ता, मनस्ताप), विषाद (दुःख) और ऐसे ही मद (नशे, धन यौवन आदि की मस्ती) को नहीं छोड़ता है [अर्थात् धारण ही किए रहता है।] वह धृति तामसी है॥ ३५ ॥

व्याख्या —जो पुरुष दुष्ट-बुद्धि है अथवा जो पुरुष भ्रष्ट-बुद्धि वाला है वह न अपने जीने की परवाह करता है न दूसरों को जीने देना चाहता है वह चलती हुई बसों पर ईंट-पत्थर मारता है रेल, कारों पर पट्रौल छिड़क कर आग लगाता है। दूसरों के घरों और अन्न तथा चारे के ढेरों को अग्नि द्वारा भस्म करता है। गाड़ियों को नष्ट करने का प्रयत्न करता है नाना प्रकार से राष्ट्र-सम्पत्ति का नाश करता है और देश वासियों के जीवन से खेलता है यह दुष्ट-बुद्धि कभी किसी लैटर बम को भेजता है कभी महा पुरुषों की प्रतिमाओं को बिगाड़ देता है। जहाँ तक हो सकता हो, दूसरों का अनिष्ठ करने का प्रयत्न करता है कभी देश द्रोहियों तथा देश-शत्रुओं के साथ मिल कर देश नाश की योजनाएँ बनाता है। ऐसे उपरोक्त दुर्गुणों से युक्त-बुद्धि वाला पुरुष दुर्मेध कहलाता है। यह दुर्मेध पुरुष कभी राजा बनने के स्वप्न देखता है। कभी पोस्त, अफीम, शराब और हतीश आदि वस्तुओं के सेवन द्वारा ऊँघने लगता है कभी अपनी की हुई करतूतों द्वारा भयभीत होकर अण्डर ग्राऊँड हो जाता है अर्थात् छिप कर भटकता फिरता है और डरता है कि कहीं पकड़ा न जाऊँ अथवा पोलीस की गोली का शिकार न बन जाऊँ। कभी साथियों के मारे जाने से शोक ग्रस्त और गमग़ीन बना रहता है। कभी विषाद करता है साथ ही वकवास और प्रलाप करता रहता है। सरकार को गालियाँ देता है किसी को झोली चुक कहता है और देश हितैषियों को टाऊट कह कर दिल की भड़ास निकालता है। आठों पहर मद में चूर रहता है। कभी लूटे हुए धन से पागल बनता है। कभी जवानी का नशा बुद्धि-भ्रष्ट किए रखता है तो उसे कभी मादक पदार्थों का सेवन ही बदमस्ती में रंग देता है। कभी स्वभाविक मूढ़ता ही होश ठिकाने नहीं रहने देती। कहने का भाव यह है कि दुर्मेध पुरुष का जिस धृति के द्वारा, व्यर्थ स्वप्नों का देखना, नींद में सदा ग़लतान रहना, डरना, शोक करना, विषाद ग्रस्त रहना और मद-युक्त रहना त्याग किया नहीं जा सकता, उलटा वह निरन्तर इन को धारण किए रहता है वह धृति तामसी होती है॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दु:खान्तं च निगच्छति॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७ ॥

सुखम्+तु+इदानीम्+त्रि-विधम्+शृणु मे भरत+ऋषभ !। अभ्यासात्+रमते यत्र दु:ख+अन्तम्+च निगच्छति॥ ३६ ॥

यत्+तत्+अग्रे विषम्+इव परिणामे+अमृत+उपमम्। तत्+सुखम्+सात्त्विकम्+प्रोक्तम+आत्म-बुद्धि प्रसादजम्॥ ३७ ॥

सुखम्=(नपुं०)√सुख्+अच्+द्वि० ए० व०=सुख को। मन की उस उत्तम तथा प्रिय अनुभूति को—जिस के द्वारा अनुभव-कर्त्ता का विशेष समाधान और सन्तोष होता है और जिस के निरन्तर बने रहने की उसे अभिलाषा बनी रहती है। आनन्द को।

तु=(अव्यय) और।

इदानीम्=(अव्यय) इदम्+दानीम्, इश् आदेश, शकार-लोप=सम्प्रति। अब। इस समय। अभी।

त्रि-विधम्=(वि० द्वि०, ए० व०) तीन प्रकार के—को।

शृणु=√श्रु (स्वा० पर० सक०=सुनना)+लोट्० म० पु० ए० व०=(तू) सुन।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० प्र० ए० व०=मम, मे=मेरे से। मुझ से।

भरत+ऋषभ!=(वि० पुं०) भरतानाम् ऋषभः। (सम्बो० ए० व०) हे भरत वंशियों में ऋषभ! [√ऋष्+अभच्, कित्=ऋषभ=सांड। उत्तम। श्रेष्ठ]। हे भरतों में श्रेष्ठ!

अभ्यासात्=(पुं०) अभि√अस् (क्षेपे)+घञ्=अभ्यास+पंच० ए० व०= अभ्यास से। बार बार आवृत्ति करने से। निरन्तर परिचय से।

रमते=√रम् (भ्वा० उभ० अक०=रमण करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=रमण करता है।

यत्र=(अव्यय) जिस में। जिस (सुख) में।

दुःख+अन्तिम्=(पुं०) दुःखानां अन्तम्=दुःखों के अन्त को [षष्ठी० तत्पु०, द्विती० ए० व०]

च=और।

निगच्छति=नि√गम्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है॥ ३६॥

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो (सुख)।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह (सुख)।

अग्रे=(वि०)√अङ्ग्+रक्, न लोप+सप्त० ए० व०=अग्रे=पहले। पहले पहल। साधन करने के आरम्भ में।

विषम्=(नपुं० पुं०)√विष्+क+द्विती० ए० व०=विष के। (श्रम-साध्य होने से) विष के। (पहले दुःखात्मक होने से) जहर के।

इव=(अव्यय)√इ+क्विन् (बा०)=सदृश है। तुल्य है। समान (कड़वा, मारक) मालूम होता है।

परिणामे=(पुं०) परि√नम्+घञ्+सप्त० ए० व०=परिणाम में। अन्त में।

अमृत+उपमम्=अमृतम् उपमम् [उप√मा+अ+(नपुं०, प्र० ए० व०)= अमृत के तुल्य है। अमृत के समान है।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह।

सुखम्=(नपुं०)√सुख्+अच्+प्र० ए० व०=मन की उत्तम तथा प्रिय अनुभूति। मन की शान्ति। सुख।

सात्त्विकम्=(वि० नपुं०)=सत्त्व गुण से उत्पन्न हुआ। सात्त्विक। [प्र०, ए० व०]।

प्रोक्तम्=[प्र०√वच्+क्त+(नपुं०) प्र०, ए० व०=कहा गया है।

आत्म-बुद्धि-प्रसाद-जम्=(वि० नपुं)=आत्मनो बुद्धिः=आत्मबुद्धिः। प्रसादः =नैर्मल्यं (सलिलवत् स्वच्छता) ततो जातम्=अपनी बुद्धि का नाम "आत्म बुद्धि" है। उसका जो पानी की तरह स्वच्छ या निर्मल हो जाना है वही "आत्म-बुद्धि-प्रसाद" कहलाता है और उस से उत्पन्न हुआ सुख "आत्म-बुद्धि-प्रसाद-ज" सुख होता है॥

अथवा

आत्मा का आश्रय लेने वाली बुद्धि का नाम "आत्म-बुद्धि" है। उस की कृपा से उत्पन्न हुआ सुख ही 'आत्म-बुद्धि-प्रसादज' सुख होता है॥ ३७॥

नोट—कुछ टीकाकारों के मतानुसार इन दोनों श्लोकों का अर्थ स्वतन्त्ररूप में अलग-अलग है और श्री शंकराचार्य और उनके अनुयायी टीकाकार इन दोनों श्लोकों का अर्थ मिला कर करते हैं इसलिये हमने दोनों प्रकार का अर्थ लिख दिया है, ताकि पाठक लोग स्वयं निर्णय कर सकें॥

पहला अर्थ—हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! अब मुझ से तीन प्रकार के सुख को तू सुन। जिस में अभ्यास (बार बार आवृत्ति) करने से मनुष्य रमण करता है और दुःख के अन्त को प्राप्त होता है॥ ३६॥

वह जो पहले (श्रम साध्य होने से) विष (प्राणों को हरणे वाले) के सदृश और परिणाम (अन्त) में अमृत के समान होता है और जो आत्म (अपनी) बुद्धि की (जलवत्) स्वच्छ निर्मलता से उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है॥ ३७॥

दूसरा अर्थ—हे भरत-श्रेष्ठ (अर्जुन)! अब मुझ से तीन प्रकार के सुख को तू सुन। जिस (सुख) में (मनुष्य भजन, ध्यान, दान और सेवा—आदि के) अभ्यास (=बार बार करने) से रमण करता है (अर्थात् आनन्द में डूबा रहता है) और (जिस के कारण से) दुःखों के अन्त को प्राप्त होता है। वही जो (सुख) पहले (ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधि के आरम्भ काल में—अत्यन्त श्रम-साध्य होने के कारण) विष (प्राणों को हरणे वाले) के सदृश

(दु:खात्मक) और परिणाम (अन्त) में (ज्ञान वैराग्य के परिपाक से उत्पन्न हुआ तथा भगवद्-विषयक अर्थात्) आत्म-बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है वह सुख सात्त्विक कहा गया है ॥ ३६, ३७ ॥

व्याख्या—श्री कृष्ण भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! तू भरत वंशियों में बहुत श्रेष्ठ पुरुष है क्योंकि तुझ पर मेरी अपार कृपा है। इसलिये तू दु:खों को लाँघ कर उस सात्त्विक सुख को प्राप्त कर चुका है जिस का मैं अब वर्णन करने लगा हूँ। सुख भी सात्त्विक, राजस और तामस भेदों से तीन प्रकार का होता है। उनमें से तू पहले सात्त्विक सुख का लक्षण सुन—सुख, मन की उस उत्तम तथा प्रिय अनुभूति को कहते हैं जिसके द्वारा अनुभव-कर्त्ता का विशेष समाधान और सन्तोष होता है, और उस के निरन्तर बने रहने की मनुष्य में अभिलाषा बनी रहती है। सुख का सात्त्विक स्वरूप वह है जो जीवात्मा की आत्मा या परमात्मा की भेंट होने पर प्राप्त होता है और परमात्मा के मिलाप के साधनों जप, तप, ध्यान, योग आदि के बार बार के अभ्यास से साधक पुरुष जिस में रमण करता है तथा सम्पूर्ण दु:खों के अन्त को लाँघ जाता है। यद्यपि यह सात्त्विक सुख प्रारम्भ में अत्यन्त कष्ट साध्य होता है क्योंकि इसके लिये मन को निरोध करना होता है शरीर और इन्द्रियों का नियन्त्रण करना पड़ता है। अभिलाषाओं का अन्त कर दिया जाता है, भूख, प्यास, हानि और दु:खों के प्रभाव से रहित होना होता है, इसलिये यह सुख साधना काल के आरम्भ में प्राण-नाशक विष के समान घातक की भान्ति भासमान होता है, परन्तु समय बीतने पर निरन्तर-अभ्यास से इस का विष रूप अमृत में परिवर्तित होने लगता है और परमात्मा के प्रसाद से अन्त में बुद्धि स्वच्छ-जल-वत् निर्मल और स्वच्छ हो जाती है और बुद्धि की स्वच्छता से फिर साधना सफल हो जाती है जिस से अन्त में वह सुख प्राप्त हो जाता है, जो अमृत-तुल्य भासमान होने लगता है और सात्त्विक कहलाता है ॥

श्री तिलक महाराज लिखते हैं---

"परमावधि का सुख आत्म-निष्ठ बुद्धि हुए बिना प्राप्त नहीं होता। 'बुद्धि' एक ऐसी इन्द्रिय है कि वह एक ओर से तो त्रिगुणात्मक प्रकृति के विस्तार की ओर देखती है और दूसरी ओर से उस को आत्मस्वरूपी परब्रह्म का भी बोध हो सकता है कि जो इस प्रकृति के विस्तार के मूल में अर्थात् प्राणि-मात्र में समानता से व्याप्त है।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा बुद्धि को त्रिगुणात्मक प्रकृति के विस्तार से हटा कर जहाँ अन्तर्मुख और आत्मनिष्ठ किया जाता है और पातञ्जल योग के द्वारा साधनीय विषय यही है—तहाँ वह बुद्धि प्रसन्न हो

जाती है. और मनुष्य को सत्य शिव एवं अत्यन्त सुख का अनुभव होने लगता है" ॥ ३६ । ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

विषय + इन्द्रिय-संयोगात् + यत् + तत् + अग्रे + अमृत + उपमम् । परिणामे विषम् + इव तत् + सुखम् + राजसम् + स्मृतम् ॥

विषय + इन्द्रिय-संयोगात् = (पुं०) विषयाणाम् इन्द्रियाणां च संयोगात् = विषयों और इन्द्रियों के संयोग से । [सम्√युज् + घञ् + (पुं०) पंच० ए० व० = मेल-मिलान से अथवा मेल-मिलाप से] ।

यत् = यद् (सर्व०) + (नपुं०) प्र०, ए० व० = जो ।

तत् = तद् (सर्व०) + (नपुं०) प्र० ए० व० = वह ।

अग्रे = (वि०)√अङ्ग + रक्, न लोप + सप्त० ए० व० = पहले । साधन करने के आरम्भ में ।

अमृत + उपमम् = (नपुं०, प्र०. ए० व०) = अमृत के समान । अमृत के तुल्य । अमृत के सदृश ।

परिणामे = (पुं०) परि√नम् + + घञ् + सप्त० ए० व० = परिणाम में । अन्त में ।

विषम् = (नपुं० पुं०)√विष् + क + द्विती० ए० व० = विष के ।

इव = (अव्यय) = समान, सदृश, तुल्य ।

[परिणामे विषम् इव = बल-वीर्य-रूप-प्रज्ञा-मेधा-धनोत्साह-हानि-हेतुत्वाद् अधर्म-तज्जनित-नरकादि-हेतुत्वात् च, परिणामे तदुपभोग-त्रिपरिणामान्तो विषम् इव = (अर्थ —) बल, वीर्य, रूप, प्रज्ञा, मेधा, धन और उत्साह की हानि का कारण होने से तथा अधर्म और उस से उत्पन्न होने वाले नरकादि का हेतु होने से वह परिणाम में—अपने उपभोग का अन्त होने के अनन्तर विष के तुल्य होता है (श्री स्वामी शंकराचार्य जी)]

तत् = तद् (सर्व०) + (नपुं०) ए० व० = वह ।

सुखम् = (नपुं०)√सुख् + अच् + प्र०, ए० व० = सुख ।

राजसम् = (नपुं०) रजोगुण से उत्पन्न हुआ । राजस ।

स्मृतम् = √स्मृ (भ्वा० पर० सक० = स्मरण करना) + क्त + (नपुं०) प्र० ए० व० = कहा गया है ॥

अर्थ—जो वह सुख विषयों और इन्द्रियों के संयोग से पहले अमृत के तुल्य और परिणाम में विष के सदृश (बल, वीर्य, रूप, बुद्धि मेधा, धन, उत्साह

की हानि करने वाला तथा नरकों में ले जाने वाला एवं जन्म-मरण के चक्र में फँसाने वाला) है, वह राजस कहा जाता है ॥ ३८ ॥

व्याख्या—विषयों और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न हुए अनेक सुखों से मनुष्य अपने मन को प्रसन्न करता है तथा इन से शान्ति पाना चाहता है। परन्तु ये सब सुख उस विष के तुल्य होते हैं जो किसी स्वादु भोजन में मिला हुआ हो, जो देखने में नेत्रों को आनन्ददायक, अपनी सुगन्धि से हृदय और मस्तिष्क को सुगन्धि से भरने वाला, करों को कोमल लगने वाला, जीभ को मीठा और स्वादु करने वाला होता है और रसगुल्लों की भान्ति जिसका नाम सुनने से ही मुँह में पानी भर आता है। परन्तु खाने के बाद प्राणों से भी हाथ धोने पड़ते हैं। संसार में सब से बड़ा प्रलोभन सुन्दर स्त्री है जिसे व्याह कर खुशी के मारे पुरुष की एड़ी धरती पर नहीं लगती क्योंकि वह इसे संसार का सब से बड़ा और महान् सुख समझता है। परन्तु जब यह स्त्री बूढ़ी हो जाती है, दाँत झड़ जाते हैं, बाल पक जाते हैं, खाल लटक जाती है। रोग के कारण हड्डियों का ढाँचा बन कर रह जाती है तो उस को व्याह कर सुख समझने वाला पुरुष उस से घृणा करने लगता है और उस के मरने की प्रतीक्षा करता है, बच्चे बड़े हो जाते हैं, किसी की पढ़ाई, किसी का व्याह और किसी का भयंकर रोग मन को कल्पाने लगता है, बच्चे कहना नहीं मानते। डण्डा लेकर पीटने को दौड़ते हैं, आवारा बन कर घर से चले जाते हैं। पुरुष की जान शकंजे में फँस जाती है। स्त्री-रूप सब से बड़ा सुख जो पहले अमृत तुल्य था अब इस प्रकार अन्त में मारक विष तुल्य बन जाता है। इसी प्रकार शराबी आदमी जब शराब को देखता है तो उसकी बाँछें खिल जाती हैं और वह उसे पीते समय महा सुख अनुभव करता है परन्तु उसका परिणाम बहुत बुरा होता है क्योंकि जब वह अचेत हो कर किसी गन्दी नाली में गिरता है तो उसके वस्त्र गन्दगी से भर जाते हैं, गीदड़ और बिल्ले मुँह चाटते हैं और कुत्ते मुख में मूत्र की धारा छोड़ते हैं। इसी प्रकार जुआ खेलने वाला द्यूतक्रीड़ा के प्रारम्भ में महा सुख का अनुभव करता है और अन्त में सब कुछ हार जाने पर अपनी मृत्यु होने का अनुभव करता है। पतंगा दीपशिखा को देख कर सुख से उस पर गिरता है परन्तु पंखों के जल जाने पर पृथिवी पर गिर कर तड़पने लगता है। हिरण बाँसुरी की तान सुन कर सुख से मस्ताना हो जाता है परन्तु पकड़ा जाता है और प्राणों से हाथ धो बैठता है। साँप बीन की आवाज़ सुन कर फण उठा कर सुख का अनुभव करता है परन्तु परिणामस्वरूप संपेरे की छोटी-सी पिटारी में कैद रह कर सारा जीवन बिताना पड़ता है। हाथी जब गढ़े में खड़ी कृत्रिम हथिनी को देखता है तो अत्यन्त सुख का अनुभव करता है जिससे गढ़े में छलांग लगा देता है और फिर सारा जीवन लोह शृंखलाओं में जकड़ा रह कर बिताता है। इसी प्रकार पक्षी दानों के सुख और लोभ से जाल में फँस जाते हैं और जान गँवा कर

हाँडियों में तले और भूने जाते हैं। इसी प्रकार का जो सुख इन्द्रियों को विषयों द्वारा तृप्त करने वाला प्रारम्भ में अमृत तुल्य भासमान होता है और परिणाम में विष के सदृश बल, वीर्य, रूप, बुद्धि, मेधा, धन और उत्साह की हानि करने वाला, पाप कर्मों के कारण नरकों में ले जाने वाला और जन्म-मरण के चक्र में फँसाने वाला होता है। वह सुख राजस कहलाता है ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

यत्+अग्रे च+अनुबन्धे च सुखम्+मोहनम्+आत्मनः। निद्रा+आलस्य-प्रमाद+उत्थम्+तत्+तामसम्+उदाहृतम्।

यत्=यद् (सर्व)+(नपुं०) प्र०, ए० व०=जो।

अग्रे=(वि०) सप्त०, ए० व०—पहले! साधन करने के आरम्भ में।

च=और।

अनुबन्धे—(पुं०) अनु√बन्ध् (क्रया०, पर० सक०=बाँधना, निर्माण करना)+घञ्+सप्त, ए० व०=अनुबन्ध में। परिणाम में। अन्त में। कार्य को बाँध लेने पर। समाप्ति में। कार्य के अवसान के उत्तर काल में।

च=और।

सुखम्=(नपुं०) प्र०, ए० व०=सुख।

मोहनम्=(वि० नपुं०) √मुह्+णिच्+ल्यु+प्र०, ए० व०=मोह-कर। मोह करने वाला। मोहने वाला।

आत्मनः=(पुं०) √अत्+मनिन्=आत्मन्+षष्ठी० ए० व०=आत्मा का।

निद्रा+आलस्य-प्रमाद+उत्थम्=(वि० नपुं०) [निद्रा च आलस्यं च प्रमादः च इति (इतरेतर द्वन्द्व०) एतेभ्यः समुत्तिष्ठति=निद्रा, आलस्य और प्रमाद—इन तीनों से उत्पन्न होता है।]
निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ (होता है)।

तत्=तद् (सर्व०)+नपुं०) प्र० ए० व०=वह।

तामसम्=(नपुं०) तमोगुण से उत्पन्न हुआ। तामस।

उदाहृतम्=(वि०) उद्-आ√हृ+क्त+(नपुं०) प्र०, ए० व०=कहा गया है॥

अर्थ—जो सुख आरम्भ काल और समाप्ति काल (दोनों) में आत्मा का मोहने वाला और निद्रा, आलस्य एवं प्रमाद (इन तीनों) से उत्पन्न हुआ होता है, वह तामस कहा गया॥ ३९॥

व्याख्या—भगवान् ने 'गी० १४। ८' में कहा है कि "हे भारत! तमोगुण अज्ञान-मूलक है। वह सब देह-धारियों को मोह में डालता है और वह देही

को प्रमाद (असावधानी), आलस्य (सुस्ती) और निद्रा (ऊँघ) के पाश में बांधता है।" फिर भगवान् उसी अध्याय के सत्तहरवें श्लोक में भी कहते हैं कि—

"तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं।"

जब जीव सो जाता है तो उसकी बाह्य इन्द्रियों की क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं क्योंकि उस समय ये इन्द्रियां निष्क्रिय हो कर आराम करती हैं जिससे मन सुख का अनुभव करता है और कभी-कभी तो अपनी कल्पना द्वारा रची हुई स्वप्न-सृष्टि में प्रविष्ट होकर आनन्द का उपभोग भी करता है। परन्तु वह सुख केवल निद्रा काल तक ही सीमित होता है निरन्तर नहीं रहता। जागने पर फिर उसी पहले दु:ख-मय संसार में प्रविष्ट हो जाता है। जिस में सब ओर चिन्ता, यातना, पीडा, रोग और शोक आदि का साम्राज्य फैला हुआ है। इस क्षणिक निद्रा सुख में मन, बुद्धि और इन्द्रियों में प्रकाश का लेशमात्र भी नहीं होता है और न कुछ कर सकने की सामर्थ्य ही रहती है क्योंकि उस काल में सोया हुआ और मृतक दोनों तुल्य शक्ति वाले समझे जाते हैं अर्थात् इस निद्रावस्था के सुख के भोग-काल में आत्मा (अन्त:करण, मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों का समूह) धोखे या भूल में पड़ा रहता है, इसलिए यह निद्रा से उत्पन्न हुआ सुख आत्मा का मोहने वाला कहा गया है।

इसी प्रकार बेकार बैठे रहने वाला आलसी पुरुष भी इसी प्रकार के तामस सुख का अनुभव करता है क्योंकि वह इन्द्रियों, और शरीर से काम नहीं लेता। ग़रीबी में तो उसका निर्वाह ही कष्ट-साध्य होता है और धनाढ्य होने पर फूल कर मोटा कुप्पा बन जाता हैं जिस के लुध्याना में चलने से धमक जालन्धर में होती है, दम फूलता है। पाचन शक्ति नष्ट हो जाती है, जिस से सारे शहर की गन्दगी केवल एक उसी के उदर में इकट्ठी हो जाती है, स्पष्ट है उस का यह लोक या प्रारम्भ भी दु:ख-मय होता है और उसके रोगी अस्वस्थ तथा आलस्य-ग्रस्त रहने के कारण परलोक या परिणाम भी दु:ख रूप हो जाता है। इस प्रकार के आलसी कुप्पे शाह या मट्ठी मल आदि और अन्य आलसी लोग दोनों समयों में सात्त्विक सुख से वंचित रहते हैं, केवल दु:ख ही उनके पल्ले बांधा रहता है।

इसी प्रकार तमोगुण से उत्पन्न हुए प्रमाद में फँसे हुए पुरुषों के आत्मा भी मोह ग्रस्त होते हैं। ये लोग अज्ञानवश कर्त्तव्य कर्मों को त्याग कर आसक्ति के कारण प्राय: सब व्यर्थ क्रियाएँ किया करते हैं जो उनके इहलोक और परलोक दोनों को बिगाड़ देती हैं और आदि में भी दु:ख का कारण होती हैं और परिणाम में भी दु:ख का हेतु बनती हैं। ऐसे मूर्ख लोग प्रमाद में भी सुख का अनुभव किया करते हैं निषिद्ध पेय पदार्थों का पान करते हैं निषिद्ध खाद्य पदार्थों को भक्षण करते हैं। स्वेच्छाचारिणी स्त्रियों की संगति से सुख प्राप्ति की

अभिलाषा करते हैं। दूसरों की हत्या भी अपने आत्मा को सुख देनेके अभिप्राय से ही करते हैं। दूसरों का धनहरण भी इसी कारण से करते हैं। उनको ओछे आदमियों द्वारा की हुई स्तुति से सुख होता है। प्रमाद युक्त पुरुष कभी हँसता है कभी रोता है। कभी पागलों की सी बातें करता हैं। उसे उचित और अनुचित मार्ग का पता ही नहीं लगता इसलिए मन माने मार्ग पर चलता है। इसलिए प्रमादी पुरुष प्रमाद से मिलने वाले सुख के आदि अन्त समयों में दु:खी रहता हैं। सो हे अर्जुन ! जो आरम्भ में और परिणाम में आत्मा को मोह-ग्रस्त करने वाला और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद में से उत्पन्न हुआ है वह सुख तामस कहलाता है॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

न तत्+अस्ति पृथिव्याम्+वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वम्+प्रकृतिजैः+मुक्तम्+यत्+एभिः स्यात्+त्रिभिः+गुणैः॥

न=न। नहीं।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र०, ए० व०=वह।

अस्ति=√अस्+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=है।

पृथिव्याम्=(स्त्री०)√प्रथ्+षिवन्, संप्रसारण=पृथिवी+सप्त० ए० व०= पृथिवी में।

वा=(अव्यय) या। अथवा।

दिवि=(पुं०, स्त्री०)√दिव्+डिव्=दिव्+सप्त० ए० व०=स्वर्ग में। आकाश में।

देवेषु=(पुं०) देव+सप्त० ए० व०=देवताओं में।

वा=या। अथवा। और।

पुनः=(अव्यय)√पन्+अर्, उत्व=पुनर्=फिर (कोई)।

सत्त्वम्=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व+प्र० ए० व०=होने का भाव। अस्तित्व। प्राणधारी और अन्य सब पदार्थ।

प्रकृति-जैः=(वि० पुं०) प्रकृतेः जातैः [प्रकृतितो जातैः] प्रकृति+ज+तृती० ब० व०=प्रकृति से उत्पन्न हुओं द्वारा।

मुक्तम्=√मुच्+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=छूटा हुआ। मुक्त। परित्यक्त। रहित।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

एभिः=इदम् (सर्व०)+(पुं०) तृती० ब० व०=इनके द्वारा।

स्यात्=√अस्+विधि०, प्र० पु०, ए० व०=हो।
त्रिभिः=(वि०) त्रि+(पुं०)+तृती० ब० व०=तीनों द्वारा।
गुणैः=(पुं०)√गुण्+अच्+तृती० ब० व०=गुणों द्वारा। गुणों से।

अर्थ—और फिर पृथिवी में, आकाश में अथवा देवताओं में ऐसा कोई भी सत्त्व (मनुष्यादि प्राणी या अन्य कोई भी प्राण रहित वस्तु मात्र) नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न हुए (सत्त्व आदि) इन तीनों गुणों से मुक्त (छूटा हुआ या रहित) हो ॥ ४० ॥

व्याख्या—जिस प्रकार पीले, लाल और नीले इन तीन रंगों से ही संसार के सम्पूर्ण रंग बनते हैं और इनसे बने हुए सात रंग जब बड़ी तेजी से घूमने लगते हैं, तो वे एक ही श्वेत रंग में बदल जाते हैं। इस प्रयोग से वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि प्रकाश सात रंगों से मिल कर बना हुआ है। सब वस्तुओं के रंग प्रकाश के कारण ही दिखाई देते हैं। जिस वस्तु में जो रंग दिखाई देता है, वह उस रंग को छोड़ कर शेष सब रंगों को खा जाती है और जो वस्तु श्वेत दिखाई देती है, वह सम्पूर्ण रंगों को खा जाती है, किसी वस्तु में भी अपना कोई रंग नहीं होता। यदि उसमें कोई अपना रंग होता, तो वह प्रकाश का अभाव हो जाने पर भी दिखाई देता रहता। इसी प्रकार हमारी इस धरती में, अन्तरिक्ष में घूमते और विचरण कर रहे सम्पूर्ण पिण्डों में और प्रकाश से बने हुए देवताओं के लोक में कोई प्राणी या अन्य कोई प्राण रहित वस्तु ऐसी नहीं है जो ईश्वरीय माया या प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन (पीत, रक्त और नील) गुणों से मुक्त या रहित है। केवल एक परमात्मा ही है जो इन तीन गुणों से मुक्त या रहित है, जिस पुरुष को हम गुणातीत या इन तीनों गुणों से रहित कहते हैं। उसका शरीर भी इन तीनों गुणों का ही बना हुआ होता है। परन्तु वास्तव में उसकी दृष्टि में न तो सृष्टि है और न इस त्रिगुणात्मक शरीर के भीतर उसकी स्थिति ही होती है। वह तो परमात्मा का स्वरूप ही हो जाता है और उसमें अभिन्न भाव से नित्य स्थित रहता है। उस का प्रत्यक्ष शरीर ही गुणों का कार्य होता है। जिससे उसका आत्मा निर्लेप हो जाता है। प्रकृति के सब रंग या गुण उसमें विलीन हो कर, परमात्मा रूप केवल एक श्वेत रंग ही शेष रह जाता है। इस लिए यह कहने में कुछ भी आपत्ति नहीं है कि इस सम्पूर्ण सृष्टि के भीतर कोई भी प्राणी या प्राण रहित पदार्थ ऐसा नहीं है जो इन तीनों गुणों से रहित या मुक्त है। कोई स्वरूप भी इन तीनों गुणों से बिना बने दृष्टिगोचर तथा मनोगोचर हो ही नहीं सकता। इस लिए यह सारा संसार इस प्रकृति के तीन गुणों के द्वारा ही रचित हुआ है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। परन्तु यह जीव जब तक इन गुणों से मुक्त नहीं हो जाता, इसका किसी प्रकार भी संसार से सम्बन्ध नहीं टूटता। यह

त्रिगुणमयी रस्सा इसे परमात्मा में मिलने नहीं देता। जब यह पुरुष अत्यन्त उत्कृष्ट सात्त्विक भाव को प्राप्त हो जाता है, तो वह गुणों की अन्तिम सीमा पर पहुँच जाता है और फिर वहाँ पर इस त्रि-सूत्री रस्सी को तोड़ कर गुणातीत हो जाता है उस समय फिर वह संसारी नहीं रहता। अपितु निरंकारी परब्रह्म स्वरूप हो जाता है और उसके लिये सत्त्व, रज, तम यह तीन गुणात्मक क्रिया-कारक फलस्वरूप सारा संसार मिथ्या हो जाता है ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशाम्+शूद्राणाम्+च परम्+तप !। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव-प्रभवैः+गुणैः ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशाम्=(पुं०) ब्राह्मणाः च क्षत्रियाः च विशः च=ब्राह्मण-क्षत्रियविशा, तेषाम्=ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के।
[(पुं०)√विश् (तुदा० पर० सक०=बस जाना। कृषि, वाणिज्य, गो-रक्षा आदि कर्म करना)+क्विप्=विश्+षष्ठी० ब० व०=वैश्यों के]।

शूद्राणाम्=(पुं०)√शुच् (भ्वा० पर० अक०=शोक करना। दुःखी होना। साफ़ करना। स्वच्छ करना)+रक्, पृषो० चस्य दः दीर्घ=शूद्र+षष्ठी० ब० व०=शूद्रों के।

च=और।

परम्+तप !=(सम्बो० ए० व०) परान्=शत्रून् तापयति, पर√तप्+णिच्+खच्, ह्रस्व, मुम्=हे शत्रुओं को ताप या दुःख देने वाले (अर्जुन)! अथवा हे (महान् या बहुत बड़ा) तप करने वाले (अर्जुन)!

कर्माणि=(नपुं०)√कृ+मनिन्=कर्मन्+प्र०, ब० व०=कर्म।

प्रविभक्तानि=(वि०) प्र-वि√भज् (भ्वा० उभ० सक०=बँटवारा करना। बँटना)+क्त+(नपुं०) प्र० ब० व०=अलग-अलग बँटे हुए हैं। विभक्त किए हुए हैं। विभाजित किए हुए हैं।

स्वभाव-प्रभवैः=(पुं०) स्वभावः=ईश्वरस्य प्रकृतिः (त्रिगुणात्मिका माया), सा प्रभवः (=उत्पत्ति का कारण) येषां ते=स्वभाव-प्रभवाः तैः (बहुव्री०)। स्वभाव (त्रिगुणात्मिका माया) से उत्पन्न हुओं द्वारा।

गुणैः=(पुं०)√गुण्+अच्+तृती० ब० व०=गुणों के द्वारा।

अर्थ—हे परम-तप करने वाले (अर्जुन)! ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा पृथक्-पृथक् विभक्त किए हुए हैं ॥ ४१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम परम-तप करने वाले हो, इसलिए सात्त्विक स्वभाव से युक्त हो। शत्रुओं को तपाने वाले अर्थात् धर्म-युद्ध द्वारा शत्रुओं को जीतने वाले हो। इसलिए रजोगुण मिले सत्त्व गुण से युक्त सच्चे क्षत्रिय हो। यह क्षत्रिय कर्म तुझ में स्वभाव से अर्थात् ईश्वर की प्रकृति या त्रिगुणात्मिका माया से उत्पन्न गुणों के कारण से है। इसी प्रकार सब ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा विभक्त किये हुए होते हैं, अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के संस्कार रूप स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार विभक्त किए हुए हैं।

जन्म जात उत्तम जाति का केवल इतना ही लाभ होता है कि उस पर सत्संगति और उत्तम संस्कारों का रंग वैसा ही चोखा चढ़ता है जैसे बे-दाग़ श्वेत चादर पर चढ़ता है और जन्म जन्मान्तर के संचित उत्तम कर्मों के फल स्वरूप ही सात्त्विक तपस्वी विद्वान् और ज्ञानवान् घरानों में जीव का जन्म होता है। यदि वहाँ भी संयोगवश उत्तम संगति और शुभ वातावरण प्राप्त हो जाये, तो फिर वे सब गुण प्राप्त हो जाते हैं जो अपने अपने वर्ण और जाति के अनुसार कर्म करके मोक्ष या शुभ गति प्राप्त करवा देते हैं, परन्तु यदि भाग्यों की हीनता से विपरीत परिस्थिति मिल जाए तो फिर उत्तम जाति वाले भी शुभ कर्मों से हीन हो जाते हैं। परन्तु पिछले जन्मों के उत्तम कर्मों के कारण संयोग वश अनुसूचित जातियों के लोग भी ब्रह्मज्ञानी होकर वाल्मीकि, कबीर रविदास, नामदेव, सेन और साईं बुल्हे शाह आदि बन जाते हैं। यह सब कुछ ईश्वर की प्रकृति या त्रिगुणामिका माया से उत्पन्न शुभ गुणों के कारण से ही होता है वैसे तो ये तीनों गुण सब में होते हैं परन्तु सच्चे ज्ञानी ब्राह्मण में सत्त्व-गुण की अधिकता पूर्णिमा के चन्द्र-बिम्ब की चमक के तुल्य होती है जिस में रजोगुण और तमोगुण के लाल और काले चिह्न छिपे रहते हैं।

क्षात्र-धर्म सम्पन्न पुरुष में रजोगुण और उस का सहायक सत्त्व गुण ही दृष्टि गोचर होता है और तमोगुण उन दोनों के नीचे दबा रहता है। वैश्य प्रकृति पुरुष में रजो गुण और उसका सहायक तमो गुण ही भासमान होता है, सत्त्व गुण उन दोनों के नीचे दबा रहता है जिस पुरुष में शूद्र के लक्षण विद्यमान् होते हैं उस में तमो गुण की अधिकता होती है रजोगुण उस का सहायक होता है और सत्त्व गुण तो नाम मात्र के लिए ही होता है। उत्तम संस्कारों द्वारा जब तक मनुष्य का दूसरा जन्म नहीं होता तब तक उस का पहला जन्म व्यर्थ ही रहता है। भले ही वह ब्राह्मण या क्षत्रिय के कुल या घर में ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो। पुरुष का दूसरा जन्म होने पर उस के माता पिता भी बदल जाते हैं माता महद्ब्रह्म और पिता पर-ब्रह्म हो जाता है। श्रुति कहती है—

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥"

अर्थात् संस्कार या दूसरा जन्म होने पर ब्राह्मण, विराट् भगवान् के मुख से उत्पन्न हुआ बन जाता है क्षत्रिय भुजाओं से उत्पन्न हुआ हो जाता है ऊरू स्थान से वैश्य की उत्पत्ति हो जाती है और चरण-कमलों से शूद्र का जन्म हो जाता है अर्थात् संस्कार हो जाने के बाद चारों वर्णों के लोग पर-ब्रह्म परमेश्वर के विराट रूप के अंग टुकड़े या पुत्र बन जाते हैं और प्राकृत माता पिता से नाता टूट कर ब्रह्म से जुड़ जाता है । यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्वभावः जन्य गुण-भेद से निर्मित होती है । जैसी गीता में कही गई है वैसी ही इस से पूर्व श्रुति और स्मृतियों मे भी वर्णन की जा चुकी है । यह व्यवस्था भी प्रकृति के गुण-भेद का परिणाम है । जिस का वर्णन भगवान् अगले श्लोकों में करने लगे हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शमः+दमः+तपः शौचम्+क्षान्तिः+आर्जवम्+एव च । ज्ञानम्+विज्ञानम्+आस्तिकयम्+ब्रह्म-कर्म स्वभाव-जम् ॥

शमः=(पुं०)√शम् (दिवा० पर० सक० अक०=चुप रहना । शान्त होना इन्द्रियों को काबू में करना)+घञ्+प्र० ए० व०=मौन । शान्ति । इन्द्रिय निग्रह । मन, बुद्धि, चित्त अहङ्कार को सब ओर से रोकना अर्थात् अन्तःकरण का निग्रह ।

दमः=(पुं०)√दम् (दिवा० पर० सक०=जीतना । वशवर्ती करना । दमन करना)+घञ्+प्र० ए० व०=बाह्य वृत्तियों को रोकना । इन्द्रियों का दमन ।

तपः=(पुं०)√तप् (भ्वा०, दिवा० उभ० अक०=तपना । कष्ट सहना । तपस्या करना)+अच्+प्र० ए० व०=तपस्या करना । धर्म के लिए कष्ट सहना, । कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार का सात्विक तप करना ।

शौचम्=(नपुं०) शुचि+अण्+प्र० ए० व०=शुद्धता । भीतर बाहर की पवित्रता । शरीर और अन्तःकरण की शुद्धि ।

क्षान्तिः=(स्त्री०)√क्षम् (भ्वा० आत्म० सक०=सहना । क्षमा करना) +क्तिन्+प्र० ए० व०=क्षमा भाव । शक्ति सम्पन्न होने पर भी अपने को मारने या गाली देने वाले पर क्रुद्ध न होना ।

आर्जवम्=(नपुं०) ऋजु (सीधा, सरल)+अण्=सरलता । सीधा पन ।

निष्कपटता। चित्त की कोमलता और दया भाव। मन, इन्द्रियों और शरीर की सरलता। ऋजुता।

एव=(अव्यय) (ऐसे) ही।

च=और।

ज्ञानम्=(नपुं०)√ज्ञा (क्रिया० पर० सक०=जानना) ल्युट्+प्र० ए० व० =शास्त्र विषयक ज्ञान। सम्पूर्ण शास्त्रों के अर्थ को यथार्थ जानना। सच्ची जानकारी। सम्यक् बोध। आत्म साक्षात्कार कराने वाला ज्ञान।

विज्ञानम्=(नपुं०) वि√ज्ञा+ल्युट्+प्र० ए० व०=विशेष रूप से आत्मा का अनुभव। परमात्म तत्व का अनुभव। विज्ञान।

आस्तिकयम्=(नपुं०) अस्तिभाव:, अस्ति+ठक्=आस्तिक+ष्यञ् (भावे यक् वा)+प्र० ए० व०=श्रद्धानता आगमेषु। आस्तिक पन। ईश्वर पर दृढ़ विश्वास। ईश्वर, वेद वाणी (श्रुति) और परलोक पर विश्वास।

ब्रह्म-कर्म=(नपुं०) ब्राह्मण-जाते: कर्म=ब्राह्मण जाति के कर्म (हैं)।

स्वभावजम्=(वि० नपुं०) स्व (=अपनी) भाव (प्रकृति से) जम् (उत्पन्न हुए)। (प्र० ए० व०)। स्वभाव से उत्पन्न हुए। स्वाभाविक। नैसर्गिक। प्रकृतिजन्य। सहज स्वभाव ही होने वाले। [अन्य जातियों में ये नौ गुण सहज स्वभाव नहीं होते। उन में ये गुण यत्न-साध्य हो सकते हैं क्योंकि इन गुणों का सीधा सम्बन्ध सत्त्व गुण से है जो सच्चे ब्राह्मण में ही प्रचुर मात्रा में होता है।]

अर्थ—शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव और ऐसे ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिकय (ये नौ) ब्राह्मण के (द्वारा होने वाले) सहज स्वाभाविक कर्म या गुण हैं॥ ४२॥

व्याख्या—वही सच्चा ब्राह्मण होता है, जिस में सत्त्व गुण प्रचुर मात्रा में व्यापक होता है इस गुण के फल स्वरूप जिस में सहज स्वभाव ही अन्त:करण पर कण्ट्रोल होता है। इन्द्रियों पर काबू किया हुआ होता है। बाहर भीतर या शरीर और अन्त:करण की पवित्रता होती है। स्वभाव कोमल और दयापूर्ण होता है अपकार करने वाले पर भी क्षमा भाव बना रहता है। सरलता और भोलापन भरा रहता है। उस में सदा ऋजुता बनी रहती है। वह सब शास्त्रों के ज्ञान से भरपूर ज्ञानवान् होता है और बहुत अनुभवी और सब कुछ जानने वाला होता है। परमात्म-तत्त्व का अनुभवी होता है। उस में ईश्वर पर दृढ़ श्रद्धा और पूर्ण विश्वास होता है ये सब कर्म उस में यत्न-साध्य नहीं होते, बल्कि स्वभाव जन्य ही होते हैं वह इन कर्मों को लेकर ही उत्पन्न हुआ होता है और फिर शुद्ध संस्कारों और सत्संगति से इन में उत्तरोत्तर

वृद्धि हो जाती है भगवान् ने इस से पहले श्लोक में कहा था कि चारों वर्णों के स्वभाव-जन्य गुणों से कर्म विभक्त किए गये हैं।' इस श्लोक में, इस वाक्य में कही हुई बात को "स्वभावजम्" कह कर व्यक्त किया गया है ॥

जिस प्रकार सूर्य निज प्रकाश से कभी अलग नहीं रह सकता उसी प्रकार सच्चा सात्त्विक ब्राह्मण अपने स्वाभाविक उक्त नौ कर्मों से कभी पृथक् नहीं हो सकता। ब्राह्मण के ये सब गुण दैवी-सम्पत्ति रूप है और उस में स्वभाव-सिद्ध ही होते हैं तथा अन्त तक निरन्तर बने रहते हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शौर्यम्+तेजः+धृतिः+दाक्ष्यम्+युद्धे च+अपि+अपलायनम् ।
दानम्+ईश्वर भावः+च क्षात्रम्+कर्म स्वभाव-जम् ॥ ४३ ॥

शौर्यम्=(नपुं०) शूरस्य भावः, शूर+ष्यञ् (भावे)+प्र० ए० व०=शूरता। वीरता। बहादुरी।

तेजः=(नपुं०)√तिज्+असुन्=तेजस्+प्र० ए० व०=तेजः=आभा। अध्यात्मिक शक्ति। चेहरे की चमक। तेज। किसी से न दबना। दूसरों से न दबने का स्वभाव। प्रगलभता। प्रताप। प्रभाव।

धृतिः=(स्त्री०)√धृ+क्तिन्+प्र० ए० व०=धैर्य। भारी आपत्ति टूट पड़ने पर भी चित्त का व्याकुल न होना। धारण-शक्ति।

दाक्ष्यम्=(नपुं०) दक्षस्य भावः, दक्ष+ष्यञ्+प्र० ए० व०=चातुरी। निपुणता। दक्षता। अकस्मात् प्रस्तुत हुए कार्यों में भी व्यामोह से रहित होकर काम करने की फुरती या निपुणता।

युद्धे=(नपुं)√युध्+क्त=युध्+सप्त० ए० व०=युद्ध में।

च=और।

अपि=(अव्यय) भी। कभी।

अपलायनम्=(नपुं०) न पलायन (नञ् तत्पु०) [परा+अप्+ल्युट्, रस्य लः] प्र० ए० व०—पीछे न भागना। पीठ न दिखाना। पीछे न भागने का स्वभाव। डटे रहने और शत्रुओं को मारते हुए निरन्तर आगे ही बढ़ते जाना।

दानम्=(नपुं०)√दा+ल्युट्+प्र० ए० व०=सुपात्रों को दान देने का स्वभाव। उदारता का भाव।

ईश्वर-भावः=(पुं०) ईश्वस्य भावः (षष्ठी तत्पु०) स्वामी भाव। निःस्वार्थ भाव से शासन द्वारा प्रजा पालन का भाव। दूसरों पर हकूमत करने का स्वभाव।

च=और।

क्षात्रम्=(नपुं०) क्षत्रियजातेः विहितम्। क्षत्र+अण्+प्र० ए० व०=क्षत्रिय जाति के करने योग्य। क्षत्रिय के करने योग्य।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म (हैं)।

स्वभाव-जम्=(नपुं०) प्र० ए० व०=स्वभाव से उत्पन्न हुए। स्वाभाविक।

अर्थ—शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में कभी (डर कर) पीछे न भागना, दानशीलता और शासन करने का भाव (ये सात) क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

व्याख्या—सच्चे क्षत्रिय के सात कर्म स्वाभाविक होते हैं—

१—शौर्य से सम्पन्न होना। शूरता दिखाना सदा वीर पुरुष बने रहना। बहादुरी से शत्रु को मारना और भगाना।

२—क्षत्रिय तेजस्वी होता है वह कभी किसी के सामने दबता नहीं है न किसी की धौंस मानता है न कहीं अपनी मूंछ नीची करता है, शत्रु उससे आँख मिलाने से घबराता है। साधारण पुरुष लगातार उसके चेहरे को देख नहीं सकता। क्षत्रिय के मुख मण्डल के चारों ओर नूर या आभा बरसती है आँखों से चिंगरारियाँ निकलती रहती हैं उस में तेज, प्रताप और दूसरों को अपने व्यक्तित्व से प्रभावित करने वाला दबदबा और एक विशेष प्रभाव होता है। उसके इसी तेज से सारे राष्ट्र की रक्षा होती है।

३—धृति-क्षत्रिय में परले दर्जे का श्रेष्ठ धैर्य होता है। वह महान् विपत्ति आ पड़ने पर भी घबराता नहीं है उसी समय धीरता और हौसले से उस आए संकट को दूर करने का प्रयत्न करता है। उस के हृदय में कभी ह्रास उत्पन्न नहीं होता है न उसका शरीर डर से काँपता है।

४—दाक्ष्य या दक्षता गुण भी उस में अत्यधिक होता है वह सारी बात को झट-पट समझ लेता है और बड़ी चतुराई और बुद्धिमत्ता से उसे निपटाने का प्रयत्न करता है वह अत्यन्त कार्य दक्ष कुशल और मति-सम्पन्न होता है। दक्षता तथा लाघवता उस में कूट कूट कर भरी हुई होती है सच पूछो तो वह अक्ल का कोट होता है।

५—युद्ध में अपलायनता—वह कभी युद्ध से मुँह नहीं मोड़ता। देश रक्षा या धर्म रक्षा के समय उसकी रग रग में जोश भर जाता है। भले ही टुकड़े टुकड़े हो जाये परन्तु शत्रु को कभी पीठ नहीं दिखाता है श्री गुरु गोविन्द सिंह जी ने उसके इस गुण से प्रसन्न होकर कहा है—

"सूरा सो पहिचानिए जो लरै दीन के हेत पुर्जा पुर्जा कट मरै कबहुँ न छाँडै खेत ॥

अर्थात् शूरवीर क्षत्रिय वही होता है जो राष्ट्र, जाति या धर्म की रक्षा के लिये युद्ध करता है वह टुकड़े टुकड़े होकर कट कर मर तो जाता है परन्तु युद्ध भूमि से कभी भागता नहीं है।

६—दान शीलता—क्षत्रिय में दान-शीलता बहुत होती है। राजा हरिश्चन्द्र ने विपत्ति की परवाह न करते हुए महर्षि विश्वामित्र को अपना सारा राज्य दान कर दिया था। बलि ने सम्पूर्ण भूमि वामन को दे दी थी तथा राजा कर्ण ने कवच और कुण्डल देकर मृत्यु मोल ले ली थी। सच्चा क्षत्रिय बहुत उदार और दानवीर होता है।

७—ईश्वर-भाव—क्षत्रिय में स्वामी या शासक बन कर रहने की इच्छा नैसर्गिक रूप में प्रबल होती है वह भूमि का शासक बन कर धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करता है और प्रजा को धर्म मार्ग पर चलाने के लिये उस से अपनी आज्ञाओं का पालन करवाता है।

इस प्रकार क्षत्रिय के इन स्वाभाविक कर्मों से सारे राष्ट्र और संसार की रक्षा होती है। जगत् में शान्ति और चैन बने रहते हैं।

यों तो सारे संसार का इतिहास इन पूर्वोक्त सात कर्मों से युक्त वीर क्षत्रियों के इतिहास से भरा पड़ा है परन्तु भारत का मस्तक इन शूरवीरों ने अत्यन्त उन्नत किया हुआ है। राम और कृष्ण को क्या कोई कभी भूल सकता है? गुरु गोविन्द सिंह, महाराणा प्रताप और शिवाजी आदि भी कभी भुलाए नहीं जा सकते। नेता जी सुभाष चन्द्र बोस, सरदार भक्त सिंह और सरदार पटेल आदि अनेक क्षत्रियों के भारतवासी सदा ऋणी रहेंगे जिन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के संग्राम में अपने प्राणों की आहुति दी थी, इन सब लोगों में क्षत्रियों के सातों स्वाभाविक गुण पूर्णता से विद्यमान थे। उदाहरणार्थ शिवा जी का चरित्र उपस्थित किया जाता है—

अफजल खां और शाइस्ता खां का वध उस वीर क्षत्रिय के शौर्य का प्रदर्शक है। औरंगज़ेब जब उसके तेज को सहन न कर सका तो उसने उसको दरबार से बाहर ले जाने की आज्ञा दे दी। राजा जय सिंह के साथ शिवा जी का दिल्ली को चल देना उसकी धृति को प्रकट करता है। औरंगज़ेब की कैद से छूट कर उसका भाग जाना उसकी दक्षता, लाघवता, कौशल और चतुराई का परिचायिक है। सारी आयु में उसने कभी युद्ध से मुँह न मोड़ा था कभी दक्षिण के बादशाहों से लड़ता रहा, कभी मुग़ल-सेना से मुठभेड़ होती रही, तो कभी यूरोपियन लोगों को विजय करने में लगा रहा। शिवा जी की दानशीलता के तो आज तक समूचे महाराष्ट्र के घर-घर में चर्चे चल रहे हैं। अन्त में इस सच्चे क्षत्रिय ने महाराष्ट्र राज्य की नींव डाली और इसका पहला शासक बना। इसी प्रकार उपरोक्त सब वीर क्षत्रिय लोग इन सातों गुणों से युक्त थे॥ ४३॥

कृषि गौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यम्+वैश्य-कर्म स्वभावजम् । परिचर्या+आत्मकम्+कर्म शूद्रस्य+अपि स्वभावजम् ॥

कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यम्=(नपुं०) कृषिः च गौरक्ष्यं च वाणिज्यं च (समाहार द्वन्द्व०)=कृषि, गौरक्षा और वाणिज्य ।

[कृषिः भूमेः विलेखनम्, (स्त्री०)√कृष्+इन्, कित्=भूमि में हल चलाना । जुताई । खेती करना । काश्त कारी ।

(नपुं०) गो रक्षा+ष्यञ्=गौरक्ष्य । गोपालन । गोरक्षण । गाय, बैल आदि की पालना ।

(नपुं०) वाणिज्य+(भावे) ष्यञ्=वाणिज-व्यापार । क्रय-विक्रय रूल वाणिककर्म । माल या सौदा ख़रीदने और बेचने का धन्धा ।] प्र० ए० व० ।

वैश्य-कर्म=(नपुं) वैश्यजातेः कर्म=वैश्य जाति के कर्म । प्र० ए० व० । (हैं) ।

स्वभाव-जम्=(नपुं० प्र० ए० व०) स्वभावजन्य । स्वाभाविक ।

परिचर्या+आत्मकम्=(नपुं०) [परि√चर्+श, यक् च निपातनात् अथवा क्यप् (स्त्री०)=सेवा ।
आत्मन्+कन्+(नपुं०) प्र० ए० व०=बना हुआ । ढंग का । स्वभाव का ।]=सेवा रूप । परिचर्यात्मक । सेवा सम्बन्धी । सेवा करना । नौकरी करना ।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=काम । कर्म । पेशा ।

शूद्रस्य=(पुं०)√शुच्+रक्, पृषो० चस्य दः, दीर्घः+षष्ठी० ए० व० । शूद्र का । चौथे वर्ण का ।

अपि=भी ।

स्वभाव-जम्=(नपुं०) प्र० ए० व०=स्वभाव-जन्य । स्वाभाविक । प्रकृति से उत्पन्न हुआ ।

अर्थ—कृषि (खेती), गौरक्ष्य (गाइ आदि पशुओं का पालन) और वाणिज्य (सत्यता पूर्वक पवित्र वस्तुओं का व्यापार) (ये तीनों) वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं और सेवा-सम्बन्धि-नौकरी आदि करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

व्याख्या—राष्ट्र, विराट् भगवान् का एक छोटा सा रूप होता है, जिसके शरीर की कल्पना मनुष्य-शरीर के तुल्य की गई है । बुद्धि-जीवी लोग ब्राह्मण कहलाते हैं जो सत्त्व गुण से भरपूर होते हैं और जिन के नौ स्वाभाविक कर्म

भगवान् ने कथन किए हैं तथा ब्राह्मण लोग राष्ट्र रूप विराट् भगवान् के मुख माने जाते हैं। इन के द्वारा ही देश की सभ्यता का प्रचार किया जाता है। इन के द्वारा ही विद्या रूप भोजन के खाये जाने से सारा राष्ट्र पुष्ट होता है, जीवित रहता है तथा स्फूर्तिमान होता है। यदि इन के द्वारा किया गया यह भोजन सात्त्विक, ताजा, पुष्टि कर और उचित गर्म न हो तथा जीवाणुओं से रहित और पवित्र न हो, तो सारा राष्ट्र रूप शरीर रोगी हो जाता है और असाध्य रोगी होने से मृत्यु का ग्रास बन जाता है।

क्षत्रिय लोग इस राष्ट्र रूपी विराट पुरुष की भुजाएं होती हैं जो सब प्रकार से इस राष्ट्र रूप शरीर की रक्षा करती हैं। जिन के सात स्वाभाविक कर्म भगवान् ने दर्शाए हैं। यही लोग देश का शासन करते हैं। यही लोग राष्ट्र के लोगों को धर्म मार्ग पर चलाने के लिए उचित आज्ञाएँ देते हैं, शत्रुओं से देश की रक्षा करते हैं और वैरियों से युद्ध करते हैं। इस काम में राष्ट्र रूप शरीर के शेष अंग मुख, उदर और जांघ सहित पांव अर्थात् ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र भी उनकी पूरी सहायता करते हैं।

इस राष्ट्र रूप विराट् पुरुष का उदर और जांघ वैश्य लोग हैं जो भोजन प्रणाली और रक्त प्रणाली के अंगों—आमाशय यकृत, तिल्ली, कफाशय, हृदय और फेफड़ों आदि में नाड़ियों से जुड़े हुओं की तरह परस्पर जुड़े हुए हैं। पशु पालते हैं, खेती करते हैं। सब प्रकार की शिल्प संबन्धी वस्तुएँ बनाते हैं तथा उनका व्यापार करते हैं। यदि ये लोग धर्मानुसार देश-हित के सम्बन्ध से विच्छेद हो जायें और क्षत्रिय लोग अपने कर्तव्य को न निभायें तब भी राष्ट्र पुरुष की शीघ्र मृत्यु हो जाती है। जो लोग किसी भी प्रकार से तीनों वर्णों की सेवा करते हैं अथवा नौकरी करके निर्वाह करते हैं, वे सब शूद्र कहलाते हैं। सेवा करना उनका स्वाभाविक कर्म कहा गया है। चाहे वे किसी तरह से करें। जिस प्रकार कोई पुरुष जैसा सिर और मुँह से प्यार करता है और भुजाओं को पालता है तथा पेट, छाती और जांघों को बचाता है और पांव की चोट से भी उतना ही दुःखी होता है। इसी प्रकार राष्ट्र रूपी शरीर के ये चारों अंग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व और शूद्र उस के जीवित रहने और स्वस्थ रहने के लिये परमावश्यक हैं, जो पुरुष इन में ऊँच नीच या भेद भाव समझता है। मानो वह अपने ही अंगों से घृणा करता है और अपने उपस्थ और गुह्य अंगों को गन्दा समझ कर अपने शरीर से काट कर फैंक देना चाहता है और श्लेष्मा निकलने से घृणा करके अपने नाक को काटने का विचार करता है। यदि ये चार प्रकार के कर्म राष्ट्र के सब लोग अपने अपने स्वभाव या प्रकृति के अनुसार बांट कर तत्परता से न करेंगे, तो राष्ट्र का सारा जीवन अस्त व्यस्त हो जायेगा। आगे चलकर भगवान् स्वयं कहते हैं कि कोई कर्म भी दोष रहित नहीं होता। इसलिये दूसरे के अच्छे धन्धे को देखकर अपना कम अच्छा धन्धा

छोड़ना नहीं चाहिए क्योंकि मनुष्य अपने पहले और प्रकृति-जन्य कर्म द्वारा ही सफलता प्राप्त कर सकता है ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर: ।
स्वकर्मनिरत: सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

स्वे स्वे कर्मणि+अभिरत: संसिद्धिं लभते नर: । स्व-कर्म-निरत: सिद्धिम्+यथा विन्दति तत्+शृणु ॥

स्वे=(सर्व० वि०) √स्वन्+ड+स्व+(नपुं०) सप्त० ए० व०= अपने में ।

स्वे=अपने में ।

कर्मणि=(नपुं०) कर्मन्+सप्त० ए० व०=कर्म में ।

अभिरत:=(वि० पुं०) अभि √रम्+(कर्तरि) क्त+प्र० ए० व०=लगा हुआ । तत्पर हुआ ।

संसिद्धिम्=(स्त्री०) सम √सिध+क्तिन्+द्विती० ए० व०=संसिद्धि को । (भगवत्-प्राप्ति रूप) परम सिद्धि को ।

लभते=√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना)+लट्० पु० ए० व०= प्राप्त करता है । पा लेता है ।

नर:=(पुं०) प्र० ए० व०=नर । मनुष्य ।

स्व-कर्म-निरत:=(वि०, पुं०, प्र० ए० व०) स्वे कर्मणि निरत:=(सप्त० तत्पु०)=अपने (स्वभाविक) कर्म में भली भान्ति अच्छी तरह लगा हुआ ।

सिद्धिम्=(स्त्री०) √सिध्+क्तिन्+द्विती० ए० व०=सिद्धि को ।

यथा=(अव्यय) जैसे । जिस प्रकार से ।

विन्दति=√विन्द् (तुदा० पर० सक०=पाना । प्राप्त करना)=लट्० प्र० ए० व०=पाता है । प्राप्त कर लेता है ।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उस (विधि) को । (मुझ से) ।

शृणु=√श्रु (स्वा० पर० अक०=सुनना)+लट्० प्र० पु० ए० व०= (तू) सुन ।

अर्थ—अपने अपने (स्वभावजन्य) कर्म में तत्पर हुआ (लगा हुआ) मनुष्य (भगवत् प्राप्ति रूप) परम सिद्धि को प्राप्त करता है और जैसे अपने (स्वाभाविक) कर्म में भली भान्ति अच्छी तरह से लगा हुआ (पुरुष) इस सद्धि को प्राप्त होता है, उस को (मुझ से तू) सुन ॥ ४५ ॥

व्याख्या—बढ़ई वंश में उत्पन्न हुआ पुरुष बढ़ई के काम में जितना

सिद्ध हस्त और दक्ष होता है उतना दूसरे वंश वाला बढ़ई के काम में सफल नहीं होता, इसी प्रकार परम्परा से जो जिस का स्वाभाविक कर्म है वह उसे करता हुआ सिद्धि को सहज ही प्राप्त हो जाता है । पंजाब में यह एक कहावत बहुत ही प्रसिद्ध है—

जिसका काम उसी को साजे ।
और करे तो ठींगा बाजे ॥"

अर्थात् जिस पुरुष का जो स्वाभाविक कर्म है। उस को करने से उस पुरुष को सहज ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है परन्तु जिसका वह कर्म स्वाभाविक नहीं है। उस को उस कर्म के करने पर संसिद्धि प्राप्त नहीं होती। भगवान् अब अर्जुन को वह विधि या ढंग बतलाना चाहते हैं जिस के अनुसार आचरण करने से कर्म करने वाले को परमं सिद्धि प्राप्त हो जाती है। यदि सब लोग अपने अपने कर्मों को त्याग कर एक ही कर्म करने लगें तो सारे संसार की मर्यादा ही बिगड़ जाए यह संसार चारों वर्णों के कर्मों की भिन्नता के कारण ही स्थिर रहता है ॥ परन्तु प्रत्येक वर्ण का प्रत्येक पुरुष अपने स्वाभाविक कर्म को करता हुआ परम सिद्धि मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। परन्तु उस की प्राप्ति के लिये जो विशेष विधि है, यदि उस को ध्यान पूर्वक सुन लिया जाए, तब ही परम सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

यतः प्रवृत्ति+भूतानाम+येन सर्वम्+इदम्+ततम् । स्वकर्मणा तम् +अभ्यर्च्य सिद्धिम्+विन्दति मानवः ॥

यतः=(अव्यय) यद्+तसिल्=यतस्=जिस से ।

[यस्मात् अन्तर्यामिणः ईश्वरात्=जिस अन्तर्यामी ईश्वर से —श्री शंकराचार्य जी]

प्रवृत्तिः=(स्त्री०) प्र √वृत+क्तिन्+प्र० ए० व०=(उत्पत्तिः चेष्टा वा)। उत्पत्ति । चेष्टा । प्राकट्य । प्रारम्भ ।

भूतानाम्=(नपुं०, षष्ठी० ब० व०=भूतों की। प्राणियों की (हुई या होती है)।

येन=यद् (सर्व०)+(पुं०) तृती० ए० व०=जिस से। जिस ईश्वर से।

सर्वम्=(सर्व०) नपुं० प्र० ए० व०=सारा। सम्पूर्ण ।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह (जगत्)।

ततम्=(वि०) √तन् (तना० उभ० सक०=फैलना। फैलाना। ढकना। व्याप्त होना)+क्त+(नपुं०) ए० व०=फैला हुआ है । फैलाया गया है। ढका हुआ है। व्याप्त है।

स्व-कर्मणा=(नपुं०) स्वेन कर्मणा (तृती० तत्पु०) अपने कर्म से । अपने (स्वाभाविक) कर्म द्वारा । अपने को पूरा करने द्वारा ।

तम् =तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उस को । उस (ईश्वर) को ।

अभ्यर्च्य=अभि √अर्च (भ्वा० उभ० सक०+पूजा करना)+ल्यप्= पूज कर ।

सिद्धिम्=(स्त्री०) द्विती० ए० व०=सिद्धि को ।

विन्दति=√विन्द्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=पाता है ।

मानवः=(पुं०) मनोः अपत्यम् । मनोः गोत्रापत्यं पुमान्, मनु+अण् प्र० ए० व०=मनुष्य ।

अर्थ—जिस (अन्तर्यामी ईश्वर) से (सारे) भूतों (आकाशादि पदार्थों और प्राणियों) की प्रवृत्ति (उत्पत्ति या चेष्टा हुई है, या होती हैं ।) (और) जिस (ईश्वर) से यह सारा संसार व्याप्त है । उस (ईश्वर) को अपने (स्वाभाविक) कर्म से पूज कर मनुष्य (परम) सिद्धि (मोक्ष) को पा लेता है ॥ ४६ ॥

व्याख्या—केवल भगवान् ही इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारण हैं क्योंकि वे सर्व-शक्तिमान्, सर्वाधार, सर्व-प्रेरक, सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी और सर्व-व्यापी है । यह सारा संसार उन्हीं की रचना है और वे स्वयं ही अपनी योग माया से जगत् के रूप में प्रकट हुए हैं । ये सब जीव कपड़े से बनी हुई उन गुड़ियों या पुत्तलियों की तरह माया की गुण रूपी धज्जियों से बने हुए हैं जिन को सर्वान्तर्यामी सूत्रधार नट-नागर तीन गुणों की बटी हुई डोरी से बाँध कर नचा रहा है । श्रुति में कहा है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रत्यन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ॥"

(**अर्थ**—हे भृगु ! जिस कारण रूप वस्तु (ईश्वर) से आकाशादि ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं और ये सब उत्पन्न हुए भूत जिस कारण रूप वस्तु (ईश्वर) के द्वारा जीवित रहते हैं तथा विनाश को प्राप्त होते हैं और वे सारे भूत जिस कारण रूप वस्तु में लय हो जाते हैं । सो तू उस कारण रूप वस्तु को "ब्रह्म" जान और उस ब्रह्म का तू विचार कर) ॥

जिस ब्रह्म से इस सम्पूर्ण प्राणिमात्र की प्रवृत्ति हुई है और जिसने सारे जगत् का विस्तार किया है अथवा जिस से समस्त जगत् व्याप्त है । उसने ही सृष्टि के व्यवहारों को सरलता से चलाने के लिए चातुर्वर्ण्य आदि की व्यवस्था और रचना की है इसी से भगवान् ने स्वयं ही कहा है कि "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः (गी० ४।१३)" इसलिए यह परमेश्वर की ही इच्छा है कि प्रत्येक मनुष्य अपने अपने कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए कर्म करता रहे । जिस से उसका लोक-संग्रह भी हो और समाज का कल्याण भी हो । इस प्रकार सृष्टि

के रचना-कार्य में प्रत्येक मनुष्य का योगदान होता रहे। यदि कोई मनुष्य अपने उस कर्म को नहीं करता जो परमेश्वर द्वारा उसके लिए नियत किया गया है तो वह अपने मालक की आज्ञा की अवज्ञा करता है। जो पुरुष अपने किए जा रहे कर्मों को अहंकार-बुद्धि से अपने द्वारा किए हुए समझता है अथवा अपने स्वार्थ के लिए किए जा रहे मानता है। उस भले बुरे कर्मों का फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। परन्तु यदि ये सब कर्म स्व-धर्म जान कर, अपना कर्त्तव्य मान कर तथा परमेश्वरार्पण भाव से किए जाते हैं तो परम सिद्धि या मोक्ष को प्राप्त कराने वाले बन जाते हैं क्योंकि फलाशा को छोड़ कर भगवद्-अर्पण कर्म करना परम भक्ति मानी जाती है। सब को परमेश्वर में अपने सब स्वार्थों का लय करके स्वधर्मानुसार प्राप्त व्यवहार को परमार्थ-बुद्धि से और वैराग्य से लोक-संग्रह के लिए अवश्य करना चाहिए। जैसे ज्ञान और निष्काम-कर्म का कोई विरोध नहीं है, वैसे ही भक्ति और भगवदर्पण बुद्धि से किए गए कर्मों में कोई विरोध नहीं है। ज्ञानी पुरुष भी जगत् के सर्व-कर्म करता है, परन्तु 'जल में कमल-पत्र के समान' अलिप्त रहता है।

साधारण मनुष्य के केवल वाणी, चन्दन, धूप दीप और पुष्प आदि अर्पण करने से ही ईश्वर प्रसन्न नहीं होता बल्कि उस के स्वधर्मानुसार निष्काम-कर्म करने से भी ईश्वर की पूजा और उपासना होती है। इस लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वधर्मानुसार कर्मों से परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए। इस से परमेश्वर की सेवा होती है और कर्म करने वाले को शुभ-गति प्राप्त होती है। इस प्रकार कर्म-योग द्वारा ज्ञान-मार्ग का मिलाप भी हो जाता है और यह मार्ग बुद्धि गम्य होने से इस पर चल कर अल्प-बुद्धि नर भी तर जाते हैं क्योंकि जैसे पतिव्रता नारी पति को ही सर्वस्व मान कर उसका चिन्तन करती है और उसी की आज्ञानुसार उसी के लिए ही सारे कर्म करती है वैसे ही सब मनुष्यों को परमेश्वर को ही सर्वस्व समझ कर उस का चिन्तन करते हुए उस की आज्ञानुसार उसी के लिए ही सारे कर्म करते जाना चाहिए। यही ईश्वर की सब से बड़ी पूजा है और यही उस की सब से बड़ी अर्चा है। इस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धि तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है और अन्त में मोक्ष मिल जाता है॥ ४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

श्रेयान्+स्व-धर्मः+विगुणः पर-धर्मात्+सु+अनुष्ठितात्। स्वभाव-नियतम्+कर्म कुर्वन्+न+आप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

श्रेयान्=(वि०) अतिशयेन प्रशस्यः, प्रशस्य+ईयसुन् (ईयस्), 'श्र' आदेश= श्रेयस्+(पुं०) प्र० ए० व०=श्रेयान्। प्रशस्यतर। श्रेष्ठतर। उत्कृष्टतर।

स्व-धर्मः=(पुं०) स्वः धर्मः स्वस्य धर्मः वा=अपना धर्म। (प्र० ए० व०)। अपना कर्त्तव्य।

विगुणः=(वि०) विगतः विपरीतो वा गुणो यस्य (बहुव्री० प्र० ए० व०)। गुण विहीन। गुण रहित। विगुण।

पर-धर्मात्=(पुं०) परस्य धर्मः, तस्मात् (षष्ठी० तत्पु०, पंच० ए० व०)= दूसरे के धर्म से। दूसरे के कर्त्तव्य से।

सु+अनुष्ठितात्=(वि०) सु-अनु√स्था=क्त+(पुं०) पंच० ए० व०=अच्छी तरह से अनुष्ठान किए हुए से। अच्छी तरह आचरण किए हुए से। अच्छी तरह आजमाए हुए से।

स्वभाव-नियतम्=(वि०) स्वभावेन नियतम् (तृती० तत्पुरुष) (पुं०) द्विती० ए० व०=स्वभाव से नियत किए हुए को। स्वभाव-जन्य को [नि√यम्+क्त=नियत] शास्त्रों द्वारा स्थिर किए हुए को। भगवान् द्वारा स्थिर किए हुए को।

कर्म=(नपुं०) कर्मन् (द्विती० ए० व०=कर्म को।

कुर्वन्=√कृ+शतृ=कुर्वत्+(पुं) प्र० ए० व०=करता हुआ (पुरुष)।

न=न। नहीं।

आप्नोति=√आप् (स्वा० पर० सक०=पाना, प्राप्त करना)+लट्०, प्र० पु० ए० व०=प्राप्त होता है।

किल्बिषम्=(नपुं०)√किल+टिषच्, वुक+द्विती० ए० व०=किल्बिष को। पाप को।

अर्थ—अपना गुण रहित धर्म भी दूसरे के अच्छी तरह अनुष्ठान किए हुए धर्म से श्रेष्ठतर होता है (क्योंकि) स्वभाव से नियत किए हुए (धर्म रूप) को करता हुआ (पुरुष) पाप को नहीं प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! झूठ बोलना, हिंसा करना, कपट व्यवहार, ठगी, चोरी, व्यभिचार, आदि निषिद्ध कर्म तो किसी के भी धर्म नहीं हैं, इसलिए इन सब का तो त्याग ही किया जाना चाहिए, परन्तु मैंने जो चारों वर्णों के कर्म पहले तुम्हें बतलाए हैं वे तो करने ही चाहिएँ इससे लोक-मर्यादा बनी रहती है और संसार का कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है तथा गड़बड़ या अशान्ति उत्पन्न नहीं होती। हे अर्जुन ! तू क्षत्रिय है तुझे जो इस अपने युद्ध करने के कर्म में दोष दिखाई देता है कि "इस से मेरे सब सम्बन्धी मारे जाएँगे और मुझे कुल-नाश का पाप लगेगा इस से तो भिक्षा माँग कर निर्वाह कर लेना श्रेष्ठतर है।" ऐसा समझना तेरी सरासर भूल है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के लिए अपना धर्म या कर्त्तव्य ही श्रेयस्कर और श्रेष्ठतर होता है चाहे उस में हज़ार अवगुण और कठिनाइयाँ भी क्यों न हों ? अपनी माता चाहे चिपड़ी और

कुरूपा भी क्यों न हो, वही लालन पालन और प्यार करने वाली होती है। दूसरे की रम्भा तुल्य सुन्दर माता भी ऐसा नहीं करती है। यद्यपि जल की अपेक्षा घी अति श्रेष्ठ और बहुमूल्य पदार्थ होता है परन्तु उससे न स्नान किया जाता है, न वस्त्र धोए जाते हैं। अग्नि का कीड़ा अग्नि में ही रह सकता है। पानी में नहीं। विष का कीड़ा विष द्वारा ही पालित हो सकता है। चीनी या गुड़ द्वारा नहीं। इसलिए जिस के लिए जो कर्म स्वभावानुकूल है, उस का कल्याण उसी के करने से होता है। चाहे वह श्रेष्ठतर है चाहे उस में कोई त्रुटि या कठिनाई है, इस बात की परवाह न करनी चाहिए॥ दूसरों के धर्म का आचरण करना प्रायः भय-प्रद ही सिद्ध होता है तथा जब वह पूरा नहीं होता तो साधारण जन फबती उड़ाते हुए कहने लगते हैं कि "कौआ चला हंस की चाल, भूल गया अपनी भी चाल।" कुछ समय की बात है कि हमारे ग्राम में एक गुणी ज्ञानी पण्डित जी अपनी मंडली सहित आ गये और उन्होंने कई दिन तक अपने मधुर गायन और सद्धर्म के उपदेश से अमृत वर्षा की, जिसे पान करने के लिए सारे ग्राम के नर नारी एकत्रित होते थे इसे देख कर एक भाई महाशय जल भुन कर कोयला हो गए और इस उपदेशक मण्डली के चले जाने के बाद लालटैन और अपनी पोथी लेकर बैठ गए और अटक-अटक कर बड़ी कठिनाई से अक्षरों को भूलते-भालते बे-सुरे ढंग से शब्दोच्चारण करने लगे यह देख कर एक युवक ऊँचे स्वर से फबती उड़ाते हुए बोला—देखो! देखो!! कौआ अपनी दुम में मोर के पंख बाँध कर क्या अच्छा नाच और गायन कर रहा है यह सुन कर भाई जी अपना नाटक समाप्त करके लज्जित होते हुए उठ कर चले गये। कहने का भाव यह है कि जो दूसरे के धर्म को श्रेष्ठ समझ कर उस का आचरण करता है वह अपने कर्म या धर्म से भी पतित हो जाता है और दूसरे धर्म से भी उसे कोई लाभ नहीं होता कोई विहित कर्म भी निन्दनीय नहीं होता यदि भंगी द्वारा टट्टी उठाना कोई बुरा समझता है तो प्रत्येक उस माता को क्या कहा जाएगा जो दिन में कई बार अपने बच्चे की टट्टी उठाती और उसे जल से धोकर साफ करती है और हम में से प्रत्येक व्यक्ति नित्य प्रातः काल टट्टी होकर अपने हाथों से टट्टी लगी गुह्य को जल से धोता है। यदि मरे हुए पशुओं को बाहर फैंकने और उन की खाल उतारने वालों को तुम बुरा समझते हो तो उन सब सम्बन्धियों को तुम क्या कहोगे जो अपने मृतक बन्धुओं को श्मशानों में ले जाकर जलाते हैं। उन डाक्टरों को क्या बुरा कहा जाएगा? जो रोगियों को टीके लगाते हैं, उन के अंगों की आपरेशन द्वारा चिकित्सा करते हैं या मृतक शरीरों का पोस्ट मार्टम या चीर-फाड़ करते हैं। यदि कोई दाया प्रसूति गृह में जाकर बच्चा जनने में शिशु-जननी की सहायता न करे तो संसार की वृद्धि कैसे हो सकती है? यदि पशु-चिकित्सक लोग निन्दनीय कर्म समझ कर पशु-चिकित्सा के निमित्त पशुओं

की चीर-फाड़ न करें तो अनेक पशु काल-कवल बन जाएँ। इस से प्रकट होता है कि जो जिस का कर्म या कर्त्तव्य है वही उस के लिए श्रेयस्कर होता है चाहे उस में कितने ही दोष और त्रुटियाँ भले ही हों। महाभारत के वन-पर्वान्तर्गत व्याध-ब्राह्मण-संवाद में—माँस बेचने वाले व्याथ ने किसी ब्राह्मण को यह कहा था कि स्वधर्म के अनुसार निष्काम-बुद्धि से आचरण करने से मोक्ष मिल जाता है। मैं भी यह माँस-विक्रय कर्म इसी बुद्धि से करता हूँ। जिस से मुझे परब्रह्म का वह साक्षात्कार प्राप्त हुआ है जिसे तुम देख रहे हो। जाओ, घर को लौट जाओ और मोक्ष-प्प्ति के लिए अपने कर्त्तव्य कर्म का पालन करो।

इस से सिद्ध होता है कि जिस की बुद्धि निज स्वभाव जन्य कर्म करते करते सम, स्थिर और निर्मल हो जाती है, फिर वह चाहे लोहार हो. चमार हो, सुनार हो, कुम्हार हो, चाहे नाई या कसाई हो, चाहे दर्जी या बनिया हो, चाहे किसी भी जाति, धर्म या देश का हो ईसाई हो मुसलमान हो, पार्सी या यहूदी हो। किसी भी मनुष्य की योग्यता उस के धन्धे पर, व्यवसाय पर अथवा जाति पर अवलम्बित नहीं होती किन्तु सर्वथा उस के अन्त:करण की शुद्धि पर निर्भर होती है और इस श्लोक में भगवान् के कथन का यही अभिप्राय भी है। इस प्रकार किसी समाज के सब लोगों के लिए परमपद मोक्ष के द्वार खोल देने से उस समाज में जो एक प्रकार की विचित्र जागृति उत्पन्न होती है। उस से संसार का कल्याण होता है और भगवान् की जगत्-प्रसार की इच्छा की पूर्ति होती है। मनुष्य को भगवान् के कथनानुसार सदा सुख-दुःख, लाभ-अलाभ और जय-अजय को सम समझ कर अपने विगुण कर्त्तव्य कर्म को भी करते रहना चाहिए क्योंकि वह उस का स्वभाव नियत कर्म होता है। दूसरों का सुन्दर भवन देख कर कोई बुद्धिमान् पुरुष अपने कच्चे घर को गिरा नहीं देता। चलना केवल पाँवों का कर्म है जो मूर्ख पाँवों को छोड़ कर सिर के बल चलने का प्रयास करता है वह मुँह के बल गिरता है। पानी पीना मुख का कर्त्तव्य है न कि नाक का। भाव यह कि अपने अपने धर्मानुसार कर्त्तव्य, कर्म करना ही प्रत्येक मनुष्य के लिए श्रेष्ठतर और मोक्ष को प्राप्त करवाने वाला होता है ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता: ॥ ४८ ॥

सहजम्+कर्म कौन्तेय! सदोषम्+अपि न त्यजेत्। सर्व+आरम्भा: +हि दोषेण धूमेन+अग्नि:+इव+आवृता: ॥

सहजम्=(वि० नपुं०) सह जन्मना एव उत्पन्नम्=सहजम् सह जायते, सह-√जन्+ड्=सहज+द्वितीo एo वo=स्वभाव सिद्ध को। जन्म के

साथ उत्पन्न हुए को। स्वभाविक को। नियत को। कर्त्तव्य को। स्वभावज को।

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+द्विती० ए० व०=कर्म को।

कौन्तेय !=हे (भूआ कुन्ती के पुत्र) अर्जुन !

सदोषम्=(वि०) सह दोषेण यः सः (बहुव्री०) सहस्य सः। दोष युक्त। दोष सहित।

अपि=(अव्यय) भी।

न=न। नहीं।

त्यजेत्=√त्यज् (भ्वा० पर० सक० अक०=छोड़ना। त्यागना।)+विधिलिङ् प्र० पु० ए० व०=छोड़ना चाहिए। त्यागना चाहिए। छोड़े। त्यागे।

सर्व-आरम्भाः=(पुं०) [आरभ्यन्ते इति, आ√रभ्+घञ् मुम् च=आरम्भ +प्र० ब० व०=आरम्भ।]। सर्वाणि कर्माणि। सारे कर्म।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

दोषेण=(पुं०)√दुष्+घञ्+तृती० ए० व०=दोष से। त्रुटि से। कलङ्क से। भूल से ग़लती से। हानि से।

धूमेन=(पुं०)√धू (क्र्या० भ्वा० उभ० सक०। स्वा०, तुदा० पर० सक० =कांपना)+मक्=धूम+तृती० ए० व०=धूएँ से।

अग्निः=(पुं०)√अङ्ग+नि, न (=ङ) लोप=अग्नि+प्र० ए० व०=अग्निः। आग।

इव=(अव्यय) सदृश।

आवृताः=(वि०) आ√वृ+क्त+(पुं०) प्र० ब० व०=आवृत हैं। ढके हुए हैं। लिपटे हुए हैं। घिरे हुए हैं।

अर्थ—हे कुन्ती पुत्र (अर्जुन)! स्वाभाविक, दोषयुक्त कर्म को भी न त्यागना चाहिए। क्योंकि धूएँ से अग्नि के सदृश समस्त कर्म दोष से आवृत हैं॥ ४८॥

व्याख्या—राष्ट्र के निर्माण और लोक संग्रह के लिए सब प्रकार की सेवाओं की आवश्यकता अनिवार्य रूप से होती है। देश के बालकों को शिक्षित करने के लिए बुद्धिमानों और विद्वानों की आवश्यकता होती है धर्म के कार्य कराने और संस्कारों को सुचारु रूप से करवाने के लिए कर्मठ गुरुओं की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार देश की रक्षा करने वाले वीर योधा लोग भी होने चाहिएँ। शासन को चलाने के लिए नीतिज्ञ लोग होने चाहिएँ। विधि और नियमों को बनाने और सुधारने के लिए वकील और विधिज्ञ लोग

भी होने जरूरी हैं। चतुर किसान यदि खेती करने वाले न हों तो उपजाऊ भूमि होने पर भी देश के लोग भूखे मर जाएँ। यदि बुद्धिमान् व्यापारी लोप हो जाएँ तो उपज और शिल्प की वस्तुएँ उपभोक्ता लोग बहुत कम प्राप्त कर सकें। इसी प्रकार नौकर-चाकर, सफ़ाई करने वाले, गृह निर्माण करने वाले वस्त्र बुन कर, पोलीस के कर्मचारी, परिवहन साधनों के साधक, धोबी, चमड़ा उतारने वाले, जूते तैयार करने वाले, डाक्टर, वकील, दस्तकार, विज्ञानवेत्ता इत्यादि नाना प्रकार के लोग लोक सेवा और देश सेवा करते हैं।

जब बालक का जन्म होता है तो वह अपने जन्म के साथ ही ऐसे संस्कारों को साथ ले कर संसार में आता है, कि जिन के द्वारा वह बड़ा हो कर संसार में कर्म करता है उसकी शिक्षा-दीक्षा उसमें उस कर्म को करने की योग्यता उत्पन्न कर देती है। उसको साथियों की संगति और इर्द-गिर्द के वातावरण से भी प्रभावित होना पड़ता है और शास्त्र विहित कर्म करने के लिये उसे उपरोक्त संस्कारों से सहायता मिल जाती है। यही उस का सहज कर्म होता है। यद्यपि संसार में कोई भी कर्म दोष रहित नहीं है। सब कर्मों में कोई न कोई बुराई अवश्य होती है। जिस प्रकार कि किसी भी स्थान पर जलती हुई अग्नि के साथ धुएँ का अंश अवश्य होता है क्योंकि कर्म का होना प्रकृति के गुणों, शरीरों, इन्द्रियों, मनों और बुद्धियों से सम्बन्धित है और ये सब मायाजन्य होने के कारण दोष युक्त हैं। इसलिए इनसे उत्पन्न होने वाले कर्म भी दोष वाले ही होते हैं और इन कर्मों का स्वरूप से त्याग करना असम्भव है और ईश्वर इच्छा के विरुद्ध भी है। भगवान् तो स्वयं भी कर्म करते हैं जिस की पुष्टि उनके अपने इन शब्दों से होती है—

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ [गी० ३।२२, २३]

इस लिये प्रत्येक पुरुष को अपना सहज कर्म अवश्य करते रहना चाहिए, चाहे उसमें उसे दोष या त्रुटि ही क्यों न दिखाई देती हो क्योंकि धूएँ से ढकी हुई अग्नि की भान्ति प्रत्येक कर्म में कुछ न कुछ दोष अवश्य होता है। सहज कर्म करने से मनुष्य को सिद्धि या सफलता मिल जाती है क्योंकि जब यह सहज कर्म, निष्काम भाव और ईश्वरार्पण करके किया जाता है, तो अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है जो मोक्ष प्राप्ति के लिये सीढ़ी बन जाया करती है॥ ४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥

असक्त-बुद्धिः सर्वत्र जित+आत्मा विगत-स्पृहः । नैष्कर्म्य-सिद्धिम्+परमाम्+संन्यासेन+अधिगच्छति ॥

असक्त-बुद्धिः=(वि०) असक्ता (सङ्गरहिता) बुद्धिः (अन्तःकरणं) यस्य सः (बहुव्री०)=आसक्ति रहित बुद्धि वाला । [पुत्र, स्त्री आदि जो आसक्ति के स्थान हैं, उन सब में प्रीति से रहित हुए अन्तःकरण वाला । (पुं०) प्र० ए० व० ।

सर्वत्र=(अव्यय) सर्व+त्रल्=सब जगह । सब समय ।

जित+आत्मा=(वि०) (पुं०) प्र० ए० व० जितः (वशीकृतः) आत्मा (अन्तःकरण) यस्य सः (बहुव्री०)=जीते हुए आत्मा (अन्तःकरण) वाला । अपने को जीता हुआ ।

विगत-स्पृहः=(वि०) विगता स्पृहा (तृष्णा देह-जीवित-भोगेषु) यस्मात् सः (बहुव्री०)=(शरीर, जीवन और भोगों से) नष्ट हुई स्पृहा (तृष्णा) वाला । दूर हुई इच्छाओं वाला । स्पृहा रहित । इच्छा रहित । (पुं०) प्र० ए० व० ।

नैष्कर्म्य-सिद्धिम्=(स्त्री०) द्विती० ए० व० । निर्गतानि कर्माणि यस्मात् [निष्क्रिय-ब्रह्मात्म-संबोधात्] स निष्कर्मा, तस्य भावः=नैष्कर्म्यम् । नैष्कर्म्यं च तत् सिद्धिः च सा=नैष्कर्म्य-सिद्धिः ताम् ।

नैष्कर्म्यस्य वा सिद्धिः (निष्क्रियात्म-स्वरूपावस्थान-लक्षणस्य सिद्धिः निष्पत्तिः) ताम् (इति श्री शंकरा०) ।

अर्थ—निष्क्रिय (कुछ भी न करने वाला) 'ब्रह्म' ही आत्मा है, ऐसा ज्ञान होने के कारण जिस के समस्त कर्म समाप्त हो चुके हैं, वह पुरुष 'निष्कर्मन्' या 'निष्कर्मा' कहलाता है और उसके भाव का नाम "नैष्कर्म्य" होता है तथा नैष्कर्मता रूप सिद्धि का नाम ही "नैष्कर्म्य-सिद्धि" है ।

अथवा निष्क्रिय आत्म-स्वरूप से स्थित होना रूप निष्कर्मता का सिद्ध होना ही "नैष्यकर्म्य-सिद्धि" है, उसको । नैष्कर्म्य सिद्धि को । कर्मफल-त्याग रूप सिद्धि को । निष्फल, निष्क्रिय और शान्ति रूप सिद्धि को ।

परमाम्=(वि०, स्त्री०, द्विती०, ए० व०) परम को । महान् को ।

संन्यासेन=(पुं०) सम्-नि√अस्+घञ्=संन्यास+तृती०, ए० व०=संन्यास से । यथार्थ ज्ञान के द्वारा । सांख्य योग के द्वारा ।

अधिगच्छति=अधि√गम् (भ्वा० पर० सक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है ।

अर्थ—सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धि वाला, जीते हुए अन्तःकरण वाला और दूर हुई इच्छाओं वाला (आत्म-ज्ञानी पुरुष) यथार्थ ज्ञान के द्वारा परम-नैष्कर्म्य-

सिद्धि को प्राप्त होता है (अर्थात् वह सर्व कर्तव्य कर्मों को करता हुआ भी—मन से त्याग कर—न करता हुआ और न करवाता हुआ हो जाता है—'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य नैव कुर्वन्न कारयन्नास्ते') ॥ ४९ ॥

व्याख्या—जो आत्म ज्ञानी सम दृष्टि हो गया है। न किसी को अपना पुत्र समझता है और न किसी नारी को अपनी स्त्री मानता है तथा न किसी अन्य सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है, जो किसी के भी जन्मने और मरने से किंचिन्मात्र भी प्रभावित नहीं होता। सब को सम दृष्टि से देखता है। न उसका कोई अपना है न कोई बेगाना है। इस प्रकार जिस ने सब कहीं से आसक्ति को आकर्षित कर लिया है तथा जिसने सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग दिया है। संसार में जिसकी कोई इच्छा भी पूरी होनी शेष नहीं रही है, न धन की रुचि रही है, न भूमि की चाहना है, न रहने के लिए कोठी या बंगले की वासना है, न चढ़ने के लिये सुन्दर नवीन कार की आवश्यकता है। न रुचिकर और स्वादु भोजनों तथा पेय पदार्थों में दिलचस्पी है, न वनितादिक किसी भोग का आकर्षण ही शेष रह गया है। इस प्रकार जो सब प्रकार की स्पृहा से निवृत्त हो चुका है तथा जिस का अन्त:करण पूरी तरह से अपने वशीभूत हो चुका है। जिस का मन डब्बू कुत्ते की भान्ति आवारा हो कर कभी इधर उधर नहीं घूमता है। "मन जीते जग जीते" का अर्थ जिस के जीवन को देख कर सब की समझ में आ रहा है। ऐसा पुरुष कर्मों को करता हुआ दिखाई देता है परन्तु वास्तव में न वह किसी कर्म को करता है और न ही किसी से करवाता है क्योंकि उसे किसी अपने किये हुए या दूसरे के द्वारा करवाए जा रहे कर्म के फल की कोई आकांक्षा नहीं होती। उस के सारे कर्म तो श्वास-निश्वास की भान्ति सहज-स्वभाव ही हुआ करते हैं किसी दिलचस्पी या मन की लग्न के कारण से नहीं होते। वह कर्म करता हुआ भी निष्क्रिय होता है। उसका तन सदा कार में और मन सदा यार में लगा रहता है। इस प्रकार के संन्यास या यथार्थ ज्ञान के द्वारा वह निष्कामता या नैष्कर्म्य रूपी परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता हैं और जीवन-मुक्त बन जाता है ॥

यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिए कि सब कर्मों की निवृत्ति रूप परम-सिद्धि संग-दोष और फल के त्याग से निष्काम बुद्धि से कर्त्तव्य कर्म करते रहने वाले ब्रह्म-ज्ञानी या आत्म-दर्शी पुरुष को स्वत: प्राप्त हो जाती है। इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं है ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

सिद्धिम्+प्राप्त:+यथा ब्रह्म तथा+आप्नोति निबोध मे। समासेन+एव कौन्तेय! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥

सिद्धिम्=(स्त्री०)√सिध्+क्तिन्+द्विती० ए० व०=सिद्धि को।
प्राप्तः=(वि०) प्र√आप्+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=प्राप्त हुआ (पुरुष)।
[अपने कर्मों से ईश्वर की पूजा करके, उसकी कृपा से उत्पन्न हुई शरीर और इन्द्रियों की ज्ञाननिष्ठा-प्राप्ति की योग्यता रूप सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष]।
यथा=(अव्यय) जैसे। जिस प्रकार। जैसा।
ब्रह्म=(नपुं०) ब्रह्मन्+द्विती० ए० व०=ब्रह्म को। सच्चिदानन्दघन परमेश्वर को।
तथा=(अव्यय) वैसे। उसी प्रकार।
आप्नोति=√आप् (स्वा० पर० सक०=प्राप्त होना। प्राप्त करना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।
निबोध=नि√बुध् (भ्वा० उभ० सक०)+लोट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) जान।
मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरे से। मुझ से।
समासेन=(पुं०) सम्√अस्+घञ्+तृती० ए० व०=समास से। संक्षेप से।
एव=(अव्यय) ही। भी।
कौन्तेय!=हे कुन्ती के पुत्र (अर्जुन)!
निष्ठा=(स्त्री०) नि√स्था+अङ्-टाप्+प्र० ए० व०=स्थिति। निष्ठा। अन्तिम अवधि। परम अवधि।
ज्ञानस्य=(नपुं०) षष्ठी०, ए० व०=ज्ञान की।
या=यद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र०, ए० व०=जो।
परा=(वि०, स्त्री०) प्र० ए० व०=परा। सब से परे की। अत्यन्त श्रेष्ठ॥

अर्थ—हे कुन्ती-पुत्र (अर्जुन)! (नैष्कर्म्य) सिद्धि को प्राप्त हुआ (पुरुष) जैसे (यथार्थ ज्ञान से) पर-ब्रह्म परमेश्वर को जो ज्ञान की परानिष्ठा है, प्राप्त होता है, वैसा संक्षेप से तू मेरे से जान।

[अथवा जैसे परमात्मा को प्राप्त होता है और जो तत्त्वज्ञान की ठीक स्थिति है, उसको भी मुझ से संक्षेप पूर्वक जान]॥ ५०॥

व्याख्या—हे अर्जुन तू मेरा परम प्रिया सखा और मेरी भुआ कुन्ती का अर्थात् फुफ्फी से उत्पन्न हुआ भ्राता है। मैं तुझ से छिपा कर कुछ भी रखना नहीं चाहता। इसलिए तू मेरे वचनों को ध्यान से सुन। महापुरुषों के कहे हुए वचन सीमित और थोड़े शब्दों से युक्त सारगर्भित, गम्भीर और व्यापक तथा विस्तृत अर्थ से भरे हुए होते हैं जो सुनते ही समझ में नहीं आते। इसलिए उन

को बड़े ध्यान से सुनना चाहिए ताकि गहरे जल के तल में पैठने वाले पुरुष की भान्ति ब्रह्मज्ञान रूपी मोती मिल सकें। जब संन्यास या यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होने पर धुल कर अन्त:करण सब पापासंस्कारों से रहित हो जाता है तो पुरुष को नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में उस में ज्ञान-निष्ठा की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य के निकलने से अन्धकार शेष नहीं रहता। इसी प्रकार इस सिद्धि के प्राप्त होने पर अज्ञानान्धार नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार सोये हुए मनुष्य के जाग उठने पर निद्रा और स्वप्न दोनों ही नाश हो जाते हैं, उसी प्रकार इस सिद्धि की प्राप्ति हो जाने पर मोह और अज्ञान दोनों दूर हो जाते हैं। द्वैत बुद्धि का नाश हो जाता है। ऐक्य-रूप-आत्म-प्रतीति होने लगती है। नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त पुरुष अर्थात् शुद्धान्त: करण वाला अधिकारी पुरुष जिस विधि से परमात्मा को प्राप्त होता है। उस विधि को भगवान् अब वर्णन करना चाहते हैं। कई टीकाकारों के मत में तो ब्रह्म की प्राप्ति ही परा-निष्ठा है और कुछ टीकाकार उस परम ज्ञान को परा-निष्ठा कहते हैं, जिस के द्वारा पर-ब्रह्म की प्राप्ति होती है॥ सो भगवान् इस परानिष्ठा का भी वर्णन करने लगे हैं परन्तु उसे संक्षेप से सुनाने की प्रतिज्ञा करते हैं, कारण यह है कि विस्तारपूर्वक कही हुई बात को तो एक साधारण और असावधान पुरुष भी समझ लेता है परन्तु सूत्र रूप में संक्षिप्त कही हुई बात को तो विज्ञ और सावधान पुरुष ही समझ सकता है। तू तो कुन्ती का पुत्र अर्जुन है इसलिए इस का समझना तेरे लिए कौन सा कठिन काम है, परन्तु तो भी इस को तू सावधान हो कर ध्यान से श्रवण कर अर्थात् जिस ज्ञान-निष्ठा के प्रकार को जान लेने से साधक ब्रह्म को पाता है उस प्रकार (अर्थात् ज्ञान-निष्ठ-प्राप्ति के क्रम) में युक्त तू मेरे वचनों को निश्चय-पूर्वक सुन॥ ५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस:।
ध्यानयोगपरोनित्यं वैराग्यं समुपाश्रित:॥ ५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५३॥

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्त:+धृत्या+आत्मानम्+नियम्यच। शब्द-आदीन्+विषयान्+त्यक्त्वा राग-द्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥

विविक्त-सेवी लघु+आशी यत-वाक्+काय-मानस: ध्यान-योग-पर:+नित्यम्+वैराग्यम्+समुपाश्रित:॥ ५२॥

अहङ्कारम्+बलम्+दर्पम्+कामम्+क्रोधम्+परिग्रहम्। विमुच्य

निर्ममः शान्तः+ब्रह्म-भूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

बुद्ध्या=(स्त्री०)√बुध्+क्तिन्=बुद्धि+तृती० ए० व०=बुद्धि से।

विशुद्धया=(वि०, स्त्री) वि√शुध्+क्त=विशुद्ध+(स्त्री०) आ=विशुद्धा+तृती० ए० व०=विशुद्धया=शुद्ध की हुई से। अच्छी तरह शुद्ध की हुई से। विशुद्ध से।

युक्तः=(वि०)√युज्+क्त+(पुं०) प्र०, ए० व०=जुड़ा हुआ। युक्त हुआ। युक्त।

[कपट रहित निश्चयात्मिका बुद्धि से सम्पन्न पुरुष।]

धृत्या=(स्त्री०)√धृ (भ्वा० उभ० सक०=धारण करना)+तृती, ए० ब०=धृति से। धैर्य से। (सात्त्विक) धारणा से।

आत्मानम्=(पुं०)√अत+मनिण्=आत्मन्+द्विती० ए० व०=आत्मा को। अपने आप को। (कार्य-करण के संघात-रूप) आत्मा अर्थात् शरीर को।

नियम्य=नि√यम+ल्यप्=वश में करके। रोक कर। संयम करके। नियम में करके।

च=(अव्यय) और।

शब्द+आदीन्=(पुं०, द्विती० ब० व०) शब्द आदिः येषां ते शब्दादयः तान्। शब्द जिन में पहला है. उन सभी को। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि को।

विषयान्=(पुं०) वि√शी+अच्=विषय+द्विती०, ब० व०=विषयों को। लगे हुए ऐबों को। आश्रयों को।

त्यक्त्वा=√त्यज्+क्त्वा=त्याग कर। छोड़ कर। राग-द्वेषौ=(पुं०) द्विती द्वि० व०। रागः च द्वेषः च तौ (इतरेतर द्वन्द्व०)। राग और द्वेष इन दोनों को।

[राग=(पुं०)√रञ्ज् (दिवा०, भ्वा०, उभ० अक०=लाल होना। अनुरक्त होना। प्रेम में फँसना। सन्तुष्ट होना)+घञ्=राग। प्रगाढ भावना को। मैथुन सम्बन्धी भावना को। द्वेष=(पुं०)√द्विष् (अदा०, उभ०, सक०=वैर करना)+घञ्=द्वेष। घृणा। नफ़रत। शत्रुता।]

[प्रकरण के अनुसार यहाँ यह अभिप्राय है कि केवल शरीर-स्थिति-मात्र के लिए जिन विषयों की आवश्यकता है, उन के अतिरिक्त सुख-भोग के लिए जो अधिक विषय हैं। उन सब को छोड़ कर तथा शरीर-स्थिति के निमित्त प्राप्त हुए विषयों में भी राग-द्वेष का अभाव करके अर्थात् त्याग करके। (श्री स्वामी शंकराचार्य)]

व्युदस्य=वि-उद्√अस्+ल्यप्=अस्वीकृत करके। खारिज करके। फेंक कर। अभाव करके। अलग करके। नष्ट करके।

च=(अव्यय) और।

विविक्त-सेवी=वि०, पुं०) [अरण्य-नदी-पुलिन-गिरि-गुहादीन्] विविक्तान् देशान् सेवितुं शीलम् अस्य इति विविक्त सेवी=(वन, नदी-तीर, पहाड़ की कन्दरा आदि) विविक्त देश का सेवन करने वाला। एकान्त देश को सेवन करने के स्वभाव वाला (बहुव्री०) चुने हुए एकान्त स्थान में रहने वाला।

[विविक्त=(वि०) वि√विच् (रुधा० उभ० सक०=अलग करना। अलग करना। अकेले रहना)+क्त=विविक्त=एकान्त। विजन। निर्जन। लोगों से रहित हुआ (स्थल)। निर्जन या एकान्त स्थल।

सेवी=(वि०)√सेव्+णिनि=सेविन्+(पुं०) प्र० ए० व०=सेवन करने वाला।] एकान्त सेवन करने वाला।

लघु+आशी=(वि०) [√लङ्घ् (भ्वा० आत्म० सक०=लङ्घन करना)+कु, न लोप=लघु=हलका! छोटा थोड़ा।

आशी=(वि०) आ√अश् (क्र्या० पर० सक०=खाना)+णिनि=आशिन्+(पुं०) प्र० ए० व०=खाने वाला।] थोड़ा खाने वाला। अल्पाहारी। मिताहारी।

यत-वाक्+काय-मानसा: (वि०) वाक् च काय: च मानसं च यतानि (संयतानि) यस्य (बहुव्री०) प्र० ए० व०)। जीते हुए मन वाणी और शरीर वाला। वश में किए हुए वाणी, शरीर और मन वाला।

[यत=(वि०)√यम् (चुरा० पर० सक०=जीतना। दमन करना)+क्त =रोके हुए। जीते हुए। दमन किए हुए। वश में किए हुए।]

ध्यान-योग-पर:=(वि०) ध्यानम् आत्म-स्वरूप-चिन्तनम्, योग:=आत्म-विषये एव एकाग्री-करणम्, तौ ध्यान-योगौ परत्वेन कर्तव्यौ यस्य स:=ध्यान-योगपर: (बहुव्री० पुं०, प्र० ए० व०)। ध्यान-योग-परायण। ध्यान-योग के परायण हुआ। [आत्म स्वरूप के चिन्तन को 'ध्यान' कहते हैं और चित्त की एकाग्रता का नाम 'योग' है।]

नित्यम्=(वि०) नियमेन भव:, नि+त्यप्=प्रति दिन। सदा। नित्य। निरन्तर।

वैराग्यम्=(नपुं०) [वि√रञ्ज्+घञ्=विराग (पुं०)=अनुराग का अभाव] विराग+ष्यञ्=वैराग्य+द्विती० ए० व०=वैराग्य को। संसार से विरक्ति को। अनासक्ति को।

समुपाश्रित:=(वि०) सम-उप-आ√श्रि+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=अच्छी तरह आश्रय किए हुए ॥ ५२ ॥

अहङ्कारम्=(पुं०) द्वितीय० ए० व०=अहंकार को। [शरीर-इन्द्रिय आदि में अहं-भाव करने या मानने का नाम भी अहंकार होता है]।

बलम्=(नपुं०)√बल्+अच्+द्विती० ए० व०=बल को।
[इस श्लोक में शरीरादि की साधारण शक्ति का नाम बल नहीं है क्योंकि यह शक्ति तो स्वाभाविक होती है इस को कोई कैसे छोड़ सकता है। इस लिए यहाँ कामना और आसक्ति से युक्त सामर्थ्य का नाम ही बल है।]

दर्पम्=(पुं०)√दृप्+घञ् या अच्+द्विती० ए० व०=दर्प को। गर्व को।

कामम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=काम को। इच्छाओं को। कामनाओं को।

क्रोधम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=क्रोध को।

परिग्रहम्=(पुं०) परि√ग्रह+अप्+द्विती० ए० व०=परिग्रह को। प्राप्ति को। उपलब्धि को। स्वीकृति को। पकड़ को। किसी से कुछ लेने को। संग्रह को।

विमुच्य=वि√मुच्=ल्यप्=त्याग कर। छोड़ कर। (परित्यज्य)।

निर्मम:=(वि०) निर्गत: ममभावो यस्मात् (बहुव्री०, पुं० प्र० ए० व०) ममता रहित। देह और जीवन से भी ममता रहित।

शान्त:=वि०)√शम्+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=शान्त हुआ। शान्त अन्त:करण हुआ।

ब्रह्म-भूयाय=(पुं०) चतु० ए० व०=ब्रह्म होने के लिए।

कल्पते=√कल्प्+अच् घञ् वा=कल्प (नामधातु)+लट्० आत्म० प्र० पु०, ए० व०=योग्य होता है ॥

अर्थ—विशेष शुद्ध बुद्धि से युक्त हुआ, एकान्त सेवन करने वाला, थोड़ा खाने वाला, जीते हुए वाणी शरीर और मन वाला, नित्य (निरन्तर) ध्यान-योग परायण (आत्म-स्वरूप के चिन्तन में एकाग्र-चित्त) हुआ, वैराग्य का भली भान्ति आश्रय प्राप्त किया हुआ, धैर्य (सात्त्विक धारना) से अपने आप को संयम करके (रोक कर) (शरीर-स्थिति मात्र के लिए जिन विषयों की आवश्यकता है, उनके अतिरिक्त शेष सब सुख भोग के कारण रूप) शब्दादि विषयों को त्याग कर और राग-द्वेष (आसक्ति तथा विरोध-भावना) को दूर करके, अहङ्कार, बल (दूसरों पर शक्ति प्रदर्शन करना), दर्प (घमण्ड-गर्व), काम, क्रोध, परिग्रह (संचय भाव) को छोड़ कर ममता रहित और शान्त हुआ (पुरुष) ब्रह्म होने के लिए योग्य या समर्थ हो जाता है ॥ ५१, ५२, ५३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब यह पुरुष सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है तो यह ब्रह्म-स्वरूप हो जाने के लिए समर्थ या योग्य हो जाता है परन्तु ऐसा होने के लिए निरन्तर साधना करनी पड़ती है। जिस का उपाय यह है सब से पहले पुरुष निष्काम-कर्म सिद्धि द्वारा संशय विपर्यय से विहीन अपनी बुद्धि को शुद्ध करे। नैष्कर्म्य-सिद्धि हो जाने से पूर्व जन्म के सब पापों के संस्कार उसी प्रकार उसके अन्त:करण से दूर हो जाते हैं जिस प्रकार टेप-रीकार्ड की रील पर किसी गायक या गायिका द्वारा पहले भरे हुए गाने और बोल धुल कर नवीन गाने और बोल भर लिये जाते हैं हमारा यह अन्त:करण भी ठीक टेप रीकार्ड की रील के ही समान होता है जो कर्मानुसार अशुद्ध और शुद्ध दोनों प्रकार के संस्कारों से भर जाता है अर्थात् धर्म और भक्ति करने से उस पर शुद्ध संस्कार अंकित हो जाते हैं और पाप-कर्मों के करने से पाप-संस्कार जम जाते हैं। जब यह अन्त:करण निर्मल हुआ पुरुष, विशुद्ध बुद्धि से युक्त हो जाता है। तो उस की बुद्धि कपट से रहित और निश्चयात्मिका हो जाती है। तब फिर मनुष्य सदा एकान्त सेवन करे। शुद्ध वायुमण्डल वाला साफ़ सुथरा शोरोगुल से रहित स्थान किसी बन, उद्यान, नदी तट पर्वत की गुफ़ा या शहर अथवा बस्ती से दूर बने हुए मकान में अकेला ही रहे और अपने पास आने की किसी को आज्ञा न दे। प्राणों को धारण किए रखने के लिए साफ़ स्वच्छ, सात्त्विक, हल्का थोड़ा भोजन किया करे जिस से तेज, नीरोग्यता और मानसिक तथा आत्मिक शक्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि हो जाती है। अपनी वाणी को काबू में करे हृदय के तराजू में तोले बिना, कोई भी शब्द मुख से न निकाले और केवल उतना ही बोले, जिस के बिना बोले, अनिष्ट होता हो या ब्रह्म-प्राप्ति में बाधा उपस्थित होती हो। शरीर पर पूरी तरह से नियन्त्रण करे इस बात का ध्यान रखे कि शरीर द्वारा कोई ऐसी क्रिया न होने पाये जो मोक्ष रूप लक्ष्य को प्राप्त करने में अड़चन उत्पन्न करती हो यद्यपि मन अत्यन्त चंचल, शीघ्रगामी और क्षतिज के पार से भी अधिकतम दूर जाने वाला है परन्तु साधक पुरुष इतना अभ्यास करे कि जिस से मन बँधे और जकड़े हुए पशु की तरह सदा निश्चल और स्थिर बना रहे। इस विधि से वाणी, शरीर और मन को जीते। नित्य निरन्तर आत्म स्वरूप के चिन्तन में एकाग्र चित्त बना रहे अर्थात् सांसारिक भोगों से वैराग्यवान् होकर दृढ़ता से निरन्तर ध्यान-योग परायण हुआ रहे। धैर्य या सात्त्विक धारणा से अपने आप को संयम में किये रहे। निरन्तर परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करता रहे। "योगश्चित्त-वृत्ति-निरोध:" के अनुसार चित्त-वृत्ति के निरोध रूप योग से युक्त होने का भरपूर प्रयत्न करता रहे। शरीर स्थिति मात्र के लिए जिन जिन विषयों की आवश्यकता हो उनके अतिरिक्त शेष सब सुख-भोग के कारण रूप शब्दादि इन्द्रियों के विषयों का नितान्त त्याग करे क्योंकि इन इन्द्रियों के प्रत्येक भोग

में राग (आसक्ति या लग्न) और द्वेष (विरोध-भावना) दोनों छिपे रहते हैं। इस लिए लोक या परलोक के किसी भी भोग में, किसी भी प्राणी में, किसी भी सुख साधन के पदार्थ में तथा किसी भी घटना या क्रिया से प्रभावित न होवे, तथा उन में किञ्चित मात्र भी राग-द्वेष न करे। देहादि-संघात में अहं-बुद्धि को मिथ्या समझ कर भूल जाए। शास्त्र-विरुद्ध असत् आग्रह रूप बल को सदा के लिए त्याग करे। अन्याय-पूर्वक बलात्कार से दूसरों पर प्रभुत्व जमाने के साहस रूप बल को कभी प्रदर्शित न करे। शरीर, इन्द्रियों और अन्त:करण में आत्म बुद्धि रूप अहंकार को मन से निकाल दे ताकि जन्म-मरण का कारण रूप किसी भी क्रिया में कर्ता रूप हुई भावना नष्ट हो जाए। धन, जन, विद्या, जाति और शारीरिक सुन्दरता, शक्ति तथा और किसी गुण के कारण से होने वाले गर्व या दर्प का त्याग करे। कामनाओं और विषय वासनाओं को अन्त:करण से उखाड़ कर किसी अन्ध कूप में फैंक दे जिस से वे गल सड़ और पच कर नष्ट हो जाएँ और पुनर्जन्म का कारण न बन सकें। क्रोध पापों का मूल होता है, इस से शरीर इन्द्रियों और मन में जलन उत्पन्न हो जाती है और प्रभु के ध्यान से वृत्ति उखड़ जाती है, यह बुरी भावना अपने मन के प्रतिकूल आचरण करने वाले के विरुद्ध उत्पन्न हुआ करती है। इस से नेत्र लाल हो जाते हैं होंठ फड़कने लगते हैं हृदय द्वेषाग्नि से भर जाता है वाणी बे सोचे समझे बकवास करने लगती है मुक्के दिखाना, मूछों पर ताव देना बाहु लहराना, टाँगें चलाना और शत्रु को नग्न होकर दिखाना आदि क्रियाएं क्रोध युक्त पुरुष के द्वारा प्रदर्शित की जा रही, दृष्टि गोचर हुआ करती हैं। जो अत्यन्त घृणित और निन्दनीय होती हैं और ब्रह्म रूप होने में बाधक बन जाती हैं इस लिए साधक पुरुष क्रोध को सर्वथा त्याग करे। लोगों से कोई भेंट स्वीकार न करे। खाने से अधिक भोजन ग्रहण न करे। सम्भाल कर रखने के लिए कोई वस्त्र न ले, इसी प्रकार संग्रह या संचय के विचार से किसी अन्य भी पदार्थ को ग्रहण न करे इस प्रकार परिग्रह से बचने का हर सम्भव उपाय करे। देह, गेह, जीवन आदि सम्बन्धी सब प्रकार की ममता का त्याग करे। सदा शुद्ध, स्वच्छ स्थिर और शान्त अन्त:करण वाला बना रहे। इस प्रकार से ऊपर कहे हुए सब साधनों से युक्त हुआ साधक पुरुष ब्रह्म भाव को प्राप्त होने का अधिकारी बन जाता है। उस समय उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होने लग जाता है और तब वह उस में मिल कर एक रूप हो जाने के निकटतम पहुँच जाता है ॥ ५१, ५२, ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

ब्रह्म-भूतः प्रसन्न+आत्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्+भक्तिम्+लभते पराम् ॥

ब्रह्म-भूत:=(वि०) [√भू+क्त+(पुं०) प्र० ए० व० बहुव्री०]=ब्रह्म हुआ। ब्रह्म में एकीभाव से स्थित हुआ।

प्रसन्न+आत्मा=(वि० पुं०, प्र० ए० व०)=प्रसन्न आत्मा वाला। प्रसन्न-चित्त वाला। लब्ध आत्म-प्रसाद। आत्म प्रसाद पाया हुआ।

न=न। नहीं।

शोचति=√शुच् (भ्वा० पर० अक०=शोक करना। सन्ताप करना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=शोक करता है। सन्ताप करता है।

न=न। नहीं।

काङ्क्षति=√काङ्क्ष (भ्वा० उभ० सक०=इच्छा करना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=आकाङ्क्षा करता है। इच्छा करता है। चाहता है।

सम:=(पुं०) प्र० ए० व०=सम भाव वाला। शत्रुता और मित्रता रहित। सब को अपने सदृश समझने वाला। सम भाव से देखने वाला। सम विचार वाला हुआ।

सर्वेषु=(सर्व०, वि०) नपुं० सप्त० ब० व०=सब में।

भूतेषु=(नपुं०) सप्त० ब० व०=भूदों में। प्राणियों में।

मद्+भक्तिम्=(स्त्री०) द्विती० ए० व०=मेरी भक्ति को।

लभते=√लभ्+प्र० पु०, ए० व०=पाता है। प्राप्त होता है।

पराम्=(वि०) परा (स्त्री०)+द्विती० ए० व०=परम को। सब से उत्तम को।

अर्थ—ब्रह्मभूत (ब्रह्म रूप हुआ पुरुष) प्रसन्न-चित्त हुआ, न शोक करता है और न आकांक्षा करता है। (वह) सब भूतों में सम (भाव) हुआ मेरी परम भक्ति को प्राप्त करता है॥ ५४॥

व्याख्या—इस प्रकार ऊपर कहे हुए साधनों द्वारा जब कोई पुरुष ब्रह्म-भूत हो जाता है; तो जैसे स्लेट पर लिखे हुए अक्षर हाथ फेरने से मिट जाते है अथवा ब्लैक बोर्ड पर चाक से लिखा हुआ सब कुछ छादन से पोंछ दिया जाता है उसी प्रकार सारा संसार उसकी दृष्टि के सामने से लुप्त हो जाता है और केवल एक ब्रह्म ही सब ओर उसे दिखाई देता है, अपने आप को भी वह किसी पृथक् रूप में नहीं देखता है जिस प्रकार ज्वार-भाटा दूर हो जाने के बाद समुद्र शान्त हो जाता है इसी प्रकार ब्रह्म-भूत पुरुष का अन्त:करण भी सब सुख-दु:खों को त्याग कर पूर्ण शान्त और निर्मल हो जाता है। उसके मुख से "सोऽहमस्मि" "सोऽहमस्मि" इस प्रकार अचानक ही निकलता रहता है और उसका मन "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" का ही पाठ करता रहता है, वह प्रसन्न-चित्त हुआ न तो नष्ट हुओं का शोक करता हैं न प्राप्त हुओं को देख कर प्रसन्न होता है तथा न ही किसी प्राप्ति की आकांक्षा करता है क्योंकि

उस का मन अत्यन्त पवित्र, स्वच्छ और शान्त होता है, संसार में चार प्रकार के जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज जीव होते हैं। उन सब को वह ब्रह्म रूप में ही देखता है। यही उसका सब भूतों में सम भाव होना है। जिस प्रकार सब लकड़ियों के जल जाने पर पीछे केवल आग ही रह जाती है धूआँ और सब प्रकार के मल नष्ट हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार भूषण के गुठाली में पिघल जाने पर उसके नाम रूप और मल नष्ट होकर पीछे केवल सोने का शुद्ध रूप ही रह जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म-भूत का स्वरूप बदल कर केवल ब्रह्म रूप हो जाता है जिस प्रकार कोई मनुष्य जब नींद से जाग उठता है तो न उसकी बेहोशी ही बाकी रहती है और न स्वप्न-सृष्टि ही शेष रहती है इसी प्रकार ब्रह्म-भूत पुरुष भी अपने स्वरूप में जागा हुआ होता है, जिससे उसकी मोह निद्रा भी नष्ट हो जाती है और संसार-स्वप्न भी दूर हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ पुरुष मेरी परम भक्ति को पाता है अर्थात् मेरे स्वरूप में मिल कर मद्रूप हो जाता है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

भक्त्या माम्+अभिजानाति यावान्+यः+च+अस्मि तत्त्वतः। ततः+माम्+तत्त्वतः+ज्ञात्वा विशते तत्+अनन्तरम् ॥

भक्त्या=(स्त्री०) √भज्+क्तिन्+भक्ति+तृती० ए० व०=भक्ति से। (परा) भक्ति के द्वारा। परम भक्ति से।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

अभिजानाति=अभि√ज्ञा+लट्० प्र० पु०, ए० व०=भली प्रकार या अच्छी तरह से जानता है।

यावान्=(वि०) यद्+वतुप्, आत्व=यावत्+(पुं०) प्र० ए० व०=जितना। (मैं) जितना (हूँ)। (मैं) जैसा (हूँ)। (मैं) जिस प्रभाव वाला (हूँ)। मैं उपाधिकृत विस्तार भेद से जितना हूँ।

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

च=(अव्यय) और।

अस्मि=√अस्+लट्०, उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ।

तत्त्वतः=(अव्यय) तत्+त्व+तस्=यथार्थ रूप से। वास्तव में। तत्त्व से।

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस् (ततः)=फिर। पश्चात्। बाद में। (उस भक्ति से)। उस से।

माम्=अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझ को।

तत्त्वतः=तत्त्व से।

ज्ञात्वा=√ज्ञा+क्त्वा=जान कर।

विशते=विश् (तुदा० उभ० सक०=प्रवेश करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=(मुझ में) प्रवेश करता है।

तत्+अन्तरम्=उस के बाद (तत्काल)।

अर्थ—(फर वह ब्रह्मभूत पुरुष, परा) भक्ति के द्वारा मुझ को "जैसा और जो मैं हूँ" तत्त्व (यथार्थ रूप) से जान लेता है। फिर मुझ को तत्त्व से जान कर उसके बाद तत्काल (मुझ में) प्रवेश करता है॥ ५५॥

व्याख्या—हे अर्जुन! "मैं कैसा हूँ?" "मैं कौन हूँ?" "मैं जैसा हूँ।" "और जो हूँ।" इन बातों को जिस ने भक्ति द्वारा तत्त्व से जान लिया है। जिस ने मुझे अपने रूप में पहचान लिया है और जिस ने मुझ को वास्तव में समस्त उपाधि-भेद से रहित, उत्तम पुरुष और आकाश की तरह सर्वव्यापक समझ लिया है और जिस ने मेरा यथार्थ और वास्तविक रूप देख लिया है। जिस ने "वासुदेव: सर्वमिति" पाठ अपने जीवन में उतार लिया है। जो मुझ को अद्वैत, अजन्मा, अजर, अमर, अभय और निधन-रहित अनुभव करता है। जिसके विचार में मैं अक्षय और अक्षर हूँ। अपार आनन्द हूँ। अचल, अनन्त, अद्वितीय, आद्य, निराकार और साकार भी हूँ और जो मनुष्य अपने आपको इसी प्रकार मेरे रूप में देखता है, जिस प्रकार कोई जल के तल पर उठती हुई लहर को जल का रूप ही समझता है। जो जागे हुए की भान्ति संसार स्वप्न और मोह रूप निद्रा का त्याग कर चुका है और जिस में ज्ञेय और ज्ञान का लोप हो जाने से केवल ज्ञाता ही शेष रह गया है। एक में से एक घट कर केवल शून्य ही शेष बचा है। जो ब्रह्म, आत्मा और ईश्वर आदि शब्दों को निजानन्द में विघ्नकारी समझ कर भूल गया है तथा गुड़ खाए हुए गूंगे की भान्ति स्वाद बताने में असमर्थ हो गया है। जिस ने स्वयं प्रकाश और निर्मल रूप धारण कर लिया है। वेद की ऋचाएँ जिस के श्वास-निश्वास का रूप धारण कर चुकी हैं। सूर्य की भान्ति दशों दिशाएँ जिस के आलोक से प्रकाशित हो रही हैं। इस प्रकार मुझ को तत्त्व से जान कर जो जीवनावस्था में ही मद्रूप बन चुका है, वह देह त्यागते ही तत्काल मुझ में लीन हो कर अपने अलग अस्तित्त्व को त्याग देता है॥ ५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद् व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

सर्व-कर्माणि+अपि सदा कुर्वाण:+मद्+व्यपाश्रय:। मत्+प्रसादात्+अवाप्नोति शाश्वतम्+पदम्+अव्ययम्॥

सर्व-कर्माणि=(नपुं०) सर्वाणि कर्माणि=सारे कर्मों को। (द्विती० ब० व०)।

अपि=(अव्यय) भी।

सदा=(अव्यय) सर्वस्मिन् काले, सर्व+दाच् सादेशः=नित्य। हमेशा। सर्वदा। सदा।

कुर्वाणः=√कृ+शानच्+(पुं०) प्र० ए० व०=करता हुआ।

मद्+व्यपाश्रयः=(पुं०) वि-अप-आ√श्रि+अप्+प्र० ए० व०=व्यपाश्रयः। अहं वासुदेवः (ईश्वरः) व्यपाश्रयः यस्य सः (बहुव्री०)=जिस का मैं वासुदेव ही पूर्ण आश्रय हूँ, वह। पूरी तरह से मेरा आश्रय किया हुआ (पुरुष)।

मत्+प्रसादात्=(पुं०) [प्र√सद्+घञ्+पंच० ए० व०]=मुझ ईश्वर के अनुग्रह से। मेरे प्रसाद से। मेरी कृपा से।

अवाप्नोति=अव√आप् (स्वा० पर० अक०=प्राप्त करना। प्राप्त होना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=प्राप्त करता है। प्राप्त होता है।

शाश्वतम्=(वि०) शश्वत्+अण्+(नपुं०) द्वितीο ए० व०=शाश्वत् को। सदा रहने वाले को। सनातन को। नित्य को। स्थायी को।

पदम्=(नपुं०)√पद्+अच्+द्वितीο ए० व०=पद को। पदवी को।

अव्ययम्=(वि०) अव्यय+(नपुं०) द्वितीο ए० व०=अव्यय को। अविनाशी को।

अर्थ--पूरी तरह से मेरा आश्रय किया हुआ (पुरुष) सारे (अच्छे बुरे) कर्मों को सदा (निष्काम भाव से) करता हुआ भी मेरे प्रसाद से शाश्वत और अव्यय पद को प्राप्त हो जाता है ॥ ५६ ॥

व्याख्या—जो पुरुष पूरी तरह मेरे परायण हो जाता है अर्थात् जो कोई सब आश्रयों को त्याग कर केवल एक मुझ परमेश्वर का ही आश्रय ग्रहण कर लेता है। मेरी आराधना करता हुआ निष्काम भाव से सब कर्मों को भी सदैव करता रहता है। उस पर मेरी अपार कृपा होती है। जिस से वह मेरे अनुग्रह से सपदि उस परम पद को प्राप्त कर लेता है जो शाश्वत और अव्यय है अर्थात् वह मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाता है और उसके सब शुभाशुभ कर्मों और उन के फलों का नाश हो जाता है। जिस से फिर कभी उसका पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

चेतसा सर्व-कर्माणि मयि संन्यस्य मत्+परः। बुद्धि-योगम्+उपाश्रित्य मत्+चित्तः सततम्+भव ॥

चेतसा=(नपुं०)√चित्+असुन्=चेतस्+तृती० ए० व०=चित्त से। मन से। दिल से। विवेक बुद्धि से।

सर्व-कर्माणि=(नपुं०) सर्वाणि कर्माणि=समस्त कर्मों को।

मयि=अस्मद् (सर्व०)+सप्त० ए० व०=मुझ में। मेरे में। मुझ ईश्वर में।

संन्यस्य=सम-नि√अस् (दिवा० पर० सक०=फेंकना। छोड़ना। अर्पण करना) +ल्यप्=अर्पण करके। अच्छी तरह अर्पण करके। समर्पण करके।

मत्+पर:=(वि०) (पुं०) प्र०, ए० व०=मेरे परायण हुआ। मैं वासुदेव जिस की परम-गति हूँ—ऐसा होकर।

बुद्धि-योगम्+(पुं०) द्विती०, ए० व०। मयि समाहितबुद्धित्वं=बुद्धियोग: तम्=मुझ में बुद्धि को स्थिर करना रूप—बुद्धि-योग को।

उपाश्रित्य=उप-आ√श्रि+ल्यप्=आश्रय करके। अवलम्बन करके।

मत्+चित्त:=(पुं०) प्र० ए० व०। मयि एव चित्तं यस्य तव, सत्वम् (बहुव्री०) =मुझ में चित्त वाला।

सततम्=(वि०) सम्√तन्+क्त, सम: अन्त्यलोप:=सतत+(नपुं०) प्र० ए० व०=निरन्तर। सदैव। सदा।

भव=√भू+(लोट्) म० पु०, ए० व०=(तू) हो।

अर्थ—समस्त कर्मों को चित्त से मुझ में समर्पण करके मेरे परायण हुआ (मुझ में बुद्धि को स्थिर करना रूप) बुद्धि-योग को आश्रय करके निरन्तर मुझ में चित्त वाला (तू) हो जा॥ ५७॥

व्याख्या—भगवान् बोले—हे अर्जुन! मैंने पहले अध्याय ९, श्लोक २७ में तुम से कहा था कि—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥"

अर्थात् जो कोई भी कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म तू करता है, उसको तू अपने द्वारा अथवा अपने लिए किया हुआ न समझ, उन सब को तू मेरे द्वारा या मेरे लिये होते हुए देख। इस लिए उन सब के फल की इच्छा भी कभी न कर। उनमें तेरी आसक्ति तनिक भी न हो। तेरे द्वारा होते हुए दिखाई दे रहे सम्पूर्ण कर्म चाहे वे कर्त्तव्य हों, चाहे नित्य हों, चाहे नैमित्तिक हों केवल लोक-कल्याणार्थ होने चाहिएँ। इस विधि से तू अपने समस्त कर्मों को मेरे समर्पण करके मेरे परायण हो जा। इन सब कर्मों का मुझ में समर्पण केवल कहने मात्र से ही नहीं होता। बल्कि मन के द्वारा करने से होता है। हे अर्जुन! तू अपनी बुद्धि, मन, इन्द्रियों और शरीर में मेरे होने का अनुभव कर और अपने सम्पूर्ण कर्म अपने शरीर में स्थित मेरी सत्ता से ही होते हुए देख। सब वस्तुओं को मेरी समझ कर उन में ममता, आसक्ति और कामना का सर्वथा त्याग कर दे। इस प्रकार की धारणा और आचरण हो जाने से तेरे सब कर्म

चित्त से मेरे अर्पण हो जाएँगे और तू मत्पर हो जाएगा। संसार की ओर से रोक कर अपनी बुद्धि को निरन्तर मुझ में स्थिर किए रह। इसी का नाम बुद्धि-योग है। इस बुद्धि-योग के द्वारा तू सुख-दु:ख और सिद्धि-असिद्धि में समभाव हो जाएगा। तेरे राग-द्वेष और हर्ष-शोक सदा के लिये दूर हो जाएँगे क्योंकि मैं अपने परायण हुए पुरुषों को शुद्ध-बुद्ध करके अपने तुल्य बना लेता हूँ। उस अवस्था को प्राप्त हुआ पुरुष मुझ को परम-प्राप्य, परम-गति, परम-प्रिय और परम-हितैषी तथा परमाधर रूप में देखने लगता है, जिस से वह सदा सन्तुष्ट और मेरी प्राप्ति के लिए तत्पर रहता है और अन्त में मुझ में मिल कर मेरा रूप हो जाता है। इस लिए तू भी बुद्धि-योग का आश्रय ले कर नित्य निरन्तर अपने चित्त को मुझ में लगाने वाला बन ॥ ५७ ॥

मच्चित्त: सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

मत्+चित्त: सर्व-दुर्गाणि मत्-प्रसादात्+तरिष्यसि। अथ चेत्+त्वम्+अहङ्कारात्+न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥

मत्+चित्त:=(पुं०) प्र० ए० व०। मयि एव चित्तं यस्य तव, स त्वम् (बहुव्री०)=मुझ में चित्त वाला।

सर्व-दुर्गाणि=(नपुं०) सर्वाणि दुर्गाणि (सर्वाणि दुस्तराणि संसार हेतुजातानि) सारी कठिनाइयों को। जन्म-मरण रूप संसार के सारे कारणों को। सारे संकटों को।

मत्+प्रसादात्=(पुं०) [प्र√सद्+घञ् पंच० ए० व०]=मुझ ईश्वर के अनुग्रह से। मेरे प्रसाद से। मेरी कृपा से।

तरिष्यसि=√तॄ (भ्वा० पर० सक०=पार होना। तर जाना)+लृट्० म० पु०, ए० व०=(तू) तर जाएगा।

अथ=(अव्यय) और। परन्तु।

चेत्=(अव्यय) यदि। अगर।

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=तू।

अहङ्कारात्=(पुं०) पंच० ए० व०—अहङ्कार से।
[मेरे वचनों को]

न=न। नहीं।

श्रोष्यसि=√श्रु (स्वा० पर० सक०=सुनना)+लृट्० म० पु० ए० व०=(तू) सुनेगा। ग्रहण करेगा।

विनंक्ष्यसि=वि√नश् (दिवा० पर० अक०=नष्ट हो जाना)+लृट्० म० पु०, ए० व०=(तो तू) विनष्ट हो जायेगा ॥

अर्थ—(तू) मुझ में (निरन्तर) चित्त वाला हुआ मेरे प्रसाद से (जन्म-मरण आदि रूप संसार की) सारी कठिनाइयों को तर जायेगा। और यदि अहङ्कार से (तू मेरे वचनों को) न सुनेगा, तो विनष्ट हो जायेगा ॥ ५८ ॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—

हे अर्जुन ! यदि तू मुझ में ऊपर कही हुई रीति से चित्त लगाएगा तो मेरी कृपा से तेरे सब कर्म-बन्धन कट जायेंगे और तेरा अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल हो जाएगा। जिस से तुझे इस जन्म के समाप्त होते ही मुझ में मिल जाने का अवसर मिल जाएगा और स्वर्ग का क्षण-भङ्गुर सुख प्राप्त न होगा, जिस के अनन्तर पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर मृत्यु लोक में जन्म ग्रहण करना पड़ता है जिस में रोग, शोक, जरा-मरण के दुःख सहन करने पड़ते हैं, और पुनः पुनः गर्भ के कष्टों को अनुभव करना होता है जीवित प्राणी को इतने कष्टों और चिन्ताओं का सामना करना पड़ता है कि जिन की गणना नहीं की जा सकती। कई एक का तो सारा जीवन ही रोगों, शोकों, चिन्ताओं और संकटों में ही व्यतीत हो जाता है और एक पल भी सुख का साँस प्राप्त नहीं होता। साधक को भी बार-बार विद्यार्थी की भान्ति परीक्षा में बैठना पड़ता है अथवा कुन्दन की तरह दहकती हुई तप की भट्ठी में खरा होना पड़ता है परन्तु मच्चित्त हो जाने से मेरी अपार कृपा सब द्वन्द्वों से छुटकारा करवा देती है और यदि तू मेरे इस उपदेश को अहंकार के वशीभूत अङ्गीकार नहीं करेगा तो तेरा कल्याण कदाचित् न होगा। क्योंकि फिर तू मुझ में मिल न सकेगा। जिस से जन्म मरण के चक्र में फँसा रहेगा और अवश्य ही दुःखों को भोगेगा। इसी का नाम नाश हो जाना है क्योंकि अपने मूल स्वरूप में लीन होना ही बचे रहना है ॥ ५८ ॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

यत्+अहङ्कारम्+आश्रित्य न योत्स्ये+इति मन्यसे। मिथ्या+एषः +व्यवसायः+ते प्रकृतिः+त्वाम्+नियोक्ष्यति ॥

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

अहङ्कारम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=अहङ्कार को।

आश्रित्य=आ√श्रि+ल्यप्=आश्रय करके। सहारा करके। अवलम्बन करके।

न=न। नहीं।

योत्स्ये=√युध् (दिवा० आत्म० अक०=युद्ध करना)+लृट्० उ०, पु० ए० व०=मैं युद्ध करूँगा।

इति=(अव्यय)=ऐसे। ऐसा। इस प्रकार।

मन्यसे=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=मानना)+लट्० म० पु०, ए० व०
=(तू) मानता है।

मिथ्या=(अव्यय)√मिथ्+क्यप्-टाप्=झूठा है। मिथ्या है। गल्त है।

एष:=एतत्+(पुं०) प्र० ए० व०=यह।

व्यवसाय:=(पुं०) वि-अव√सो+घञ्+प्र० ए० व०=संकल्प। निश्चय।

ते=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तब, ते=तेरा।

प्रकृति:=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ+क्तिन्+प्र० ए० व०
=स्वभाव। प्रकृति। क्षत्रिय-स्वभाव।

त्वाम्=युष्मद्+द्विती० ए० व०=तुझ को।

नियोक्ष्यति=नि√युज् (रुधा० उभ० सक०=जोड़ना)+लृट्० प्र० पु० ए०
व०=नियुक्त करेगी। जोड़ देगा। बरबस युद्ध में लगा देगा॥

अर्थ—(तू) जो अहङ्कार को आश्रय करके ऐसे मानता है कि, "मैं युद्ध नहीं करूँगा" यह तेरा निश्चय मिथ्या (झूठा) है। (क्योंकि तेरी क्षत्रियों वाली) प्रकृति तुझ को बरबस युद्ध में लगा देगी॥ ५९॥

व्याख्या—दूसरे अध्याय के पहले श्लोक में संजय ने राजा धृतराष्ट्र को सुनाते हुए कहा था—"यों करुणा से दीन बने हुए और अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले दु:खी अर्जुन से मधुसूदन ने ये वचन कहे—हे अर्जुन! श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य, स्वर्ग से विमुख रखने वाला, अपयश देने वाला यह मोह तुझे ऐसी युद्ध उपस्थिति के समय की विषम घड़ी में कहाँ से हो गया है। अब तू क्लीवता को मत प्राप्त हो। यह राजा विराट् का घर नहीं है जिस में तू क्लीव का रूप धारण करके युवा लड़कियों को नाचना और गाना सिखाएगा। तेरे सामने इस समय तो लड़ कर मरने मारने के लिए संसार भर के योधा खड़े हैं। जिन से इस समय तुम लोगों को लोहा लेना है, अब तुम भाग कर भी कहीं छिप न सकोगे। इस समय अब यह कायरता की बातें करना तुम्हें शोभा नहीं देता है। इस लिए हृदय की पामर निर्बलता को त्याग कर युद्ध करने के लिए उठो तुम तो शत्रुओं को तपाने और जीतने वाले हो। होश करो। कुछ समझ करो।

जब भगवान् के इन वचनों को सुन कर भी अर्जुन के हृदय में लड़ने के लिए कोई उत्साह उत्पन्न न हुआ तो वह न लड़ने के लिए युक्तियाँ देकर कहने लगा कि मैं तो युद्ध करने में अपना कल्याण नहीं समझता हूँ इसलिए "न योत्स्ये" (२।८) अर्थात् "मैं नहीं लड़ूंगा" अर्जुन का अहङ्कार से किया हुआ यह हठ देख कर भगवान् ने उसे पहले तो आत्मा-परमात्मा आदि सम्बन्धी वचन-युक्त "गीतामृत" पिलाया, अर्थात् गीता का ज्ञान समझाया और अब इस ५९-वें श्लोक में "न योत्स्ये" का उत्तर देते हुए कहने लगे—कि जो तू

अपने आप को ज्ञानी जानने के अहंकार के वशीभूत हुआ "न योत्स्ये" (मैं नहीं लड़ूँगा)" ऐसा मानता है। सो यह तेरा निश्चय शीघ्र ही झूठा सिद्ध होने वाला है क्योंकि कोई पुरुष प्रकृति या अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता है जैसे अग्नि का स्वभाव जलाना है वह कभी बर्फ की भान्ति दूसरों को ठण्डा नहीं कर सकती, और न ही बर्फ अपने ठण्डक पहुँचाने की प्रकृति को त्याग कर किसी को जला सकती है। इसी प्रकार तू भी शूर वीर कुरु-क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न हुआ है। तेरी जाति का स्वभाव ही युद्ध करना और शत्रुओं को मार कर धर्म और न्याय की रक्षा करना है। इस लिये थोड़ी देर के अनन्तर ही इन शत्रु शूर वीर पापियों को अपने पक्ष वालों से लड़ते देख कर तुझ से युद्ध बिना रहा न जायेगा, क्योंकि इस शीघ्र ही होने वाले भयंकर युद्ध को देख कर तेरी रगों में क्षत्रिय रक्त उबलने लगेगा और तुम युद्ध लड़ने के लिए मजबूर हो जाओगे। इस लिए तू मेरे कहने से पहले ही लड़ने के लिए निश्चय करके तैयार हो जा और "न योत्स्ये" को मन से निकाल दे। इसी में तेरा कल्याण और भला है॥ ५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपितत्॥ ६०॥

स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्मणा! कर्तुम्+न+इच्छसि यत्+मोहात्+करिष्यसि+अवशः+अपि तत्॥

स्वभावजेन=(वि०) [√स्वन्+उ=स्व(=अपना) ।√भू+घञ्=भाव (चित्तवृत्ति)। स्वस्य भावः (=अपनी चित्तवृति) अपने मन का झुकाव। आदत। प्रकृति। स्वभावात् जायते (=स्वभाव से उत्पन्न होता है जो)। स्वभाव+ज+(नपुं०) तृती० ए० व०=स्वभाव से उत्पन्न हुए द्वारा। अपने स्वभाव (प्रकृति) से उत्पन्न हुए से। (शौर्य आदि से) स्वभाविक ही। क्षत्रिय-स्वभाव द्वारा उत्पन्न हुए से।

कौन्तेय!=हे कुन्ती के पुत्र (अर्जुन)!

निबद्धः=(वि०) नि√बन्ध्+क्त+(पुं०) प्र०, ए० व०=निबद्ध हुआ। बँधा हुआ। अच्छी तरह बँधा हुआ। दृढ़ता से बँधा हुआ।

स्वेन=(सर्व०) स्व+तृती० ए० व० अपने द्वारा।

कर्मणा=(नपुं०)√कृ+मनिन्=कर्मन्+तृती० ए० व० -कर्म से।

कर्तुम्=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+तुमुन्=करने के लिए। करना।

न=न। नहीं।

इच्छसि=√इष् (तुदा० पर० सक०=इच्छा करना। चाहना।)+लट्० म० पु०, ए० व०=(तू) इच्छा करता है। (तू) चाहता है।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जो। यदि। जिस (कर्म) को।
मोहात्=(पुं०)√मुह्+घञ्=मोह+पंच० ए० व०=मोह से। अविवेक के कारण से। भ्रान्ति से। अज्ञानता से। उद्विग्नता से। घबराहट से।
करिष्यसि=√कृ+लृट्० म० पु०, ए० व०=करेगा।
अवशः=(वि०) नास्ति वशम् (आयत्तं) यस्य (नञ् बहुव्री०)=विवश हुआ। परवश हुआ। लाचार होकर। मजबूर हुआ।
अपि=(अव्यय) भी।
तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उसको।

अर्थ—हे भूआ कुन्ती के पुत्र (प्रिय अर्जुन) जिस (युद्ध कर्म) को (तू) मोह (अविवेक) से करने के लिए इच्छा नहीं करता है। उस को भी (तू) अपने (क्षत्रिय) स्वभाव मे उत्पन्न हुए कर्म द्वारा दृढ़ता से बँधा हुआ विवश होकर करेगा ॥ ६० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तू मेरी भूआ कुन्ती का पुत्र है इस लिए मेरा प्रिय भाई है। फिर मेरा प्रिय मित्र भी है। कहा भी है—

"दोस्त गर भाई नहीं, दोस्त तो भी है लेकन, भाई गर दोस्त नहीं तो नहीं कुछ भाई भी ॥' अर्थात् मित्र यदि भ्राता नहीं है तो भी हितकारी मित्र तो अवश्य होता है। परन्तु भ्राता यदि हितकारी न हो तो वह भ्राता होकर भी किसी काम का नहीं होता है परन्तु तुम तो मेरे भ्राता भी हो और मित्र भी हो। इस लिए तुम में तो कोई बात छिपा कर रखी ही नहीं जा सकती इसलिए स्पष्ट शब्दों में कही हुई मेरी इस बात को ध्यान पूर्वक सुनो, जो तेरे लिए अत्यन्त हितकारी और परम लाभ कारी है।

तुम्हें जो यह मोह हुआ है कि "धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर कोई आनन्द न होगा। इन पापियों को मार कर मैं भी पापी हो जाऊँगा। ये सब लोग तो हमारे भाई-बन्धु हैं। यद्यपि ये लोग मन-मलीन होने के कारण से होने वाले कुल के नाश को नहीं देख रहे हैं तथा न मित्रों से द्रोह करने के पाप को ही समझ रहे हैं। कुल के नाश से सनातन कुल-धर्म का नाश हो जाता है और बढ़ा हुआ अधर्म कुल का भट्ठा बिठा देता है। स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। वर्ण-संकर (हरामजादे) उत्पन्न हो जाते हैं। जिस से पितर लोग पिण्डोदक क्रिया से वंचित रह कर अधोगति को पाते हैं। यद्यपि शत्रुओं को मारना और दैत्यों तथा राक्षसों को लताड़ना सच्चे क्षत्रिय का धर्म है। परन्तु पूज्य पितामह भीष्म और आदरणीय आचार्य द्रोण को दैत्यो, राक्षसों और शत्रुओं की भान्ति मारना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? इन को मार कर राज्य पाने से तो भिक्षा माँग कर निर्वाह कर लेना ही अच्छा है। इस समय मेरी बुद्धि तो चक्र में फँसी हुई भ्रमित हो रही है मुझे अब इस समय कर्तव्याकर्तव्य कुछ भी

सूझता नहीं है।" हे अर्जुन! ये सब तुम्हारी बातें इस समय कर्तव्य पालन के अवसर पर व्यर्थ और थोथी हैं क्योंकि इन पर विचार करने का समय तो बहुत पहले बीत चुका है। इस समय इन पर विचार करना तो कायरता का आवाहन करना है। लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट होने के समान है। युद्ध के शंख और नगाड़े बज चुके हैं, रणभेरी और शहनाई गूंज उठी है, सब वीर क्षत्रिय योधा रण-भूमि में उतर चुके हैं। लोहे से लोहा बजने का समय सिर पर आ उपस्थित हुआ है इस समय युद्ध करने के ढंग के बिना दूसरी बात का सोचना ही व्यर्थ है। इसलिए धीर, वीर, गम्भीर होकर उठो। मोह को छोड़ो। भ्रम को त्याग दो और शत्रुओं से युद्ध करो। यदि अब भी तुम मोह में पड़े रहोगे और मेरा वचन मान कर युद्ध न करोगे तो याद रक्खो कि तुम क्षत्रिय जाति के स्वभाव से जकड़े हुए हो। जिससे मजबूर होकर और दूसरों को लड़ता हुआ देख कर तुम युद्ध अवश्य करोगे क्योंकि खरबूजे को देख कर खरबूजा रंग पकड़ ही लेता है और दीपक की जलती हुई बत्ती पर गिरते हुए पतंगों को देख कर दूर दूर से पतंगे आकर उस पर गिरते जाते हैं। इसी प्रकार जब जल की कुछ बूंदें बादलों से निकल कर पृथिवी पर गिरती हैं तो शेष बूंदें भी उनका अनुसरण करने लगती हैं जिस से मूसलाधार वर्षा बरसने लगती है। अब पहले लड़ने में तेरी शान है और वीरता भी है परन्तु बाद में प्रकृति से मजबूर होकर लड़ने में तेरा कोई सन्मान न होगा, सुतरां, निन्दा और अपमान अवश्य होगा॥ ६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढाणि मायया॥ ६१॥

ईश्वरः सर्व-भूतानाम्+हृद्+देशे+अर्जुन! तिष्ठति। भ्रामयन्+सर्व-भूतानि यन्त्र+आरूढाणि मायया॥

ईश्वरः=(पुं०)√ईश्+वरच्+प्र० ए० व०=ईशनशीलः (नारायणः)=सब का शासन करने वाला नारायण। ईश्वर। अन्तर्यामी परमेश्वर।

सर्व-भूतानाम्=(नपुं०) सर्वेषां भूतानाम् षष्ठी० ब० व०=सब भूतों के। समस्त प्राणियों के।

हृद्-देशे=(पुं०) हृदि देशे। सप्त० ए० व०=हृदय-देश में। हृदय-स्थान में। हृदय में। हृदयाकाश में। अन्तःकरण में।

अर्जुन! हे अर्जुन!*

***टिप्पणी**—अर्जुन=शुक्लान्तरात्म-स्वभावो विशुद्धान्तःकरण इति। अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च।" (ऋग्वेद ६।९।१) अर्थात् जो शुक्ल स्वच्छ-शुद्ध अन्तरात्मा (स्वभाव वाला) हो अर्थात् पवित्र अन्तःकरण वाला हो। उस को अर्जुन कहते हैं। उपरोक्त वेद मन्त्र में अर्जुन शब्द शुद्धता या प्रकाश का वाचक है (स्वामी श्री शंकराचार्य जी)।

तिष्ठति = √स्था (भ्वा० पर० सक० = रहना) + लट्० प्र० पु०, ए० व० = रहता है। स्थित है।

भ्रामयन् = √भ्रम (भ्वा०, दिवा० पर० अक० = भ्रमण करना) + णिच् + शतृ + (पुं०) प्र० ए० व० = भ्रमण कराता हुआ। सैर करवाता हुआ।

सर्व-भूतानि = (नपुं०) सर्वाणि भूतानि (द्विती० तत्पु०) द्विती० ब० व० = सब भूतों को। समस्त प्राणियों को।

यन्त्र-आरूढानि = (वि०, पुं०) यन्त्रेषु आरूढानि। [√यन्त्र (चुरा०, पर० सक० = रोकना, निग्रह करना) + अच् = यन्त्र। अथवा √यम् (चुरा० पर० सक० = रोकना। नियन्त्रण करना) + त्र = यन्त्र + नियन्त्रण करने वाली मशीन। रोकी और चलाई जाने वाली मशीन। मोटर। कार। बस। ट्रक। टैम्पू। टैंक। ट्रैक्टर। रेल। जहाज। विमान इत्यादि, वे सब मशीनें, यन्त्र कहलाती हैं। जो हवा, पानी और स्थल में किसी प्रकार के इंजन द्वारा चलाई जाती हैं तथा यात्रियों या सवारियों को ढोती हैं।

आ √रुह् + क्त = आरूढ + नपुं०, द्विती० ब० व० = आरूढानि। सवार हुओं को। चढ़े हुओं को]।

यन्त्रों पर चढ़े हुओं को। शरीर रूपी मोटरों पर चढ़े हुओं को।

माया = (स्त्री०) मीयते अनया, √मा + या-टाप् = माया + तृती० ए० व० = मायया = माया से। माया रूपी हाथों से। प्रकृति रूप हाथों से।

अर्थ—हे (पवित्र अन्तःकरण वाले) अर्जुन! ईश्वर (अपनी) माया (रूपी हाथ) से (शरीर रूपी) यन्त्रों (मोटरों, बसों, कारों, जहाजों आदि) पर चढ़े हुए सब प्राणियों को भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियों के हृदय (रूपी इंजन) में स्थित है॥ ६१॥

व्याख्या—हम देखते हैं कि प्रत्येक कार, रेल, जहाज आदि सवारियाँ ढोने वाले यन्त्र में एक इंजन लगा होता है जो स्टार्ट रहता है। उसमें एक चलाने वाला बैठा हुआ होता है जिसके हाथ में उसकी चाबी होती है जब वह चाबी को घुमाता है तो वह यन्त्र चलने लगता है और उस ड्राईवर या पाईलट की इच्छा के अनुसार वह यन्त्र मुड़ता और घूमता जाता है उस पर चढ़ी हुई सवारी का यन्त्र के चलने में कोई बस नहीं होता। यह सब चालक की प्रसन्नता या इच्छा पर निर्भर होता है कि वह जहाँ चाहे उस यन्त्र को ले जाए। हवा में उड़ने वाले पक्षियों के शरीर हवाई जहाजों के तुल्य होते हैं पानी में तैरने वाले जीवों के शरीर पानी के जहाज या अग्निवोट हैं तथा स्थल पर बिचरने वाले प्राणियों के शरीर रेल, ट्रक, बस, ट्रैक्टर, मोटर, कार और टैम्पू आदि के समान होते हैं। जब तक हृदय रूपी इंजन स्टार्ट या चालू

रहता है, तब तक ईश्वर रूपी ड्राईवर इस यन्त्र को चलाता रहता है और जीवात्मा बेबस सवारी इसमें बैठी रहती है, परन्तु जब हृदय रूपी इंजन चलना बन्द हो जाता है तो उसमें बैठी हुई सवारी झट निकल जाती है और अपने चढ़ने के लिए फिर कोई नया यन्त्र बनवाने का प्रबन्ध करती है जिसके बनाने में पर्याप्त समय लग जाता है और फिर पहले की तरह उसके इंजन में ईश्वर रूपी ड्राईवर उसे चलानें के लिए स्थित रहता है। यों तो मनुष्य या प्रत्येक प्राणी के रोम रोम में ईश्वर का निवास है जैसा कि श्रुति में कहा है—

"यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥" (बृहदा० ३ । ७ । १५ ॥)

अर्थ—जो सब भूतों में स्थित रहने वाला सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, सारे भूत जिस के शरीर हैं। जो भीतर रह कर समस्त भूतों का नियमन करता है। वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। वह अधिभूत दर्शन है। वह ही अध्यात्म दर्शन कहा जाता है। परन्तु योगी लोग उसका ध्यान अपने हृदय में ही करते हैं और वहीं उसको पा लेते हैं। तू तो साक्षात् अर्जुन है अर्थात् शुक्ल स्वच्छ शुद्ध अन्तरात्मा है, यानी अत्यन्त पवित्र अन्त:करण वाला है क्योंकि श्रुति में कहा है "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च।" इसलिए तेरी मोटर के इंजन को चलाने वाला चालक मैं कृष्ण तो तेरे सामने खड़ा हूँ। तुझे किस बात का भय है? तेरी मोटर तो ठीक ठिकाने ही जा लगेगी।

हे अर्जुन! जिस प्रकार यन्त्र पर चढ़ा हुआ मनुष्य स्वयं न चलता हुआ भी उस यन्त्र के चलने से चलने वाला कहलाता है और वास्तव में उसका किसी भी क्रिया से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। फिर भी वह अनादि-सिद्ध अज्ञान के कारण शरीर की क्रियाओं से अपना सम्बन्ध समझने लगता है जिससे अपने लिए बार-बार शरीर रूपी यन्त्रों (मोटरों) की रचना करता है और निरन्तर कालान्तर तक जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है प्रभु कृपा होती है तो उस से छूटने का यत्न करता है। कहा भी है—

"कर्मणा वध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते ॥" (महा० शान्ति० २४०-७)

अर्थात् कर्म से प्राणी बाँधा जाता है और विद्या (ज्ञान) से उसका छुटकारा हो जाता है। जब आत्मा स्थूल देह छोड़ कर जाने लगता है तब शुभाशुभ कर्मों के फल का बन्धन ही लिङ्ग शरीर द्वारा उसके साथ जाकर बारम्बार उसको भिन्न-भिन्न जन्म लेने के लिये बाध्य करता रहता है और इन जन्मों में—

"येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्या प्रतिपेदिरे।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमाना: पुन: पुन: ॥"

अर्थात् "पूर्व की सृष्टि (पहले जन्म) में प्राणी से जो जो कर्म किए हुए होते हैं ठीक वे ही कर्म फिर-फिर यथापूर्व उसे प्राप्त होते रहते हैं। इसमें उसकी अपनी इच्छा का कोई दखल या प्रश्न नहीं होता क्योंकि कर्मों के करने या न करने में मनुष्य परतन्त्र होता है कारण यह कि कोई भी प्राणी क्षण भर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। भगवान् ने स्वयं कहा है—

"नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता ३।५॥)

इससे मनुष्य के सारे कर्म प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं परन्तु प्रकृति ईश्वराधीन है या यों कहो कि प्रकृति ही ईश्वर का हाथ है जिसके द्वारा वह शरीर रूपी मोटरों के इंजनों को चलाता है और इन शरीर रूपी गाड़ियों को जहाँ चाहता है ले जाता है जो काम चाहता है उनसे करवाता है। जब जीवात्मा सारे कर्मों और उनके फलों का भार ईश्वर पर फेंक देता है तो उसका कोई उत्तर-दायित्व शेष नहीं रहता, परन्तु जब ईश्वर के द्वारा अथवा ईश्वर के हाथ रूपी माया के द्वारा किए जा रहे कर्मों में आसक्ति, इच्छा और प्यार प्रकट करके उनको अपनी इन्द्रियों की तृप्ति और शरीर के सुख के लिए विषयों के भोग बना लेता है तो दाने के लोभी पक्षी की भान्ति जन्म-मरण के जाल में फँस जाता है और शरीर रूपी अनेक पिंजरों में बारी-बारी बन्द और कैद होता रहता है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य पूर्ण रूप से ईश्वर के अधीन होता है। फिर चाहे उस को प्रकृति के तीनों गुणों ने अधीन कह लो। चाहे स्वभाव के अधीन मान लो। चाहे पूर्व जन्मों में किए हुए कर्मों के वशीभूत समझ लो। उसका छुटकारा तो तभी होता है जब वह ईश्वर की कृपा से ईश्वर की शरण में जाता है॥ ६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

तम्+एव शरणम्+गच्छ सर्व-भावेन भारत!। तत्+प्रसादात्+पराम् शन्तिम्+स्थानम्+प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

तम्=(सर्व०) तद्+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको (उसकी)। उस (ईश्वर) की।

एव=ही।

शरणम्=(नपुं०) शृणाति दुःखम् अनेन, √शृ (क्र्या० पर० सक०=नाश होना। नाश करना)+ल्युट्=शरण+द्विती० ए० व०=शरणम्=शरण को। शरण में। रक्षा में। आश्रय में। पनाह में।

गच्छ+√गम्+लोट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) जा।

सर्व-भावेन=(पुं०) सर्वेण भावेन (तृती० ए० व०=सब भावों से। मन, वाणी और शरीर द्वारा। तन, मन, धन से। सर्वात्म-भाव से।
भारत!=हे (श्रेष्ठ भरत वंश में उत्पन्न हुए) अर्जुन!
तत्+प्रसादात्=(पुं०) तस्य प्रसादात् (षष्ठी० तत्पु०) पंच० ए० व०=उसकी कृपा से। उस ईश्वर के अनुग्रह से।
पराम्=(वि०) परा (स्त्री०)+द्विती० ए० व०=परा को। परम को। उत्तम को।
शान्तिम्=(स्त्री०) द्विती० ए० व०=शन्ति को। (और)।
स्थानम्=(नपुं०)√स्था+ल्युट्=स्थान+द्विती० ए० व०=स्थान को।
प्राप्स्यसि=प्र√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०=पाना, प्राप्त करना)+लृट्० म० पु०, ए० व०=पाएगा। प्राप्त करेगा।
शाश्वतम्=(वि०) शश्वत्+अण्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=शाश्वत को। स्थायी को। नित्य को। मुझ विष्णु के परम नित्य धाम को। सनातन को।

अर्थ—हे (श्रेष्ठ भरत वंश में उत्पन्न) अर्जुन! (तू) सर्व-भाव (तन, मन, धन) से उस (ईश्वर) की ही शरण (पनाह) में जा। उस (ईश्वर) के अनुग्रह से (तू) परा शन्ति को और शाश्वत-स्थान (अर्थात् परम-पद) को प्राप्त करेगा ॥ ६२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! यह बात तुम्हें पहले समझाई जा चुकी है कि—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुः" अर्थात् इस शरीर के भीतर इन्द्रियाँ शरीर से अत्यन्त प्रबल हैं, जो अपने लिए सदा विषय-भोगों के सुखों को भोगना चाहती हैं और फिर "इन्द्रियेभ्यः परं मनः।" अर्थात् इन्द्रियों से मन अति प्रबल है जो इन्द्रियों को नियमन कर सकता है परन्तु जब यह मन इन्द्रियों द्वारा दिए गये भोगों के सुख के लालच से उन के साथ मिल जाता है तो जीवात्मा के लिए अनर्थकारी बन जाता है। इसके अनन्तर—"मनसस्तु परा बुद्धिः" अर्थात् मन से प्रबल बुद्धि होती है। यदि बुद्धि मन पर नियन्त्रण रखती है तो मन भी इन्द्रियों को वश में रखता है जिस से किसी प्रकार के अहित की सम्भावना नहीं होती परन्तु जब बुद्धि मन की हाँ में हाँ मिलाने लगती है तो मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ तीनों मिल कर महा अनर्थकारी बन जाते हैं और फिर "यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥" (गीता ३।४२) अर्थात् बुद्धि से प्रबल जीवात्मा है और सब से प्रबल परमात्मा है। फिर जिस से परे और कोई नहीं है। यह सब कुछ ही इसी प्रकार है जैसे 'ग्राम' में सब से प्रबल नम्बरदार या सरपंच होता है। उस से प्रबल तहसीलदार होता है और तहसीलदार से प्रबल जिले का डिप्टी कमिश्नर होता है उस से भी प्रबल गवर्नर या राज्यपाल होता है। राज्यपाल से प्रबल राष्ट्रपति है और राष्ट्रपति से भी प्रबल परमात्मा है। ये

सब लोग अपने अपने अधिकार क्षेत्र में उसी समय तक स्वतन्त्र होते हैं जब तक अन्तिम बड़ी कण्ट्रोल सत्ता की इच्छा के अनुरूप काम करते रहते हैं परन्तु जब ये लोग अपने अधिकारों का अतिक्रमण करके ईश्वर की सृष्टि के विरुद्ध आचरण करते हैं, तब फँस जाते हैं और दण्ड के भागी बन जाते हैं। यही हाल शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि और जीवात्मा का है। ये सब अपने अधिकार की सीमा में कार्य करने में स्वतन्त्र होते हैं, परन्तु उन कर्मों के फलों की प्राप्ति के विषय में परतन्त्र होते हैं क्योंकि सब की अन्तिम डोरी केवल परमात्मा के हाथ में है जो नट-नागर बन कर सब प्राणियों को कठपुतलियों की तरह उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार नचाता है और सब के शरीर रूपी यन्त्रों के हृदय रूपी इंजनों में ड्राईवर की तरह स्थित होकर उनके कर्मों के अनुसार पाप या पुण्यों की ओर ले जाता है और आप पाप का भागी भी नहीं बनता है एवं न किसी प्रकार के कर्म से ही लिप्त होता है परन्तु तो भी उसने सारे ब्रह्माण्ड और उसमें विद्यमान पदार्थों और जीवों का प्रबन्ध इतने सुचारु रूप से कर रक्खा है कि किसी की समझ में कुछ नहीं आता कोई नहीं कह सकता कि इस ब्रह्माण्ड का विस्तार कहाँ तक है और उस के पार क्या है ? असंख्य सूर्य चन्द्रमा और पृथिवियाँ आदि अपने ग्रह-मार्गों पर किन डोरियों से बँधे हुए नियमित रूप से भ्रमण कर रहे हैं, ये सब पुलाड़ में अपने नियत स्थानों से गिर क्यों नहीं जाते ? ये जलते हुए सूर्य समय पाकर बुझ क्यों नहीं जाते ? इतना अक्ल फेर में न आने वाला प्रबन्ध वह परमात्मा रूप महानतम शक्ति कैसे करती है जो नंगी आँख से न देखे जाने वाले जीवाणु के भीतर भी विद्यमान है और परमाणु में भी मौजूद है, जिस की सत्ता से सब से छोटा पदार्थ यह परमाणु महान् शक्तिशाली बना रहता है।

उस ईश्वर की इच्छा से ही सारे संसार की उत्पत्ति, प्रवृत्ति और लीनता होती है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे भारत ! सब जीव यद्यपि अपनी प्रकृति, माया या कर्मों के अधीन हैं परन्तु यदि वास्तव में देखा जाए तो यही पता चलेगा कि वे सब उस हाई पावर परमात्मा के ही अधीन हैं जो अन्तर्यामी रूप में सब के शरीर और हृदय के भीतर स्थित है और सब का प्रेरक है। इसलिए तू तन, मन, धन से उसकी शरण में जा अर्थात् उसको सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक अनुभव कर। समस्त तन, मन, धन उसी का समझ। सदा उस ईश्वर पर निर्भर रह। बुद्धि के द्वारा भगवान् के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूप का श्रद्धापूर्वक निश्चय कर और सदा सर्व कर्मों के करने में उस से प्रेरणा की याचना कर। खाने, पीने और पहनने आदि में ध्यान रख कि यह सब कुछ उस की इच्छा के फलस्वरूप हो रहा है। कोई कार्य उस की आज्ञा लिए लिए बिना मत कर। सोते जागते, चलते फिरते, खाते पीते और सब कर्म करते दिन रात निरन्तर तेरा सिर ईश्वर के चरण कमलों पर झुका रहे। सदा यही भावना बनी रहे कि—

"जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है कि जलवा तेरी ज़ात का सू ब सू है ।।" इस प्रकार हृदय में स्थित ईश्वर अर्थात् शरीर-रूपी मोटर के चालक की शरण में जाने से वह तेरी मोटर को बड़ी सावधानी से चलाएगा और पाप रूपी गढ़े में गिरा कर एक्सीडण्ट न कराएगा। उस स्थान पर ले जाएगा जहाँ पर परम शान्ति का साम्राज्य सब ओर फैला हुआ है तथा जहाँ पर सब दुःखों की निवृत्ति और अविद्या का अभाव है तथा जो नित्य स्थान या प्रभु का परम धाम है जिस का दूसरा नाम मोक्ष या परमात्मा में मेल पाना है ।। ६२ ।।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।। ६३ ।।

इति ते ज्ञानम्+आख्यातम् गुह्यात्+गुह्यतरम्+मया । विमृश्य+एतत् +अशेषेण यथा+इच्छसि तथा कुरु ।।

इति=(अव्यय) इस प्रकार ।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व० तुभ्यम्, ते=तेरे लिए ।

ज्ञानम्=(नपुं०) प्र० ए० व०=ज्ञान ।

आख्यातम्=आ√ख्या+(कर्मणि) क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है ।

गुह्यात्=(वि०)√गुह्+क्यप्=गुह्य+(नपुं०) पंच० ए० व०=गुह्य से । छिपाने योग्य से । गोपनीय से ।

गुह्यतरम्=(वि०) गुह्य+तर=गुह्यतर+(नपुं०) प्र० ए० व०=अति गुह्य । अति गोपनीय । अत्यन्त गोपनीय । अत्यन्त रहस्य युक्त । गुह्यतर । बहुत छिपाने योग्य ।

मया=अस्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा । मुझ से ।

विमृश्य=वि√मृश् (तुदा० पर० सक०=सोचना, विचार करना)+ल्यप्= अच्छी तरह सोच विचार कर । भली भान्ति विचार कर । बहु सोच कर । भली भान्ति आलोचना करके ।

एतत्=एतद् (सर्व०)+नपुं०) द्विती० ए० व०=इसको । इस (गुह्य से गुह्यतर ज्ञान) को ।

अशेषेण=(वि०) तृती० ए० व०=संपूर्णता से । पूरी तरह । पूरा पूरा ।

यथा=(अव्यय) जैसे । जैसा । जिस प्रकार ।

इच्छसि—√इष् (चाहना, इच्छा करना)=(तू) चाहता है । (लट्० म० पु० ए० व०)

तथा=(अव्यय) वैसे । वैसा । उसी प्रकार ।

कुरु=√कृ (करना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) कर ।।

अर्थ—इस प्रकार गुह्य से गुह्यतर (गीता) ज्ञान मेरे द्वारा तेरे लिए कहा गया है । (अब) इस (गुह्य से गुह्यतर गीता-ज्ञान) को (तू) सम्पूर्णता से भली-भान्ति विचार कर जैसा चाहता है, वैसा कर ।। ६३ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू मेरा अनन्य भक्त और अत्यन्त प्रिय सखा है। इसलिए मैंने तेरे हित के लिए उस गीता-ज्ञान का उपदेश किया है जो अत्यन्त छिपाने योग्य है। यद्यपि इस संसार में 'मन्त्र', 'तन्त्र', 'मणि', 'धन', 'रसायण' और नाना प्रकार के गुण छिपाने योग्य होते हैं। परन्तु वे सब सांसारिक अनित्य सुख की ही प्राप्ति करवाते हैं और यह गीता-ज्ञान या आत्मज्ञान इस पुरुष को ब्रह्मानन्द रूप नित्य-सुख और मोक्ष की प्राप्ति करवाता है। इसलिए यह गीता-ज्ञान अति गुह्य से भी अत्यन्त गुह्यतर है। अब तू इस सम्पूर्ण ज्ञान पर अच्छी तरह से विचार करके देख, कि तेरे लिए इस समय भीख माँग कर निर्वाह करना उचित है या क्षत्रिय-धर्म का पालन करते हुए यह धर्म युद्ध करना ठीक है। मेरी ओर से तुम्हें छुट्टी है। अब जैसी तेरी इच्छा है उसी के अनुसार कर्म कर। इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लोकमान्य तिलक जी कहते हैं—

'इस ६३वें श्लोक में भगवान् ने कहा है सही, कि 'जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर", परन्तु उसका अर्थ बहुत गम्भीर है। ज्ञान अथवा भक्ति के द्वारा जहाँ बुद्धि साम्यावस्था में पहुँची, वहाँ फिर बुरी इच्छा बचने ही नहीं पाती। अतएव ऐसे ज्ञानी पुरुष का "इच्छा-स्वातन्त्र्य" (इच्छा की स्वधीनता) उसे अथवा जगत् को कभी अहितकारक नहीं हो सकता। इसलिए उक्त श्लोक का ठीक-ठीक भावार्थ यह है कि 'ज्योंही तू इस ज्ञान को समझ लेगा विमृश्य), त्योंही तू स्वयं प्रकाश हो जाएगा और फिर (पहले से नहीं) तू अपनी इच्छा से जो कर्म करेगा, वही धर्म्य एवं प्रमाण होगा तथा स्थितप्रज्ञ की ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर तेरी इच्छा को रोकने की आवश्यकता ही न रहेगी ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

सर्व-गुह्यतमम्+भूयः शृणु में परमम् वचः। इष्टः+असि मे दृढम्+इति ततः वक्ष्यामि ते हितम् ।

सर्व-गुह्यतमम्=(वि०) (नपुं०) द्विती० ए० व०। सर्वेभ्यः गुह्येभ्यः गुह्यतमम्= सम्पूर्ण गुह्यतम। समस्त गोपनीयों से अत्यन्त गोपनीय। अत्यन्त रहस्य युक्त।

[संस्कृत भाषा में भी दूसरी भाषाओं के समान तीन प्रकार के विशेषण शब्दों का प्रयोग होता है—१—गुह्य=गोपनीय २—गुह्यतर=अत्यन्त गोपनीय। ३—गुह्यतम=सब से अधिक गोपनीय।]

भूयः=(अव्यय) भूयस्=फिर।

शृणु=√श्रु+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) सुन।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरे।

परमम्=(वि०) (नपुं०) द्वितीं० ए० व०=परम को।
वच:=(नपुं०) √वच्+असुन्=वचस। द्वितीं० ए० व०=वचन को।
इष्टः=(पुं०) √इष् (चाहना)+क्त+प्र० ए० व०=चाहा हुआ। प्रिय। प्यारा। मित्र।
असि=√अस्+लट्० म० पु०, ए० व०=है।
मे=षष्ठी० ए० व०=मेरा।
दृढम=(वि०) √दृह् (भ्वा० पर० अक०=दृढ़ होना)+क्त+(नपुं०) प्र०, ए० व०=पक्का। अतिशय।
इति=(अव्यय) इस प्रकार। ऐसा। यह।
ततः=(अव्यय)=ततस्=तेन कारणात्। इस से। इस लिए।
वक्ष्यामि=√वच्+लृट्०, उ० पु०, ए० व०=(मैं) कहूँगा।
ते=तुभ्यम्=तेरे लिये।
हितम=(नपुं०) √हि+क्त+द्वितीं० ए० व०=हित को। लाभ को। परम हित कारक वचन को।

अर्थ—(तू) फिर मेरे सारे गुह्यों से गुह्यतम परम (रहस्यमय) वचन को सुन। (क्योंकि तू) मेरा पक्का इष्ट (प्रिय मित्र) है। इसलिए (मैं) यह तेरे लिए हितकर (वचन) कहूँगा ॥ ६४ ॥

व्याख्या—६३वें श्लोक में भगवान् ने जब अर्जुन को अपने कर्त्तव्य का निश्चय करने के लिए कहा तो वह अपने सिर पर सारा भार पड़ता देखकर बहुत घबराया और कुछ भी न बोल सका। तब भगवान ने उसकी इस दशा को देख कर कहा कि हे अर्जुन! तुम्हें इस समय घबराने की कोई जरूरत नहीं है। अब मैं तुम को खूब गोपनीय रहस्यों में से गुह्यतम रहस्य बतलाने लगा हूँ क्योंकि तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो। जो लोग मुझ को मनुष्य समझते हैं वे अत्यन्त मूर्ख और भाग्यहीन हैं क्योंकि वे लोग मेरे वास्तव स्वरूप से अनभिज्ञ हैं तथा मेरी महिमा को जानते नहीं हैं। मैं तो साक्षात् ब्रह्म हूँ जो अपनी इच्छा से मनुष्य-शरीर में प्रकट हुआ हूँ और मैंने यह गीता रूप में तेरे मिस ब्रह्म-विद्या-ज्ञान संसार में प्रसारित किया है ताकि मेरे भक्तों का कल्याण और उद्धार हो। इसके आगे अब मैं वह ज्ञान तुम्हें बताने लगा हूँ। जिस पर आचरण करने से तेरे सम्पूर्ण सन्देह और संशय दूर हो जाएँगे। परन्तु ये मेरे वचन अत्यन्त छिपा कर रखते योग्य हैं। सब लोगों को बताने योग्य नहीं है ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

मत्+मनाः+भव मत्+भक्तः+मत्+याजी माम्+नमस्+कुरु।
माम्+एव+ऐष्यसि सत्यम्+ते प्रतिजाने प्रियः=असि मे ॥

मत्+मनाः=(वि०) मयि-मनाः ('मत्-मनस्—शब्द का (पुं०) प्र० ए० व०) =मुझ में मन वाला। मुझ सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वर में मन वाला।

भव=√भू+लोट्० म० पु०, ए० व०=हो।

मत्-भक्तः (भव)=(पुं०) प्र०, ए० व०=मेरा भक्त (हो)। अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति और निष्काम भाव से मेरे नाम के जप करने वाला, मेरी पूजा-अर्चा करने वाला और निरन्तर मेरे गुण गाने और सुनने वाला मेरा सच्चा भक्त बन।

मत्-याजी=(पुं०) प्र०, ए० व० ('मत्-याजिन्')=मेरा यजन-शील बन। मेरे निमित्त यज्ञ करने वाला हो।

माम्=अस्मद् (सर्वं०)+द्वितीं० ए० व०=मुझ को।

नमस्+कुरु=√[नम्+असुन्=नमस् (अव्यय)=नमस्कार, नमन, आदर सूचक, शीश झुकाना और दोनों हाथ जोड़ कर माथे से लगाना। माथा इष्ट देव के चरणों पर रखना। बन्दगी करना। "नमस्ते" कहना। √कृ+लोट्०, म० पु०, ए० व०=(तू) कर]। नमस्कार कर।

माम्=मुझ को।

एव=(अव्यय) ही।

एष्यसि=√इ (भ्वा० पर०सक=प्राप्त होना, पहुँचना)+लृट्० म० पु० ए० व०=प्राप्त होगा। (तू) प्राप्त होगा।

सत्यम्=(वि०) सते हितम्, सत्+यत्=सत्य+(नपुं०) द्वितीं० ए० व० =सत्य को। सच्ची।

ते=युष्मद् (सर्वं०)+चतुर्थी, षष्ठीं० ए० व०=तेरे लिए।

प्रतिजाने=प्रति√ज्ञा (क्र्या० उभ० सक०=जानना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) प्रतिज्ञा करता हूँ। (मैं) वादा करता हूँ। (मैं) विश्वास दिलाता हूँ। (मैं) देता हूँ। (मैं) इकरार करता हूँ। (I PROMISE.)।

प्रियः=(वि० पुं०)√प्री+क+प्र० ए० व०=प्यारा। (अत्यन्त) प्रिय।

असि=√अस्+लट्० म० पु० ए० व०=(तू) है।

मे=अस्मद् (सर्वं०)+षष्ठीं० ए० व०=मम, मे=मेरा।

अर्थ—(तू) मुझ में मन वाला हो। मेरा भक्त हो। मेरे लिए पूजा और यज्ञ करने वाला हो। (इस प्रकार) (तू) मुझे ही प्राप्त होगा। मैं तेरे लिए सच्चा वादा करता हूँ (क्योंकि) तू मेरा (अत्यन्त) प्रिय है॥ ६५॥

व्याख्या—जो भगवान् अव्यय अविनाशी अजन्मा, अनादि, अनन्त, अव्यक्त और पर-ब्रह्म परमेश्वर कहलाता है। वह द्वापुर युग में अपनी इच्छा से कृष्ण रूप में प्रकट हुआ। संसार को गीतामृत पिलाने के लिए अपने नर अंश अर्जुन को भी साथ ही प्रकट किया, यह सारा संसार नर और नारायण

का ही खेल है । नर तो विविध रूप धर कर जन्म लेने वाला जीवात्मा है और नारायण परब्रह्म परमेश्वर का नाम है जब ईश्वर की माया या त्रिगुणात्मक प्रकृति अनेक प्रकार की नाम और रूप धारी सृष्टि की रचना करती है तो उन सब शरीरों में परब्रह्म का प्रतिबिम्ब झलकने लगता है इस प्रतिबिम्ब का नाम नर या जीवात्मा है जो प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है । यदि प्राणी का शरीर सत्त्व गुण से भरपूर है तो यह प्रतिबिम्ब या नर रूप जीवात्मा अपने हृदय में अपने मूल स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर को देख लेता है और अपने भीतर बाहर दशों दिशाओं में सब ओर सोता जागता और सारे कर्म करता हुआ सदा उसी परब्रह्म के दर्शन करता है तथा प्रत्येक प्राणी में भी परब्रह्म परमात्मा रूपी विद्युत्-बल्व को प्रकाशित देखता है । यद्यपि सब प्राणियों में उसी परमेश्वर का प्रतिबिम्ब प्रकाशित है परन्तु तीनों गुणों के कारण किसी में अत्यन्त उज्वल रूप में दृष्टि-गोचर होता है, किसी में भासमान दिखाई देता है और किसी में तमोगुण की अधिकता के कारण छिपा रहता है । यद्यपि शंख कौड़ी घोंघा, सीपी और मोती आदि सब कैलिशियम के बने हुए होते हैं, परन्तु इन में मोती अत्यन्त उत्तम कैलिशियम का बना हुआ होता है । जिस की चमक-दमक और आभा देखते ही बनती है । इसी से वह बहुमूल्य होता है । राजाओं के गलों के हार में परोया जाता है और रानियों के गले का हार बनता है । खाने से टाईफाइड बुखार को सुचारु रूप से शान्त कर देता है । जिस प्रकार शंखों, घोंघों आदि में मोती श्रेष्ठतम होता है उसी प्रकार सब प्राणियों में मनुष्य या नर श्रेष्ठ होता है और नरों में राजा श्रेष्ठ माना जाता है तथा राजाओं से भी ब्रह्म ज्ञानी श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानियों में से भी नारायण कृष्ण के साथ सखा मित्र और शिष्य रूप में प्रकट हुआ अर्जुन ही सर्व-श्रेष्ठ नर है । यद्यपि कोयला, चीनी और हीरा तीनों कार्बन से बने हुए होते हैं परन्तु लाखों करोड़ों रुपयों के मूल्यवान् हीरे से चीनी और कोयले बेचारे की क्या समता हो सकती है ? इसी प्रकार अर्जुन भी नरों में कोहेनूर या उस से भी अत्यन्त उत्तम हीरा है जो भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र को अत्यन्त प्यारा है जिस को उन्होंने स्वयं ही इस श्लोक में "प्रियोऽसि मे" कह कर स्वीकार किया है और महाभारत में स्थान स्थान पर इस बात की गवाही तथा पुष्टि मिलती है । जिन में से बानगी मात्र के रूप में कुछ उदाहरण दर्शाये जाते हैं :—

१—भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

"ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥"

(वनपर्व १२।४५॥)

[अर्थ—तू मेरा है, मैं तेरा हूँ जो मेरे हैं वे तेरे ही हैं । जो तुम से शत्रुता करता है, वह मुझ से शत्रुता करता है । जो तेरा सेवक या अनुकूल है वह मेरा (भी) सेवक या अनुकूल है ।]

२—"एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकंद्विधा कृतम् ॥"

(उद्योगपर्व ४९।२०)

[अर्थ—यह श्रीकृष्ण, नारायण है और अर्जुन नर कहा गया है, ये नारायण और नर एक ही सत्त्व के दो रूप हैं। बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप हैं।] ३—अर्जुन और भगवान के परस्पर के दृढ़ प्रेम को देख कर सभापर्व में स्वयं दुर्योधन ने कहा था—।

"आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।
यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम् ॥
कृष्णो धनञ्जयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत।
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत ॥

अध्याय ५२।श्लोक ३१, ३३)

[अर्थ—श्री कृष्ण जी तो अर्जुन के आत्मा ही हैं, और श्रीकृष्ण का आत्मा अर्जुन है। अर्जुन, श्रीकृष्ण को (करने के लिये) जो कहेगा, निःसन्देह कृष्ण वह सब कुछ करेगा। श्रीकृष्ण जी अर्जुन के लिये स्वर्ग लोक को भी त्याग कर सकते हैं तथा इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्ण के लिये प्राणों को छोड़ सकता है।] इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण जी अर्जुन को अपना सच्चा प्यार जताते हुए उस से वादा या सच्ची प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि तू मेरे बतलाए हुए सब से गुह्यतम वचन को सुन कर उस पर आचरण करेगा तो तू अवश्य ही मेरे अव्यक्त परब्रह्म रूप को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् मुझ ब्रह्म के रूप से मिल जायेगा। तू प्रतिबिम्ब से बिम्ब हो जायेगा। नर से नारायण बन जाएगा। जीवात्मा से परमात्मा हो जाएगा। लहर रूप को त्याग कर समुद्र बनजायेगा। मठ का आकाश ब्रह्माण्ड के आकाश से मिलकर एकरूपता को प्राप्त कर लेगा। दीप शिखा का प्रकाश महा प्रकाश में मिल जाएगा। मैं सत्य संकल्पईश्वर हूँ, जगत् का हितचिन्तक पिता और नियन्त्रण करने वाला स्वामी हूँ। और विकसित कर मेरी एक किरण मात्र ने ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रूप कमलों के वन को प्रकाशित रक्खा है। मैं तुम्हें पहले भी कई बार कह चुका हूँ।

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९।३४)
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः समामेति पाण्डव ॥ (११।५५)
मय्येव मन आधस्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत उर्ध्वं न संशयः ॥ (१२।८)

अब फिर मैं तुम से कहता हूँ तू मुझ में मन वाला हो जा अर्थात् चलता फिरता सोता, जागता, खाता पीता और सारे कर्म करता हुआ मुझ परब्रह्म

परमेश्वर का चिन्तन किया कर और मेरे स्वरूप के ध्यान में अपने मन को लीन कर। मेरे बिना तेरे मन में और कुछ न होना चाहिए तू मुझे सदा ड्राईवर रूप में स्थित अपने मन में देख। अपने आप को बीच से हटा कर मेरे स्वरूप में अद्वैत रूप से मिल जा। मेरा भक्त बन जा "वासुदेवः सर्वमिति" अर्थात् सब कुछ वासुदेव का ही रूप है इस रहस्य को समझ कर मेरी भक्ति कर। और मेरे साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित कर। सम्पूर्ण सात्त्विककर्म यज्ञ रूप होते हैं तू उन सब को फलेच्छा त्याग करके मेरे निमित्त ही कर दे। और मेरी इच्छा समझ कर। जिस से वे कर्म तेरे सहज स्वभाव रूप हो जाएंगे और तेरे लिये बन्धन का कारण न बनेंगे। जिस समय किसी व्यक्ति या प्रतिमा आदि को तू नमस्कार करे, उस समय दृश्यमान स्वरूप को बीच से हटा कर तू मुझ को ही नमस्कार कर। क्योंकिमेरे बिना किसी और को नमस्कार करके तुझे छुटकारा नहीं मिल सकता।ऊपर कहे हुए चारों गुण जब तुझ में परिपक्वावस्था परपहुँच जाएंगे तो तूनिःसन्देह मुझ में मिल जायेगा। भगवत्-धर्म में नवधा भक्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यामात्मनिवेदनम्॥"

भगवान् के यश का श्रवण कीर्तन तथा स्मरण चरणों का सेवन, प्रतिमा का अर्चन, बन्दन, अर्जुन की तरह दासभाव और सखा भाव, तथा आत्म-अर्पण ये नो कर्म अनन्य भक्त कहे गये हैं॥

अरण्य काण्ड रामचरितमानस में राम, लक्ष्मण से कहते हैं—

स्रवनादिक नव भगति दृढाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
सन्त चरण पंकज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥
मम गुण गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरन्तर वस मैं ताके॥ ६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सर्व-धर्मान्+परित्यज्य माम्+एकम्+शरणम्+व्रज। अहम्+त्वा सर्व-पापेभ्यः+मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सर्व-धर्मान्=(पुं०) सर्वान् धर्मान् (द्वितीः० ब० व०)=सब धर्मों को। सर्वे च ते धर्माः च तान्। जितने भी संसार में धर्म प्रचलित हैं, उन सब के विचारों को। (अधर्मों या पापों का तो कोई प्रश्न ही नहीं है उनका त्याग तो करना ही है) सब अधर्मों और धर्मों को।

परित्यज्य=परि√त्यज् (भ्वा० पर० सक० अक०=त्यागना त्याग कर। [त्यज् धर्ममधर्मं च—महा० शां० ३२९।४०]

माम्=अस्मद् (सर्व) द्विती०, ए० व०=मुझ को। मेरी। मुझ परब्रह्म परमेश्वर की।

एकम्=(संख्या०) एक+द्विती०, ए० व०=एक का। केवल एक की।

शरणम्=(नपु०) शृणाति दुःखम् अनेन, √शृ+ल्युट्=शरण+द्विती० ए० व०= रक्षा को। आड़ को। आश्रय को। पनाह को। शरण को।

व्रज=√व्रज् (भ्वा० पर० सक०=जाना, प्राप्त होना)+लोट्०, म० पु० ए० व०=(तू) प्राप्त हो।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र०, ए० व०=मैं [सब का आत्मा, सब भूतों में स्थित ईश्वर, अच्युत तथा गर्भ, जन्म, जरा मरण से रहित पर-ब्रह्म परमेश्वर]

त्वा=युष्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=त्वाम्, त्वा=तुझ को।

सर्व-पापेभ्यः=(नपुं०) सर्वेभ्यः पापेभ्यः [पंच० ब० व०]=सब पापों से धर्माधर्म-बन्धन रूप पापों से।

मोक्षयिष्यामि=मोक्ष् (चुरा० उभ० पक्षे भ्वा० पर० सक०=छोड़ना)+निच् +लट्० उ० पु० ए० व०=(मैं) छुड़ा दूंगा। मुक्त कर दूंगा।

मा=(अव्यय)√मा=क्विप्=मत (हो)।

शुचः=√(शुच् भ्वा० पर० अक०=शोक करना, चिन्त करना)√अच्+(पुं०) प्र० ए० व०=शोक करने वाला। चिन्ता करने वाला।

अर्थ—सम्पूर्ण धर्मों (विद्यमान प्रचलित धर्मों तथा अविद्यमान भावी धर्मों) को त्याग कर (केवल) मुझ एक (परब्रह्म परमेश्वर) की शरण (पनाह) को (तू) प्राप्त हो। मैं तुझ को सम्पूर्ण (वंश-नाशनादि रूप) सारे पापों से छुड़ा लूंगा। तू शोक करने वाला मत हो॥ ६६॥

व्याख्या—यह श्लोक भगवान् के अर्जुन प्रति गीता उपदेश का अन्तिम श्लोक माना जाता है क्योंकि इसके बाद भगवान् ने केवल शास्त्र-सम्प्रदाय की विधि का ही वर्णन किया है और इस श्लोक की व्याख्या और अर्थ करते समय सब टीकाकार सहमत नहीं हो सके हैं और कुछ टीकाकारों ने तो एक दूसरे के दृष्टिकोण की अवहेलना भी की है। उन टीकाकारों में से श्री नारायण स्वामी ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—

"श्री शंकराचार्य ने गीतोपदेश का जो सार निकाला है। इस सार को कैसे गलत समझ कर श्री तिलक महाराज आदि अन्य भाष्यकारों ने अपने मत की पुष्टि में व्यर्थ खैंचातानी से इस के अर्थ का अनर्थ कर दिखलाया है, यद्यपि अन्त में सीधे नहीं तो टेढ़े रूप से वे सब इसी सार को अपने-अपने मन घड़ित ढांचे में ढालकर प्रतिपादन कर रहे हैं। वास्तव में भेद कुछ नहीं है, पर शब्दों में भेद उत्पन्न कर रक्खा है॥"

श्री शंकराचार्य जी कहते हैं—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य—संन्यस्य सर्वकर्माणि इति एतत् । माम् एकं (सर्वात्मानं समं सर्वभूतस्थम् ईश्वरम् अच्युत गर्भजन्मजरामरणविवर्जितम् अहम् एव इति एवम् एकं) शरणं व्रज । न मत्तः अन्यद् अस्ति इति अवधारय इत्यर्थः अहं त्वा (त्वाम् एवं निश्चितबुद्धिं) सर्वपापेभ्यः (सर्व धर्माधर्मबन्धनरूपेभ्यो) मोक्षयिष्यामि (स्वात्मभावप्रकाशीकरणेन) । उक्तं च—"नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" इति (अतो) मा शुचः (शोकं मा कार्षीः इत्यर्थः) ॥

[अर्थ—सब धर्मों को छोड़ कर—सर्व कर्मों का सन्यास करके, मुझ एक (सब के आत्मा, समभाव से सब भूतों में स्थित, ईश्वर अच्युत तथा गर्भ, जन्म, जरा और मरण से रहित मुझ एक ही) की शरण में प्राप्त हो, अर्थात् 'मुझ परमेश्वर से अन्य कुछ भी नहीं है,' ऐसा दृढ़ निश्चय कर। मैं तुझ इस प्रकार के निश्चय वाले को समस्त धर्माधर्मबन्धन रूप सारे पापों से (अपना स्वरूप प्रकट करके) छुड़ा लूंगा । मैं ने पहले भी कहा है— "मैं हृदय में स्थित हुआ प्रकाश-मय ज्ञान-दीपक से (अज्ञान जनित अन्धकार का) नाश करता हूँ इसलिये तू शोक या चिन्ता न कर ॥"

इस के बाद श्री स्वामी शंकराचार्य जी ने सिद्धान्त समेत सारी गीता का एक विस्तृत उपसंहार लिखा है जिस में यह सिद्ध किया है कि केवल आत्म-ज्ञान ही परम कल्याण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का एक मात्र साधन है । कर्म-योग नहीं क्योंकि 'कर्म मेरे हैं, मैं उनका कर्त्ता हूँ, मैं अमुक फल के लिये यह कर्म करता हूँ ।" यही अनादि काल से प्रवृत्त अविद्या है और "मैं अकर्ता हूँ, क्रिया रहित हूँ और फल से भी रहित आत्मा हूँ ।" ऐसा आत्मविषयक ज्ञान इस अविद्या का नाशक है । जैसे दीपक का प्रकाश रज्जू आदि वस्तुओं में होने वाली भ्रान्ति और अन्धकार को नाश कर देता है और उस में सर्प विषक विकल्प को हटा कर रज्जू को प्रत्यक्ष कर देता है और स्वयं भी समाप्त हो जाता है वैसे ही अविद्या रूप अंधकार के नाशक आत्म-ज्ञान का फल भी मोक्ष में ही समाप्त हो जाता है ॥

"सर्वतः संप्लुतोदके फले कूपतडागादिक्रियाफलार्थित्वाभावात्" अर्थात् जैसे सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर कूपतालाब आदि के लिये चाह नहीं रहती उसी प्रकार मोक्ष जिस का फल है उस ज्ञान की प्राप्ति होने के अनन्तर क्षणिक सुख रूप फलान्तर की या उस की साधन भूत क्रिया की इच्छुकता नहीं रहती । कर्म, कर्मों के फलों के नाशक नहीं हो सकते क्योंकि अन्धकार को अन्धकार कभी नाश नहीं कर सकता, इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का साधन है । श्रुति कहती है—

'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० उ०, ३।८॥)—उस (ईश्वर) को जान कर ही मनुष्य मृत्यु को उल्लङ्घन कर जाता है, परमपद की प्राप्ति के लिये और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

अज्ञानी ही 'मैं कर्म करता हूँ' ऐसा मानता है, ज्ञानी नहीं।

देहाभिमान अविद्या के कारण होता है अतः उस की निवृति होने पर शरीरान्तर की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् जन्म-मरण रूप संकट सदा के लिये नष्ट हो जाता है। मिथ्या प्रतीति से ही संग रहित आत्मा की संगति मान कर शरीर में आत्मभाव माना जाता है। 'मैं बड़ा हूँ, मैं गोरा हूँ' इस प्रकार शरीर—इन्द्रिय आदि के संघात में आत्माभिमान होता है। 'मैं शरीरादि सघात से पृथक हूँ' ऐसा समझने वाले ज्ञानी की शरीरादि संघात में अहं-बुद्धि नहीं होती।

शरीरादि में आत्म बुद्धि रूप अज्ञान-संतति का विच्छेद हो जाने पर सुषुप्ति और समाधि आदि सम्पूर्ण अवस्थाओं में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थ उपलब्ध नहीं होता।

इस से यह सिद्ध हुआ कि यह संसारभ्रम मिथ्या-ज्ञान-निमित्तक ही है, वास्तविक नहीं, अतः पूर्ण तत्त्वज्ञान से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है॥" (इस प्रकार श्री स्वामी शंकराचार्य जी के लेख का सार समझना चाहिए।)

श्री तिलक महाराज का अर्थ और व्याख्या इस प्रकार है—

"**अर्थ**—सब धर्मों को छोड़ कर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, डर मत॥

व्याख्या—कोरे ज्ञान मार्ग के टीकाकारों को यह भक्ति-प्रधान उपसंहार प्रिय नहीं लगता। इसलिये वे धर्म शब्द में ही अधर्म का समावेश करके कहते हैं कि यह श्लोक कठ उपनिषत् के इस उपदेश से ही समानार्थक है कि—"धर्म-अधर्म, कृत-अकृत और भूत-भव सब को छोड़ कर इन के परे रहने वाले पर-ब्रह्म को पहचानो" (कठ० २।१४) तथा इस में निर्गुण ब्रह्म की शरण में जाने का उपदेश है। निर्गुण ब्रह्म का वर्णन करते समय कठ उपनिषद् का श्लोक महाभारत में भी आया है (शां० ३२९।४०, ३३१।४४)। परन्तु दोनों स्थानों पर धर्म और अधर्म, दोनों पद जैसे स्पष्टतया पाये जाते हैं, वैसे गीता में नहीं हैं। यह सच है कि गीता निर्गुण ब्रह्म को मानती है और उस में यह निर्णय भी किया गया है कि परमेश्वर का वही स्वरूप श्रेष्ठ है (गी० ७।२४)। तथापि गीता का यह भी तो सिद्धान्त है, व्यक्तोपासना सुलभ और श्रेष्ठ है (१२।५॥) और यहां भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र अपने व्यक्त स्वरूप के विषय में ही कह रहे हैं। इस कारण हमारा यह दृढ़ मत है कि यह उपसंहार भक्ति प्रधान ही है। अर्थात् यहाँ निर्गुण ब्रह्म विवक्षित नहीं है, किन्तु कहना चाहिए, कि यहाँ पर धर्म शब्द से परमेश्वर-प्राप्ति के

लिये शास्त्रों में जो अनेक मार्ग बतलाए गये हैं—जैसे अहिंसा-धर्म, सत्य-धर्म मातृ-पितृ-सेवा-धर्म, गुरू-सेवा-धर्म, यज्ञ-याग-धर्म, दान-धर्म, संन्यास-धर्म, वही अभिप्रेत हैं। महाभारत के शान्तिपर्व (३५४) में एवं अनुगीता (अश्व ४८) में जहां इस विषय की चर्चा हुई है, वहां धर्म शब्द से मोक्ष के इन्हीं उपायों का उल्लेख किया गया है। परन्तु इस स्थान पर गीता के प्रतिपाद्य धर्म के अनुरोध से भगवान् का यह निश्चयात्मक उपदेश है कि उक्त नाना धर्मों की गड़ बड़ में न पड़ कर "मुझ अकेले को ही भज। मैं तेरा उद्धार कर दूंगा, डर मत।"

सार यह है कि अन्त में अर्जुन को निमित्त बना कर भगवान् सभी को आश्वासन देते हैं कि मेरी दृढ़ भक्ति करके मत्परायण बुद्धि से स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले कर्म करते जाने पर इह लोक और परलोक दोनों जगह तुम्हारा कल्याण होगा, डरो मत॥"

सन्त तुका राम जी भगवान् से प्रार्थना करते हैं—

चतुराई चेतना सभी चूल्हे में जावे।
बस मेरा मन एक ईश-चरणाश्रय पावे॥
आग लगे आचार-विचारों के उपचय में।
उस बिभु का विश्वास सदा दृढ़ रहे हृदय में॥

हमारे विचार में "सर्वधर्मों को" का अर्थ यहां "सर्व मत-मतान्तरों को" है। यदि यह कहो कि भगवान् के समय तो आधुनिक मत-मतान्तर विद्यमान नहीं थे तो उस का उत्तर यह है कि अर्जुन तो केवल निमित्त मात्र है गीता-ज्ञान तो प्राणी मात्र के लिये है और सब समयों के लिये है। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं। वर्त्तमान, भूत और भविष्यत् के जानने वाले हैं। उन के कहने का भाव यह है, कि हे मनुष्य! तू चाहे किसी देश, किसी जाति और किसी भी धर्म के अनुयायियों के घर उत्पन्न हुआ है। परन्तु तुम्हें किसी भी धर्म का पक्षपाती न बनना चाहिए तुम्हें सब धर्मों के लोग एक समान भासमान होने चाहिएँ। सब में मेरा ही रूप देखना चाहिए यही सब धर्मों का त्याग है। यही एक परमात्मा की शरण में जाना है। जो पुरुष धर्म सम्बन्धी इस प्रकार समदृष्टि हो जाता है। किसी से वैर-विरोध नहीं करता सब में एक ही आत्मा को देखता है विना भगवान् के जिसे और कुछ दिखाई ही नहीं देता मानो उसने सम्पूर्ण धर्मों का त्याग कर दिया है वह परमात्मा की शरण को प्राप्त हो गया है उसके अगले पिछले सम्पूर्ण पाप भगवान् छुड़ा देते हैं उस को उनसे डरना नहीं चाहिए जिन टीकाकारों ने अपनी टीका में धर्म के साथ अधर्म के त्याग को भी जोड़ दिया है वे धर्म का अर्थ मतमतान्तर नहीं समझते जो मत मतान्तर कि असहनशील और कट्टर पंथियों के समूह या टोले हो जाने पर संसार में रहने वालों की ही अशान्ति के कारण बने

हुए हैं मोक्ष की प्राप्ति तो उन से कैसे हो सकती है ? इसलिये भगवान् ने इन सब को छोड़ कर अपनी शरण में आने के लिये कहा है। ऐसा हो जाने पर पुरुष नये पाप नहीं कर सकता और पूर्वले पाप भगवान् क्षमा कर देते हैं।

इस श्लोक में धर्म का अर्थ कर्म नहीं हो सकता क्योंकि भगवान् अर्जुन को युद्ध करने के लिये कह रहे हैं। वह उस को सब कर्मों का त्याग करना कह कर फिर उसे युद्ध करने के लिये कैसे प्रेरित कर सकते हैं और फिर अर्जुन जिस कुल-नाश तथा बन्धु-बाँधवों के मारने के पाप से डरता है उस पाप से न डरने का भी उपदेश दे रहे हैं और साथ ही उन पापों से छुड़ाने की भी प्रतिज्ञा कर रहे हैं। यमराज ने अपने दूत से कहा था कि हे दूत ! भगवच्छरण प्राप्त पुरुषों के समीप तूने कभी न जाना। ये भगवत्-शरण प्राप्त पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—

१—यह मानने वाला कि, "मैं परमेश्वर का ही हूँ।"
२—यह समझने वाला कि, "परमेश्वर मेरा ही है।"
३—इस निश्चय वाला कि, "मैं ही परमेश्वर हूँ।"

पहली प्रकार का भगवत्-शरण 'मृदु' कहलाता है। जैसे – हे सारे संसार के स्वामी परमेश्वर ! जिस प्रकार सागर और लहरों का भेद नहीं होता, परन्तु फिर भी समुद्र के तरंग कहे जाते हैं तरंगों का समुद्र कोई नहीं कहता। बेशक तेरा और मेरा भेद नहीं है तथापि मैं तेरा हूँ। तू मेरे अकेले का नहीं। इस प्रकार समझने वाला भगवान् की शरण में आया हुआ पहली श्रेणी में समझा जाता है।

दूसरा भगवत्-शरण प्राप्त पुरुष मध्यम कहा जाता है। जो कहता है कि—

हे कृष्ण ! बलात्कार से हमारे हाथ को छुड़ा कर आप जा रहे हो। इस में आप का कोई अद्भूत पौरुष सिद्ध नहीं होता। जब आप हमारे हृदय से निकल भागोगे तभी मैं तेरे पौरुष को मानूँगा।

हस्तमुत्क्षिप्य यातोसि बलात्कृष्ण ! किमद्भूतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥

ऐसा ही सूरदास ने भी कहा है—

"बांह छुड़ाये जात हो, निबल जानिके मोय।
हिरदय से जब जाउगे, तब जानूँगो तोय ॥

और तीसरा भगवच्छरण-प्राप्त पुरुष अति-मात्र कहलाता है—उस की धारणा होती है कि यह स्थावर जंगम रूप जगत् और मैं सब वासुदेव रूप ही है और वह परम पुरुष परमेश्वर एक और अद्वितीय रूप ही है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः० (गी० ३।३५) इत्यादि श्लोकों से इस श्लोक का कोई विरोध नहीं है क्योंकि इन श्लोकों का तो केवल यह आशय है कि "एक

छोड़ दूजे लड़ लग्गे सेई डूबे बंजारिया।" अर्थात् "कौवा चला हंस की चाल भल गया अपनी भी चाल।" भाव यह कि मूर्खतावश दूसरों द्वारा दोष या कीड़े दिखाए जाने पर मूर्ख और लाईलग पूरुष को अपना वह धर्म सहसा त्याग कर दूसरे के धर्म को उत्तम समझ कर कदापि ग्रहण नहीं कर लेना चाहिए, जिस में कि उसका जन्म हुआ है। वर्तमान श्लोक का आशय तो माईं बुल्ले शाह की भान्ति केवल मनुष्य बनना हैं। मनुष्य बने हुए पुरुष को तो किसी धर्म या मतमतान्तर में कोई दिलचस्पी नहीं होती वह तो केवल एक परमेश्वर का ही प्रिय होता है और परमेश्वर उस का प्रिय होता है। उसको किसी भी प्राणी से किसी प्रकार का भी कोई वैर विरोध नहीं होता ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

इदम्+ते न अतपस्काय न+अभक्ताय कदाचन। न च अशुश्रूषवे वाच्यम्+न च माम्+यः+अभ्यसूयति ॥

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इस को। इस गीता-ज्ञान रूप शास्त्र को।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिये (कहे हुए को)। तेरे हित के लिए (कहे हुए को)। तेरा संसार-उच्छेदन करने के लिये कहा हुआ।

न=न। नहीं।

अतपस्काय=वि० पुं०, चतु०, ए० व०=न+तपस्काय (नञ्०)=तपो रहिताय। [अतपस्क=(वि०) (न० बहुव्री०) वह व्यक्ति जो अपना धार्मिक कृत्य नहीं करता या अपने धार्मिक कर्त्तव्यों से विमुख रहता है।] तप रहित के लिए।

न=न। नहीं।

अभक्ताय=(वि० (नञ् बहुव्री०) न+भक्ताय=(पुं०) चतु० ए० व०=भक्ति हीन के प्रति। [वेद, शास्त्र, परमेश्वर, देवता, महात्मा और गुरु आदि पूज्यों में श्रद्धा, प्रेम और पूज्य भाव का नाम भक्ति है।]
भक्ति की भावना से रहित के प्रति।

कदाचन=(अव्यय) किम्+दा=कदा+चन=किसी काल में भी। कभी।

न=न। नहीं।

च=और।

अशुश्रूषवे=(वि०) न शुश्रूषुः यः सः (नञ् बहुव्री०) √श्रु (स्वा० पर० सक० अक०)+सन्, द्वित्वादि+उ=अशुश्रूषु०+(पुं०) चतु० ए० व०= न श्रवण करने के अभिलाषी के लिये। सुनना न चाहने वाले के प्रति। विना सुनने की इच्छा वाले के प्रति।

वाच्यम्=(वि०) √वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+ण्यत्=वाच्य+(नपुं०) प्र० ए० व०=कहने योग्य है। कहना चाहिए॥

न=न। नहीं।

च=और।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

अभ्यसूयति=अभि √असू (असूञ्)+यक्=असूय (नाम धातु)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=निन्दता है।

अर्थ– तेरे (हित के लिये कहे हुए) इस (गीता-ज्ञान) को कभी, न तप रहित (पुरुष) के प्रति, न भक्ति-हीन (मनुष्य) के प्रति और न, सुनना चाहने वाले के प्रति कहना चाहिए तथा जो मुझ को निन्दता है (उसको भी न सुनाना चाहिए)॥ ६७॥

व्याख्या–जो तप नहीं तपता, भक्ति नहीं करता, सुनने की इच्छा नहीं रखता तथा जो मुझ को निन्दता है। उसको यह गुह्य गीता-ज्ञान-शास्त्र कभी न सुनाना चाहिए॥ हे अर्जुन! तूने नर रूप में मुझ नारायण के साथ अवतार धारण करके चिर काल तक तप किया है, तू ने नींद को जीता हुआ है और अपनी इन्द्रियों एवं मन को वश में किया हुआ है। इस पर पूर्ण तू मेरा भक्त और मुझ पर श्रद्धावान् भी है और इस गुह्य-गीता-ज्ञान के सुनने की उत्कट इच्छा वाला होकर मेरे प्रति प्रश्न करता रहा है। इस कारण से तू मेरा प्रिय शिष्य है तथा मेरी प्रशंसा करने वाला एवं मेरे गुणों को कहने और सुनने वाला है और किसी काल में भी मेरी निन्दा भूल कर भी नहीं करता इसलिये जब मैंने देखा कि तुझ में चारों गुण तप भक्ति, सुनने की उत्कट इच्छा और भूल कर भी निन्दा न करना विद्यमान है, तब मैंने तुझ को इस गुह्यतम गीता ज्ञान को श्रवण करने का अधिकारी जाना, इसलिये तेरे हित के लिये अर्थात् तेरे जन्म-मरण का बन्धन काट कर संसार का उच्छेदन करने के लिये तुझे गीता उपदेश रूप अमृत पिलाया है। तूने भी सदा इन उक्त चारों गुणों से युक्त प्रेमी पुरुष को ही गीता का उपदेश करना, अन्यथा किसी को नहीं। जिस में इन में से किसी एक भी गुण की न्यूनता हो उसे कभी गीता-उपदेश का अधिकारी न समझना, क्योंकि जो पुरुष किसी काल में भी ईश्वर के ध्यान में लीन नहीं होता, लोलुप और व्यभिचारी है। मद्य पान करता है, तामस और राजस भोजनों को भक्षण करता है। शरीर इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर नियन्त्रण किए हुए नहीं है उस में चाहे शेष तीनों गुण भी क्यों विद्यमान न हों, उसे बुली कुत्ता ही समझना चाहिए, जो स्वामी भक्त भी है, मालक की बात भी ध्यानपूर्वक सुनता और मानता है और अपने स्वामी की कभी निन्दा भी नहीं करता है परन्तु इन तीनों गुणों से युक्त

होकर भी उसका अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं है क्योंकि वह लोगों और जीवों को काटता है जूठन और मांस भक्षण करता है।

जो पुरुष तपस्वी भी है, श्रवण करने की इच्छा भी करता है और मुझ वासुदेव कृष्ण या परमेश्वर की निन्दा भी नहीं करता है परन्तु मेरा भक्त नहीं है। गुरु और सुनाने वाले पर श्रद्धा नहीं रखता है, देवताओं और बड़ों का आदर नहीं करता है। पूज्य पुरुषों के सम्मुख शीश नहीं झुकाता है. अड़ियल टट्टू और क्रूर है, वह कभी गीता सुनने का अधिकारी नहीं हैं। उस को भी गीता-ज्ञान कभी न सुनाना चाहिए और जो पुरुष भक्त भी है, तपस्वी भी है और असूया से भी रहित है, परन्तु सुनने की इच्छा वाला नहीं है वह तो उस सुन्दर. गोल, आवदार मोती के समान है जिस में गीता ज्ञान रूपी डोरी डालने के लिये छिद्र नहीं है अथवा जिस का पेट पहले ही भोजन से अच्छी तरह ठसाठस भरा हुआ है। उसे और अधिक भोजन करने की रुचि नहीं है। इस से उसे भोजन खिलाना कभी लाभ देने वाला या हितकर नहीं हो सकता है, इसी प्रकार किसी पूर्ण ब्रह्म ज्ञानी को गीता सुनाना भी भरे समुद्र पर वृष्टि करने के तुल्य निष्फल ही होता है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी में शेष तीनों गुण होने पर भी, अधिक रुग्ण होने पर गीता सुनने की रुचि या अनुराग ही जाता रहा तो उसे औषध तो हठपूर्वक भी सेवन करवाई जा सकती है, परन्तु गीता कभी न सुनानी चाहिए क्योंकि सुनने में अरुचि या अनिच्छा होने पर उसे कोई लाभ नहीं होता और सुनाने वाले का भी उपहास होता है। जहाँ जो बात उपयुक्त हो वह कहनी और करनी चाहिए। जो नेत्र सौन्दर्य की परख करने वाले हैं उन्हें सुवास या ख़ुशबू से क्या लाभ हो सकता है ? जो पुरुष-ऊपर-उक्त पहले तीनों गुणों से युक्त होकर भी मुझ भगवान् कृष्ण को प्राकृत नर मान कर, मुझ में दोष-दृष्टि रखता है। मुझ को परमेश्वर न समझ कर मुझ में आत्म-प्रशंसादि दोषों का अध्यारोप करता है, वह भी इस गुह्यतम गीता ज्ञान को सुनने के अयोग्य होता है। पहले तीन गुणों से युक्त और चौथे गुण से रहित पुरुष की समता उस पुरुष से की जा सकती है जो अत्यन्त सुन्दर गौर-वर्ण भी है। तरुण भी है और बहुमूल्य सुन्दर वस्त्रों और भूषणों से सुशोभित भी है। परन्तु प्राणों से रहित है। उस को जैसे कोई औषधि लाभ नहीं दे सकती। इसी प्रकार मेरे अभ्यसूचक को गीता सुनाने से कोई लाभ नहीं हो सकता।

यद्यपि इस श्लोक में एक ही नकार के कथन करने से उक्त अर्थ की सिद्धि हो सकती थी तो भी भगवान् ने यहाँ चार बार नकार का प्रयोग किया है। जिससे एक भी विशेषण के अभाव वाले पुरुष को गीता उपदेश करने की मनाही कर दी गई है। इसलिए अर्थापत्ति से यही निश्चय होता है कि यह

गीता शास्त्र भगवान् ने "भक्ति रखने वाले, तपस्वी, शुश्रूषायुक्त और दोष दृष्टि से रहित पुरुषों को ही सुनाना चाहिए" ऐसा कहा है।

अन्य स्मृतियों में "तपस्वी को" के स्थान पर "मेधावी को" कहा गया है। इसलिए यह समझना चाहिए कि शुश्रूषा और भक्तियुक्त तपस्वी को अथवा इन तीनों गुणों से युक्त मेधावी को यह शास्त्र सुनाना चाहिए। अन्य किसी को नहीं।

श्रुति में भी कहा है—

"विद्या हवै ब्राह्मणमाजगाम गोपायमाशे वधिष्टेहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय त मा ब्रूया अवीर्यवती तथा स्याम्॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा-देव-तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥"

अर्थ—(एक बार अनधिकारी पुरुषों को प्राप्त होने से दुःखी हुई वेद (ब्रह्म) विद्या, विद्या के देने वाले ब्राह्मणों के पास गई और कहने लगी)—हे ब्राह्मणो! तुम मुझे गुप्त रखो। इससे मैं तुम को भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति करा दूँगी और जो कदाचित् लोगों पर कृपा दृष्टि करने के कारण से तुम लोग मुझ को गुप्त नहीं रख सकते हो, तो जो पुरुष असूया (निन्दा) दोष से युक्त हो, ऋजु (सरल) भाव से रहित हो तथा मन सहित इन्द्रियों के निग्रह से हीन हो और परमेश्वर की भक्ति और गुरु-श्रद्धा से विहीन हो, उसको मुझ ब्रह्म विद्या का उपदेश मत करना उसको उपदेश की हुई मैं शक्तिहीन होती हूँ तथा वन्ध्या स्त्री के समान निष्फला हो जाती हूँ। परन्तु जो पुरुष असूया दोष से रहित है। सरल भाव से युक्त है तथा इन्द्रियों के निग्रह रूप तप वाला है। गुरु की सेवा और भक्ति करने वाला है तथा भगवान् में परम श्रद्धा और अनुराग वाला है, ऐसे अधिकारी पुरुष के प्रति तुमने मुझ वेद विद्या का उपदश अवश्य करना॥ ६७॥

यः इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥

यः इमम्+परमम्+गुह्यम्+मत्+भक्तेषु+अभिधास्यति। भक्तिम् +मयि पराम्+कृत्वा माम्+एव+एष्यति+असंशयः॥

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (कोई पुरुष)।

इदम्=(सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व० इमम्, इदम्=इसको।

परमम्=(वि०) (नपुं०) द्विती० ए० व०=परम को। अत्यन्त को।

गुह्यम्=(वि०)√गुह् (भ्वा० उभ० सक०=छिपाना)+क्यप्=गुह्य+(नपुं०) प्र० ए० व०=छिपाने के योग्य को। कठिनता से समझ में आने वाले को। गोप्य गीता-ग्रन्थ को।

मत्+भक्तेषु=(पुं०) मयि भक्तिमत्सु=मेरे भक्तों में। [भक्त=(वि०)√भज्

+क्त=भक्त+सप्त० ब० व०=भक्तों में, अनुरक्तों में। उपासकों में। सेवकों में।]

अभिधास्यति=अभि√धा (जुहो० उभ० सक०=रखना कहना)+लृट्०, प्र० पु०, ए० व०=कहेगा। स्थापित करेगा। सुनावेगा—ग्रन्थ रूप से या अर्थ रूप से स्थापित करेगा।

भक्तिम्=(स्त्री०)√भज्+क्तिन्=भक्ति+द्वितो०. ए० व०=भक्ति को। प्रेम को।

मयि=अस्मद् (सर्व०)+सप्त०, ए० व०=मुझ में।

पराम्=(वि०) परा (स्त्री०)+द्विती०, ए० व०=परा को। परम को।

कृत्वा=√कृ (तना० उभ० स०=करना)+क्त्वा=करके।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

एव=ही।

एष्यति=√इ (भ्वा० पर० सक०=जाना। प्राप्त करना)+लृट्०+प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होगा।

असंशयम्=(वि०) नञ् बहुव्री० (नपुं०) प्र० ए० व०=निःसन्देह।

अर्थ जो (कोई पुरुष) मुझ में परा-भक्ति (परम प्रीति) करके, इस परम गुह्य (कठिनता से समझ में आने वाले अथवा परम गोप्य, गीता शास्त्र) को मेरे भक्तों में (मूल या अर्थ रूप से) सुनावेगा। (या ग्रन्थ रूप से स्थापित करेगा) (वह) निःसन्देह मुझ को ही प्राप्त होगा ॥ ६८ ॥

व्याख्या—भगवान् ने पूर्व श्लोक में गीता के अधिकारी पुरुष में १—तप, २—भक्ति, ३—सुनने की उत्कट इच्छा और ४—श्रीकृष्ण जी से अभ्यसूया न करना, इन चार गुणों का होना अनिवार्य कहा है। अब भगवान् के कहने का आशय यह है कि मेरे जिन भक्तों में ये चारों गुण पूर्णतया विद्यमान हों उनमें जो कोई पुरुष मुझ में अत्यन्त भक्ति से मेरे इस गीता ज्ञान को कहेगा वह अवश्य ही शरीर त्याग करने के अनन्तर मुझ में मिल जाएगा अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाएगा। गीता-ज्ञान या ब्रह्म विद्या अत्यन्त गुह्य विद्या है। जो जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास और तप करने से बड़ी कठिनता से समझ में आती है, प्रायः श्रीकृष्ण जैसा योगेश्वर महा ज्ञानी गुरु ही इसे समझा सकता है और अर्जुन सरीखा तपस्वी, भक्त, सुनने की इच्छा रखने वाला और गुरु की निन्दा न करने वाला शिष्य ही इसे समझ सकता है। जिससे गुरु और शिष्य दोनों परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं। अधिकारी पुरुषों को गीता सुनाना परमात्मा की परम भक्ति करना ही है क्योंकि जो कोई ब्रह्म विद्या दूसरे को समझाने की सामर्थ्य रखता है, उसने पहले उसे अच्छी तरह से समझा हुआ होता है। नेत्रों वाला ही दूसरों को मार्ग दिखला सकता है। नेत्रहीन नहीं। जिसके ज्ञान-चक्षु पूरी तरह से उन्मीलित हो चुके हों, वही परमात्मा को प्राप्त होने या

मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी होता है। भगवान् को प्राप्त होने के लिए यह गीता शास्त्र एक ऐसा यन्त्र या सवारी का साधन है जिसके द्वारा पुरुष भगवान् में जाकर मिल जाता है तथा इस गीता रूप महान् समुद्री जहाज़ के द्वारा भव-सागर से पार उतर जाता है तथा गीता एक पुलाड़ी जहाज़ के तुल्य है जो पढ़ने, सुनने या सुनाने से पुरुष को प्रभु के परम धाम में पहुँचा देता है ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

न च तस्मात्+मनुष्येषु कश्चित् मे प्रिय कृत्+तमः । भवता न च मे तस्मात्+अन्यः प्रियतरः+भुवि ॥

न=न । नहीं ।

च=और ।

तस्मात्=तद् (सर्व०)+(पुं०) पंच० ए० व०=उससे (बढ़ कर) ।

मनुष्येषु=(पुं०) मनुष्य+सप्त० ब० व०=मनुष्यों में । (मनुष्याणां मध्ये= मनुष्यों के मध्य में) ।

कश्चित्=किम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=कः+चित्=कश्चित्= कोई ।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा ।

प्रिय-कृत्+तमः=(पुं०) प्र० ए० व०=अत्यन्त प्यार करने वाला । अत्यन्त प्यारा कार्य करने वाला । [√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+ शतृ=कृत्=करता हुआ । कृत्+क्विप्=कृत्=(कार्य) करने वाला ।]

भविता=√भू+लुट्०, प्र० पु०, ए० व०=होगा । (भविष्यत् काल में भी) होगा ।

न=न । नहीं ।

च=और ।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा ।

तस्मात्=(पुं०) पंच० ए० व०=उससे (बढ़ कर) ।

अन्यः=(वि०)√अन्+यः+(पुं०) प्र० ए० व०=दूसरा (कोई) ।

प्रिय-तरः=(वि०) (पुं०) प्र० ए० व०=अधिक प्रिय । प्रियतर । बहुत प्यारा ।

भुवि=(स्त्री०)√भू+क्विप्=भू+सप्त० ए०=भू में । पृथिवी पर ।

अर्थ— और उससे (बढ़कर) मनुष्यों में मेरा अत्यन्त प्यार करने वाला (अथवा मेरा प्यारा कार्य करने वाला) कोई नहीं है और न उससे (बढ़कर) मेरा अधिक प्रिय पृथिवी पर दूसरा (कोई) होगा ॥ ६९ ॥

व्याख्या— गीता-ज्ञान अत्यन्त गूढ़ है जिस पर भगवान् की कृपा होती है उसकी बुद्धि इसे ग्रहण कर लेती है परन्तु इसको समझाने वाला भी कोई एक

कृष्ण स्वरूप ही होता है। जिसके द्वारा इस ज्ञान का प्रचार ठीक रूप में प्रभु-भक्तों में किया जाता है। भगवान् उस पर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और उसे पृथिवी पर अपना प्रियतर भक्त मानते हैं। वह भगवान् को अति प्रिय हो भी क्यों न ? जबकि वह इस ब्रह्म-विद्या ज्ञान के द्वारा स्वयं भी मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है और अन्य भक्तों को भी मोक्ष का अधिकारी बनवा देता है। गीता से प्यार करने वाला भगवान् से प्यार करने वाला होता है क्योंकि जिस प्रकार गायत्री अमृत तुल्य है, गंगा का जल अमृत के समान है, उसी प्रकार गीता की वाणी भी अमृत के सदृश है। जो कानों द्वारा हृदय में पहुँच कर मनुष्य को अमर करके उसका परब्रह्म के स्वरूप में मेल करा देती है। इसके द्वारा ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं और मनुष्य, आत्मा को पहचान लेता है, शरीर से ममता टूट जाती है, संसार मिथ्या भासने लगता है, शुभाशुभ कर्मों की श्रृंखलाएँ टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं, इसी से भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष मेरे भक्तों को गीता-ज्ञान सुनाने और समझाने वाला है। उससे बढ़कर कोई भी पृथिवी में अधिक प्रिय मुझ को नहीं है और वह मेरा परम प्रिय भक्त है ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

अध्येष्यते च यः+इमम्+धर्म्यम्+संवादम्+आवयोः । ज्ञान-यज्ञेन तेन +अहम्+इष्टः स्याम्+इति मे मतिः ॥

अध्येष्यते अधि√इङ् (अदा० आत्म० सक०=पढ़ना)+लृट्० प्र० पु० ए० व०=पढ़ेगा। ['अधि' पूर्वक एव ङित्]। (पठिष्यति)।

च=और।

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० प०=जो (पुरुष)।

इमम्=इदम् (सर्व०)+(पुं०) द्वितीे० ए० व०=इसको।

धर्म्यम्=(वि०) धर्मात् अपेतः, धर्म+यत्=धर्म्य+(पुं०) द्विती० ए० व०= धर्म-युक्त को।

संवादम्=(पुं०) सम्√वद्+घञ्=संवाद+लट्० द्विती० ए० व०=संवाद को। संवाद (रूप गीता शास्त्र) को। गीता ग्रन्थ को।

आवयोः=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी द्वि० व०=हम दोनों के। (मुझ, कृष्ण और अर्जुन) हम दोनों के।

ज्ञान-यज्ञेन=(पुं०) तृती० ए० व०=ज्ञान-यज्ञ द्वारा।

[विधिजपोपांशुमानसानां यज्ञानां ज्ञानयज्ञो मानसत्वाद् विशिष्टतम इति अतः तेन ज्ञानयज्ञेन गीताशास्त्रस्य अध्ययनं स्तूयते।

(श्री स्वामी शंकराचार्य)]

अर्थ – विधि-यज्ञ, जप-यज्ञ, उपांशु-यज्ञ (मन्द स्वर से मन्त्र का जप करना) और मानस-यज्ञ इन चार यज्ञों में, ज्ञान-यज्ञ, मानस-यज्ञ होने से श्रेष्ठतम है, इसलिये इस ज्ञान-यज्ञ की समानता द्वारा गीता-शास्त्र के अध्ययन की स्तुति की गई है ।।]

तेन=तद् (सर्व०)+(पुं०) तृती० ए० व०=उसके द्वारा ।
अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं ।
इष्टः=(वि०)√यज्+क्त+(पु०) प्र० ए० व०=पूजा हुआ । पूजित ।
स्याम्=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+विधि० उ० पु०, ए० व०= हूंगा । [भवेयम्]
इति=(अव्यय) इस प्रकार । ऐसा ।
मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा ।
मतिः=(स्त्री०) √मन्+क्तिन्+प्र० ए० व०=बुद्धि । निश्चय । मत । विचार ।।

अर्थ—और जो (पुरुष) [मुझ कृष्ण और अर्जुन] हम दोनों के इस धर्म-युक्त संवाद (गीता-ग्रन्थ) को (श्रद्धापूर्वक नित्य) पढ़ेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञान-यज्ञ से पूजित हूंगा । इस प्रकार मेरा निश्चय है ।। ७० ।।

व्याख्या —हे अर्जुन ! मोक्ष की प्राप्ति का साधन यह गीता ज्ञान है । जो हम दोनों के संवाद के रूप में भूतल पर प्रकट हुआ है इसमें सम्पूर्ण मानव धर्म का सार वर्णित हुआ है इसलिये यह ज्ञान, धर्म-मय है । इस गीता-शास्त्र को जो अधिकारी पुरुष नित्य-नियम से श्रद्धा पूर्व पढ़ेगा, पाठ करेगा, इसके अर्थ का विचार करेगा । वह इसके द्वारा नित्य ज्ञान-यज्ञ का अनुष्ठान करेगा जिसके द्वारा मुझ पर-ब्रह्म-परमेश्वर की पूजा होगी । शास्त्र में यज्ञ चार प्रकार का कहा गया है :—

१—विधि यज्ञ—जिस में अग्नि में आहुति देकर देव पूजा की जाती है ।

२—जप-यज्ञ—जिसमें किसी मन्त्र का जप ऊँचे स्वर से किया जाता है ।

३—उपांशु-यज्ञ—जिसमें अत्यन्त मन्द स्वर से जप किया जाता है । इसमें केवल होंठ ही हिलते भासमान होते हैं ।

४—मानस-यज्ञ—इसका सम्बन्ध केवल मन की शुद्धि से ही होता है । यह मानस-यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठतम माना जाता है । ज्ञान-यज्ञ भी एक प्रकार का मानस-यज्ञ ही है क्योंकि इसका सम्बन्ध केवल अन्तःकरण या मन से ही होता है । यह ज्ञान-यज्ञ परमेश्वर की पूजा का सब से श्रेष्ठ साधन है । तुम्हें पहले भी बताया जा चुका है कि—

"श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" ।। [गी० ४।३३]

अर्थात् हे परंतम ! द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! संसार के सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं अर्थात् कर्ममात्र की पूर्णाहुति ज्ञान में ही होती है ॥

जो पुरुष इस धर्ममय गीता का अर्थ न जानता हुआ भी इसका पाठ करता है उसका मन और बुद्धि भी मेरे अर्पण होते हैं मैं उसकी श्रद्धापूर्वक इस भेंट से पूजित होता हूं । हे पार्थ ! ऐसा तू मेरा दृढ़ निश्चय जान ले । बार बार इस प्रकार पूजित हुआ मैं अपने इस भक्त को मोक्ष देता हूँ ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

श्रद्धावान्+अनसूयः+च शृणुयात्+अपि यः+नरः । सः+अपि मुक्तः शुभान्+लोकान्+प्राप्नुयात्+पुण्य-कर्मणाम् ॥

श्रद्धावान्=(वि०) श्रद्धा+मतुप्=श्रद्धावत्+(पुं०) प्र० ए० व०=श्रद्धावान् । श्रद्धा वाला । [श्रद्धा=(स्त्री०) श्रत् √धा+अङ्-टाप् । एक प्रकार की मनोवृत्ति जिसमें किसी पूज्य के प्रति भक्ति-पूर्वक विश्वास के साथ उच्च और पूज्य भाव उत्पन्न होता है ।]

अनसूयः=(वि०) नास्ति असूया यस्य (नञ् बहुव्री०) न+असूयः (पुं०) प्र० ए० व०=असूया, ईर्ष्या या डाह से रहित ।

च=और ।

शृणुयात्=√श्रु (स्वा० पर० सक०=सुनना)+विधिलिङ्० प्र० पु०, ए० व० =सुनेगा । [कहने वाला, भक्त में सुनने की इच्छा प्रकट करता है इसलिये यहां विधिलिङ् लकार प्रयुक्त हुआ है]

अपि=(अव्यय) भी [यहां 'अपि' शब्द से यह पाया जाता है कि अर्थ समझने वाले की तो बात ही क्या है । गीता को केवल श्रवण मात्र करने वाला भी] ।

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो ।

नरः=(पुं०) नृ+अच्+प्र० ए० व०=नर । मनुष्य ।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह ।

अपि=भी ।

मुक्तः=√मुच्+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=(पापों से) छूटा हुआ । मुक्त हुआ ।

शुभान्=(वि०)√शुभ् (तुदा० पर० अक०=सुन्दर लगना, चमकना, उपयुक्त होना)+क=शुभ+(पुं०) द्विती० ब० व०=शुभों को । चमकदारों को । कल्याणप्रदों को । मंगलदायिकों को । श्रेष्ठों को ।

लोकान्=(पुं०)√लोक् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+घञ्=लोक+द्विती० ब० व०=लोकों को । स्वर्गादि सुन्दर निवास स्थानों को ।

प्राप्नुयात् = प्र √आप् (स्वा० पर० सक० = पहुंचना, पाना) + विधि० प्र० पु० ए० व० = प्राप्त होगा।

पुण्य-कर्मणाम् = (वि०) पुण्य-कर्मन् (शुभ कर्म करने वाला - बहुव्री०) + (पु०) षष्ठी० ब० व० = पुण्य-कर्म करने वालों के।

[पुण्य = (नपुं०) पूयते अनेन, √पू + यत्, णुगागम, ह्रस्व = पवित्र करने वाला। शुभ फल देने वाला (कार्य)। अग्नि होत्रादि श्रेष्ठ कर्म। यज्ञ, हवन, दान, स्नान जप, तप, अग्निहोत्रादि कर्म।

अर्थ—जो श्रद्धावान् और असूया (ईर्ष्या, डाह, दोष दृष्टि) से रहित हुआ नर (इस गीता ग्रंथ को अर्थ न जानता हुआ केवल) श्रवण मात्र भी करेगा। वह भी (सम्पूर्ण पापों से) मुक्त हुआ (अग्नि होत्रादि) पुण्य कर्म करने वालों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा ॥ ७१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मनुष्य रूप धारी सब लोग 'नर' नहीं होते। इनमें से जो अत्यन्त चंचल प्रकृति होते हैं, और बसों, गाड़ियों, प्रतिमाओं, पुलों आदिकों की तोड़ फोड़ करते तथा आग लगाते हैं तथा सब सुन्दर और उपयोगी वस्तुओं को नष्ट-भ्रष्ट करते रहते हैं वे तो निरे बन्दर होते हैं। जो लोग शरीर की शुद्धि की ओर ध्यान नहीं देते वे रीछ होते हैं। वे आकृति देख कर ही पहचाने जा सकते हैं। जो लोग हिंसा करने की प्रकृति से युक्त होते हैं और सब जीवों को मार कर खा जाते हैं वे सिंह, बाघ और भेड़िये होते हैं। जो लोग सब भक्षाभक्ष वस्तुओं को खा जाते हैं और दूसरे पर धौंस जमाते हैं तथा बड़े ढीठ होते हैं स्वयं मर जाते हैं और दूसरों को मार लेते हैं वे निहंग या पानी में रहने वाले मगरमच्छ होते हैं। जो लोग कुत्तों की तरह सदा भौंकते और बकवास करते रहते हैं तथा जूठन खाते हैं वे कुत्ते ही होते हैं और जो लोग कौओं की तरह सदा कायें कायें करते रहते हैं। वे कौओं के तुल्य अपवित्र और अशुभ होते हैं। जो लोग अत्यन्त धूर्त और बहुत चुस्त चालाक होते हैं उनको गीदड़ जानना चाहिए। जो लोग गिद्धों की तरह मिल कर मरे हुए पशुओं पर गिरते हैं अर्थात् समूह रूप में दीन दुःखी और आर्त्त जनों के धन सम्पत्ति और मान-मर्यादा तथा इज्जत आबरू को लूट लेते हैं वे गीध, चील, लमढीक आदि मुरदारखोर पक्षियों के समान प्रकृति वाले होते हैं। जो लोग मार्ग चलती स्त्रियों और बच्चों के गलों से भूषण झपट्टा मार कर छीन ले जाते हैं वे बाजों, शिकरों और चुगलों के सदृश होते हैं तथा जो लोग राज्य-नियमों की अवहेलना या अवज्ञा करते हैं वे तो निरे वन-पशु ही होते हैं क्योंकि वन-पशुओं में किसी नियम का पालन नहीं होता इसी प्रकार और भी अनेक मनुष्य रूपधारी लोग सर्पादि ही होते हैं। इसलिये इन मनुष्य रूपधारी सब पशु पक्षी और कीट पतंग नरकाधिकारी तुच्छ प्राणियों को छोड़ कर जो भी नर पूर्ण श्रद्धावान् होकर अर्थात् भगवान् की सत्ता और गुण प्रभाव में विश्वास

करके और गीता को साक्षात् पूर्ण पर-ब्रह्म-परमात्मा की वाणी समझ कर और दोष-दृष्टि से रहित होकर श्रवण करता है वह पुरुष भी मर कर पापों से रहित हुआ उन पुण्य कर्म करने वाले लोगों के जाने योग्य शुभ स्वर्ग आदि लोकों को ही प्राप्त होता है 'अपि' या 'भी' शब्द कहने से भाव यह है कि गीता का अर्थ समझ कर पढ़ने और सुनने वालों को तो मोक्ष की ही प्राप्ति होती ही है जहां से कि लौट कर फिर कभी जन्म धारण करना नहीं पड़ता।

जो पुरुष गीता पढ़ रहा हो उससे द्वेष रख कर पाठ को सुनना अथवा उसके पढ़ने में कीड़े निकालना और फिर भी शुभ फल की प्राप्ति की इच्छा रखना तो फल को निष्फल बना देते हैं इसलिए पाठ सुनने के शुभ-फल को, सब प्रकार की असूया, ईर्ष्या, डाह और दोष दृष्टि आदि दोष नष्ट कर देते हैं। इसलिये गीता पाठ का श्रवण सदैव श्रद्धावान् और असूया रहित होकर ही करना चाहिए। इससे इस गीता ग्रन्थ का श्रोता नर उन उत्तम लोकों को प्राप्त होता है, जिनमें कि केवल पुण्य कर्मों के करने वाले धर्मात्मा लोग ही जा सकते हैं। इस प्रकार का फल श्रीमद्भागवत में भी लिखा है। जो इस प्रकार हैं :—

वासुदेव-कथा-प्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं प्रयच्छकं श्रोतृंस्तत्पाद-सलिलं यथा ॥

[अर्थ—भगवान् वासुदेव की कथा का प्रश्न वह तीन प्रकार के पुरुषों को तो पवित्र करता है ही। एक तो कथा कहने वाले को पवित्र करता है। दूसरे प्रश्न पूछने वाले को पवित्र करता है, और तीसरे सुनने वाले को पवित्र करता है। ठीक इसी प्रकार जैसे भगवान् के चरणों से निकला हुआ गंगा जल सब पापियों को पवित्र कर देता है॥

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए महात्मा श्री ज्ञानेश्वर जी कहते हैं :—

"जो किसी प्रकार से निन्दा किए बिना शुद्ध बुद्धि से गीता के श्रवण के प्रति श्रद्धा रखता है उस के कानों में गीता के शब्द ज्यों ही प्रवेश करते हैं, त्यों ही उसके पाप उसे छोड़ कर उस से दूर भाग जाते हैं जिस प्रकार वन में अग्नि के प्रवेश करते ही उस में रहने वाले दसों दिशाओं में भाग जाते हैं। अथवा जिस प्रकार पूर्व-गिरि के शिखर पर सूर्य का उदय होते ही अन्धकार अन्तराल में जा कर छिप जाता है उसी प्रकार ज्यों ही कानों के महा द्वार में गीता की झङ्कार पहुँचती है त्यों ही सृष्टि की उत्पत्ति के समय तक के पाप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह जन्म रूपी बेल निर्दोष होकर पुण्य-रूपी सुन्दर फूलों से फूलती है और अन्त में उस में अपरम्पार फल आते हैं, कारण यह है कि कानों के द्वारा, गीता के जितने अक्षर अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं, उतने अश्वमेध यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है। इसलिये गीता के श्रवण से पापों का नाश होता है और पास के पुण्य खूब बढ़ते हैं तथा अन्त में उन पुण्यों के द्वारा इन्द्र का वैभव प्राप्त

होता है। मेरे स्वरूप में आकर मिलने के लिये वह जो प्रयास करता है उसका पहला पड़ाव स्वर्ग में होता है और वहाँ वह जितना अधिक सुख भोगना चाहता है उतना अधिक सुख भोग कर अन्त में वह आकर मेरे साथ मिल जाता है ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ ७२ ॥

कच्चित्+एतत्+श्रुतम्+पार्थ ! त्वया+एकाग्रेण चेतसा। कच्चित्+अज्ञान-सम्मोहः प्रनष्टः+ते धनञ्जय ! ॥

कच्चित्=(अव्यय) काम्यते इति कम्। चीयते निश्चीयते अर्थो यस्मात्=√कम् =√चि+क्विप् (अथवा√कम+विच्)। पृषो० मस्य दः। [कच्च चिच्च द्वयोः समाहार द्वन्द्व स०]। यह अव्यय इच्छा जानने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। हर्ष। मंगल। क्या ?

एतत्=एतद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह (मेरा गीता रूपी वचन)।

श्रुतम्=√श्रु (स्वा० पर० सक०—सुनना)+क्त=सुना गया। श्रवणेन अवधारितम्। श्रवण किया गया।

पार्थ !=हे पृथा पुत्र (अर्जुन)।

त्वया=युष्मद् (सर्व०)+(पुं०) तृती० ए० व०=तेरे द्वारा।

एकाग्रेण=(वि०) एकम् अग्रं विषयो यस्य। एक+अग्र+(नपुं०) तृती० ए० व० =एकाग्र से। ध्यानावस्थित से। अचञ्चल से।

चेतसा=(नपुं०) चेतस्+तृती० ए० व०=(चित्तेन) चित्त से।

कच्चित्=क्या ?

अज्ञान-सम्मोहः=(पुं०) अज्ञान-निर्मित्तः सम्मोहः (प्र० ए० व०)=अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह। ज्ञान जनित मोह।

[सम्मोह=(पुं०) सम्√मुह्+घञ्+प्र० ए० व०=घबराहट। परेशानी। अज्ञान। चित्त का अन्धेरा। चित्त का मूढ भाव।

प्रनष्टः=(वि०) प्र०√नश्+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=दूर हुआ। अच्छी तरह नष्ट हुआ।

ते=युष्मद् (सर्व०)+षठी० ए० व०=तव, ते=तेरा।

धनञ्जय !=हे धनञ्जय (अर्जुन) !

अर्थ—हे पृथा पुत्र (अर्जुन) ! क्या तेरे द्वारा एकाग्रचित्त से मेरा (गीता ज्ञान रूप) प्रवचन सुना गया है ? हे धनञ्जय (अर्जुन) ! क्या तेरा (इस से) अज्ञान-जन्य सम्मोह नष्ट हुआ ? (या हो गया है) ॥ ७२ ॥

व्याख्या—गीता शास्त्र का पूर्वोक्त ज्ञान अर्जुन समझ गया है अथवा नहीं और उसके द्वारा अर्जुन का सम्मोह नष्ट हो गया या कि नहीं। ये दोनों बातें भगवान् पहले ही भली भान्ति जानते थे क्योंकि उन से किसी के मन की बात

छिपी हुई नहीं है, कारण यह कि वे तो सर्वान्तिर्यामी और सर्व व्यापक हैं, माया का खेल रूपी सारा संसार उनकी सहज इच्छा से प्रकट हुआ है विद्यमान् भी उनकी सत्ता के कारण ही है और इस प्रपंच का नाश भी उन की इच्छा पर ही निर्भर है। अर्जुन को सम्मोहित भी उन की इच्छा से ही माया द्वारा किया गया था। अर्जुन को गीता सुनने की इच्छा भी वास्तव में भगवान् की इच्छा से हुई थी। भगवान् कृष्ण के रूप में प्रकट होना भी उनकी अपनी इच्छा से ही हुआ था, यह सब कुछ ठीक है और रुपये के सौ पैसे जैसा ठीक है सौ प्रतिशत सत्य है। परन्तु फिर भी भगवान् अर्जुन से पूछते हैं, कि क्या तूने एकाग्रचित्त होकर मेरे द्वारा कहे गये गीता-ज्ञान को अच्छी तरह से सुन लिया है? अर्थात् यह तेरे कानों द्वारा तेरे मन में उतर गया है? या अब भी कोई सन्देह बना ही हुआ है? क्या तुम्हें आत्मा के सम्बन्ध में पूरी जानकारी हो गई हैं? क्या तुम समझ गये हो कि शरीर आत्मा नहीं है? क्या तुम्हें यह बात भली भान्ति विदित हो गई है कि क्षत्रिय का स्वधर्म, धर्मयुद्ध करना है और भीख माँग कर खाना क्षत्रिय के लिये पाप-कर्म है? । क्या तुम्हें धर्म और अधर्म का पता लग गया है? क्या तुम कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को पहचान गये हो? क्या तेरे, मेरे इस गीता ज्ञान को सुन कर युद्ध करने सम्बन्धी घबराहट, व्याकुलता और सम्मोह दूर हो गये हैं? क्या तू अब भी मेरे द्वारा मारे जा रहे भीष्म-द्रोण आदि को देख कर उन को मारने का निमित्त मात्र होने के लिये अपने आप को पापी समझ रहा है? क्या तुम अब भी कर्त्तव्य को प्राप्त होना चाहते हो? यदि नहीं, तो मुझे ठीक-ठीक कहो ताकि युद्ध का प्रारम्भ कर दिया जाये। यदि अभी तक भी कोई सन्देह शेष है तो मैं फिर समझा देता हूँ॥

यद्यपि ये सब बातें भगवान् पहले ही जानते थे। परन्तु उन्होंने गुरु परम्परा की मर्यादा स्थिर रखने के लिये ही अर्जुन से पूछी हैं। उन्होंने ऐसा करके सब सद्गुरुओं का मार्ग-प्रदर्शन किया है कि यदि कोई शिष्य बार-बार समझाने पर भी दिए जा रहे ज्ञान को न समझ सके तो उसे प्रेमपूर्वक कोमल शब्दों से पूछ कर फिर भी समझा देना चाहिए। यदि शिष्य के न समझने पर उस से दुर्व्यवहार किया जायेगा तो वह भय के मारे न पूछ सकने के कारण अधूरे ज्ञान वाला होकर ही रह जायेगा। इस लिये गुरुओं के भी गुरु, जगद्गुरु भगवान् कृष्ण ने अपने इस आचरण से शिष्य प्रति गुरु आचरण मार्ग प्रशस्त कर दिया है अर्जुन उचाव —॥ ७२ ॥

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३ ॥

नष्टः+मोहः स्मृतिः+लब्धा त्वत्+प्रसादात्+मया+अच्युत। स्थितः+अस्मि गत-सन्देहः करिष्ये वचनम्+तव॥

नष्टः=(वि०)√नश् (दिवा० पर० अक०=नष्ट होना)+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=नष्ट हुआ। नष्ट हो गया है।
मोहः=(पुं०)√मुह् (दिवा० पर० अक० सक०=व्याकुल होना, मूर्ख बनना, भूलना, गुमराह होना)+घञ्=प्र० ए०व०= भ्रम। भ्रान्ति। परेशानी। उद्विग्नता। घबराहट। अज्ञान। मूर्खता। भूल। सन्ताप।
स्मृतिः=(स्त्री०)√स्मृ (भ्वा० पर० सक०=स्मरण करना=क्तिन्+प्र० ए० व०=स्मरण शक्ति। स्मृति। याद-दाश्त। आत्म-तत्त्व विषय का स्मरण।
लब्धा=(वि० स्त्री०) √लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना)+क्त+आ+प्र० ए० व०=प्राप्त कर ली गई है।
त्वत्-प्रसादात्=(पुं०) तव प्रसादात् (पंच० ए० व०)=तेरी कृपा से। आप की कृपा से।
[प्रासाद=(पुं०) प्र √सद्+घञ्=प्रसन्नता। अनुग्रह। कृपा]
मया=अस्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा।
अच्युत !=(पुं०) √च्यु+क्त=च्युत (नञ् तत्पु०=अच्युत)=जो अपने स्वरूप, सामर्थ्य, स्थान से न गिरा हो, या न गिर सके। हे अच्युत !।
स्थितः=√स्था+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=ठहरा हुआ। स्थित।
अस्मि=√अस्+लट्०, उ० पु०, ए० व=(मैं) हूँ।
गत-सन्देहः=(वि०) गतः सन्देहः यस्य (बहुव्री०) (पुं०) प्र० ए० व०=गए हुए सन्देह वाला। मुक्त संशय। संशय रहित हुआ। दूर हुए सन्देह वाला।
करिष्ये=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लृट्०, उ० पु०, ए० व०=(मैं) करूँगा। (पालन) करूँगा।
वचनम्=(नपुं०) √वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+ल्युट्+द्विती० ए० व०=वचन को। आज्ञा को।
तव=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तव ते=तेरा। तेरे। तेरी। (आप का। आप के। आप की)

अर्थ—अर्जुन बोला—[ऐसे भगवान् के पूछने पर अर्जुन ने कहा] हे अच्युत ! आप की कृपा से (मेरा) मोह नष्ट हो गया है और मेरे द्वारा स्मृति प्राप्त कर ली गई है। (अब मैं) संशय रहित हुआ स्थित हूं और आप के वचन (आज्ञा) को (पालन) करूँगा॥ ७३॥

व्याख्या— भगवान् के पूछने पर अर्जुन ने उत्तर दिया—हे कृष्ण ! आप अच्युत या अडिग हैं। इस लिए आप जीते, मैं हारा। अर्थात् मेरा विचार—"मैं युद्ध न करूँगा" नष्ट-भ्रष्ट हो गया है और आप का विचार "तू युद्ध कर" जीत गया है। मैं आप को आप के विचारों से गिराने में सफल न हो सका, परन्तु आप के विचारों ने मेरे विचारों का सफ़ाया कर दिया अर्थात् आप के अच्युत विचारों ने मेरे विचारों को च्युत करके रख दिया है ऐसा

होता भी क्यों न ? जबकि आप तो स्वयं अच्युत हैं। निर्विकार हैं। अपने स्वरूप सामर्थ्य और स्थान में स्थिर रहने वाले हैं। परब्रह्म हैं। अविनाशी हैं। मैं इस रहस्य को भली भान्ति समझ गया हूँ। आप की कृपा से और आपके मुखारविन्द से मैं ने ध्यानपूर्वक सम्पूर्ण गीता के ज्ञान को सुना है। जिससे मेरा मोह नष्ट हो गया है अब मुझे कोई भ्रम नहीं रहा है मेरे होश ठिकाने हो गये हैं। मुझे यह भली भान्ति ज्ञात हो गया है कि न कोई किसी को मारता है और न कोई किसी के मारे मरता है। सब की मृत्यु केवल ईश्वर की इच्छा पर ही निर्भर होती है। मारने वाला तो केवल निमित्त मात्र ही होता है और अपनी अज्ञानता से ही पाप का भागी बन जाता है। भीष्म-द्रोणादि जिन से युद्ध करना मैं नहीं चाहता था, ये सब तो मैंने आप के महान् विशाल मुखों में प्रविष्ट होते और आप के द्वारा भक्षण किये जा रहे देख लिये हैं ये सब शत्रु तो पहले ही मरे हुए हैं। मैं समझ गया हूं कि मैं ने तो अब आप की आज्ञा का पालन करके इन सब मरे हुओं को ही मारना है अर्थात् इन के मारने का निमित बना कर आप मुझे लोक-यश का भागी बनाना चाहते हैं। आप की कृपा से मेरी आँखें अच्छी तरह से खुल चुकी हैं और मैं अज्ञान रूपी नींद से भली-भान्ति जाग उठा हूँ। मुझे अपने स्वरूप का ज्ञान हो गया है। मेरी स्मरण शक्ति जाग उठी है मुझे भली-भान्ति स्मरण हो गया है कि आप नारायण के संग मैं ने नर रूप में तपस्या की थी और मेरा स्वरूप आप से भिन्न नहीं है। मैं तो आप की ही छाया हूँ, अर्थात् आप का ही प्रतिबिम्ब हूँ। आप से अभिन्न और अभेद हूँ। मैं अपने जिस शुद्ध स्वरूप को भूला हुआ था, अब वह मुझे पूरी तरह से स्मरण हो गया है। जिस से मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, जिस से "मैं ही ब्रह्म हूँ।" ऐसा साक्षात् मुझे अनुभव हो गया है और इस अनुभव या स्मृति से मेरे हृदय की सारी ग्रन्थियां खुल गई हैं, जैसा कि श्रुति में गहा गया है :—

"सत्त्वशुद्धो ध्रुवाः स्मृतिः। स्मृति-लाभे सर्व-ग्रन्थीनां विमोक्षः ॥" और मेरे हृदय में कोई संशय शेष नहीं रहा है तथा मुझे अब अपने क्षत्रिय-धर्म को पालन करने में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया है और मेरे हृदय में ज्ञान रूपी प्रचण्ड सूर्य उदय हो गया है। अब मैं अवश्य ही आप की आज्ञा का पालन करूँगा अर्थात् सब धर्मों को त्याग कर सदा आप की शरण में रहूँगा तथा आप की आज्ञा के अनुसार क्षत्रिय-धर्म का पालन करता हुआ युद्ध करूँगा और आप के सब वचनों को सिर पर धारण करके सदा मानूँगा ॥ हे भगवन् ! अन्त में मेरी यह नम्रतापूर्वक प्रार्थना है कि जिस प्रकार गीता-ज्ञान श्रवण करने से मेरा अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र हो गया है और मुझे आत्म-साक्षात्कार हुआ है तथा मोह का नाश होकर स्मृति का लाभ हुआ है, एवं गत-सन्देह होकर अपने स्वरूप में स्थित हो गया हूँ। इसी प्रकार इस गीता के

पढ़ने सुनने और पूजने वाले सब लोग आप की कृपा से इन सब गुणों से युक्त होकर सब धर्मों को छोड़ कर आप की शरण को प्राप्त हो जाएं और शान्ति, न्याय और समदृष्टि से अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करके मोक्ष के अधिकारी बनें ॥ ७३ ॥

सञ्जय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

इति+अहम्+वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः । संवादम्+इमम्+अश्रौषम्+अद्भुतम्+रोम-हर्षणम् ॥

इति=(अव्यय) इस प्रकार ।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र०, ए० व०=मैंने ।

वासुदेवस्य=(पुं०) वसुदेवस्यापत्यम्, वसुदेव+अण्+षष्ठी० ए० व०=वसुदेव के पुत्र (परमात्मा श्री कृष्ण जी) के ।

पार्थस्य=(पुं०) पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण्+षष्ठी० ए० व०=पृथा (कुन्ती) के पुत्र (अर्जुन) के ।

च=और ।

महात्मनः=(वि०) महान् आत्मा (स्वभावः) यस्य । महात्मन्+षष्ठी० ए० व०=महात्मा के । महापुरुष के । महाशय के । नेक के ।

संवादम्=(पुं०) सम्√वद्+घञ्+द्विती०, ए० व०=संवाद को । वार्तालाप को । बात चीत को ।

इमम्= इदम् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=इस को ।

अश्रौषम्=√श्रु (स्वा० पर० अक० सक०)+लङ्० उ० पु० ए० व०=(मैंने) सुना ।

अद्भुतम्=(वि०) अतति इति अत्, भाँति इति√भा+डुतच्=अद्भुत+(पुं०) द्विती० ए० व०=अद्भुत को । विलक्षण को । विचित्र को । आश्चर्य जनक को । विस्मय कारक को । अनोखे को । अनूठे को । अपूर्व को (अलौकिक को । रहस्य युक्त को । अत्यन्त विस्मयकर को ।

रोम-हर्षणम्=(वि०) रोम्णः हर्षणः इव । (पुं०) द्विती०, ए० व०=रोमाञ्च करने वाले को । रोंगटे खड़े करने वाले को । रोमांच कारक को ।

अर्थ—सञ्जय बोला—[हे धृतराष्ट्र !] इस प्रकार मैंने (परमात्मा) वासुदेव (श्री कृष्ण जी—मामा के पुत्र) के और महात्मा पार्थ (अर्जुन—भूआ के पुत्र) के इस अद्भुत और रोमाञ्च-कारक संवाद को सुना ॥ ७४ ॥

व्याख्या—संजय ने कहा—

हे धृतराष्ट्र ! कृष्ण परमात्मा है । अर्जुन महात्मा है । कृष्ण नारायण है

और अर्जुन उस का संगी नर है। कृष्ण मुक्ति है और अर्जुन शक्ति है। श्री कृष्ण अर्जुन के मामे का पुत्र है और अर्जुन श्री कृष्ण जी की भुआ का पुत्र है। इस प्रकार वे दोनों यक जान दो कालब हैं अर्थात् उन के शरीर दो दिखाई देते हैं परन्तु प्राण उनकें एक ही हैं। आज युद्ध को प्रारम्भ हुए दस दिन हो चुके हैं। जिस में महान् नर संहार हुआ है बहुत से बड़े-बडे योधा और महा शूरवीर लोग मारे जा चुके हैं। जिन में जगद्-विख्यात महान् योद्धा भीष्म पितामह जी भी एक हैं जिन पर आप को बड़ा मान था। जिन के धराशायी होते ही आप की कमर टूट गई है और अकस्मात् मुंह से निकल गया है कि हाय! महाशोक है! बड़ा अनर्थ है! धर्म के क्षेत्र और फिर हमारे पूर्वज राजा कुरू के क्षेत्र में मूर्ख मेरे और भाई पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया है? अर्थात् युद्ध ठान कर बड़ा ही अनर्थ किया है। इस प्रकार मेरे द्वारा कृष्ण-अर्जुन संवाद रूप गीता सुनाते समय आप शोक से भरे हुए चुपचाप बैठे रहे हैं और भूल कर भी मध्य में कुछ न बोले, जिससे मालूम होता है कि मेरे गीता सुनाते समय आप शोक ग्रस्त और अचेत होकर मौनधारी बने बैठे रहे और गीता का एक भी शब्द सुन न सके होंगे मैं आप को चेतावनी देता हूँ कि यदि अब भी दुर्योधन आप का कहना मान ले और पांडवों का स्वत्व आधा राज्य उनको लौटा दे, तो अब भी सन्धि हो सकती है और तेरे पुत्र दुर्योधनादि जीवित रह सकते हैं। यदि आप ऐसा न कर सके तो युक्ति और शक्ति अर्थात् नारायण और नर रूप, कृष्ण और अर्जुन तेरे सारे वंश का नाश कर देंगे। कृष्ण ने समझा दिया है अर्जुन समझ गया है। मैंने सुन लिया है मामे और भूआ के दोनों पुत्रों की नाड़ियों में एक ही रक्त वह रहा है दोनों का यह वार्तालाप जो मैंने स्वयं अपने कानों से सुना है बहुत ही अद्‌भुत और रोमांचकारी है। जिस से अर्जुन श्री कृष्ण भगवान् से प्रेरित हुआ घोर युद्ध करने के लिये सहमत हो गया था और दस दिन में उस ने भीष्मादि बहुत से योद्धा लोग मार कर यमालय में भेज दिए हैं।

यदि तुम्हें यह सन्देह हो कि मैंने यह संवाद सुना ही नहीं है और आप से सब कुछ झूठ ही कह रहा हूँ। तो भी सुनो—॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

व्यास-प्रसादात् + श्रुतवान् + एतत् + गुह्यम् + अहम् + परम् । योगम् + योगेश्वरात् + कृष्णात् + साक्षात् + कथयतः स्वयम् ॥

व्यास-प्रसादात् = (पुं०) व्यासस्य प्रसादात् (षष्ठी० तत्पु०, पंच० ए० व०) = महर्षि व्यास जी की कृपा से ।

श्रुतवान्=(वि०)√श्रु (स्वा० पर० अक० सक०=सुनना)+(कर्तरि) क्तवतु=श्रुतवत्+(पुं०) प्र०. ए० व०=सुना। सुना है॥

एतत्=एतद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इसको।

गुह्यम्=(वि०)√गुह् (भ्वा० उभ० सक०=छिपाना+क्यप्+(नपुं०) प्र०, ए० व०=गोप्य को। छिपाने योग्य को। कठिनता से समझ में आने वाले को। गोपनीय को।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैंने।

परम्=(वि०) (नपुं०) द्विती० ए० व०=परम को।

योगम्=(नपुं०)√युज् (रुधा० दिवा० उभ० सक० अक०=जुड़ना, लगना, चित्त एकाग्र करना)+द्विती०, ए० व०=योग को। कर्म करने की युक्ति को। कर्म करने की कुशलता को। कर्म करने की शैली को। ईश्वरी योग को। ध्यान योग को। भक्ति योग को। राज योग को। सांख्ययोग को। ज्ञान योग को। कर्म योग को। सर्व प्रकार के योग को॥ समत्व योग को (समत्वं योग उच्यते)॥ चित्तवृत्ति निरोध रूपी योग को (योगः चित्तवृत्ति निरोधः)॥ जिस भी युक्ति से चित्त की समता प्राप्त हो वही युक्ति "योग" कहलाती है अर्थात् चित्त के एकाग्र होने के किसी भी ढंग का नाम योग है॥ गीता रूपी योग शास्त्र को।

योगेश्वरात्=(पुं०) योगस्य ईश्वरात (षष्ठी तत्पु०) पंच० ए० व०=सब प्रकार की अलौकिक शक्तियों के स्वामी से। सब प्रकार की योग-युक्तियों के स्वामी से। माया के अधिपति से।

कृष्णात्=(पुं०)√कृष् (तुदा० उभ०, भ्वा० पर० सक०=खींचना। आकर्षण करना) प्रचालन करना। वशवर्ती करना, जातना)+नक्+अच्+पंच०, ए० व०=कृष्ण से। श्री कृष्ण भगवान् से।

साक्षात्=(अव्यय) सह√अक्ष् (भ्वा० पर० सक० अक०=देखना)+अति, सादेशः। साफ़-साफ़ आंखों के सामने। प्रत्यक्ष। साक्षात्।

कथयतः=(वि०)√कथ् (चुरा० उभ० सक०=कहना)+णिच्-शतृ=कथयत्+(पुं०) पंच० ए० व०=कहते हुए से।

स्वयम्=(अव्यय) सु√अय्+अमु=खुद। आप। अपने आप। स्वयं।

अर्थ—महर्षि श्री व्यास जी की कृपा से मैंने इस परम-गुह्य (गीता रूपी) योग (शास्त्र) को साक्षात् (प्रत्यक्ष) स्वयं कहते हुए श्री कृष्ण भगवान् से सुना है॥ ७५॥

व्याख्या—हे राजन्। महर्षि व्यास चाहते थे कि आप की आँखें ठीक कर दी जाएं। ताकि आप अपने दुर्योधनादि अन्यायी पुत्रों को अपने कुकर्मों का फल भोगते हुए और अपने वंश का नाश करते हुए स्वयं अपनी आँखों से

देख सकें तथा अपने पुत्रों को मनमानी करने से न रोकने और अन्याय से बलपूर्वक न वर्जने के पश्चात्ताप रूपी फल को अनुभव कर सकें, परन्तु आप ने आँखों से भी उसी प्रकार अन्धे बने रहना ठीक समझा जिस प्रकार सब के समझाने बुझाने पर आप हृदय के अन्धे बने रहे। लोक लाज के कारण बाहर से अवश्य लीपा-पोती करते रहे परन्तु भीतर से भतीजों का न कुछ बना सके, न संवार सके उनको सदा तीजे (अपने से भिन्न और कोई) ही समझते रहे। कभी यह भी न सोचा कि इन का बाप जो कि मेरा छोटा भाई था मर चुका है, इसलिये मुझे इन की सहायता करनी चाहिए। सहायता तो क्या करनी थी। उनको दो वार अपनी सभा में बुला कर अपने पुत्रों के साथ जूआ खेलने पर मजबूर किया गया। उन का राजपाट तुम्हारे सामने छीन लिया गया। उन की स्त्री को तुम्हारी विद्यमानता में नग्न करने का प्रयास किया गया। तुम्हारी मौजूदगी में उनको तेरह वर्ष का वनवास दिया गया आप लोग यह समझते थे कि पाण्डव लोग वन में पच पच कर मर जायेंगे या दुर्योधन की कुटिल नीतियां उन्हें ठिकाने लगा देंगी। परन्तु "जिन का राखा साईं है मार नहिं सकै कोय। बाल न बांका कर सकै, जो जग वैरी होय॥" अर्थात् जिनकी रक्षा स्वयं भगवान् कृष्ण कर रहे हों उन को कोई भी शत्रु क्या हानि पहुँचा सकता है। आप का पाप तो मुझे गीता के प्रारम्भ में पहिले ही श्लोक से विदित हो गया था जो कि आप के पश्चात्ताप का मुँह बोलता चित्र उपस्थित करता है—हा! धर्म क्षेत्र, कुरु-क्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से एकत्रित हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने (भीष्म को मार या मरवा कर कितना बड़ा घोर अनर्थ करके) क्या किया? मैं जानता था कि आप भीष्म का मुझ से निधन सुन कर मूर्च्छित हुए से शोक से विह्वल हो कर बुड़बुड़ा रहे हैं और पाण्डवों और कौरवों को एक समान समझ कर यह नहीं कहा कि हमारे युवकों ने क्या किया? बल्कि "पाण्डु के पुत्रों ने" कह कर अपने हृदय के पाप और द्वैत-भाव को प्रकट कर दिया है। आप को युद्ध में हो रहे सब के कर्म और विचार अवगत कराने के लिये मेरे गुरु-देव महर्षि व्यास भगवान् ने मुझे दिव्य चक्षु अर्थात् टैलीविजन मशीन प्रदान कर दी थी। जिस के द्वारा मैं युद्ध में हो रही सब घटनाओं को हूबहू साक्षात् अपने इन चर्म चक्षुओं से देख रहा हूं और सब को बात चीत करते हुए अपनी आँखों से देख रहा हूँ और कानों से सुन रहा हूँ। सब के दिल की इस दिव्य चक्षु यन्त्र द्वारा जान रहा हूँ इस समय भगवान् व्यास जी की कृपा से आप के मन का या और किसी के मन का कोई रहस्य भी मुझ से गुप्त नहीं है। इसलिये मैंने इस अत्यन्त गोपनीय गीता ज्ञान को जो कि भगवान् कृष्ण ने एकान्त में केवल अर्जुन से ही कहा था। भगवान् के स्वयं मुखारविन्द से कहते हुए अपनी आँखों से देख-देख कर अपने कानों से सुना है॥ परन्तु हे राजन्!

आप ने चिन्ता में पड़े रहने के कारण इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया है और धूप से व्याकुल हुए तथा छाया में बैठे हुए नेत्र बन्द किए हुए भैंसे की तरह ऊँघते रहे। परन्तु मैंने यह समझ कर कि मरने वाले पुरुष को गीता सुनाना अति श्रेयस्कर होता है आप को भी जैसी गीता सुनी थी सुना दी है। इस से आगे आप को फल का मिलना भगवान् की इच्छा पर निर्भर है ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

राजन्! + संस्मृत्य संस्मृत्य संवादम् + इमम् + अद्भुतम् । केशव + अर्जुनयोः पुण्यम् + हृष्यामि च मुहुः + मुहुः ॥

राजन् ! = हे राजन् ! [हे राजा धृतराष्ट्र !]

संस्मृत्य, संस्मृत्य = [सम् √स्मृ (भ्वा० पर० सक० = स्मरण करना) + ल्यप् = संस्मृत्य] = स्मरण करके, स्मरण अर्थात् बार बार स्मरण करके।

संवादम् = (पुं०) सम् √वद् + घञ् + द्विती०, ए० व० = संवाद को। बात चीत को। वार्तालाप को।

इमम् = इदम् (सर्व०) + (पुं०) द्विती० ए० व० = इस को।

अद्भुतम् = (वि०) अतति इति अत्, भाति इति √भा + डुतच् = अद्भुत + (पुं०) द्विती०, ए० व० = अद्भुत को।

केशव-अर्जुनयोः = केशवः च अर्जुनः च केशवार्जुनौ (इतरेतर द्वन्द्व०) तयोः (पुं०) षष्ठी० द्वि० व० = केशव और अर्जुन के।

पुण्यम् = (वि०) पूयते अनेन, √पू + यत् णुगागम्, ह्रस्व = पुण्य + (पुं०) द्विती० ए० व० = शुभ फल देने वाले को। पुण्य रूप को। कल्याणकारी को। पवित्र को।

हृष्यामि = हृष् (दिवा० पर० अक० = प्रसन्न होना) = लट्० उ० पु०, ए० व० = प्रसन्न होता हूँ। हर्षित हो रहा हूँ।

च = और।

मुहुः + मुहुः = (अव्यय) [√मुह् + उसिक् = मुहुस्] बार बार। पुनः पुनः ॥

अर्थ—हे राजन् (धृतराष्ट्र)! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्यमय संवाद को बार बार स्मरण करके (मैं) पुनः पुनः हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७६ ॥

व्याख्या—हे राजन् धृतराष्ट्र! श्रीकृष्ण जी कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे तो केशव हैं अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय के एक मात्र कारण हैं और अर्जुन अत्यन्त स्वच्छ और प्रकाशमान् है जिस सेना की वे दोनों रक्षा कर रहे हैं। उस को दुर्योधनादि तेरे पुत्र कदापि जीत नहीं सकेंगे। अभी तक बिखरे बेरों की अधिक हानि नहीं हुई है। यदि अपने पुत्रों और कुल का कल्याण

चाहते हो तो दुर्योधनादि अपने पुत्रों को समझा बुझा कर युद्ध बन्द करवा दो नहीं तो परिणाम अत्यन्त भयानक निकलने वाला हैं मैं तो इस समय श्री कृष्ण और अर्जुन के आश्चर्यजनक और अत्यन्त पवित्र गीता रूप संवाद को बार स्मरण कर रहा हूँ और पुनः पुनः प्रसन्न और रोमाँञ्चित हो रहा हूँ ॥ आप भी चिन्ता और भीष्मादि के निधन हो जाने के शोक को त्याग कर अपने पुत्रों को सन्मार्ग पर लाइए और भगवान् के द्वारा दर्शाए गए गीता मार्ग पर चल कर सन्तान की कल्याण और मोक्ष की प्राप्ति कीजिए। यह गीता रूप कृष्ण-अर्जुन-संवाद अत्यन्त पुण्य रूप है जिस के श्रवण करने मात्र से ही परम शान्ति और मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह गीता शास्त्र बहुत अद्भुत और अति रहस्य पूर्ण है। यह तभी समझ में आता है जब मनुष्य पर भगवान् की अपार कृपा-दृष्टि होती है, अन्यथा नहीं। मैं यह सोच कर रोमाञ्चित हो रहा हूँ कि पूर्वले जन्मों में मैंने कौन से पुण्य कर्म किए होंगे। जिन के फलस्वरूप भगवान् श्री कृष्ण जी के मुखारविन्द से मुझे गीतामृत श्रवण करने का सु-अवसर प्राप्त हुआ है अथवा ऐसा कौन-सा तप, दान और यज्ञ आदि मुझ से किया गया होगा जिस से मुझे भगवान् कृष्ण के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

तत्+च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपम्+अति+अद्भुतम्+हरेः। विस्मयः+मे महान्+राजन्! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्वितीo, ए० व०=उस को।

च=और।

संस्मृत्य संस्मृत्य=[सम् √स्मृ+ल्यप्]=स्मरण करके, स्मरण करके अर्थात् बार बार स्मरण करके।

रूपम्=(नपुं०) √रूप (चुरा० पर० सक० बनाना। घड़ना। धारण करना।) भेस भरना)+अच्+द्विती० ए० व०=रूप को। मूर्ति को।

अति=(अव्यय) √अत् (भ्वा० पर० सक०=जाना)+इन्='अति' यह एक अपसर्ग है, जो विशेषणों और क्रियाविशेषणों के पूर्व लगाया जाता है। इसका अर्थ है—'बहुत'। बहुत अधिक। अत्यन्त।

अद्भुतम्=(वि०) (नपु०) द्विती०, ए० व०=अद्भुत् को। आश्चर्यजनक को।

हरेः=(पुं०)√हृ (भ्वा० उभ० सक०=हरना। दूर करना। नष्ट करना)+इन्=हरि+षष्ठी० ए० व०=हरि के। भक्तों के दुःखों और पापों को नाश करने वाले श्री कृष्ण भगवान् के।

विस्मयः=(पुं०) वि√स्मि+अच्+प्र० ए० व०=आश्चर्य। हैरानी। विस्मय।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरे । मुझ को । मेरे (मन में) ।

महान्=(वि०)√मह्+अति=महत्+(पुं०) प्र० ए० व०=महान् । बड़ा ।

राजन् !=हे राजन् ! हे राजा धृतराष्ट्र !

[राजन्=(पुं०) राजते=शोभते, √राज्+कनिन्=राजन्+सम्बोधन ए० व०=हे राजन् ! हे नरेन्द्र ! हे शासक ! हे नियामक !

हृष्यामि=(मैं) हर्षित होता हूँ । (मैं) रोमाञ्चित होता हूँ ।

च=और । भी ।

पुनः पुनः=(अव्यय) [√पन्+अर्, उत्व=पुनर्] फिर फिर । बार बार । पुनः पुनः ॥

अर्थ—और हे राजन् (धृतराष्ट्र) ! [भक्तों के सम्पूर्ण दुःखों और पापों के हरने वाले) हरि (भगवान् कृष्ण) के उस अति अद्भुत (विश्व या विराट्) रूप को बार-बार स्मरण करके मेरे (मन में) महान् विस्मय (आश्चर्य) होता है और (मैं) हर्षित (या रोमाञ्चित) भी होता हूँ । ॥ ७७ ॥

व्याख्या—संजय अत्यन्त चतुर, वाक् पटु, महानीतिज्ञ, राजभक्त, देश हितैषी और बुद्धिमान् राजमन्त्री थे । महर्षि व्यास जी के परम भक्त और मेधावी शिष्य थे । उसने राजा धृतराष्ट्र के न ध्यान देने पर भी लोक-हित के लिये उसे सम्पूर्ण गीता सुनाई और व्यंग्य और युक्ति से उसे बार बार समझाया कि दस दिन के युद्ध में अनेक योधा लोग मारे जा चुके हैं और महान् योधा श्री भीष्म पितामह जी भी धरा पर वाणशायी होकर पड़े हैं । मृत्यु होना जिनके अपने वश की बात थी । यदि अब भी संभल सकते हो तो संभल जाओ । अपने मूर्ख और निकट आई हुई मृत्यु से युक्त पुत्रों को समझा बुझा कर युद्ध बन्द करवा दो । हे राजन् ! आप तो अब भी इस वंश में राजा हैं और राजगद्दी पर विराजमान हैं । यदि आप के ये पुत्र ही आपकी आज्ञा का पालन नहीं करते तो आपकी प्रजा के अन्य लोग आप के शासन को कैसे अङ्गीकार कर सकते हैं ? तो फिर अब आप राजा काहे के हैं ? मेरे विचार में तो निरे मिट्टी के माधव हैं । जिनका न कोई कहना मानता है न ही आज्ञा को पालता है । यदि आप यह कहें, कि मैंने तो मन से युद्ध न करने की दुर्योधन आदि पुत्रों को आज्ञा दी ही नहीं थी तथा मैं तो पाण्डवों की अलख सदा के लिये समाप्त करने के पक्ष में हूँ ताकि मेरे पुत्र सुख और शान्ति से निष्कण्टक होकर राज्य कर सकें तो आप कपटी और कुटल हैं और आप की यह इच्छा कभी पूर्ण न होगी । क्योंकि जिन्होंने धरती पर भीष्मादि महान् योद्धाओं को मार कर गिरा दिया है, वे लोग दुर्योधन, करण और दुःशासन आदि को भी शीघ्र ही मार कर समाप्त कर देंगे क्योंकि तेरे विपक्षियों में

नीति और बल दोनों प्रचुर मात्रा में विद्यमान् हैं, परन्तु कौरव सेना में इन दोनों की भारी न्यूनता है। हे राजन् (व्यंग्य से—हे निरे मिट्टी के माधव)! मैंने भी अपनी आँखों से भगवान् के अद्‌भुत और अनन्त महान् विश्व रूप को देखा है, क्योंकि गुरुदेव व्यास जी के अपार अनुग्रह से कोई बात भी मुझे देखने के लिये असम्भव या अशक्य नहीं रही है, यह दिव्य-नेत्र-यन्त्र इतना अद्भुत और उपयोगी बना हुआ है, कि जिसकी सहायता से मैं सब कुछ देखता हूँ और सब कुछ सुनता हूँ तथा सब के हृदय की जानता हूँ। जो हरि अपने नाम को सार्थक करते हुए अपने भक्तों और आश्रितों के दुःखों और पापों को सदा हरण करते हैं उनके उस अर्जुन को दिखाए हुए विराट् रूप को बार-बार स्मरण करके मैं विस्मित और भौंचक्का होकर रह जाता हूँ। मैं सोचता हूं कि इतने महान् शक्तिशाली हरि जिन के खुल्लमखुल्ला पक्षपाती बने हुए हैं। उनको संसार में कौन हरा सकता है। भगवान् के उस अद्भुत स्वरूप को स्मरण करके मैं बार बार रोमाञ्चित हो कर हर्षित हो जाता हूँ॥ ७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

यत्र योग+ईश्वरः कृष्णः+यत्र पार्थः+धनुः+धरः। तत्र श्रीः+विजयः+ भूतिः+ध्रुवानीतिः+मतिः+मम॥

यत्र=(अव्यय) यद्+त्रल्=जहां। [यस्मिन् पक्षे=जिस पक्ष में]। जिधर।

योग+ईश्वरः=(पुं०) सर्वयोगानाम् ईश्वरः (षष्ठी० तत्पु०) सम्पूर्ण योग युक्तियों के स्वामी, ईश्वर, कण्ट्रोलर।

कृष्णः=(पुं०) प्र० ए० व०। पूर्ण परब्रह्म भगवान् कृष्ण चन्द्र।

यत्र=(अव्यय) जहाँ। जिधर। जिस पक्ष में।

पार्थः=(पुं०) प्र० ए० व०। पृथा (कुन्ती) का पुत्र (अर्जुन)।

धनुः+धरः=(वि०) (पुं०) प्र० ए० व०। गाण्डीव नाम से प्रसिद्ध धनुष को धारण करने वाला। गाण्डीव-धनुर्धारी।

तत्र=तद्+त्रल्=वहाँ। [तस्मिन् पाण्डवानां। पक्षे=उस पाण्डवों के पक्ष में]। उधर।

श्रीः=(स्त्री०)√श्री (भ्वा० उभ० सक०=राँधना, पकाना)+क्विप्=श्री+ प्र० ए० व०=लक्ष्मी (राँध पका कर पेट भर देने वाली। राजसी सम्पत्ति)।

विजयः=(पुं०) वि√जि (भ्वा० पर० सक०=जीतना)+अच्+प्र०, ए० व० =जीत। विजय। फतेह।

भूतिः=(स्त्री०)√भू+क्तिन्+प्र०, ए० व०=प्रसन्नता। सफलता। सौभाग्य। वैभव। विभूति। मेहर। वृद्धि।

ध्रुवा=(वि०) (स्त्री०) प्र०, ए० व० । √ध्रु (भ्वा० पर० अक०=स्थिर होना) +क+आ=ध्रुवा=स्थिरा । अचला । अव्यभिचारिणी । अटला ।

नीतिः=(स्त्री०) नीयन्ते संलभ्यन्ते उपायादयः ऐहिकामुष्मिकार्था वा अनया, √नी+क्तिन=युक्ति । उपाप । नीति । राजनीति । रक्षा का बुद्धिमत्ता से किया हुआ ढंग । ऐसी चाल जिससे कार्य सिद्धि हो ।
(है) । ऐसी ।

मतिः=(स्त्री०)√मन्+क्तिन्+प्र०, ए० व०=बुद्धि । विचार । मत । समझ ।

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा ।

अर्थ—जहाँ (जिस पक्ष में) योगेश्वर (सम्पूर्ण योग-युक्तियों के स्वामी) परब्रह्म भगवान् श्री कृष्णचन्द्र हैं और जहाँ (जिस पक्ष से) (गाण्डीव) धनुर्धारी पृथापुत्र (अर्जुन) है । वहाँ पर (ही) श्री (लक्ष्मी), विजय (जीत) भूति (सौभाग्य, वृद्धि) और स्थिरा नीति है ऐसी मेरी मति है ॥ ७८ ॥

व्याख्या—अन्त में फिर धृतराष्ट्र के मन में सन्धि की इच्छा जागृत करने की अभिलाषा से संजय कहते हैं—कि हे राजन् ! जो भगवान् सम्पूर्ण योग शक्तियों का स्वामी है, जो अपनी योग शक्ति से ही कृष्ण रूप में प्रकट हुआ है । जो अपनी योग-माया से क्षण भर में समूचे संसार की उत्पत्ति कर देता है और फिर उसका पालन और स्थिति करता है तथा अन्त में संहार कर देता है । वह छिप कर नहीं, बज बजा कर पाण्डवों के पक्ष में है और अर्जुन सा महान् योद्धा गाण्डीव धनुर्धारी पाण्डवों की सेना में विद्यमान है जो शक्ति और कौशल का भण्डार है । उस सेना को आप लोग कैसे जीत सकते हैं ? लोहे के चने आप कैसे चबा सकते हैं ? साधारणतया भी जहाँ युक्ति और शक्ति एकत्रित हो जाती हैं । वहाँ निश्चय ही ऋद्धि-सिद्धि निवास करती हैं । सो पाण्डव सेना में तो कृष्ण और अर्जुन के स्वरूप में युक्ति और शक्ति के सम्पूर्ण भण्डार ही इकट्ठे हो रहे हैं । इनको जीतना तो किसी के लिए भी असम्भव है । इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता, बलि आदि सारे दैत्य रावणादि सारे राक्षस, नर, गन्धर्व और किन्नर आदि समस्त प्राणी मिल कर भी पाण्डवों का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते, दुर्योधनादि तेरे पुत्रों की तो बात ही क्या है ? ये बेचारे तो पहले ही मृतप्राय हो चुके हैं । इस श्लोक की समाप्ति के साथ आपके प्रबोध के प्रति मेरा कर्त्तव्य समाप्त होता है, परन्तु याद रहे कि जिस पक्ष में योगेश्वर साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं और गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन जैसा महान् योधा है लक्ष्मी उस पक्ष में रहेगी अर्थात् राजलक्ष्मी का निवास उसी पक्ष वालों के प्रासाद में होगा । विजय भी उन्हीं को प्राप्त होगी, सौभाग्य भी उन्हीं का चमकेगा, समृद्धि भी उन्हीं के पैर चूमेगी, वृद्धि भी उन्हीं के भाग्य में लिखी गई है स्थिरा नीति भी उन्हीं के

अन्त:करण में सदा स्थिर रहेगी। अब आप जानो और आपका काम जाने, मैंने तो आपको समझाने का पूरा प्रयत्न किया है परन्तु मन्द भाग्यता से आपको प्रबोध नहीं हुआ है क्योंकि इस समय आप लोगों पर भगवान् क्रुद्ध हो चुके हैं, इसी से आपकी सारी वर्तमान कुल का नाश कर देना चाहते हैं परन्तु जो पुरुष श्रद्धापूर्वक इस गीता शास्त्र को पढ़ेगा, सुनेगा, अर्थ पर विचार करेगा अथवा केवल पुस्तक की ही पूजा करेगा उसकी बुद्धि स्वच्छ और निर्मल हो जाएगी। उसके सब संकट नष्ट होकर श्री, विजय, भूति और दृढ़ नीति ये चारों उसकी संगति करेंगे भगवान् की कृपा से वह मरने के बाद मोक्ष भी प्राप्त करेगा। शुभम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्री भगवान् से गाये (कहे) हुए, उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत, योग-शास्त्र-सम्बन्धी, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में मोक्षसन्यास योग नाम का अठारहवाँ अध्याय कथित हुआ।

॥ शुभमस्तु । मंगलमस्तु ॥

। ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ ।

॥ ॐ तत्सत् ॥

शुद्धि–पत्र

पाठक वृन्द ! अशुद्ध शब्दों को शुद्ध करके पढ़ें ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२३	ि ष्ठा	निष्ठा
३	२७	ओर	और
४	३०	जो	तो
५	२८	श्य	श्च
५	१९	तन्	तत्
८	१२	ाहले	पहले
९	२६	कान	कान, नाक
१०	१२	य	या
१०	१६	अनुभ	अनुभव
११	७	काट दो	×
१२	१५	भूि	भूमि
१३	२४	दम्भित्व	दम्भित्वम्
१३	३२	प्र त	प्रति
१३	६	कृताध्यवा काट दो	×
१४	१२	:	ह:
१४	१८	मे	में
१४	२३	पहं	अहं
१५	४	ित्तिक	निमित्तक
१५	२६	चाया	चाहा
१५	३१	नन्य	अनन्य
१७	७	जनना	जानना
१८	३५	दो ो	दोनों
१९	२१	गमायण	रामायण
१९	३१	उार्जय	उपार्जन
२०	२९	विचतलि	विचलित
२०	३५	दश	दशन
२१	४	अवस्थ	अवस्था
२१	१६	दे ा	देना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१	२०	ओ	और
२१	३१	स्वच्छ	स्वच्छ
२२	२५	ज्ञान +	√ज्ञा +
२३	३	आदिमत्	न आदिमत्
२७	७	विश्वशाहु	विश्व बाहु
२७	३२	निर्गु ण	निर्गुणं
२९	२३	नमन	नयन
२९	३३	धाय	ध्या
३२	३	घ्णा	घृणा
६२	७	मुदुरे	सुदूरे
३३	२९	भूते	भूतेषु
३४	२८	इतरऽ	तद्वितर इतरऽ
३४	३०	संर्वं	सर्वं
३४	३१	विजानो	विजानी
३५	१९	ज्योतिस्वरूप	ज्योतिर्स्वरूप
३६	११	म ा	महा
३६	३०	सूयादि	सूर्यादि
३८	११	विदो	×
३८	१२	२१२१९	२।२।९
३९	९	कजोरेट	क्लोरेट
४४	३१	भूल	मूल
४६	१	पुरुषों	पुरुष
४६	२६	कहलात	कहलाता
४८	१६	बैसा	वैसा
४८	१८	देहेन्द्रि	देहेन्द्रिय
४८	३४	पतंबा	पतंग
६०	२३	पुरुष	पुरुषः
५३	१६	इस	इस से
५५	२६	अभिमा ा	अभिमान
४६	३०	अद्भुत	अद्भुत
५७	३५	योगी	योग
५९	१५	अभ्यास	अभ्यास से
६०	११	भरम	भस्म

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६५	३०	जा ा	जान
६७	१	गुणों को	गुणों को गुणों में
७१	१	शरीरों	शरीरों में
७२	१३	कितपय	कतिपय
८०	२५	सृष्ट्टि	सृष्टि
८०	२८	रूपनाम्	रूपताम्
८०	२८	साधर्म्म	साधर्म्य
८०	३४	ममः	मम
८२	११	करन	करता
८४	२७	ब०	व०
८४	२९	पु०	पुं०
८४	२९	√हिह्	√दिह्
८७	६	कम	कर्म
८७	९	निर्मि	निर्मल
८७	१५	चेतन	चेतना
९७	३०	√मिद्	√विद्
९८	१२	तर	नर
९८	२७	जीवात्म	जीवात्मा
९८	२९	जो	हो
९९	१३	अबि	अवि
सारी पुस्तक में		बिना	विना
१००	१०	का रात्र	को रात
१००	१२	धन	धन
१००	२८	मत	मन
१००	२९	स्व	स्व
१००	३४	सपने	अपने
१०२	१५	तही	नहीं
१०३	११	पुं	पुं०
१०५	२	कर्मतज्ञी	कर्मसंज्ञी
१०६	२	विकलल्पिक	विकल्पिक
१०६	७	स च्छ	स्वच्छ
१०७	२५	स्व अवसर	स्ववसर
१०९	९	प्र०	प्र० व० व०

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०९	१८	प्र० ए० व०	प्र० ब० व०
११०	२६	ट ो	यो
११२	३१	प्रगिशील	प्रगतिशील
११८	१२	आत्म	आत्म
११८	२१	भ्व०	भ्वा०
१२३	१२	सर्य	सूर्य
१२४	२७	स्थिति	स्थित
१२६	१९	मान्	माम्
१२८	१६	में	से
१२९	११	क्र	क
१३१	१८	स्वी०	स्त्री०
१३४	१२	अ ि	अर्थ
१३९	६	संसा वृक्ष का	संसार वृक्ष का रूप
१३९	२१	ट ी०	स्त्री०
१४४	२२	ाद्	पद्
१४५	१७	प्रवृता	प्रसृता
१४५	३०	अश्वत्थ रूप संसार	संसार रूप अश्वत्थ
१४७	१९	मूल	मूल रूप
१५०	८	से	×
१५१	१५	पी	पो
१५५	१२	दोन	दोनों
१५६	१०	इन्द्रियों को	इन्द्रियों का
१५६	१८	पह	यह
१५६	३०	ोति	नोति
१५७	२७	छठी ज्ञान	छठी मन
१५७	२७	कर्मेन्द्रियों	ज्ञानेन्द्रियों
१५८	१७	ारों	कारों
१५९	५	नाक ही	नाम ही
१५९	१७	क्रोत्र	श्रोत्र
१३१	५	हाती	होती
१६१	११	सुञ्जानम्	भुञ्जानम्
१६२	२०	देखते	देखते हैं,
१६२	२४	इधर मे	इधर से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६२	२४	देखा	देखा है।
१६२	२६	देखते	देखते हैं,
१६२	३१	परन्त	परन्तु
१६३	७	योग + इति	योग + इनि
१६६	९	अग्नि	अग्नि
१६८	२	व	वह
१६८	७	६ घण्टे	५ घण्टे
१७१	२५	वेद-चित्	वेद-वित्
१७३	२७	व्याकरणदि	व्याकरणादि
११५	२८	तर	तरह
१७६	३१	है,	हैं,
१७७	६	डध्यात्म	अध्यात्म
१७७	२८	अव्यव:	अव्यय:
१७७	३०	उत्कृश्टतम:	उत्कृष्टतम:
१७७	३२	प्पुरुष:	पुरुष:
१७८	३०	ईश्वर्य	ऐश्वर्य
१७८	३२	क्षर और	क्षर और अक्षर
१८१	५	थोड़ी सी	थोड़ी सी भी
१८१	२३	रनना	रचना
१८०	१	=	+
१८२	२५	हुए	हुए हैं,
१८५	११	अस्मव्	अस्मद्
१८६	३३	संन	संग
१८७	१२	जाग्रत	जागृत
१८९	२०	अग्ति	अग्नि
१९३	२५	तहां	नहीं
१९४	३३	बद्धि	बुद्धि
१९५	९	न	व
१९५	२४	मुक्ते	मुक्त
१९८	१९	पाण्डव।	पाण्डव !
२०१	१६	लोक	लोक में
२०२	३	प्रवृत्तिन्	प्रवृत्तिम्
२०८	१६	मलीन	मलीन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२११	१४	गि-ते हैं	गिरते हैं
२१८	२१	हिरण्यकशिपु	हिरण्यकशिपु
२१८	२१	मो-त्से-तुंग	×
२१८	२१	हैं	थे
२१९	१२	करके	नरके
२१९	२३	दर्शनन्	दर्शनम्
२२२	१	आखण्ढ	अखण्ड
२२४	३४	दान	धन
२२५	२०	हीं	नहीं
३२९	३४	मे	से
२३०	२६	प्र० ए०	प्र० ब० व०
२३२	४	रूज:	रुज:
२३२	१३	इदन्	इदम्
२३४	२७	पपा	पाप
२३६	२६	जान	जान
२३७	२६	कारस:	कारत:
२३८	५	ब	न
२३८	१०	सोक्ष	मोक्ष
२३९	११	काल	कमल
२४०	२६	ध	धा
२४०	३३	जिन के वर	जिन में वधू
२४७	९	व्यबस्था थ याम्	व्यबस्थायाम्
२५०	५	॥ २ ॥	॥ १ ॥
२५०	२०	(पु०)	(पुं०)
२५०	२३	टापू	टाप्
२५३	१३	प्र०	प्र० ए०
२५५	१४	कसाने के	कराने के लिए
२५७	१७	रेडियो	लाऊड स्पीकर
२५९	३	भूष	भूत
२६०	२४	ज	जा
२६१	१३	अपने-सपने	अपने अपने
२६५	५	घनी जन	घनी
२६५	२४	लब्धे	लुब्धे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६६	१६	आह्वि	आह्नि
२६६	२४	√ाज	√यज्
२६७	२७	बिज्ञान	विज्ञान
२६८	३२	+	=
२७०	२४	ओर	और
२७०	३३	पु० प्र०	प्र० पु०
२७४	२२	पवित्र	अपवित्र
२३६	१९	॥ २१ ॥	॥ १२ ॥
२७६	२६	ा०)	व०)
२७७	१७	को	को पूरा
२७७	२०	वाणिज	वाणिज्य
२७७	२७	अभिलाषा	अभिलाषा से
२७८	१२	ही ाम्	हीनम्
२७९	१९	हठित	हठी
२८५	१३	ाूयात्	ब्रूयात्
२८६	२९	से यह	यह
२८९	२६	(नयुं०)	(नपुं०)
२९१	२३	प्र० ए० प०	प्र० ए० व०
२९१	३०	दूसे	दूसरे
२९२	३०	त्याग	×
२९५	२	ोोियां	गोलियां
२९५	२४	तो ईरान	ईरान
२९५	२६	परन्पु	परन्तु
२९७	१२	क्लिम्	क्लिश्
२९७	१५	मजबरी	मजबूरी
२९७	२८	द्	दु
३००	२२	यज्ञा	यज्ञाः
३०१	९	यज्ञा	यज्ञाः
३०४	३	स्परण	स्मरण
३०४	१०	इश्वर	ईश्वर
३०६	९	√ज	√कृ
३१०	३१	और	×
३११	१४	न ॰	न च

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१२	९	]॥२८॥	॥ २८ ॥]
३१३	१२	अपश्य	अवश्य
३१५	४	अर्जुल	अर्जुन
३१५	३४	पत्रेष्टि	पुत्रेष्टि
३१६	३३	कया	किया
३१७	५	संयास	संन्यास
३१९	११	!	।
३२१	१४	त्याम	त्याग
३२१	१५	भरतानां	(भरतानां
३२८	६	ईधर	इधर
३३०	१८	है ी	ही
३२१	१४	कुशसे	कुशले
३३१	३३	समविष्ट	समाविष्ट
३३२	१९	सन्बन्ध	सम्बन्ध
३३२	१९	समसृष्टि	समदृष्टि
३३३	३०	भृत	भृत्
३३४	३५	बृद्धि	वृद्धि
३६५	१९	औीर	और
३३७	१८	जमों	जन्मों
३४७	२	नन्दा	नन्द
३४७	१४	प	परे
३५०	३	वहां	जहां
३५०	४	कि वह कि वह	कि वह
३५०	८	आत्मा	आत्म
३५०	२३	जकर	जाकर
३५३	५	कर्मणा:	कर्मणः
३५७	१	अविभक्त	अविभक्तम्
३५९	१४	।ासक्त	आसक्त
३६१	१६	थब्ब	थब्बा
३६१	१९	=	+
३६३	३	आसिक्त	आसक्ति
३६३	२६	निर्वतते	निवर्तते
३६८	८	जिए	लिए

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६६	१	शौचवर्जित	शौचवर्जितः
२८९	१८	पुरुष को	पुरुष की
३७८	३१	—ञ्	नञ्
३८९	१७	शुभ को	अशुभ को
३८९	२१	वो	को
३८९	३३	द्रसरों	दूसरों
३८०	२६	है।	है।]
३८०	२५	ए०	×
३८१	२१	वो	तो
३८१	२३	उसे	×
३८२	१४	वृति	धृति
३८२	१५	सद्	तद्
३८३	५	(घृति)	(धृति)
३८३	१६	घन	धन
३८४	२९	सत्तग्रे	यत्तग्रे
३८८	७	विशयों	बिषयों
३९१	१४	निद्रावस्धा	निद्रावस्था
४०१	११	रूल	रूप
४०१	१७	गाह	गाय
४०२	१६	धर्मामुसार	धर्मानुसार
४०३	१५	लट्०	लट्० प्र०
४०५	३१	माया	मया
४०९	४	व्याथ	व्याध
४१५	३	पापा	पाप—
८१५	१६	निर्नमः	निर्ममः
४१७	१०	करना	रहना
४२१	१५	भूदों	भूतों
४२५	६	पदम	परम
४२६	११	मण्प्र	मत्प्र
४१८	१६	शौर	शरीर और
४२९	१०	बिना	विना
४३०	१९	में	से
४३४	२०	ने	के

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३८	१६	स्वधीनता	स्वाधीनता
४३९	३०	रखते	रखने
४३९	३२	मद्भूभक्तो	मद्भक्तो
४३९	३५	=	+
४४२	१४	अर्जुत	अर्जुन
४४२	२६	रक्खा है।	कर रक्खा है
४४३	२	बिना	विना
४४३	४	स्वरूरूप	स्वरूप
४४३	१६	सख्या	सख्य
४४३	१९	भक्त	भक्त के
४४३	२२	मा	मन
४४४	५	(नपु०)	(नपुं०)
४४७	३४	समूह्ल	समूह
४४९	१६	युष्तद्	युष्मद्
४५०	१०	न, सुनना	न, न सुनना
४५४	३०	ए० =	ए० व० =
४५४	२४	(ु०)	(पुं०)
४५८	७	।	।]
४६३	१४	निमित	निमित्त
१६४	९	अं	अ
४६४	३०	सच्जय	सञ्जय
४६६	४	गह्यम्	गुह्यम्
४६६	२३	करना)	करना।
४६८	९	र्म्	म्
४६९	३	बार	बार बार
४६९	१२	कर्भ	कर्म
४६९	१५	दर्शतों	दर्शनों
४७०	१४	आप ी	आप की
४७०	२७	णिट्टी	मिट्टी
४७२	१	भ्या०	भ्वा०
४७२	११	(जिस पक्ष से)	(जिस पक्ष में)

॥ इति ॥